जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ७ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI. No. I

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A , D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1940

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ७ ज्येष्ठ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १)

विक्रम-सम्वत् १९९७

विषय सूची

ग्रन्थमाला-विभाग

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ७ | जून १९४०। ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४६६ | किरण १

वादीभसिंह

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

आचार्य वादीभसिंह विश्रुत जैन महाकवियों में अन्यतम हैं। आपके वादीभसिंह, अजितसेन एवं ओडेयदेव ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। मेरा अनुमान है कि उल्लिखित इन तीन नामों में ओडेयदेव जन्मनाम, अजितसेन दीक्षानाम और वादीभसिंह पाण्डित्योपार्जित एक उपाधि है। हाँ, आप विद्वत्समाज में पाण्डित्योपार्जित इस उपाधि से ही अधिक विख्यात हैं। साथ ही साथ इस उपाधि से यह भी सिद्ध होता है कि आप एक बहुत बड़े वादी थे। श्रवणबेल्गोलस्थ 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' में भी इस बात की पुष्टि होती है।* अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र ने अष्टसहस्री के मङ्गलाचरणगत पद्य पर टिप्पण करते हुए यों लिखा है—"तदेवं महाभागैः तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेन उपलालितामाप्तमीमांसामलं-चिकीर्षवः............प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः श्रीवर्द्धमानमित्यादि।" इस से पता चलता है कि आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर भी वादीभसिंह ने कोई टीका अवश्य बनाई थी। संभव है कि इसके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र मौलिक न्यायग्रन्थ भी आप के द्वारा रचा गया हो। किन्तु अभी तक आपका कोई न्यायग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। स्वरचित 'गद्यचिन्तामणि' से प्रमाणित होता है कि वादीभसिंह पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे।†

*—सकलभुवनपालानम्रमूर्धावबद्धस्फुरितमकुटचूडालीढपादारविन्दः।
मदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः॥

†—श्रीपुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम सन्निदध्यात्।
यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति॥६॥

यों तो वादीभसिंह का जन्मस्थान अज्ञात सा है ; फिर भी आपका ओडेयदेव नाम, मद्रास प्रान्तान्तर्गत तमिल प्रदेशस्थ पोलूरु तालुक के तिरुमलै नामक प्राचीन क्षेत्र में वर्तमान समाधि-स्थान, द्राविडसंघ तथा अरुंगल अन्वय ये चारों वादीभसिंह को तमिलप्रान्तीय सिद्ध करने की चेष्टा अवश्य करते हैं। यह तो निर्विवाद है कि वर्तमान मद्रास प्रान्तान्तर्गत तमिल प्रदेश सुप्राचीन काल से द्राविड देश के नाम से विख्यात है। अतः यह मानना अनुचित नहीं होगा कि वादीभसिंह का उक्त द्राविडसंघ इस प्रान्तीय नाम से ही प्रसिद्ध हुआ होगा। क्योंकि जैन एवं जैनेतर पुरातत्त्वविशारद यह प्रकट कर चुके हैं कि दिगम्बर जैन मुनियों में प्रचलित संघ, गण, शाखा आदि में अनेक किसी स्थान के ही द्योतक हैं। जैसे उदाहरणार्थ —माथुरसंघ, पुन्नाटसंघ, नविलूरुसंघ, कित्तूरुसंघ, कोलत्तूरुसंघ, देशीयगण, काणूरुगण और हनसोगे शाखा। यों तो मद्रास प्रॉविंस में प्रचलित तमिल, कन्नड, तेलुगु, तुलु तथा मलयालम् ये पाँचो भाषायें द्राविड भाषा जाति के अन्तर्भुक्त हैं। फिर भी तमिल भाषा को ही द्राविड नाम से पुकारने की प्रथा जनता में आज भी वहाँ पर मौजूद है। अब आपके 'अरुंगल' अन्वय को लीजिये। यह भी तमिल प्रान्त के गुडियपत्तन नामक स्थान की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करता है। यह एक बहुत प्रसिद्ध एवं प्राचीन स्थान है। सुना है कि आज भी यहाँ पर जैनों और जैनमन्दिर वर्तमान हैं। यों तो संघ, गण, गच्छ और अन्वय आदि प्रायः एकार्थवाची हैं। इसी लिये मुनिसंघों के लिये ये सभी शब्द जहाँ-तहाँ व्यवहृत हुए हैं। परन्तु साधारणतः संघों के भेदों को गण और उपभेदों को गच्छ कहने की परिपाटी प्रचलित है। जैसे —नन्दिसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दान्वये। अनेक स्थानों में संघ को गण भी कहा है। जैसे—नन्दिगण, सेनगण, द्रमिल या द्राविडगण खैर, यह विषयान्तर है। साथ ही साथ मुनिसंघों का इतिहास अभी तक प्रायः अंधकार में विलीन सा है। इसी लिये इस विषय में अभी तक हमारा ज्ञान बहुत ही सीमित है। हाँ, यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि द्राविडसंघ नन्दिसंघ का ही एक भेद है* अतः श्रवणबेल्गोलस्थ मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि लेखों में द्राविड़संघ की परम्परा में कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिंहनन्दी, वक्रग्रीव, श्रीवर्द्धदेव, पात्रकेसरी, अकलंकदेव आदि आचार्य भी परिगणित किये गये हैं।

अब एक बात की शंका हो सकती है कि 'नीतिसार' के कर्त्ता ने यापनीय और द्राविड दोनों संघों को पाँच जैनाभासों में गिनाया है‡। इस सम्बन्ध में श्रीयुत पं० नाथूराम जी

*—श्रीमद्द्रमिलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽस्त्यरुंगलः।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवाराशिपारगः॥ —नगर तालुक का शिलालेख नं० ३६

‡—गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्त्तिताः॥ —नीतिसार

प्रेमी का कहना है कि "जिस प्रकार वर्त्तमान भट्टारकों को हम शिथिलाचारी भ्रष्ट या जैनाभास कहते हैं, यद्यपि ये भी अपने को नन्दिसंघ, बलात्कारगण और कुन्दकुन्दाचार्यान्वयभुक्त बतलाते हैं, उसी प्रकार 'दर्शनसार' के कर्त्ता देवसेन द्राविडसंघ, यापनीयसंघ आदि के मुनियों के आचार देखकर उन्हें जैनाभास कह सकते हैं। क्योंकि इन संघों के साधु महन्तों या भट्टारकों के ढंग पर मठों और मन्दिरों में रहने लगे थे, राजसभाओं में आने-जाने लगे थे, इनके मन्दिरों को जागीरें लगी हुई थीं जिनका ये प्रबन्ध करते थे और तिल-तुपमात्र परिग्रह न रखने के आदर्श से नीचे गिर गये थे।" बल्कि आपने इस विषय में अपने 'वनवासियों और चैत्यवासियों के सम्प्रदाय' इस लेख में विस्तार से विचार किया है।

अस्तु, उपर्युक्त बातों को लक्ष्य में रखकर यह अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता है कि वादीभसिंह का जन्म तमिल प्रदेश में हुआ था। हाँ, यह बात ठीक है कि इनके जीवन का बहु भाग मैसूर प्रान्त में व्यतीत हुआ था और वर्तमान मैसूर प्रान्तान्तर्गत पोम्बुच्च ही आप के प्रचारक्षेत्र का केन्द्र था। इसके लिये पोम्बुच्च एवं मैसूर राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध आप से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख ही ज्वलन्त साक्षी हैं। वादीभसिंह एक राजसम्मानित कवि थे। यह बात मल्लिषेण-प्रशस्ति के सिवाय स्वरचित 'गद्यचिन्तामणि' में स्पष्टतया अंकित है†। इतना ही नहीं महामन्त्री, दण्डाधीश जैसे उच्च राजपदाधिकारी भी आप के अनन्य भक्त थे। खासकर विक्रम, मार, त्रिभुवनमल्ल आदि पोम्बुच्च के तत्कालीन सान्तर वंश के शासक, विष्णुवर्द्धन के महामन्त्री माधव, महाप्रतापी दण्डाधीश पुनीश, सरदार परमादि, श्रेष्ठी जाकि आदि आप के एकान्त शिष्य रहे*।

जैनधर्म और जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त वादीभसिंह तर्क, व्याकरण, छन्द, काव्य, अलङ्कार, कोशादि ग्रन्थों में पूर्ण निष्णात थे। यद्यपि आप संस्कृत, कन्नड, तमिल आदि कई भाषाओं के पारंगत विद्वान रहे होंगे; परन्तु अभी तक आप की संस्कृत भाषा-बद्ध कृतियाँ ही उपलब्ध हुई हैं। मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि से पता लगता है कि आप केवल एक उच्च कोटी के कवि ही नहीं थे। किन्तु एक उद्भट वादी और वाग्मी भी। आप के वादित्वगुण की विद्वन्मण्डली में कितनी धाक थी, इस बात का निदर्शन आप की 'वादीभसिंह' यह उपाधि ही पर्याप्त है। कोप्प का एक शिलालेख आप को 'जैनागमरूपी समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमा' बतलाता है। इसी प्रकार योगदि के एक शिलालेख में आप एक 'बड़े योगी' कहे गये हैं‡। सारांशतया वादीभसिंह एक महान योगी, त्यागी, तपस्वी, वादी,

†—श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोडेयदेवेन चिरादास्थानभूषणः॥

*—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग ६, पृष्ठ ८०—८१

‡—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग ६, पृष्ठ ८०—८१

वाग्मी, कवि और तत्त्वज्ञानी थे। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि सामान्य श्रावक से लेकर राजा एवं बड़े-बड़े राजकर्मचारी तक आप के परम भक्त थे। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति* में भी आप के दो विद्वान शिष्यों का उल्लेख पाया जाता है, जिनके नाम क्रमशः शान्तिनाथ और पद्मनाभ हैं। इनमें पहले की उपाधि 'कविताकान्त' और दूसरे की 'वादिकोलाहल' है। उल्लिखित यह लेख आप ही के एक और विद्वान शिष्य मल्लिषेण मलधारिदेव का समाधि-मरण-सूचक है और यह विद्वन्मण्डली में 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' के नाम से प्रख्यात है। इस लेख में केवल मल्लिषेण की ही नहीं, इनकी गुरुपरम्परा की भी बड़ी प्रशंसा लिखी मिलती है। पोम्बुच के नं० ३७ सन ११४७ के एक स्तम्भलेख में वादीभसिंह की एक विदुषी शिष्या पम्पादेवी का भी उल्लेख मिलता है। यह पम्पादेवी तैलसान्तर की पुत्री, विक्रमसान्तर की भगिनी थी। पम्पादेवी महापुराण की एक अच्छी मर्मज्ञा थी। इससे पता चलता है कि वादीभसिंह केवल सान्तर-राजसभा के ही माननीय गुरु नहीं थे, प्रत्युत अन्तःपुर के भी एक विशिष्ट शिक्षणाचार्य थे।

अब वादीभसिंह के समय के सम्बन्ध में विचार करना है। श्रीयुत टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री, प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री, श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी एवं 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखक-द्वय वादीभसिंह को दशवीं शताब्दी का विद्वान मानते हैं। इस समय-निर्द्धारण के विषय में निम्नलिखित दो प्रमाण उपस्थित किये गये हैं :

(१) भोज राजा (सन १०१८—५५) के समकालिक कालिदास का एक वचन 'अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती" यह वादीभसिंह के "अद्य निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती" इस वचन के सदृश है, इसलिये वादीभसिंह भोज का पूर्ववर्त्ती अर्थात् सन १० वीं शताब्दी का माना जाना चाहिये।

(२) 'यशस्तिलकचम्पू' के २य उच्छ्वास के १२६ वें श्लोक की व्याख्या में व्याख्याकार श्रुतसागर सूरि ने महाकवि वादिराज का एक श्लोक उद्धृत किया है और लिखा है कि वादिराज भी सोमदेवाचार्य के शिष्य थे। तथा सोमदेवाचार्य का "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः" यह पद्य उद्धृत कर वादीभसिंह को वादिराज का गुरु-भाई और सोमदेवाचार्य का शिष्य बतलाया है। सोमदेव ने शक सं० ८८१ (सन ९५९) में अपना यशस्तिलकचम्पू समाप्त किया था और वादिराज ने शक सं० ९४७ (सन् १०२५) में अपने 'पार्श्वनाथचरित्र' को पूर्ण किया था। अतः वादीभसिंह का काल १०वीं शताब्दी होना चाहिये। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि उल्लिखित विद्वानों में से किसी ने अपनी रचना में उक्त दोनों प्रमाणों को अपनाया और किसी ने एक ही। उपर्युक्त पहला प्रमाण तो मेरे

*—देखें—लेख नं० ५४ (६७)

जानने कोई बलिष्ठ नहीं जँचता। क्योंकि बहुत कुछ सम्भव है कि वादीभसिंह ने ही कालिदास का अनुसरण किया हो। अब रहा ३य प्रमाण। इसके सम्बन्ध में श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र जी का कहना है कि "जब तक उक्त उल्लेख के स्थल आदि का पूरा विवरण नहीं मिलता और अन्य स्थलों से उसका समर्थन नहीं होता तब तक उसे प्रमाणकोटि में नहीं रक्खा जा सकता, क्योंकि दोनों विद्वानों में से किसी ने भी सोमदेव के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। तथा वादिराज ने 'न्यायविनिश्चयालङ्कार' के अन्त में दी गई प्रशस्ति में मतिसागर को अपना गुरु बतलाया है और वादीभसिंह पुष्पसेन का स्मरण करते हैं। अतः उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में हमें तो अकलङ्कदेव के सतीर्थ पुष्पसेन ही वादीभसिंह के गुरु प्रतीत होते हैं और उस दशा में उनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रमाणित होता है*।" पण्डित कैलाशचन्द्र जी ने ऊपर सोमदेव के गुरुत्व के सम्बन्ध में जो शंका उठायी है सो ठीक है, किन्तु आप के कथनानुसार वादीभसिंह अकलङ्कदेव के सतीर्थ, ईसा की सातवीं शताब्दी के पुष्पसेन के शिष्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं होते। क्योंकि इस समय-निर्णय के समर्थन में शास्त्री जी के द्वारा दिये गये सभी प्रमाण बहुत ही निर्बल हैं। 'भास्कर' भाग ६, किरण २ में प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं?' शीर्षक लेख में इस बात पर मैंने यथेष्ट प्रकाश डाला है, अतः उन बातों की यहाँ पुनरावृत्ति करना पिष्ट-पेषण ही होगा।

अब यही विचार करना रह जाता है कि उल्लिखित विद्वानों के द्वारा निर्द्धारित वादीभसिंह के १० वीं शताब्दी का यह समय ठीक है कि नहीं। श्रीयुत स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का मत है कि नगर के ४० वें और ३७ वें शिलालेखों से वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमित होता है*। मैंने 'भास्कर' भाग ६, किरण २ में प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं?' इस अपने लेख में 'मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक' से अजितसेन या वादीभसिंह से सम्बन्ध रखने वाले १० लेखों को उद्धृत किया है। इनमें सब से पहला सन् १०७७ का एवं सब से पीछे का ११५० का है। इन लेखों में वादीभसिंह को कहीं अजितसेन पण्डितदेव, कहीं वादीभसिंह अजितसेन दोनों, कहीं अजितसेन मुनिपति, कहीं अजितसेन भट्टारक एवं कहीं मुनि अजितसेन देव आचार्य लिखा है। साथ ही साथ इन नामों के साथ संघ, अन्वय आदि सभी जगह नहीं दिये गये हैं। फिर भी इन सब नामों को प्रस्तुत वादीभसिंह के ही वाचक मानने में कोई बाधक प्रमाण दृष्टिगत नहीं होता। शिलालेखों के लेखन-क्रम से भी यही बात मालूम होती है।

*—देखें—'न्यायकुमुदचन्द्र' की प्रस्तावना, पृष्ठ ११२

*—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग २, पृष्ठ १५३

अस्तु, उल्लिखित शिलालेखों में से १०७७ के प्रथम लेख से उस समय पोम्बुच्च में अजित-सेन या वादीभसिंह की वर्तमानता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि उसमें साफ लिखा हुआ है कि 'पंचकूट जिनमन्दिर के लिये विक्रमसान्तर देवने अजितसेन पण्डितदेव के चरण धोकर भूमि दी। वादीभसिंह की शिष्या पूर्वोक्त विदुषी पम्पादेवी इन्हीं विक्रमसान्तर की बहन थीं, जिनका उल्लेख नं० ३७ (सन् ११४७) के पोम्बुच्च के एक स्तम्भलेख में 'यह अजितसेन पण्डितदेव या वादीभसिंह की शिष्या श्राविका थी'—यों स्पष्ट अंकित है। हाँ, सन् १०९० के २य लेख में यह लिखा है कि 'इस स्मारक को अपने गुरु वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मार सान्तरवंशी ने स्थापित किया।' आगे कोई ऐसा लेख दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे वादीभसिंह की उपस्थिति स्पष्ट प्रमाणित होती हो। अतः सम्भव है कि कोई-कोई १०९० तक ही वादीभसिंह के जीवनकाल की मर्यादा मानकर १०९० के बाद के लेखों को आप के स्मृति-लेख मान लें। पर जीवन-काल में भी भक्तों के द्वारा अपने माननीयों का स्मारक बनवाना लोकविरुद्ध बात नहीं है। बल्कि आजकल भी इसके एक नहीं, अनेक दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह सिद्ध करना मेरा अभीष्ट नहीं है कि वादीभसिंह के नाम के ये सभी स्मारक आप के जीवन-काल में ही स्थापित हुए थे। हाँ, उल्लिखित सन् १०७७ का लेख अगर वास्तव में वादीभसिंह के उपस्थिति-काल का है तो मानना पड़ेगा कि वादीभसिंह ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मौजूद थे। साथ ही साथ नं० १३१ (सन् १११७ ?) और नं० ४५२ (सन् ११२५) के क्रमशः हासन जिला के मुगुलूर ग्राम एवं श्रवणबेलगोल के उपलब्ध लेखों में प्रतिपादित पुष्पसेन ही वादीभसिंह के गुरु ज्ञात होते हैं।

इस पर प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री का कहना है कि सन् १०३५ में चालुक्य जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल के द्वारा वादिरुद्रगण को दिये गये दानसूचक बेलगाँवे के दानपत्र में यह अंकित है कि वादिरुद्रगण बहुत बड़े वादी थे और उन्होंने वाद में अकलङ्क वादिघरट्ट (?) वादीभसिंह, वादिराज आदि को वाद में जीत लिया था। अतः वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध नहीं हो सकता। वह दानपत्र मेरे सामने नहीं है। खैर, यदि उल्लिखित दानपत्र में प्रतिपादित यह बात वास्तविक भी मान ली जाय तो भी उक्त समय-निर्णय में उससे कोई ऐसा विषम विरोध नहीं दीखता। क्योंकि सन् १०३५ और सन् १०७७ के काल में अधिक अन्तर नहीं है। मुझे तो दानपत्र की बात पर ही शंका होती है। वह शंका अकलङ्क को जीतने की बात को लेकर। पहले इसी बात की जाँच की ज़रूरत है कि यह अकलंक कौन हैं ? अगर भट्टाकलंक माने जायँ तो क्या यह घटना संभवपरक है कि नहीं ? क्योंकि अकलंक देव का समय ७ वीं ८ वीं शताब्दी माना गया है। वादीभसिंह वादिराज आदि के समकालीन किसी प्रसिद्ध दूसरे अकलंक का पता कम से कम मुझे तो नहीं लगता।

इस प्रकार वादीभसिंह के काल-निर्णय-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री को विज्ञ पाठकों के समक्ष मैंने रख दिया है। अब इसका अन्तिम निर्णय पाठक स्वयं कर लें। हाँ, इस सम्बन्ध में एक बात का खुलासा करना रह गया है। मैंने क्रमशः 'भास्कर' भाग २, किरण २ और भाग ६, किरण २ में लिखा था कि वादीभसिंह के 'क्षत्रचूडामणि' के अन्त में "राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिगुणैः॥" यह पद्य अंकित है। मेरे खयाल से पद्यगत 'राजराज' शब्द श्लेषात्मक है और इसमें ग्रन्थकर्ता ने चरित्रनायक जीवन्धर के अतिरिक्त तत्कालीन शासक का भी उल्लेख किया है। यह शासक चोलवंशीय 'राजराज' हो सकता है। चोल राजाओं में इस नाम के दो व्यक्ति हुए हैं। राजराज प्रथम का काल सन् ९८५ से १०१२ तक और द्वितीय का सन् ११४६ से ११७८ तक का है। बहुत कुछ संभव है कि वादीभसिंह अन्तिमावस्था में मैसूर से अपनी जन्मभूमि को लौट आये हों और चोलशासक उक्त राजराज के राज्यान्तर्गत कहीं रह कर इस क्षत्रचूडामणि की रचना कर ग्रन्थान्त में आपने तत्कालीन तत्प्रान्तवर्ती शासक इस राजराज का उल्लेख कर दिया हो। इस मेरे अनुमान को श्रीयुत स्व० आर० नरसिंहाचार्य और श्रीयुत प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री इन दोनों पुरातत्त्वविशारदों ने स्वीकार किया है। परन्तु पूर्वोक्त अपने-अपने निर्द्धारित समयानुकूल आर० नरसिंहाचार्य वादीभसिंह को द्वितीय राजराज का समकालीन एवं प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री प्रथम राजराज का समकालीन मानते हैं। शास्त्री जी का कहना है कि द्वितीय राजराज की अपेक्षा प्रथम राजराज बहुप्रसिद्ध था। पर मेरे जानते यह कोई सबल तर्क नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकर्ता का तो प्रायः प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध तत्कालीन शासक का उल्लेख कर देने भर ही ध्येय रहता है। अब इस निबन्ध को अधिक न बढ़ाकर वादीभसिंह की कृतियों पर दो शब्द कह दिये जाते हैं।

वादीभसिंह की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। पहली 'क्षत्रचूडामणि' तथा दूसरी 'गद्य-चिन्तामणि'। ये दोनों काव्य हैं। पर पहला पद्यकाव्य और दूसरा गद्य। इन दोनों रचनाओं में महावीर स्वामी के समसमयवर्ती महातेजस्वी एवं क्षत्रियोचितशौर्यगुणसम्पन्न महाराज जीवन्धर की जीवनी वर्णित है। ज्ञात होता है कि वादीभसिंह को आदर्श महापुरुष महाराज जीवन्धर की जीवनी अधिक प्रिय थी। यही कारण है कि आप की दोनों कृतियाँ जीवन्धर-चरित्र-प्रतिपादक ही मिलती हैं। उल्लिखित कृतियों में क्षत्रचूडामणि तो एक खासा नीतिग्रन्थ ही कहा जा सकता है। प्रायः प्रत्येक श्लोक के पूर्वार्द्ध में अभीष्ट चरित्रांश और उत्तरार्द्ध में उसे पुष्ट करने के लिये नीति कही गयी है। नीति का पुट देकर कवि ने चरित्रांश को बहुत ही रोचक बनाया है। प्रायः सभी श्लोकों का अन्तिम भाग अर्थान्तरन्यासालंकार से अनुप्राणित है। दूसरी गद्यचिन्तामणि भी काव्योचित माधुर्य-सौकुमार्यादि प्राञ्जल गुणों

से विशिष्ट एक महत्त्वपूर्ण गद्यकाव्य है। इसके सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ भी न लिखकर श्रीयुत टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री के अभिप्राय को ही नीचे उद्धृत किये देता हूं:—"पदलालित्य, श्राव्यशब्दसन्निवेश, निरर्गलवाग्वैखरी, सुगमकथासारावगम, चित्तविस्मापिक-कल्पना, चित्तप्रसादजनक धर्मोपदेश एवं धर्मानुकूल नीति आदि काव्य सुलभ सुन्दरगुण प्रचुर परिणाम में इसमें उपगुम्फित हैं।" हाँ, यह बात माननी पड़ेगी कि वादीभसिंह ने इसमें महाकवि बाण की ही रचना-पद्धति का अनुकरण किया है।

मैं अन्त में विद्वद्वर्य्य कुप्पुस्वामी शास्त्री को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता हूं कि जिनके असीम प्रयास से ये दोनों अमूल्य जैन साहित्यिक कृतियाँ पहले पहल प्रकाशन में आयीं और मद्रास विश्वविद्यालय के पठनक्रम में प्रविष्ट हुईं*।

*—यह निबन्ध श्रीयुत पं० मोहनलाल जी काव्यतीर्थ के द्वारा सिवनी से प्रकाशित होने वाली सानुवाद क्षत्रचूडामणि के लिये ग्रन्थकर्त्ता के परिचय के रूप में लिखा गया है।

हम्मीर, रायवद्दिय और चन्दवाड़

[लेखक—श्रीयुत दशरथ शर्मा, एम० ए०]

विक्रम सम्वत् १३१३ में रचित अणुव्रत-रत्न-प्रदीप के रचयिता लक्ष्मण कवि ने तत्सामयिक चौहानवंशी राजा आहवमल्ल के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं:—

(१) वह यमुनातटस्थ रायवद्दियनगर का शासक था,

(२) उसके पूर्वज यमुनातटस्थ चन्दवाड़ नगर में राज करते थे,

(३) उसने दुष्प्रेक्ष्य म्लेच्छों पर विजय पाई और हम्मीर वीर के मन का शल्य नष्ट किया।

अब प्रश्न यही है कि आहवमल्ल का समसामयिक यह हम्मीर वीर कौन था। प्रो० हीरालाल जैन ने इसे रणथंभोर का राजा हम्मीर देव समझा है। प्रोफेसर साहब ने यह अनुमान इन शब्दों में किया है:—'आहवमल्ल ने म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों से भी टक्कर ली और विजय पाई तथा किसी 'हम्मीर वीर' की कुछ सहायता भी की थी। संभव है कि ये 'हम्मीर वीर' संस्कृत के हम्मीरकाव्य तथा हिन्दी के हम्मीर रासो आदि ग्रन्थों के नायक 'रणथंभोर' के राजा हम्मीर देव ही हों। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा रणथंभोर की चढ़ाई का समय सन् १२९९ ई० माना जाता है। इसी युद्ध में 'हम्मीर देव' मारे गये थे। वर्तमान उल्लेख और लड़ाई के बीच में ४२ वर्ष का अन्तर पड़ता है। यह अन्तर एक ही व्यक्ति के जीवनकाल के लिये कुछ असम्भव नहीं है।'

परन्तु मुझे यह अनुमान ठीक प्रतीत नहीं होता। इसके कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) सन १२५३ अर्थात् सम्वत् १३१० में उलूग खां ने रणथंभोर पर आक्रमण किया। उस समय रणथंभोर का शासक हम्मीरदेव का दादा वाग्भट था।[३] यह बहुत सम्भव है कि अणुव्रत-रत्न-प्रदीप के रचनाकाल अर्थात् सम्वत् १३१३ तक यही रणथंभोर का राजा रहा हो।

(२) हम्मीरमहाकाव्य के वर्णन से प्रतीत होता है कि हम्मीर का जन्म उसके पिता जैत्र सिंह के राज्यकाल में हुआ था।[४] जैत्र सिंह ने सम्वत् १३३९ तक राज्य किया और वह सम्भवत: सम्वत् १३१३ के लगभग रणथंभोर के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था।

१ भास्कर भा० ६ किरण ३ पृष्ठ १५७ देखो।

२ भास्कर भा० ६ किरण ३ पृष्ठ १५७ देखो।

३ तबकाते नासिरी रेवर्टी-कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ८२८।

४ हम्मीर-महाकाव्य, सर्ग ४, श्लोक १३८।

अत एव यह मानना असंगत न होगा कि अणुव्रत-रत्न-प्रदीप की रचना के समय रणथंभोर के हम्मीर देव का जन्म भी न हुआ था।

(३) हम्मीर की मृत्यु सन् १२९९ में नहीं बल्कि सन् १३०१ में हुई थी।* पुस्तक का रचनाकाल भी सन् १२५७ नहीं अपि तु सन १२५६ है। इस प्रकार दोनों घटनाओं में लगभग ४५ वर्ष का अन्तर है। हम्मीरमहाकाव्य के वर्णन से ज्ञात होता है कि हम्मीरदेव अपनी मृत्यु के समय वृद्ध नहीं था। अतः सम्वत् १३१३ में उसकी अवस्था इतनी बड़ी नहीं हो सकती कि कोई राजा उसके मन के शल्य को दूर करने का प्रयत्न करें।

इन सब बातों का विचार करने और प्रसंग को ध्यान में रखते हुए मुझे तो 'हम्मीर-वीर-नट्ट-सल्लु' के 'नट्ट' शब्द के स्थान पर 'नद्ध' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि यह पाठ ठीक माना जाय तो 'हम्मीरवीर' का तात्पर्य दिल्ली के किसी मुसलमान राजा से ही हो सकता है। 'हम्मीर' और 'हम्मीरवीर' शब्द संस्कृत साहित्य में अधिकतर मुसलमान राजाओं के लिए ही प्रयुक्त होते रहे हैं। 'हम्मीर-मद-मर्दन' नाटक ऐसे ही एक हम्मीर के मदमर्दन का वर्णन करता है। सम्वत् १२१० के लगभग रचित 'ललित-विग्रहराज-नाटक' में तुरुष्कराज के लिये 'जगदेकवीर हम्मीर' शब्द प्रयुक्त किया गया है। अनेक शिलालेखों में इसी प्रकार मुसलमान राजाओं के लिये 'हम्मीर' और 'हम्मीरवीर' शब्दों का प्रयोग देखा गया है। नमूने के तौर पर नीचे ऐसे दो अवतरण दिये जाते हैं जिनमें मुसलमान राजाओं के लिये 'अणुव्रत-रत्नप्रदीप' में प्रयुक्त हम्मीर-वीर शब्द का ही प्रयोग मुसलमान राजाओं के अर्थ में किया गया है।

(१) मत्वा हम्मीरवीरं निखिलवसुमतीशल्यभूतं प्रभूतं
योग्योऽसौ वीरगोष्ठीनिपुणतरमतिः शत्रुलक्ष्मीभुजंगः।
प्रादाद्राजन्यचूडामणिकिरणगणामंजनिद्धृतपादो
भूपस्तस्मै प्रहृष्टो विशदगुणनिधेरासिकादुर्गमुग्रं॥

(२) प्रलयजलधिवेलोल्लोलकल्लोललीलं ·· ········ · संपिष्टशैलं।
दलितधरणिचक्रं वीरहम्मीर चक्रं बहु तृणमकरोद्यः श्रीधरो दुर्मदर्पः॥

इनमें पहला अवतरण सम्वत् १२२४ का है और दूसरा चौलुक्य भीम द्वितीय के समय का। इनमें हम्मीरवीर का तात्पर्य स्पष्टतः किसी 'हम्मीर' नामक हिन्दू राजा से नहीं अपि तु यवनराज से है। अणुव्रत-रत्नप्रदीप में भी इसी प्रकार यह शब्द संभवतः किसी हिन्दू राजा के लिये नहीं अपि तु यवन राज सुल्तान नासिरुद्दीन के लिये प्रयुक्त किया गया है। उसने

* हम्मीर-महाकाव्य, भूमिका, पृ० ४७, टिप्पण ७० ।

अनेक बार दोआब के प्रदेश पर आक्रमण किया था और वह उस प्रदेश के हिन्दुओं से तंग आ चुका था। आहवमल्ल सम्भवत उसके प्रबल विरोधियों में मुख्य था। इसलिये कवि-द्वारा उसके लिये 'दुष्प्रेक्ष-म्लेच्छ-रण-रंग-मल्ल' और 'हम्मीर-वीर-मनःनद्ध-शल्य' आदि पदवियों का प्रयुक्त किया जाना ठीक ही है। मैं 'नद्ध' शब्द को ठीक पाठ समझता हूं। सम्भव है कि प्रदीप की किसी अन्य प्रति में यही पाठ मिले। प्रोफेसर साहब की प्रति भी बहुत पुरानी और यत्र-तत्र फटी हुई है। वे कृपया देख कर लिखें कि पाठ असंदिग्ध रूप से 'नष्ट' ही है या नहीं। चन्दवाड़ अभी काफी प्रसिद्ध स्थान है। राजपूताने के अच्छे नक्शों में फिरोजाबाद से कुछ मील दक्षिण यमुना के किनारे चन्दवाड़ की स्थिति अब भी पाई जाती है। राजा जयचन्द्र इसी स्थान पर शाहाबुद्दीन गोरी-द्वारा परास्त किया गया था और यहीं यमुना के निर्मल जल में उसकी इह लीला समाप्त हुई थी।

मुझे इस बात में सन्देह है कि रायबा स्टेशन रायबद्दिय माना जा सकता है या नहीं। रायबद्दिय यमुना के तट पर था और रायबा यमुनातटस्थ नहीं है। इस नगर की ठीक स्थिति के लिये अभी और खोज की आवश्यकता है।

हमारे संग्रह के कुछ दिगम्बर प्रतिमा-लेख

[सं०— श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा]

इतिहास में शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्तियों और पुष्पिकालेखों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हर्ष का विषय है कि जैनेतरों की अपेक्षा जैन समाज इन सामग्रियों में आज भी विशेष समृद्ध है किन्तु हमारे रत्न जो हमारी ही मिट्टी में कुचले जा रहे हैं उन्हें प्रकाश में लानेवालों का अभाव सा देखा जाता है। फिर भी श्वेताम्बर-समाज में इस ओर अच्छा प्रयत्न हुआ है, जिसके फलस्वरूप हजारों महत्त्वपूर्ण प्रतिमालेख प्रकाश में आ गये हैं और उनसे इतिहास-लेखकों को बड़ी भारी सहायता मिलती है। उनमें केवल जैन समाज के लिये ही नहीं किन्तु भारतवर्ष के इतिहास की भी बहुत प्रामाणिक सामग्री पाई जाती है।

श्वेताम्बर समाज के लेखसंग्रहों में स्वर्गीय बाबू पूरणचन्द्र जी नाहर के ३ खण्ड जैनाचार्य श्रीबुद्धिसागर सूरि जी के दो भाग, पुरातत्त्वाचार्य श्रीजिनविजय जी के २ भाग, मुनिराज श्रीविद्याविजय जी संपादित १ भाग, मुनिराज श्रीजयन्तविजय जी के आबू के शिलालेख, इनके स्वतंत्र ग्रन्थों में एवं देवकुलपाटक, सूरत नो स्वर्णयुग आदि ग्रंथों में एवं अनेक मासिक पत्रों में श्वे० प्रतिमालेख प्रकाशित हैं। पर जब हम दिगम्बर-समाज की ओर ध्यान देते हैं तो बड़ा दुःख होता है कि सैकड़ों की संख्या में विद्वान और बड़े-बड़े धनी-मानियों के विद्यमान होते हुए भी साहित्यसंसार में पिछड़े हुए प्रतीत होते हैं। दि० प्रतिमा-लेख-संग्रहों में प्रो० श्री हीरालाल जी जैन, बाबू कामताप्रसाद जी और एक छोटा सा संग्रह बाबू छोटेलालजी जैन का ही अद्यावधि प्रकाश में आया है। ब्र० श्रीशीतलप्रसादजी के प्राचीन जैनस्मारक ४ भागों में कुछ लेख छपे हैं पर अभी तक यह प्रयत्न नगण्य सा है और इसी लिए दिगम्बर विद्वान् भट्टारकों का इतिहास अधिक तिमिराच्छन्न है। दि० इतिहास के नाना पहलुओं पर तभी प्रकाश पड़ेगा कि जब साधन संगृहीत होंगे : अतः दिगम्बर-समाज और विशेष कर विद्वानों से हमारा अनुरोध है कि वे इस ओर शीघ्र ध्यान देकर अपने-अपने स्थानीय मन्दिरों के प्रतिमालेखों को संग्रह करके 'जैनसिद्धान्तभास्कर', 'अनेकान्त' आदि पत्रों में प्रकाशित करें और अच्छी संख्या हो जाने पर उन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर दें।

हमारे संग्रह के एक हस्तलिखित पत्र में "वांसखोह" नगर के दिगम्बर जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा के लेखों का मसविदा है। जिसमें सं० १७८३ वैसाख वदि ८ को जो प्रतिमाएं

प्रतिष्ठित हुई थीं उनके छोटी-बड़ी प्रतिमा के अनुसार एक ही आशय के संक्षिप्त विस्तृत लेख लिखे हैं। पाठकों की जानकारी के लिये उस पत्र की नकल यहां देते हैं:—

वृहत् संवत्

संवत्सरे वह्निवसुमुनींदुमिते १७८३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अष्टमीतिथौ बुधवारे श्रवण-नक्षत्रे वांसपोह नगरे अंबावती सामी कुछाहा गोत्रीय महाराजाधिराज श्रीजयसिंघजित्तत्सामंत कुंभाणी गोत्रीय राजि श्रीचूहड़सिंह जी राज्ये प्रवर्त्तमाने श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्रीजगत्कीर्त्तिस्तत्पट्टे भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये लुहाड़्यागोत्रे साह श्रीरामदासजी तद्भार्या रायवदे तत्पुत्रसंघभारयोग्य: श्रीजिनमतोद्योतक: संगही जी श्रीहृदयरामजी तद्भार्यास्तिस्र: प्रथमा केसरिदे द्वितीया ल्होड़ी तृतीया गूजरि तत्पुत्रास्त्रय: प्रथम चि० श्रीखुश्यालचन्द द्वि० सेवाराम तृ० शंभूराम एतैर्युक्तस्तेन संघही श्रीहृदयरामेण बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

मध्य संवत्

संवत् १७८३ वैशाख वदि ८ बुधवारे श्रवणनक्षत्रे वांसपोह नगरे कुंभाणी गोत्रीय राजि श्रीचूहड़सिंहजी राज्ये प्रवर्त्तमाने श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये लुहाड़्या गोत्रीय साह श्रीरामदासजी तत्पुत्र: संगहीजी श्रीहृदयरामजी तेन बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

जघन्य संवत्

संवत् १७८३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अष्टमीतिथौ वांसपोहनगरे भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्ति-स्तदान्वये लुहाड़्या गोत्रीय संगहीजी श्रीहृदयरामजी तेन बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

अतिजघन्य

संवत् १७८३ वैशाख वदि ८ प्रतिष्ठा कारिता

अति जघन्य जघन्य

संवत् १७८३ प्रतिष्ठित

श्वेताम्बर लेखसंग्रहों में भी कितने ही दि० लेख प्रकाशित हुए हैं। उन्हें भी संग्रह करके एक साथ प्रकाशित करने से इतिहास के अभ्यासियों को विशेष सुविधा मिलेगी। हमने लगभग २००० जैन प्रतिमालेखों का संग्रह किया है, उनमें जितनी सामग्री अभी हमारे पास है उनमें से दिगम्बर प्रतिमालेखों को एकत्र करके इस लेख में प्रकाशित करते हैं। सत्यता के नाते हमें एक बात का स्पष्टीकरण करना पड़ता है कि हमारे अवलोकन में जितने दि० लेख आये हैं, उनमें प्राय: अशुद्धियों का आधिक्य है। कइयों की तो बिना मात्रा की भद्दी लिखावट और भाषा भी अव्यवस्थित है, श्वेताम्बर लेख अपेक्षाकृत उनसे बहुत अच्छे

सुवाच्य और सुव्यवस्थित पाये जाते हैं। फिर भी इन लेखों में कितने ही लेख अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। आशा है कि हमारा यह संग्रह इतिहासप्रेमियों को उपयोगी होगा।

(१)

सं० १५३७ वर्षे वैशाख सुदि १४ रवौ खंडेलवाल संतानि रासभढत्रं विमल रासमि (?)

(२)

सं० १४५३ माघ सुदि १० नुत दिने भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्ति सा। विसेरो (?) भार्या पंम्हि दे पुत्र त्रिभू कंन।

(३)

भ० श्री ३ कनक। २ श्री धर्मकीर्ति ३ मदे

(४)

सं० १२८७ वर्षे फाल्गुण वदि ३ शुक्रे मण्डलाचार्य श्रीललितकीर्तिग० पटा नदिभा पा जा। हहरा ऋषि पूर्व्वा धियाः पुत्रेण नाव्र (?)

(५)

सं० १७९४ मी माह सुद १३ माराठ नगरे मूल भ पा मलव (?) सरस्वती भवे पा श्री मट्टेडका गाघत द्वरं आ ग त स की ति न दा म त भी प क..................

(६)

सं० १३५७ फागुण सुदि ३ श्री मूलसंघ खंडेलवालान्वये

(७)

सं० १६७६ मूलसंघे भ० रत्नचन्द्रोपदेशेन सीखप्प पा भाणिक भ० पाचल्लीसुत पदारथ भार्या दत्तां सुत नोवा हेमा रत्ना प्रणमति

(८)

सं० १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ५ श्रीमूलसंघे बादल जोत शिष्य गी वा अ......करापित

(९)

सं० १५४७ वैशाख सु० ७ काष्टासंघे गुणभद्र अभयभद्र

(१०)

सं० १६३७ वर्षे वै० व० १८ श्रीमूलसंघे भ० श्रीगुणकीर्त्युपदेशात् ब्र अलवा मा० शाहा सु० कदूवा ना क र ठा ......प्रणमति

(११)

सं० १५२५ वर्षे वैशाख सुदि ७ बुधे श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीसिधकीर्तिदेव। गोल। ....सा ग रा ल कु भार्या लखज................................. ....।

(१२)

मूलसंघे श्रीभुवनकीर्ति आदेशात १२३४ (दो लेख)

(१३)

संवत् १७९४ ······ ·· श्रीमूलसंघे ? .... ।

(१४)

सं० १५४९ मूलसंघे ।

(१५)

श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे ।

(१६)

संवत १४९२ वर्षे वैशाष वदि १० गुरु श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे नंदिसंघे ० बलात्कारगणे भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेवान तत्पट्टे श्रीशुभचन्द्रदेवान् ततभ्राता श्रीसकलकीर्ति उपदेशात् हुंबड़ न्याति ऊत्रेश्वर गोत्रे ठा० लांबा भा० कह० श्रीपार्श्वनाथ नित्यं प्रणमति सं० तेजाः टोई श्रा० ठाकरसी हीरा देवा मूडलि वास्त० प्रतिष्ठिता ॥

(१७)

संवत १९(?४)७३ वरषे माघ सुदि ९ म (मू) ल सींघ भटारिप जी श्रीधरमचन्द दव माह जी श्री भरवर राम पाटणी जी न परणमंत सहा अमरराजे श्रीअमायसिंघ जी ।

(१८)

संवत् १४५७ वीरष सुदि ७ श्रीमूलसंसीघे भटारीष जी श्रीधरमचंद दव साह वेखतरा पाटणी तीने परणमंत सहर गव गंगदुणी रा ....

(१९)

सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदि ३ श्रीमललन टरक··········· स ट क ब र जी पा प रावल नित्य प ण म त (ऐसे कई लेख हैं)

(२०)

सं० १६३४ श्री मूल संघे . ...

(२१)

संवत् ११५५ उ।। मटद वि ५ संघे श्रीदेवसेन संघाम्द वरु फा म स व दा दुसा . ... जागवौन कारितं सघारकट गृहे के वं जिनालयंमि (?)

(२२)

संवत् १५३१ वर्षे फागुण सुदि ५ श्रीमूलसंघे भ० श्री जिणचन्द श्रीसिंहकीर्तिदेवा प्रतिष्ठितं ॥ श्रीआगमसिरि क्षुल्लकी कमी सहित श्रीकलिकुंडयंत्र कारापितं ॥ श्रीकल्याणं भूयात् ॥

(२३)

सं १३४९ मू संघे वारु पीरोहत देव।

(२४)

संवत् १५४२ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ शनौ भ० श्रीजिनचंद्र रा भ० श्रीज्ञानभूषण सा० ऊहड़ भा०·········सु० नारायण

(२५)

सं० १५४० वर्षे वैशाख सुदि १० बुध श्रीकाष्टासंघे भ० श्रीसोमकीर्ति प्र० भट्ट ज राजा० कामिक गोत्रे सा० ठाकुरसी भा० रूषी पुत्र योधा प्रणमति

(२६)

सं० १६८३ श्री काष्टा संघे भ० विजयप्रभ ... अग्रवाल मीतल गोत्रे रावदास प्रणमात।

(२७)

संवत् १५२७ वर्षे वैशाख वदि ११ बुधे श्रीमूलसंघे भ० श्रीसकलकीर्तिस्तत्य० भ० श्री भुवनकीति उपदेशात् हु० बुध गोत्रे व्य० माहव भार्या भावकू सुत आसा भार्या राजू। भ्रात् मूरा भार्या गोमति मातृ शिवा भार्या महिगल दे सुत धरमा कारापित श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र नित्य प्रणमति।

(२८)

श्रीमूलसंघे भट्टारक शुभचन्द्रतच्छिष्या बाई डाही नित्यं प्रणमति॥

(२९)

संवत् १५९३ श्रीमूलसंघे मंडलाचार्य श्रीधर्मनंदि० आम्न्याये साधारणमल मागाणी मा० रेणा दे नित्यं प्रणमति

(३०)

सं० १५९६ वर्षे फा० वदि २ सोमे श्रीकाष्टासंघे न नरसिंघपुरा ज्ञातीय नागर गोत्रे म० रत्न सी मा० लीला दे पुत्र मह। राजपाल म० लेहआ म० राजपाल भार्या राजल दे पुत्र मगा राका············नित्य प्रणमति म० श्रीविश्वसेन प्रतिष्ठाः

(३१)

संवत् १६८८ वर्षे फागुण सुदि ८ शनिवासरे श्रीकाष्टासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे तदाम्नाये भ० जसकीर्ति देवाः स्तत्पट्टे भ० क्षेमकीर्ति देवा तत श्रीत्रिभुवनकीर्ति भ० सहस्र-कीर्ति तस्य शिष्यणी अर्जिका श्रीप्रताप श्री कुरु (रु) जङ्गल देशे सपीदों नगरे गर्गगोत्रे चो० इन्द्र सज्जनस्य भा० ४ प्र० सुखो भार्या तस्य पुत्री दमोदरी च द्वितीय नाम गुरुमुख श्रीप्रताप

श्री तस्य शिष्यणी बाई धरमावती पं० राईसिंह द्वितीय शिष्य बाई धरमावती गु० भा० पादुका करापितः कर्मक्षयनिमित्तं शुभं भवतुः ॥

× चो० चूहरमल तस्य भार्या खल्हा तस्य पुत्र ८ सुख १ मद २ दुग्गु ३ परंगह सरवण पदमा ६ इन्द्रराज ७ लालचन्द ८ ×

(३२)

संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भट्टारख श्रीमानचन्द्र देव......... प्रणमति

(३३)

सं० १५४८ वैशाख सु० ५ मूलसंघ सेणगण पंकूरगणे भटा सोमसेण शाष्य (? शिष्य) राजसेण उपदे खंडेलवालान्वये गगशल गोत्रे सा० उभाला भार्या ....

(३४)

अजितनाथ श्रीमूलसंघे खरहथ प्रणमति

(३५)

सं० १६३७ वर्षे फागुण सु० १० श्रीमूलसंघे भ० गणकीर्त्यपदेशात् सा०......पणमति...

(३६)

सं० १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भट्टारकजी श्री ....

(३७)

सं० १८२६ वैशाख सुदि ६ मूलसंघ भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति स० भंदूला० लम गोत्र कामदारा मस्थ माना

(३८)

संवत् १४५७ वर्षे वैशाख सुदि ७ श्रीमूलसंघे भट्टारक जी धरमचंदर

(३९)

सं० १५१३ श्री काष्टासंघे भ० वरइ तियशः खेता सा भा० गांगीपुत्र तिलू नित्य प्रणमति

(४०)

सं० १५२९ वर्षे वैशाख सुदि० ७ दिने मूलसंघे भट्टारक श्रीसिंघकीर्ति देव.........

(४१)

सं० १५२२ वर्षे माघ सु० १३ बुध श्रीमूलसंघे भट्टारक श्री सिंघकीर्ति देवा सा० रहा पु० घाट......प्रणमति ।

(४२)

सं० १५१३ व० वै० सु० ५ शु० श्रीकाष्टासंघे भटेवरी पं० जेसा भा० गविति पुत्र टस । टा टाउडीरा प्रणमति ।

(४३)

सं० १५७५ माह बदि ५ गुरौ श्रीमूलसंघे भ० श्रीविजयकीर्ति श्रे० जिणदास कान्हा

(४४)

संवत् १४५७ वर्षे वैशाख सुदि ७ श्रीमूलसंघे भट्टारकजी श्री धरमचन्द्र साह वखत राम पाटणी

(४५)

सं० ११५५ जेठ वदि ५ सोम श्री देवसेनसंघ देवइमे मञ्चवदान पासनाथ बिंब कारि

(४६)

सं० १५५७ वर्षे फागुण सुदि द्वितीया शुक्रवारे रेवती नक्षत्रे सा .. श्रीचारि भूषणवराः स्वर्गं जग्मु ।।तत्पादपादयुगलमिदम् ।। चिरंनंदतात तन्नाप्रवर भुवि ।।

(४७)

संवत १५४७ वर्षे वैशाख सु० ३ सोमे हुंबड़ ज्ञा० श्रे० तिला भा० हर्षू पु० श्रे० ना भीमा नाथादयस्तेषु लालाकेन भा० रुक्मिणि पु० सिंघा वानादि कुटुंबयुतेन स्वश्रेयसे संभवनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीमूलसंघे भ० श्रीज्ञानभूषण मूडहिटीवास्तव्य ।।श्री ।।

नोट—यों तो भवन में भी बहुत से दिगम्बर जैन प्रतिमालेख संगृहीत हो सुरक्षित हैं और उन्हें यथावक शुद्धरूप में प्रकाशित करने का विचार भी बहुत दिनों से है। पर अपने समाज का रुचि-वैचि देखकर ऐसी-ऐसी चीजों को प्रकाशित करने में भय मालूम होता है। इसका ताजा उदाहरण स से प्रकाशित एक छोटा सा "प्रतिमालेख-संग्रह" ही पर्याप्त है जो कि भास्कर में धारावाहिक-रू बहुत दिनों तक प्रकाशित होता रहा। खेद की बात है कि इतनी कम कीमत की इस आवश्य पुस्तक की आज तक दस-पांच प्रतियां भी नहीं बिकीं। ऐसी अवस्था में कोई संस्था किसी ऐतिहासिक प्रकाशन का कार्य किसके भरोसे अपने हाथ में लेगी! खैर, नाहटा बन्धुओं का "हमारे संग्रह के कुछ दिगम्बर जैन प्रतिमा-लेख" इसलिये यहां प्रकाशित किये जा रहे हैं कि श्वेताम्बर बन्धुओं के प्राकथन से दिगम्बर-समाज कुछ शिक्षा ग्रहण करे।

—के० भुजबली शास्त्री

कुछ जैन ग्रन्थों में संगीत-चर्चा

[लेखक—श्रीयुत वी० राघवन, एम. ए., पी.-एच. डी.]

'स्थानांग सूत्र' जैन धर्म-ग्रन्थ है। अभयदेव ने संस्कृत में उसकी टीका की है। ग्रन्थ और टीका, दोनों ही, आगमोदय-समिति-सिरीज की संख्या ३ में प्रकाशित हुए हैं। टीका से पता चलता है कि 'पूर्वगतस्वरप्राभृत' नामक जैनग्रन्थ में भी संगीत-विद्या की चर्चा की गई है। टीका के ३९५ वें पृष्ठ में कहा गया है कि 'स्वरप्राभृत' में उन स्वरों का उल्लेख किया गया है, जिनसे २१ मूर्च्छनाओं की रचना होती है। इस स्थान में भरत और वैशाखिल का भी उल्लेख किया गया है।

टीका में संगीत-सम्बन्धी दोषों और गुणों के विषय में बतलाया गया है। उन दोषों की चर्चा की गई है, जो त्याज्य हैं, और उन गुणों के बारे में बतलाया गया है, जिनकी प्राप्ति आवश्यक है। दोष ६ है—भीत, द्रुत, रहस्य, उत्ताल, काकस्वर और अनुनास। 'भीत' से थर्राने, 'द्रुत' से जल्दबाजी, 'रहस्य' से धीमी आवाज, 'उत्ताल' से ताल से हटने, 'काकस्वर' से आवाज़ में कड़ापन, रुखाई के होने और 'अनुनास' से नाक से शब्द करने का तात्पर्य है।

भीतं त्रस्तमानमम्। द्रुतं त्वरितम्। रहस्यं ह्रस्व-स्वरं लघुशब्दम्। उत्तालं अस्थानतालम्। काकस्वरम् अश्राव्य स्वरम्। अनुनासम्।

इसके बाद गुणों की चर्चा की गई है। गुण दो श्रेणियों में बांटे गये हैं। पहली श्रेणी के गुण संख्या में आठ हैं—पूर्ण, रक्त, अलंकृत, व्यक्त, अविघुष्ट, मधुर, सम और सुकुमार। पूर्ण वह है, जिसमें सभी स्वर पूर्ण गीति से और शुद्धतापूर्वक उच्चरित हों। राग की भावात्मक विशेषता को स्पष्ट करना, अर्थात् रंग भरना, 'रक्त' कहलाता है। अलंकारों से भूषित संगीत 'अलंकृत' है। साहित्य और स्वर दोनों का स्पष्ट उच्चारण 'व्यक्त' है। 'अविघुष्ट' से उस गुण का बोध होता है, जिससे भद्दी तरह से चिल्लाकर गाने का परिहार किया जाय। 'मधुर' से कोकिल के स्वर की तरह मधुरता का बोध होता है। श्रुति और ताल का सामंजस्य 'सम' है। संगीत में लोच का लाना 'सुकुमार' कहलाता है।

पूर्णं, स्वरकलाभिः। रक्तं, गेयरागेण अनुरक्तस्य। अलंकृतं- अन्यस्वरविशेषाणां स्फुटभानां करणात्?। व्यक्तम्, अक्षरस्वरस्फुटकरणत्वात्। अविघुष्टं, विक्रोशनमिव यन्न विस्वरम्। मधुरं, मधुरस्वरं कोकिलारुतवत्। समं, तालवंशस्वरादिसमनुगतम्। सुकुमारं, ललितं ललतीवयत्। स्वरघोलनाप्रकारेण शब्दस्पर्शनेन श्रोत्रेन्द्रियस्य सुखोत्पादनाद्वेति। एभिरष्टभिर्गुणैर्युक्तं गेयं भवति, अन्यथा विडम्बना।

केवल वही संगीत, जिसमें ये गुण वर्तमान हों, संगीत का नाम सार्थक करता है। इन गुणों से हीन संगीत संगीत नहीं विडम्बना-मात्र है।

आठवें गुण, 'सुकुमार' की व्याख्या करते हुए अभयदेव ने 'घोलन' का उल्लेख किया है, यह स्वर के गमक की तरह ही कोई चीज है। 'रत्नाकर' के गमक आदि में इसका उल्लेख नहीं मिलता। अभयदेव ने दूसरी श्रेणी के जो गुण बताये हैं, उनमें भी इसी प्रकार के अपरिचित शब्द मिलते हैं। 'मृदुक' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—उरःकंठशिरोविशुद्धं मृदुकम्। दूसरा शब्द 'ऋभित' है। इसका तात्पर्य स्वरघोलन के प्रभाव में है यथा—यत्र अक्षरेषु घोलनया, संचरन स्वरः रंगतीव घोलनाबहुलमित्यर्थः। तीसरा शब्द समस्वर 'सीभर' है : समस्वराः अक्षरादिभिः समा यत्र। 'घोलन' की ही तरह 'सीभर' शब्द से भी हम अपरिचित हैं। शायद इस शब्द से ऐसी रचना का तात्पर्य है, जहाँ साहित्य के शब्द स्वर के अनुकूल और उपयुक्त ही हों।

पृष्ठ ४४५ब में अभयदेव ने 'गेय' और 'वर्णपद' नामक दो सङ्गीत-सम्बन्धी रचनाओं का उल्लेख किया है।

अभयदेव की टीका १०६३ ख्रीस्ताब्द की मानी जाती है।

भद्रबाहुकृत कल्पसूत्रः संस्कृतटीकाकार विनयविजयोपाध्याय। यह पुस्तक जैन पुस्तकोद्धार-फंड-सिरीज की ६१ वीं संख्या में है।

विनयविजय की टीका के ८२ वें पृष्ठ में 'तूण' नामक एक वाद्य यंत्र की और उसके बजानेवालों की चर्चा की गई है। इसी टीका के ८३ वें पृष्ठ में तीन प्रकार के ढोल का उल्लेख किया गया है। यह अंश बहुत रोचक है। इसमें बतलाया गया है कि मृदंग वास्तव में क्या वस्तु है। उसके अनुसार आजकल जिस वाद्य-यंत्र को हम 'मृदंग' कह कर पुकारते हैं, वह मृदंग नहीं कहा जा सकता। तीन प्रकार के ढोल ये हैं—पणव, मुरज और मृदंग।

पणवो मृत्पटहः। मुरजो मर्दलः। मृदंगः मृण्मयः स एव।

'पणव' उस ढोल को कहते हैं जिसका आधार मिट्टी का हो और ऊपरी भाग चमड़े का हो। मृदंग की बनावट भी ऐसी ही होती है। 'मृदंग' शब्द से ही यह अर्थ भासित होता है कि वह मिट्टी का बना होता है और इस प्रकार यह शब्द आजकल के मृदंग के लिये लागू नहीं होता।

टीकाकार विनयविजय का समय १७ वीं शताब्दी ख्रीस्ताब्द है।

जैन पुस्तकोद्धार-सिरीज की ५३ वीं संख्या में हरिभद्रकृत 'आवश्यक वृत्ति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसपर हेमचन्द्र का टिप्पण है। पृष्ठ २ ब में कई तालवाद्यों का उल्लेख मिलता है; यथा ''भम्भा पृथुलमुखढक्काविशेषः।" 'भम्भा' एक प्रकार का 'ढक्का' है। अन्तर यही है कि भम्भा का मुख ढक्का से बड़ा होता है। एक दूसरे प्रकार के ढोल का नाम 'मुकुन्द' है। इनके सिवा 'कटिका' 'तलिमा' या 'तिउलिका' तथा कुछ अन्य वाद्यों का भी उल्लेख किया गया है।

हरिभद्र और हेमचन्द्र दोनों का ही समय ११ वीं शताब्दी खीष्ताब्द है।

रत्नशेखरसूरि ने श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र पर एक टीका लिखी है। दोनों ही जैनपुस्तकोद्धार-सिरीज में प्रकाशित हुए हैं।

इस टीका के १३३ वें पेज में रत्नशेखर ने लिखा है कि मूल राग ६ हैं—श्रीराग और पाँच दूसरे राग, और भाषा राग छत्तीस हैं। वह संक्षेप में संगीत और नृत्य का वर्णन करता है—७ स्वर, ३ ग्राम, २१ मूर्च्छनाएँ, ४९ तान, ३ मात्रा, ३ लय, ४ रूपक, राग, उपराग, रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग।

रत्नशेखरसूरि की टीका का समय १४०६ खीष्ताब्द है।

अनुयोगद्वार सूत्र—टिप्पणकार मलधारि हेमचन्द्र, आगमोदयसमिति-सिरीज में प्रकाशित।

इस टीका के १२७।। पृष्ठ पर संगीत की चर्चा की गयी है। इसकी बातें 'स्थानांग' पर अभयदेव की टीका में वर्णित बातों से मिलती-जुलती हैं। इसमें 'गोमुखी' या 'काहल' नामक वाद्य-यन्त्र का उल्लेख आया है। 'गोधिका' नामक ढोल का, जिसमें गोधा अर्थात् गोह के चमड़े का प्रयोग होता है, वर्णन आया है। 'गोधिका' का ही दूसरा नाम 'दरदरिका' भी प्रसिद्ध है। 'आडंबर' या 'पटह' नामक ढोल का भी उल्लेख आया है।

मलधारि हेमचन्द्र का समय १२ वीं शताब्दी खीष्ताब्द है।

अनुवादक—त्रिवेणीप्रसाद

संस्कृत के सांकेतिक अंक

[संग्राहक श्रीयुत पं० नेमिचन्द जैन, न्याय-ज्योतिषतीर्थ]

शून्य गगन, ख, अभ्र, व्योमन्, वियत्, अम्बर, नभस्, आकाश, अनन्त, अन्तरीक्ष, विष्णुपद, पुष्कर, सुरवर्त्मन।

एक—सुधांशु, निशापति, पृथ्वी, द्विजराज, शशधर, नक्षत्रेश, क्षपाकर, धात्री, क्षमा, सोम, प्रालेयांशु, रजनीकर, हिमगु, मृगाङ्क, कलाधर, रूप, शशि, इन्दु, कु, भूमि, भू, चन्द्र, अब्ज, विधु, इला, उर्वी, निशाकर, प्रभव।

दो—युग्म, दस्र, यम, अश्विन, लोचन, द्वि, द्वय, कर, अश्वि, कृति, अक्षि, नयन, पक्ष, नेत्र, यमल, विभव, दृग्, द्वं, द्वौ, उभौ युगल, दृष्टि, चक्षुस्, ईक्षण, हस्त, मिथुन युतक, द्वंत।

तीन—त्रय, गुण, क्रम, अग्नि, राम, दहन, हुताशन, पावक, त्रि, त्रिजग, अनल, शिखि, वह्नि, शुक्र, हरनेत्र, पुर, लोक त्रै रत्न, भुवन, ज्वलन, वैश्वानर, तनूनपात्, वर्हि, कृशानु, रोहिताश्व, वायुसख, हिरण्यरेतस्, हव्यवाहन, सप्तार्चिस, चित्रभानु, वड़वानल, वाडव।

चार—चतुर्, सागर, युग, अब्धि वेद, सिन्धु, कृत वारिधि जलधि, उदधि, पयोधि, अम्बुधि विपधि, गति, कपाय, सलिलाकर, कूपार, पारावार, सरित्पति, अर्णव जलनिधि, यादःपति, अपांपति।

पांच—इन्द्रिय, विषय, बाण शर इषु, नाराच, पञ्च, अक्ष, सायक, अशु, भूत, मरुत्, अर्थ, प्रजापति, शस्त्र, व्रत, विषय, तन्तुसायक।

छह—रस, ऋतु, अंग, षट्, अरि अङ्गिरस्, तर्क जीव, लेश्या, द्रव्य, काय, खर, कुमार-वदन, षद, रिपु, द्विप, द्वेषण, दुर्हृद् सपत्नारि।

सात—भय, अचल, मुनि, गिरि, पन्नग, द्वीप, धातु, व्यसन, तत्त्व, सप्त, नग, भूभृत, क्ष्माधर, अद्रि, शैल, कुभृत्, अग, अश्व, घोटक, भूधर, गोत्र, चक्रवाल, त्रिकूट, शिलोच्चय, नरक श्रीमुख।

आठ—अष्टन्, नाग, व्याल, गज, सिन्धुर, भुजङ्ग, द्विप, कुञ्जर, इभ, अहि, दन्तिन्, करिन्, वसु, हय, भर्वि, फणिन्, तनु, कर्मन्, वारण, द्विरद, अनीक, स्तम्बेरम, यूथप, पक्षी यूथनाथ, मदकल, कलभ, करिशावक, स्पर्श।

नौ—नवन्, पदार्थ, केशव, नारायण, प्रतिनारायण, निधि, ग्रह, दुर्ग, गो, अङ्क, खग, खेचर, रन्ध्र, युवा।

दश—आशा, दिक्, ककुभ्, धाता, काष्ठा, हरित्, खशशि, खेन्दु, खभू, खिला, खाब्ज, खचन्द्र, खरूप।

ग्यारह—एकादशन्, भव, रुद्र, शिव, ईश्वर, ईश, शूलिन, क्षितिभू, भुवाब्ज, चन्द्राब्ज, इलाब्ज, चन्द्ररूप, भुवेन्दु, भूरूप, विन्धुरूप, धूर्जटि, भूतेश, शंभु, पशुपति शूलिन्, महेश्वर, शंकर, शर्व, चन्द्रशेखर, सोमेन्दु सोमरूप, इलारूप, गिरीश, पिनाकिन् कपर्दिन्, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, कपालभृत्, वामदेव, धात्रीभू, हर, भर्ग, त्र्यम्बक, भीम स्थाणु।

बारह—द्वादशन्, सूर्य, अर्क, चक्रवर्तिन्, दिवाकर, भानु, कामदेव, बहुधान्य, इन, तपन, रवि, नयनभू, नयनेन्दु, दस्राब्ज, दस्ररूप दस्रेन्दु, युग्मेन्दु, युग्मरूप कराब्ज, करेन्दु, हस्तेन्दु, हस्तभू, अक्षिसोम, पक्षकु पक्षभू, कर्मसाक्षिन्, जगच्चक्षुस्, लोकबन्धु, दिनमणि, धामनिधि, अंशुमालिन्, अब्जिनीपति, राशि, आदित्य भास्कर हरिदश्व, उष्णरश्मि, मार्तण्ड, यमरूप यमकू, अर्यमन्, अहस्कर, श्रुतिरूप, दृग्भू, हस्तरूप करभू, लोचनाब्ज, लोचनरूप ईक्षणेन्दु, ईक्षणरूप, विभवरूप, प्रभाकर, विभाकर, विकर्तन, द्वैताब्ज।

तेरह—त्रयोदशन्, गुणभू, रामभू, दहनकू, प्रमाथिन्, गुणाब्ज, गुणरूप, अग्निरूप, क्रमरूप, क्रमाब्ज गुणेन्दु, क्रमेन्दु, रत्नरूप, रत्नभू, रत्नेन्दु पुरेन्दु पुररूप, भुवनेन्दु, भुवनरूप, भुवनाब्ज, भुवनसोम, लोकेन्दु, लोकरूप, लोकाब्ज, ज्वलनरूप ज्वलनाब्ज, ज्वलनशशिन्, ज्वलनकू, वह्निभू, रत्नचन्द्र, रत्नसोम, शिखिरूप, शिखिकू, शिखिभू, वह्निला, वह्निभू वह्निकू, शुक्लरूप, शुक्लाब्ज, शुक्लभू शुक्लकू, शुक्लचन्द्र, कृशानुरूप, कृशानुकू, कृशानुभू, दहनकू दहनभू, दहनसोम, दहनला, दहनक्ष्मा।

चौदह—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, गुणस्थान, मनु, वज्रिण, मघवन्, चतुर्दशन्, वेदभू विक्रम, वेदकू, वेदेन्दु युगेन्दु, युगरूप, युगशशिन्, युगचन्द्र चतुररूप चतुर्भू, चतुष्क कृतरूप, कृतकू, कृतभू, कृताब्ज, कृतशशिन्, कृतचन्द्र, वारिधिरूप, वारिधिभू, वारिधिचन्द्र, वारिधिसोम, जलधिरूप जलधिकू, जलधिभू, जलधीला, पयोधीला, वेदला अम्बुधीला, उदधीला, मार्गणा, कषायाब्ज, गतीला, वार्धीला, विषधीला अर्णवभू अर्णवकू अर्णवरूप, आश्रमभू, आश्रमकू, आश्रमसोम, विडौजस्, पाकशासन, शुनासीर, शतमन्यु, वासव, सुत्रामन्।

पंद्रह—पंचदशन्, तिथि, अक्षभू, इषुक्षिति, वृष, बाणेन्दु, बाणरूप शराब्ज, शरेन्दु, अक्षकू, अक्षसोम, भूतरूप, भूताब्ज, शस्त्ररूप, शस्त्राब्ज शस्त्रभू, शस्त्रकू, बाणभू, व्रतरूप, व्रतभू, व्रतकू, व्रतक्ष्मा व्रतेन्दु व्रतेला इन्द्रियेला, विषयेला, बाणेला, शरेला नाराचेला, अक्षीला, अर्थरूप, अर्थभू, अर्थकू, अर्थेला, अर्थसोम, अर्थशशिन्, अर्थचन्द्र, भूतेन्दु, अर्थेन्दु, वर्णरूप, वर्णेन्दु, वर्णकू, वर्णेला, वर्णसोम, अशुरूप, अशुकू, अशुभू, मरुद्भू मरुद्रूप, मरुत्कू, मरुदिला, मरुत्सोम।

सोलह—षोडशन्, नृप, रसभू, अङ्गभू, अङ्गकू रसकू, रससोम, रसेला, रसेन्दु, अंगेंदु, अंगेला, राजा, भूपति, इलापति, नृपति, पृथ्वीपति, चित्रभानु, मेदनीपति, अष्टि, रसाब्ज,

रसरूप, जीवरूप, जीवेन्दु, जीवचन्द्र, तर्करूप, तर्केन्दु, तर्कभू, तर्कशशिन, अरिरूप, अरीला, अरिभू, अरिकु, तर्कक्रू, द्रव्यरूप, द्रव्यभू, द्रव्यकू, द्रव्येन्दु, कायरूप, कायभू, कायकू कायेन्दु, खरेन्दु, खरेला, खररूप, खरभू, पदरूप, पदेन्दु, पदकू, पदभू, पदसोम, पदेला, पदक्षमा, पदधात्री, रिपुरूप, रिपुभू, रिपुकू, द्विपरूप, द्विषेला, द्विषभू, द्विषकू, लेश्याभू, लेश्यारूप ।

सत्रह—सप्तदशन्, अत्यष्टि, अश्वभू, नगभू, अगभू, अचलभू, भयरूप, भयभू, मुनिभू, गिरिभू, द्वीपभू, धातुभू, व्यसनभू, तत्त्वभू, अद्रिभू, नरकभू, नरकरूप, नरकक्, अश्वकृ, नगकृ, अगकू, अगेन्द्र, अगरूप, अगसोम, अचलसोम, भयसोम, भयेन्दु, भयकू गिरिरूप, गिरिकू, गिरिभू, गोत्ररूप, गोत्रभू, वाजिरूप, वाजिभू, वाजिकृ, चक्रवालेन्दु, अद्रिकृ, तत्त्वेन्दु, तत्त्वभू तत्त्वसोम, तत्त्वकृ सप्तेन्दु सप्तरूप, सप्तभू, सप्तकृ, श्रीमुखेन्दु, श्रीमुखसोम, श्रीमुखरूप ।

अठारह—अष्टादशन्, धृति, नागाब्ज, व्यालेन्दु, भुजङ्गरूप, वसुभू, हयेन्दु, हयरूप, इभेन्दु, अष्टेन्दु, अष्टरूप, हयभू, अष्टभू, व्यालाब्ज, व्यालरूप, वस्विला, वारण द्विपाब्ज, द्विपरूप, द्विपेन्दु, गजेन्द्र, गजरूप, गजैक, तनुरूप, तनुभू, कर्मरूप, कर्मेन्दु, गजेन्दु, गजरूप, गजैक, तनुरूप, तनुभू, कर्मरूप, कर्मेन्दु, कर्मभू, वारणरूप, वारणेन्दु, वारणहिमभू, वारणाब्ज, अहिरूप, अहिभू, अहिकू, कलभेन्दु, कलभैक, कलभरूप, यूथपेन्दु, यूथपरूप, यूथपभू, यूथपकू, स्पर्शरूप, स्पर्शेन्दु, स्पर्शकृ, स्पर्शभू, स्पर्शहिमगु द्विरदेन्दु, द्विरदरूप, द्विरदकृ, अनीकरूप, अनीकेन्दु, अनीकभू, दन्तिरूप, दन्तिभू, दन्तिकृ, दन्तीला, करीला, मर्वीला, फणीला, फणिरूप, पद्मिनीला, जट, दट, द[illegible] ।

उन्नीस—पार्थिव, गोऽब्ज, अंकेन्दु, अङ्करूप, अङ्काब्ज, खगेन्दु, अङ्कभू, खगाब्ज, रन्ध्राब्ज, रन्ध्ररूप, गोरूप, एकोनविंशति, झक, धक झट, धट, झप, धप, वक, वप, खेचरेन्दु, खेचररूप, पदार्थरूप, पदार्थेन्दु, केशवरूप, केशवभू, नारायणरूप, नारायणसोम, ग्रहरूप, ग्रहभू ।

बीस—विंशति, खाश्वि, अभ्रलोचन, खनेत्र, गगनलोचन, व्योमपक्ष, खदस्र, खपक्ष, अभ्रकृति, नख, व्यय, अख, इठ, उठ, ओफ, नफ, नठ, अख, डठ, नर, नभाश्वि, नभकर, नर, नभकृति, नभपक्ष, खकृति, खपक्ष, खविभव पुष्करद्व, अनन्तचक्षुस्, आकाशदस्र, अर ।

इक्कीस—एकविंशति, स्वर्ग, इन्दुनेत्र, चन्द्रनयन, चन्द्रपक्ष, सर्वजित्, भूदस्र, भूयम, भूपक्ष, कुदस्र, अब्जनयन, रूपनयन, रूपनेत्र, रूपयम, कठ, टख, पख, पठ, कफ, स्वर, नाक, त्रिदशालय, सुरलोक, द्यो, दिव, भूहस्त, विबुधालय, अमरलोक, अमरालय, सुरालय, देवलोक, देवालय, निर्जरलोक ।

बाईस—द्वाविंशति, नेत्रदस्र, नयनयम, खठ, फख, अश्वियमल, नयनाकृति, पक्षाकृति, नेत्रपक्ष, अश्विपक्ष, करयम, यमपक्ष, नेत्रत्रिभव, द्विकर, नयनकर, हस्तपक्ष, यमपक्ष, यमलकृति, यमलपक्ष, रठ, ठख, खर, द्वियम, यमलनेत्र।

तेईस—त्रयोविंशति, क्रमयम, गुणयम, रामपक्ष, रामयम, लोकयम, लोकनेत्र, लोकदृग्, लोककृति, रामकृति, क्रमपक्ष, विश्वनेत्र, पुरनेत्र पुरनयन, पुरपक्ष, गुणपक्ष, रत्नयम, भुवनद्वय, गठ, डख डर, गर, वर वठ, वख, गफ, ज्वलनदस्र, ज्वलनपक्ष, दहनकृति, अनलपक्ष।

चौबीस—जिन, सिद्ध, अवतार, वेदपक्ष, युगनेत्र, सागराक्षि, कृतपक्ष, वेदनयन, गतिपक्ष, गतिनयन, कषायनयन, युगदस्र, सागरदस्र, अर्णवपक्ष अर्णवकृति, कृतकृति, घठ, ढर, भख, घफ, सिन्धुदस्र, सिन्धुनेत्र, कषायदस्र।

पच्चीस—पंचविंशति, वाणनेत्र, वाणपक्ष, वाणाकृति, शराकृति, शरपक्ष, शरनेत्र, भूतपक्ष, भूतनेत्र, भूताकृति, भूतदस्र, अक्षपक्ष, सायकाकृति, नाराचनयन, नाराचदस्र अर्थाकृति, अर्थनेत्र, अर्थनयन व्रतपक्ष, व्रतकृति, शख, शठ, शर।

छब्बीस—षड्विंशति, रसनेत्र, रसदस्र, रसयम, अंगकृति, अंगयुगल ऋतुयम, ऋतुनेत्र, ऋतुपक्ष, ऋतुदस्र, चर, नठ चख, पफ, अरिदस्र, अरिपक्ष, रिपुपक्ष, रिपुकृति, रिपुनेत्र, कायदस्र कायनेत्र, काययम, काययुगल खरपक्ष, खरकृति, खरदस्र।

सत्ताईस—सप्तविंशति, भ, नक्षत्र, ऋक्ष, छठ, सख, थर, अश्वनेत्र, अश्वयम घोटकदस्र, घोटकयम, मुनिनेत्र मुनिकृति, भयनेत्र, भयपक्ष, भयदस्र, सप्तयम, सप्तनेत्र, भूधरयम, भूभृन्नेत्र, शैलयम, गोत्रयम, नरकयम, नरकदस्र, श्रीमुखनयन, अंगपक्ष, अंगकृति, नगपक्ष, नगदस्र, नगयुगल, पर्वतद्वय।

अट्ठाईस—अष्टाविंशति, सिन्धुरनेत्र, इभनेत्र, इभपक्ष, इभाक्षि, इभाकृति, तनुयम, कर्मदस्र, वारणयम, वारणनेत्र, अनीकयुगल, हयद्वन्द्व, वसुपक्ष, तनुपक्ष, फणियम, व्यालनेत्र, नागयम।

उनतीस—एकोनत्रिंशत्, गोयम, अंकपक्ष, खेचरयम, गोयुगल, खगनेत्र, खगदस्र, खेचरकृति, रन्ध्रयम रन्ध्रनेत्र, झर, झठ, ढफ, ग्रहयुगल, ग्रहयम, निधिनेत्र, निधियम, दुर्गनेत्र, दुर्गकृति।

तीस—त्रिंशत्, खरदहन, खगुण, खक्रम, अभ्रगुण, खराम, आकाशाग्नि, आकाशगुण, व्योमगण।

इकतीस—एकदहन, इन्दुगुण, चन्द्रगुण, चन्द्रराम, टग, कड, पड, कब, कल, टल, कुगुण, कुदहन, भूराम, भूगुण, अब्जगुण, अब्जराम, इलागुण, कुरत्न, भूलोक, पृथ्वीलोक, इलालोक, चन्द्रलोक, शशिलोक, इन्दुलोक, चन्द्रभुवन, शशिभुवन, भूज्वलन, रूपगुण, रूपरत्न, रूपविश्व, रूपानल, क्षमालोक, एकत्रिंशत्।

बत्तीस—द्वात्रिंशत्, रदन, दशन, दन्त, यमगुण, दन्तत्रय, युगलगुण, यमदहन, यमाग्नि, यमलोक, यमभुवन, कराग्नि, करवह्नि, नेत्ररत्न, नयनरत्न, नेत्रलोक, अग्निरत्न, करगुण, कररत्न, करराम, हस्तगुण।

तेत्तीस—अमर, निर्जर, देव, त्रिदश, विबुध सुर, दिवौकस्, त्रिलोक, रामगुण, रत्नलोक, भुवनत्रय, लोकत्रय, त्रयस्त्रिंशत्, दहनाग्नि, क्रमरत्न, क्रमपुर, दहनत्रय, गड, बड, बग, लव, बल।

इन संख्या-सम्बन्धी सांकेतिक अंकों का संग्रह गणित-सार-संग्रह, सिद्धान्त-शिरोमणि-(गणिताध्याय), ग्रहलाघव, सिद्धान्त तत्त्व-विवेक, लीलावती, बीजगणित, विश्वलोचन, अमरकोश और गोलप्रकाश इन ग्रन्थों से किया है। विशेषता यह है कि अजैन ग्रन्थों में तत्त्व शब्द से २५ लिया गया है किन्तु, गणितसार-संग्रह में तत्त्व शब्द से ७ ही लिया गया है।

दूसरा तरीका संख्या निकालने का यह भी है—

कटपयपुरस्थवर्णैः नवनवपञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः। स्वरनञ्शून्यं संख्यामात्रा-परिमाक्षरं त्याज्यम्॥

क्रम से क से झ तक और ट से ध तक इन नौ-नौ अक्षरों को एकादिसंख्याबोधक जानना चाहिये। इसी प्रकार प से म तक पांच और य से ह तक आठ अक्षरों की संख्या भी। स्वर न ञ ये सब शून्य के द्योतक जानना। इस प्रकार शब्दों से संख्या की निष्पत्ति होती है।

ज्योतिषीजी का यह संग्रह अधूरा है, फिर भी इससे अन्वेषक विद्यार्थियों को कुछ न कुछ लाभ होगा ही। इस विषय पर एक गवेषणा-पूर्ण वृहत लेख प्रकाश में आनेकी आवश्यकता है।

—के० बी० शास्त्री

सत्प्ररूपणा-विभाग व मंगला-खण्ड-विचार

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी०]

षट्खंडागम की प्रथम जिल्द के प्रकाशित होने पर उसके सम्बन्ध में की गई समालोचनाओं में एक दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किये गये हैं, जिन पर यहां पुनः विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें प्रथम प्रश्न पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार का यह है कि—

सत्प्ररूपणा का मंगलाचरण व विषय-विभाग

'सत्प्ररूपणा की जो विषय-सूची दी है वह केवल सत्प्ररूपणा की न हो कर उसके पूर्व के १५८ पृष्ठों की भी विषय-सूची है। अच्छा होता यदि उसे जीवस्थान के प्रथम अंश का विषय-सूची लिखा जाता और सत्प्ररूपणा का जो मुख-पृष्ठ दिया है उस पर सत्प्ररूपणा की जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखा जाता, क्योंकि, षट्खंडागम का पहला खंड जीवस्थान है, उसी का णमोकार मंत्र मंगलाचरण है, न कि सत्प्ररूपणा का'। (अनेकान्त वर्ष २, कि० ३, पृ २०१)

मुख्तारजी की इस सूचना पर सूक्ष्म विचार करने पर भी उक्त विषय में हमें अपनी कोई भूल या त्रुटि ज्ञात नहीं हुई। हमने जो ग्रन्थका नाम दिया है और उसका विषय-विभाग किया है वह मूल ग्रन्थ को ध्यान में रख कर ही किया है। षट्खंडागम की अपेक्षा से 'जीवस्थान का प्रथम अंश' और सत्प्ररूपणा में भेद ही क्या है? सत्प्ररूपणा ही तो जीवस्थान का प्रथम अंश है। उसी के आदि में मंगलाचरण किये जाने से वह जीवस्थान भर का मंगलाचरण हो जाता है। दूसरे, यथार्थतः तो वह सत्प्ररूपणा का ही मंगलाचरण है। आचार्य पुष्पदन्त ने उस मंगलाचरण को आदि लेकर सत्प्ररूपणा के ही सूत्रों की तो रचना की है। यदि हम इसे आचार्य भूतबलि की आगे की रचना से अलग करलें तो आचार्य पुष्पदन्त की रचना सत्प्ररूपणा मात्र ही तो रह जाती है और उसी का वह मंगलाचरण है। उसके आगे के छह सात सूत्रों में सत्प्ररूपणा का यथोचित स्थान और कार्य बतलाने के लिये चौदह जीव समासों और आठ अनुयोग द्वारों का उल्लेख मात्र किया गया है। धवलाकार ने उन सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग से जीवस्थान की उत्थानिका का वर्णन कर डाला और वह भी इतना लम्बा जो अनुवादादि-सहित मुद्रित प्रति के १५८ पृष्ठों में आया, तो क्या इस कारण वह मंगलसूत्र सत्प्ररूपणा का मंगलाचरण ही नहीं रहा या सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत हो जाने से जीवस्थान का नहीं रहा? ग्रन्थों में मंगलाचरण की व्यवस्था तो यही देखने में आती है कि ग्रन्थ के आदि में वह किया जाता है और जो भी खण्ड, स्कन्ध, सर्ग, अध्याय व विषय-विभाग आदि में हो उसी के अन्तर्गत निबद्ध होने पर भी वह समस्त ग्रन्थ का समझा

जाता है। समस्त ग्रन्थ पर उसका अधिकार प्रकट करने के लिये उसका एक स्वतन्त्र विभाग नहीं बनाया जाता। इस दृष्टि से सत्प्ररूपणा के आदि में होते हुए भी उस मङ्गलाचरण के समस्त जीवस्थान का अङ्ग बने रहने में कोई आपत्ति तो नहीं होना चाहिये? जीवस्थान ही क्यों, जहां तक ग्रन्थ में सूत्रकारकृत दूसरा मंगलाचरण न पाया जावे तहां तक उस मंगलाचरण का अधिकार समझना चाहिये, चाहे विषय की दृष्टि से ग्रन्थ में कितने ही विभाग क्यों न पड़ गये हों। स्वयं धवलाकार ने आगे कृति अनुयोगद्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को शेष तेवीस अधिकारों का भी मंगलाचरण माना है। यथा—

कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्स मंगलस्स सेस-तेवीस-अणियोगद्दारेसु पउत्तिदंसणादो।

उसी कृति अनुयोगद्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को स्वयं मुख्तारजी ने खींचतान कर उससे पूर्व के खुद्दाबन्ध और बन्धस्वामित्व खण्डों का भी मंगलाचरण साबित करने का प्रयत्न किया है। तब जीवस्थान के ही आदि अंश सत्प्ररूपणा के प्रारंभ में दिये गये मंगलाचरण को समस्त जीवस्थान का समझने के लिये उसका सत्प्ररूपणा से अलग निर्दिष्ट किया जाना क्यों आवश्यक प्रतीत होता है, यह कुछ समझ में नहीं आता? मुख-पृष्ठ पर सत्प्ररूपणा की जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखने से क्या अच्छा होता, उसके विषय आदि पर क्या प्रकाश पड़ता और उससे पाठक क्या समझते? षट्खण्डागम के भीतर ऐसे अज्ञात-कुल-शील शीर्षक के लिये स्थान देना मैं अब भी उचित नहीं समझता। ग्रन्थ की विषय-सूची जो सत्प्ररूपणा की कही गई है वह मूल सूत्रग्रन्थ की अपेक्षा से है। धवलाकार ने आदि से लगा कर १७७ सूत्रों तक की एक ही सिलसिले से टीका की है और स्वयं उसे 'संतसुत्तविवरण' कहा है। चूंकि टीकाकार ने मंगलाचरण व प्रास्ताविक सूत्रों की ही व्याख्या में श्रुतावतार व जीवस्थान की उत्थानिकादि का विस्तार से वर्णन किया है, इसलिये सूची में उन विषयों का स्पष्ट अलग उल्लेख कर दिया गया है। इसमें हमें कोई त्रुटि व सुधार का आवश्यकता अब भी प्रतीत नहीं होती, तथा उक्त आपत्ति सर्वथा निर्मूल ज्ञात होती है।

मुख्तारजी की दूसरी आपत्ति विषय की दृष्टि से कुछ गंभीर है। वे लिखते हैं—

वर्गणा-खंड-विचार

"यहां पर एक बात जरूर प्रकट कर देने की है और वह यह कि प्रस्तावना में 'धवला को वर्गणा-खण्ड की टीका भी बतलाया गया है. परन्तु मेरे उस लेख की युक्तियों पर कोई विचार नहीं किया गया जो सिद्धान्तभास्कर के छठे भाग की पहली किरण में 'क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है' इस शीर्षक के साथ प्रकाशित हो चुका है और जिन पर विचार करना उचित एवं आवश्यक था। यदि उन युक्तियों पर विचार करके प्रकृत निष्कर्ष निकाला गया होता तो वह विशेष गौरव की वस्तु होता। इस समय वह पं० पन्नालालजी सोनी के कथन का अनुसरण जान पड़ता है, जिनके लेख के उत्तर में ही मेरा

उक्त लेख लिखा गया था। इस विषय का पुनः विशेष विचार अनेकान्त के गत विशेषांक में दिये हुए 'धवलादि श्रुत-परिचय' नामक लेख में 'वर्गणाखण्ड-विचार' नामक उपशीर्षक के नीचे किया गया है। उस पर से पाठक जान सकते हैं कि उन युक्तियों का समाधान किये बगैर यह समुचित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि धवला टीका षट्खण्डागम के प्रथम चार खण्डों की टीका न होकर वर्गणाखण्ड सहित पांच खण्डों की टीका है।"

(अनेकान्त वर्ष ३, किरण २, पृष्ठ २०२)

ग्रन्थ के खण्ड-विभाग का जो परिचय हमने प्रथम जिल्द की भूमिका में दिया है वह मत हमने धवला की उपलभ्य प्रति के सूक्ष्म अवलोकन व युक्ति-संगत अनुमानों द्वारा ही निश्चित किया है। वहां न किसी पूर्व प्रकाशित मत का ही अनुसरण किया गया और न खण्डन, क्योंकि स्थायी ग्रन्थ की भूमिका में सामान्य अवलोकन और विस्खलित स्वल्प सामग्री के आधार पर स्थिर किये गये मत मतान्तरों के खण्डन-मण्डन में पड़ना हमें अभीष्ट प्रतीत नहीं हुआ। किन्तु समालोचक हमारी उक्त समीक्षा को इस कारण विशेष गौरव की वस्तु नहीं समझते क्योंकि उसमें उनके 'लेख की युक्तियों पर विचार नहीं किया गया।' यदि समालोचक भूमिका के 'षट्खण्डागम-परिचय' शीर्षक स्कन्ध को ध्यान से पढ़ते तो उनकी शङ्काओं का समाधान हो जाता और यह भी समझ में आता कि उसमें किसी मत-विशेष का अनुसरण नहीं किया गया है। अस्तु, जब यह वर्गणाखण्ड-विषयक प्रश्न पुनः उठाया ही गया है, तब उस पर हमें पुनः विचार करना आवश्यक हो गया।

क्या वर्गणाखण्ड धवलान्तर्गत नहीं है?

षट्खण्डागम के जो छह खण्डों का परिचय प्रथम जिल्द की भूमिका में दिया जा चुका है उनमें से प्रथम तीन अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय तथा अन्तिम अर्थात् महाबंध जो स्वतन्त्र पुस्तकारूढ़ है, इन चार खण्डों के विषय में तो कोई आपत्ति नहीं बतलायी जाती। आपत्ति है वेदना और वर्गणाखण्ड के बीच की सीमा के संबन्ध में। मुख्तारजी का मत है कि 'धवला ग्रन्थ वेदना-खण्ड के साथ ही समाप्त हो जाता है, वर्गणाखण्ड उसके साथ में लगा हुआ नहीं है।' उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि में जो युक्तियां दी हैं वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं:—

१ जिस 'कम्मपयडिपाहुड' के २४ अधिकारों का पुष्पदन्त और भूतबलि ने उद्धार किया है उसका दूसरा गुणनाम 'वेयणकसिण पाहुड' भी है जिससे उन २४ अधिकारों का वेदना-खण्ड के ही अन्तर्गत होना सूचित होता है।

२ चौबीस अनुयोगद्वारों में वर्गणानाम का कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। अवान्तर अनुयोग के भी अवान्तर भेदान्तर्गत संक्षिप्त वर्गणाप्ररूपणा को 'वर्गणाखण्ड' कैसे कहा जा सकता है?

३ वेदनाखण्ड के आदि मंगलसूत्रों की टीका में वीरसेन ने उन सूत्रों को ऊपर कहे हुए वेदना, बंधसामित्तविचय और खुद्दाबंध का मंगलाचरण बतलाया है, और यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखण्ड के आदि में तथा महाबंधखण्ड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है। उपलभ्य धवला के शेषभाग में सूत्रकार-कृत कोई दूसरा मंगलाचरण नहीं देखा जाता, इससे वहां वर्गणाखण्ड की कल्पना गलत है।

४ धवला में जो 'वेयणाखण्ड समत्ता' पद पाया जाता है वह अशुद्ध है; उसमें पड़ा हुआ 'खण्ड' शब्द असंगत है, जिसके प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह मालूम नहीं होता।

५ इन्द्रनन्दि व विबुध श्रीधर जैसे ग्रन्थकारों ने जो कुछ लिखा है वह प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है। उनके सामने मूल ग्रन्थ नहीं थे, अतएव उनकी साक्षी को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता

६ यदि वर्गणाखण्ड धवला के अन्तर्गत था तो यह भी हो सकता है कि लिपिकार ने शीघ्रतावश उसकी कापी न की हो और अधूरी प्रति पर पुरस्कार न मिलने की आशंका से उसने ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति को जोड़ कर ग्रन्थ को पूरा प्रकट किया हो।

(जै० सि० भा० ६ कि० १. पृ०, ४२; अनेकान्त ३, १, पृ०३)

अब हम इन युक्तियों पर क्रमशः विचार करेंगे।

यह बात सत्य है कि कम्मपयडिपाहुड का ही दूसरा नाम वेयणकसिणपाहुड है और वह गुण नाम भी है क्योंकि वेदना कर्मों के उदय को कहते हैं और उसका निरवशेष-रूप में जो वर्णन करता है उसका नाम वेयणकसिणपाहुड है। किन्तु इसमें यह आवश्यक नहीं हो जाता कि समस्त वेयणकसिणपाहुड वेदनाखण्ड के अन्तर्गत ही होना चाहिये। यदि ऐसा माना जावे तब तो छह खण्डों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और समस्त षट्खण्ड वेदनाखण्ड के ही अन्तर्गत मानने पड़ेंगे, क्योंकि जीवट्ठाण आदि सभी खण्डों में इसी वेयणकसिणपाहुड के अंशों का ही तो संग्रह किया गया है और वह भी एक किसी खास क्रम से नहीं। किन्तु सूत्रकारों ने अपना स्वतन्त्रविषय-विभाग-क्रम बनाकर उसके उपयोगी जो सामग्री कम्मपयडिपाहुड के जिन अधिकारों में मिली उसे वहां से उठा कर अपने क्रम में यथास्थान ले लिया है। यह बात जीवट्ठाण की उत्थानिका में, उस खण्ड के विषय में, धवलाकार ने मुद्रित प्रति के १२५ आदि पृष्ठों में स्पष्ट बतला दी है और वह उक्त प्रति की भूमिका में दिये गये मानचित्रों से और भी स्पष्ट हो जाती है। धवलाकार ने स्पष्ट कहा है कि—

वेयणकसिणपाहुड और वेदनाखण्ड एक नहीं हैं

'वेदणाकसिणपाहुडमज्झादो अणुलोमविलोमकमेहि विणा जीवट्ठाणस्स संतादि अहियारा अहिणिम्माया त्ति जीवट्ठाणं जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि संठिदं। (सं० प० पृ० ७४)

अर्थात् वेदनाकसिणपाहुड के मध्य से किसी आगे-पीछे केक्रम के विना ही जीवस्थान के संतादि अधिकार निकले हैं, इस कारण जीवस्थान यत्रतत्रानुपूर्वी से स्थापित हुआ है। यही बात और खण्डोंके विषय में भी कही जा सकती है। दूसरा खण्ड खुद्दाबंध पांचवें अधिकारबन्धन के एक विभाग से निकला है। उसी बंधनके अन्य-अन्य विभागों से तीसरा खण्ड बंधस्वामित्व व छठवां खण्ड महाबंध निकला है। इस प्रकार समस्त वेयणकसिण-पाहुड को केवल नाममात्र के सादृश्य के कारण वेदनाखण्डान्तर्गत नहीं कहा जा सकता। यह केवल हमारी ही कल्पना नहीं है किन्तु धवलाकार ने स्वयं वेदनाखण्ड को महाकम्मपयडी पाहुड समझने के विरुद्ध सतर्क कर दिया है। वेदनाखण्ड के आदि के मंगल के निबद्ध अनिबद्ध का विवेक करते समय वे कहते हैं:—

'ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडिपाहुडं, अवयवस्स अवयविविरोहादो'

अर्थात् वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृति प्राभृत नहीं है, क्योंकि अवयव को अवयवी मान लेने में विरोध पड़ता है। यदि महाकर्मप्रकृति प्राभृत के चौबीसों अनुयोगद्वार वेदनाखण्ड के अन्तर्गत होते तो धवलाकार उन सब के संग्रह को एक अवयव क्यों मानते? इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि वेदनाखण्ड के अन्तर्गत उक्त चौबीसों अनुयोगद्वार नहीं है।

क्या वर्गणा नाम का कोई पृथक् अनुयोद्वार नहीं होने से उसके नाम पर खण्ड संज्ञा नहीं हो सकती?

चौबीस अनुयोगद्वारों में वर्गणा नाम का कोई अनुयोगद्वार नहीं है, यह बिल्कुल सत्य है, किन्तु किसी उपभेद के नाम से वर्गणाखण्ड नाम पड़ना भी कोई असाधारण घटना तो नहीं कही जा सकती। यथार्थतः अन्य खण्डों में वेदनाखण्ड को छोड़ कर और शेष सब खण्डों के नाम या तो विषयानुसार कल्पित हैं, जैसे जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, महाबंध या किसी उपभेद के नामानुसार हैं, जैसे बंधस्वामित्वविचय। उसी प्रकार यदि वर्गणा नामक उपविभाग पर से उसके महत्त्व के कारण एक विभाग का नाम वर्गणाखण्ड रखा गया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। चौबीस अधिकारों में जिस अधिकार या उपभेद का प्रधानत्व पाया गया उसी के नाम से तो खंडसंज्ञा की गई है, जैसा कि धवलाकार ने स्वयं प्रश्न उठाकर कहा है कि 'कृति, पास, कर्म और प्रकृति के प्ररूपण होने पर भी उन सब के नाम से खण्डसंज्ञा न रख कर प्रधानता की अपेक्षा से केवल तीन खण्ड किये हैं। शेष में प्रधानता नहीं पायी जाती जैसा उनके संक्षेप प्ररूपण से जाना जाता है। मुख्तारजी इसी संक्षेप प्रिरूपण की दुहाई देकर वर्गणा को खण्डसंज्ञा से च्युत करना चाहते हैं। पर संक्षेप और विस्तार आपेक्षिक शब्द हैं, उनका प्रकृत में उपयोग अन्य अधिकारों के साथ मिलान द्वारा ही किया जा सकता है। अतएव इन अधिकारों के प्ररूपण विस्तार को देखिये। बंधस्वामित्वविचयखण्ड अमरावती प्रति के ६६७ पत्र पर समाप्त हुआ। उसके

पश्चात् मंगलाचरण व श्रुतावतार आदि विवरण ७१३ पत्र तक चल कर कृतिका प्रारम्भ होता है जिसका ७५६ तक अर्थात ४३ पत्रों में, वेदना का ७५६ से ११०६ अर्थात् ३५० पत्रों में, स्पर्श का ११०६ से १११४ अर्थात् ८ पत्रों में, कर्म का १११४ से ११५९ अर्थात् ४५ पत्रों में, प्रकृति का ११५९ से १२०९ अर्थात ५० पत्रों में और बन्धन के बंध और बंधनीय का १२०९ में १३३२ अर्थात् १२३ पत्रों में प्ररूपण पाया जाता है। इन १२३ पत्रों में से बंध का प्ररूपण प्रथम १० पत्रों में ही समाप्त कर दिया गया है, यह कह कर कि—

'एत्थ उद्देसे खुद्दाबंधस्स एक्कारसस अणियोगद्दाराणं परूवणा कायव्वा'।

इसके आगे कहा गया है कि—

'तेण बंधणिज्ज-परूवणे कीरमाणे वग्गणपरूवणा णिच्छएण कायव्वा, अण्णहा तेवीस-वग्गणासु इमा चेव वग्गणा बंधपाओग्गा अण्णाओ बंधपाओग्गाओ ण होंति त्ति अवगमाणु-ववत्तीदो। वग्गणाणमणुमग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति' इत्यादि

अर्थात् बंधनीय के प्ररूपण करने में वर्गणाप्ररूपणा निश्चय से करना चाहिये, अन्यथा तेईस वर्गणाओं में येही वर्गणाएं बंध के योग्य हैं अन्य वर्गणाएं बंध के योग्य नहीं हैं, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। उन वर्गणाओं की मार्गणा के लिये ये आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं। इत्यादि।

इस प्रकार पत्र १२१९ से वर्गणा का प्ररूपण प्रारम्भ हो कर पत्र १३३२ पर समाप्त होता है, जहां कहा गया है—

'एवं विस्ससोवचयपरूवणाए समत्ताए बाहिरियवग्गणा समत्ता होदि।'

इस प्रकार वर्गणा का विस्तार ११३ पत्रों में पाया जाता है जो उपर्युक्त पांच अधिकारों में वेदना को छोड़ कर शेष सब से कोई दुगना व उस से भी अधिक है। पूरा खुद्दाबंध खण्ड ४७५ पत्र से ५७६ पत्र तक अर्थात् १०१ पत्रों में, तथा बंधसामित्तविचय ५७६ पत्र से ६६७ तक अर्थात् ९१ पत्रों में पाया जाता है। केवल वर्गणा का प्ररूपण इन दोनों से विस्तीर्ण है। ऐसी अवस्था में वेदना को छोड़ कर शेष अधिकारों में इस अवान्तर के भी अवान्तरभेदान्तर्गत वर्गणा को अन्य अधिकारों की अपेक्षा संक्षिप्त और प्राधान्यरहित कहना चाहिये या इसके विपरीत, यह स्पष्ट समझ में आ जाता है।

वेदनाखण्ड के आदि मंगलाचरण और कौन-कौन खण्डों का है ?

वेदनाखण्ड के आदि में मंगल सूत्र पाये जाते हैं। उनकी टीका में धवलाकार ने खण्ड-विभाग व उनमें मंगलाचरण की व्यवस्था की सूचना के जो अवतरण मुख्तारजी ने दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खण्डाणं। कुदो ? वग्गणा-महाबंधाणमादीए मंगलकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदवलि-भडारओ गंथस्स पारभदि, तस्स अणाइरियत्तपसंगादो। × × × × × कदि-पास-

कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादो।

मुख्तारजी के मत में यहां "वीरसेनाचार्य ने उक्त मंगल सूत्रों की ऊपर कहे हुए तीन खंडों—वेदना, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधो—का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखण्ड के आदि में तथा महाबंधखण्ड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है, मंगलाचरण के बिना भूतबलि आचार्य ग्रंथ का प्रारम्भ ही नहीं करते हैं। साथ ही यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि, (बंधण) अनुयोगद्वारों का भी यहां (एत्थ-इस वेदनाखंड में) प्ररूपण किया गया है, उन्हें खण्ड संज्ञा न देने का कारण उनके प्रधानता का अभाव है, जो उनके संक्षेप कथन से जाना जाता है। उक्त फास आदि अनुयोगद्वारों मेंसे किसी के भी शुरू में मंगलाचरण नहीं है और इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वेदनाखण्ड में की गई है, तथा इनमें से किसी को खंड ग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी गई, यह बात ऊपर के शंका- समाधान से स्पष्ट है।"

अब इस कथन पर विचार कीजिये। 'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु' का अर्थ किया गया है 'ऊपर कहे हुए तीन खण्ड अर्थात् वेदना, बंधसामित्त और खुद्दाबंध।' हमें यहां पर यह याद रखना चाहिये कि खुद्दाबंध और बंधसामित्त खण्ड दूसरे और तीसरे हैं जिनका प्ररूपण हो चुका है और अभी वेदनाखंड के मंगलाचरण का ही विषय चल रहा है खंड का विषय आगे कहा जायगा। ऐसी अवस्था में 'उवरि उच्चमाण' जिसकी संस्कृत छाया, जहां तक मैं समझता हूं, 'उपरि उच्यमान' ही हो सकती है, का तात्पर्य ऊपर कहे गये दो और आगे कहे जाने वाले तीसरे खंड से कैसे हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। यदि मुख्तारजी के इस अर्थानुसार 'उवरि' पर ध्यान दें तो वेदनाखण्ड छूट जाता है और उच्चमाण पर दें तो ऊपर के दो खण्ड छूट जाते हैं। ऐसी अवस्था में उवरि उच्चमाण पद-द्वारा ये तीन खंड कैसे इकट्ठे किये गये यह जाना नहीं जाता। अब आगे का शङ्का-समाधान देखिये। प्रश्न है यह कैसे जाना कि यह मंगल 'उवरि उच्चमाण' तीनों खण्डों का है ? इसका उत्तर दिया जाता है, 'क्योंकि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किया गया है।' यदि यहां जिन खण्डों में मंगल किया गया है उनको अलग निर्दिष्ट कर देना आचार्य का अभिप्राय था तो उनमें जीवट्ठाण का भी नाम क्यों नहीं लिया, क्योंकि, तभी तो तीन खंड शेष रहते ? फिर आगे कहा गया है कि मंगल किये विना भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ प्रारम्भ ही नहीं करते, क्योंकि, उससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है। पर यहां तो एक नहीं दो-दो खण्ड मङ्गल के विना केवल प्रारम्भ ही नहीं समाप्त भी किये जा चुके हैं, जिनकी मङ्गलव्यवस्था उक्त

मतानुसार अब पीछे से की जा रही है। पर मुख्तारजी ने यह बतलाने की कृपा नहीं की कि इस प्रकार की मङ्गलव्यवस्था का क्या कहीं कोई आधार है ? प्रस्तुत में तो भूतबलि आचार्य केवल आदि मङ्गल को ही स्वीकार करते हैं। उसके विना वे अनाचार्यत्व दोष उत्पन्न होना मानते हैं। मङ्गल के जो निबद्ध-अनिबद्ध रूप दो भेद इस मङ्गल के प्रकरण में तथा जीवट्ठाण के प्रारम्भ में बताये गये हैं उनमें भी सूत्र के आदि में ही मङ्गल किये जाने पर जोर दिया गया है। यथा—

'जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध देवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमङ्गलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं'।

(सं० प्र० १ पृ० ४१)

किन्तु सत्प्ररूपणा पृष्ठ ४०, ४१ में, मध्यमङ्गल और अन्तमङ्गल का भी विधान पाया जाता है। पर इस विधान-द्वारा भी खुद्दाबंध और बन्धसामित्त से प्रस्तुत मङ्गल का संबन्ध नहीं बैठाया जा सकता, क्योंकि, न वह उनके मध्य में रखा गया है और न अन्त में। वे दोनों खण्ड इससे पूर्व ही क्रम से समाप्त हो चुके हैं। ऐसे कठिनाई के स्थलों के लिये संस्कृत साहित्य में एक और युक्ति पाई जाती है, जिसे 'देहलीदीपकन्याय' कहते हैं। जिस प्रकार द्वार की देहली पर दीपक रख देने से घर के भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार कहीं-कहीं बीच में आये हुए पद या प्रकरण का सम्बन्ध ऊपर और नीचे दोनों ओर जोड़ लेते हैं। पर यह बात बनती तब है जब वह बीच की चीज बीच की ही हो, वह पूर्व के अन्त और उत्तर के आदि की नहीं गिनी जाती। पर यहां तो यह मङ्गल आदि मङ्गल कहा जा रहा है। इतने पर भी खींचातानी करके यदि इस मङ्गल को बन्ध-सामित्तविचय और वेदनाखण्ड के बीच की चीज मान कर उसे दोनों ओर जोड़ भी लें तो भी खुद्दाबंध के साथ उसका सम्बन्ध जुटाने में तो हमारा यह देहलीदीपकन्याय भी असमर्थ है, क्योंकि उस खण्ड का तो यहां स्पर्श भी नहीं है।

आगे के शंका-समाधान की भी यही दुर्दशा की गई है। प्रश्न है, कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहां प्ररूपित है, उनकी खंडसंज्ञा न करके केवल तीन ही खंड क्यों कहे जाते हैं ? उत्तर है, उनमें प्रधानत्व का अभाव है और यह उनके संक्षेप प्ररूपण से ज्ञात हो जाता है। मुख्तारजीने अपने अवतरण व स्पष्टीकरण में प्रकृति के आगे बन्धन और अपनी तरफ से जोड़ दिया है, तथा 'एत्थ' का तात्पर्य इस वेदनाखण्ड में ऐसा बैठाया है। पर उन्होंने यह खुलासा नहीं किया कि अनुयोगद्वारों की गणना में बन्धन अपनी तरफ से जोड़ने की उन्हें आवश्यकता क्यों पड़ी। यदि गणना अधूरी जंची तो चौबीस अनुयोगद्वारों में के शेष सभी क्यों नहीं जोड़ दिये ? उन्होंने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि यहां धवलाकार

का तात्पर्य कौन से तीन खण्डों से है ? क्या वे ही जिनका सम्बन्ध मंगलाचरण में बैठाया गया है या अन्य कोई ? इसका स्पष्टीकरण यहां बहुत जरूरी था। यदि यहां भी खुद्दाबंध, बंधसामित्त और वेदना से ही अभिप्राय है तो वह किस अपेक्षा से ? यदि चौबीस अनुयोगद्वारों में से उत्पत्ति की ही यहां अपेक्षा है तो जीवस्थान, वर्गणा और महाबंध भी तो वहीं से उत्पन्न हुए हैं, फिर उन्हें किस विचार से अलग किया गया ? और यदि वेदना, वर्गणा, महाबंध से यहां अभिप्राय है तो एक तो मुख्तारजी के उक्त क्रम में भंग पड़ जाता है और दूसरे वर्गणाखण्ड का भी इन्हीं अनुयोगद्वारों में अन्तर्भाव का प्रसंग आता है जो उन्हें इष्ट नहीं है।

इस प्रकार मुख्तारजी की उक्त कल्पना से अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। अतः वेदनाखण्ड के आदि में आये हुए मंगलाचरण को ऊपर के खुद्दाबन्ध व बंधसामित्त तथा आगे के वेदना, इस प्रकार से तीन खण्डों का मंगलाचरण सिद्ध करने का प्रयत्न बड़ा बेतुका और बेआधार तथा सारे प्रसंग को गड़बड़ी में डालने वाला है। यह सब कल्पना किन भूलों का परिणाम है और उक्त अवतरणों का सच्चा रहस्य क्या है यह आगे चल कर बतलाया जायगा। उससे पूर्व यहां मुख्तारजी की शेष दो युक्तियों पर और विचार कर लेना आवश्यक है।

धवला में जहां वेदनाखण्ड समाप्त हुआ है वहां यह वाक्य पाया जाता है—

वेदनाखण्ड-समाप्ति की पुष्पिका

'एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।' इसके आगे कुछ नमस्कार-वाक्यों के पश्चात् पुनः लिखा मिलता है 'वेदनाखण्ड समाप्तम्'।

यह बात सच है कि 'वेयणाखंड समत्ता' वाक्य व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है और मुख्तारजी का यह भी अनुमान गलत नहीं कहा जा सकता कि इस वाक्य में खण्ड शब्द संभवतः प्रक्षिप्त है। खण्ड शब्द निकाल देने से 'वेयणा समत्ता' वाक्य ठीक बैठ जाता है। हो सकता है वह लिपिकारद्वारा प्रक्षिप्त हुआ हो। पर उससे यह तो सूचना हमें मिलती है कि वह लिपिकार वहां वेदनाखण्ड की समाप्ति समझता था। इस प्रक्षेप को आधुनिक लिपिकारकृत तो मुख्तारजी भी नहीं कहते। यदि वह प्रक्षिप्त है तो उसी लिपिकारकृत हो सकता है जिसने मूडबिद्री की ताडपत्रीय प्रतिलिपि की है। हम अन्यत्र बतला चुके हैं कि मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रति संभवतः शक की ९ वीं—१०वीं शताब्दि की है अर्थात् आज से कोई हजार आठ सौ वर्ष पुरानी। उस प्रक्षिप्त वाक्य से उस समय के कम से कम एक व्यक्ति का यह मत तो मिलता है कि वह वहां वेदनाखंड की समाप्ति समझता था। उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस लेखक की जानकारी में इसके सिवा और कहीं वर्गणाखण्ड नहीं था, नहीं तो वह वर्गणाखण्ड के समाप्त होने की वहां विश्वासपूर्वक दो-दो बार सूचना देने की धृष्टता कदापि न करता। हम जो कुछ ऊपर ऊहापोह कर आये हैं उससे तो ज्ञात

होता है कि मूलतः यहां वेदनाखण्ड के समाप्त होने का कोई संकेत रहा हो तो आश्चर्य नहीं। यदि नहीं रहा तो प्रति के लिखाने वाले किसी भारी विद्वान ने वहां वह सूचना डालने का आदेश किया होगा। और यदि लेखक ने उसे अपने ही मन से डाला हो तो कहना चाहिये वह बड़ा विवेकी विचारवान् लेखक था। विना किसी आधार व प्रमाण के लेखक बेचारे को वहां खण्ड शब्द डालने की क्यों प्रवृत्ति हुई होगी यह तो सोचना चाहिये ? मुख्तारजी ने कहा है कि अनेक अन्य स्थलों पर भी नानाप्रकार के वाक्य प्रक्षिप्त पाये जाते हैं। यह बात सच है. पर जो उदाहरण उन्होंने बतलाया है वहां. और जहां तक मैं अन्य स्थल ऐसे देख पाया हूं तहां तक यही पाया जाता है कि लेखक ने अधिकारों की संधि आदि पा कर अपने गुरु या देवता का नमस्कार या उनकी प्रशस्ति-सम्बन्धी वाक्य या पद्य डाले हैं। यह पुराने लेखकों की शैली सी रही है। पर ऐसा स्थल एक भी देखने में नहीं आया और न मुख्तारजी ने ही बतलाने की कृपा की कि जहां पर लेखक ने अधिकार-सम्बन्धी सूचना गलत-सलत अपनी ओर से जोड़ घटा दी हो। प्रकृत विषय पर तो ऐसा ही उदाहरण लागू हो सकता था। अत एव चाहे यह खण्ड शब्द किसी लिपिकार-द्वारा प्रक्षिप्त हो और चाहे मौलिक, उससे वेदनाखण्ड के वहां समाप्त होने की एक पुरानी मान्यता तो प्रमाणित होती है।

इन्द्रनन्दि की प्रामाणिकता इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधर ने श्रुतावतार का स्वतन्त्ररूप से कथानक लिखा है जिसमें उन्होंने षट्खण्डागम की रचना का विवरण दिया है। विबुध श्रीधर का श्रुतावतार कथानक तो बहुत काल्पनिक है, पर उसमें भी धवलान्तर्गत पांच या छह खण्डोंवाली बातमें कुछ अविश्वसनीयता नहीं दिखती। इन्द्रनन्दि ने प्रकृत विषय से संबन्ध रखनेवाली जो वार्ता दी है उसको हम प्रथम जिल्द की भूमिका में पृ० ३८ पर लिख चुके हैं। उसका संक्षेप यह है कि वीरसेन ने उपरितम निबन्धनादि अठारह अधिकार लिखे और उन्हें ही सत्कमनाम छठवां खण्ड संक्षेपरूप बनाकर छह खण्डों की ७२ हजार ग्रन्थप्रमाण प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रित धवला टीका बनाई। इस बात के बोधक इन्द्रनन्दि के शब्द ध्यान देने योग्य है—

> उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥ १८० ॥
> सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खंडं विधाय संक्षिप्य।
> इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैः द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥
> प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्।
> जयधवलां च······················

इन शब्दों का धवलाकार के उन शब्दों से मिलान कीजिये जो इसी सम्बन्ध में उनके द्वारा कहे गये हैं। निबन्धनादि विभाग को वहां भी 'उवरिम गंथ' कहा गया है और

अठारह अनुयोगद्वारों के संक्षेप में प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा की गई है। यह बात सच है, जैसा कि मुख्तारजी ने बतलाया है, कि इन्द्रनन्दि की श्रुतावतारकथा में कुछ बातें ऐसी हैं जिनका धवलान्तर्गत विवरण से किंचित् भेद पाया जाता है। किन्तु उन पर से उसे मुख्तारजी ने जितना अप्रमाणिक ठहराने का प्रयत्न किया है उतना अप्रमाणिक वह ग्रन्थ नहीं है। यथार्थतः धवला-जयधवला की रचनासम्बन्धी जो वार्ता उसमें पाई जाती है उसमें तो मुझे कोई अप्रमाणिकता देखने में नहीं आई। बल्कि ऊपर बतलाये हुए प्रसंग के समान जगह-जगह वह धवलादि ग्रन्थों में कही गई बातों का ही और अच्छी तरह से स्पष्टीकरण करती है। यद्यपि इन्द्रनन्दि का समय निर्णीत नहीं हैं, पर उनके सम्बन्ध में पं० नाथूरामजी प्रेमी का मत है कि 'ये वे ही इन्द्रनन्दि हैं जिनका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ३९६ वीं गाथा में गुरुरूप से किया है'। इससे वे विक्रम की ११ वीं शताब्दि के आचार्य ठहरते हैं। (मा० दि० जै० ग्रं० नं० १३ भू० पृ० २)

इस अनुमान में कोई आश्चर्य भी नहीं है। वीरसेन का व धवला की रचना का इतिहास उन्हों ने ऐसा दिया है जैसे मानों वे उससे अच्छी तरह सुपरिचित हैं। उनके गुरु एलाचार्य कहां रहते थे, वीरसेन ने उनके पास सिद्धान्त पढ़ कर कहां जाकर, किस मंदिर में बैठ कर, कौन-सा ग्रंथ सामने रख कर अपनी टीका लिखी यह सब इन्द्रनन्दि ने अच्छी तरह बतलाया है जिसमें कोई बनावट व कृत्रिमता कम से कम मुझे तो नजर नहीं आती—बहुत ही प्रमाणिक इतिहास जंचता है। उन्हों ने कदाचित् धवल जयधवल का सूक्ष्मावलोकन न किया हो और भले ही उन्हों ने अपना श्रुतावतार लिखने से पूर्व कोई लम्बे चौड़े टिप्पण न लिख रखे हों, पर उनकी सूचनाओं पर से यह बात सिद्ध नहीं होती कि धवल, जयधवल ग्रन्थ उनके सामने मौजूद नहीं थे। उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी जिसकी इन ग्रन्थों की वार्ता से इतनी विषमता हो जो पढ़ कर पीछे स्मृति के सहारे लिखने वाले द्वारा उत्पन्न न की जा सकती हो। इसके अतिरिक्त उनका ग्रन्थ प्राचीन प्रतियों पर से सुसंपादित भी अभी तक नहीं किया गया है। किसी एकाध प्रति पर से कभी छाप दिया गया था, उसी की कापी अभी हमारे सामने प्रस्तुत है। मुख्तारजी लिखते हैं कि 'उन्हों ने (इन्द्रनन्दि व श्रीधर ने) इस विषय में जो कुछ लिखा है वह प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने-सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है।' जैसा मैं ऊपर कह आया हूं धवला, जयधवला की रचना के सम्बन्ध में तो इन्द्रनन्दि का ज्ञान बहुत व्यवस्थित पाया जाता है। हां, यह हो सकता है कि उनसे पूर्व का इतिहास उन्होंने बहुत कुछ किंवदन्तियों आदि पर से संग्रह किया हो, क्योंकि उन्होंने ऐसी बहुत सी बातों पर भी प्रकाश डाला है जो धवला में स्पष्टतः उल्लिखित नहीं पायी जातीं। परिकर्म, व्याख्याप्रज्ञप्ति, बप्पदेव आदि टीकाओं व टीकाकारों के उल्लेख धवलादि में इधर-उधर मिलते हैं, पर व्यव-

स्थित नहीं। आखिर कहीं से तो श्रुतावतारकार ने उनके सम्बन्ध का व्यवस्थित इतिहास संग्रह किया होगा ? यदि इस संग्रह-कार्य के लिये सिवाय किंवदन्तिओं और इधर-उधर सुनने में आनेवाली बातों के उनके पास और कोई अन्य साधन नहीं थे तब तो हमें मानना पड़ेगा कि वे एक असाधारण ऐतिहासिक थे जो इस प्रकार के अव्यवस्थित साधनों पर से उतना व्यवस्थित श्रुतावतार-वर्णन उपस्थित कर सके। और इस संबन्ध की किंवदन्तियां भी कहीं बाजार में से सुनकर संग्रह करने को तो मिली नहीं होंगी. वे भी प्रामाणिक पुरुषों के पास से ही तो उन्होंने प्राप्त की होंगी। इन्द्रनन्दि कैसे सुयोग्य और सच्चे संग्राहक थे यह उनकी एक बात परसे मालूम हो जाता है। उन्होंने कषायप्राभृतकार गुणधराचार्य व षट्खंडागम के मूलगुरु धरसेनाचार्य के विषय में स्पष्ट कह दिया है कि उन्हें उनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा ज्ञात नहीं है, क्योंकि उस बात को बतलानेवाला न तो उन्हें कोई विश्वसनीय ग्रंथ मिला और न कोई मुनिजन—

गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागम-मुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

कितनी स्पष्टवादिता साहित्यिक सचाई और नैतिक बल इस अज्ञान के स्वीकार में भरी हुई है, यह वे ही पूर्णतः हृदयंगम कर सकते हैं जिन्हें कभी अपनी कोई कमजोरी स्वीकार करने का मौका आ पड़ा होगा। क्या इसके लेखक के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह कोई झूठी-सच्ची इधर-उधर से सुनी-सुनाई बातों का आडम्बर बना कर एक पुस्तक रचने का लालसी था, और विद्वत्समाज को धोखे में डालना चाहता था ? मैं ऐसा नहीं समझता। अतएव जबतक अन्य प्रबलतर प्रमाणों पर से इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतार की ऐतिहासिक वार्ता को असत्य साबित न किया जाय तब तक उस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

मुख्तार जी की अन्तिम युक्ति को पढ़ कर मुझे अत्यन्त आश्चर्य और खेद होता है।

मूडबिद्री से प्रतिलिपि निकालनेवाले लेखक को प्रामाणिकता

आश्चर्य तो इस बात का है कि 'धवलादि श्रुत-परिचय' में जिस लेखक पर उन्होंने वर्गणाखण्ड को जान बूझ कर छोड़ देने और अधूरी प्रति को अन्तिम प्रशस्ति आदि जोड़ कर यथेष्ट पुरस्कार पाने के लिये पूरा प्रकट कर देने की संभावना का, अर्थात् एक साहित्यिक चोरी व बेईमानी की आशंका का दोषारोपण किया है, उसका ही ग्रन्थ की समालोचना में उन्होंने चित्र सब से पहले दिये जाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। खेद इस बात का है कि इस प्रकार का दोषारोपण या दोष की आशंका उत्पन्न करके एक बड़े सच्चे उपकारी के साथ भारी अन्याय किया गया है। यह बात सच है कि स्वयं मुख्तार जी इसकी सचाई के सम्बन्ध में 'बहुत ही कम आशा' रखते हैं, पर बहुत ही कम सही, उनके हृदय में यह बात उठी तो है और वह भी उन्होंने विद्वत्संसार

पर प्रकट करके लेखक के प्रति घृणा की लहर उत्पन्न कर ही दी। मूडबिद्री से छुपे तौर पर कापी करके इन ग्रन्थों को बाहर निकालनेवाले लेखक की सचाई पर सन्देह करना शायद स्वाभाविक ही हो, पर हम तो ग्रन्थ के संशोधन सम्पादनार्थ उसमें जितने प्रविष्ट होते हैं उतने ही उस लेखक की ईमानदारी और परिश्रम पर मुग्ध होते जाते हैं। मेरा यह कहने का तात्पर्य नहीं कि उक्त लेखक के कार्य में त्रुटि नहीं है या प्रमाद नहीं है। है और बहुत है, पर बेईमानी की झलक उसमें मुझे बिलकुल नहीं दिखाई देती। यथार्थतः तो बार-बार आश्चर्य हमें इस बात का नहीं होता कि प्रति में स्खलन हैं, आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रस्तुत पाठ पर से ठीक पाठ बैठा लेना संभव हो जाता है। सो भी जो प्रतियां हमारे उपयोग में आ रही हैं वे मूडबिद्री से आई प्रति की प्रतिलिपि पर से दूसरे लेखकों द्वारा की हुई कापियां हैं। इनपर सूक्ष्म और गंभीर परिश्रम करने के पश्चात् अबतक का मेरा जो अनुभव है उस पर से मैं मूडबिद्री से कापी करनेवाले लेखक को यह प्रमाणपत्र दे सकता हूं कि उसने अपनी शक्ति भर अपना काम सचाई और ईमानदारी से किया है। फिर भी समय-समय पर कमजोरी और प्रमाद के परे तो कोई भी नहीं कहा जा सकता, अत एव अब उक्त दोष की संभावना पर भी विचार कर लेना उचित है। धवला की कुल टीका का प्रमाण इन्द्रनन्दि व अन्य श्रुतावतार-लेखकों ने सत्तर* या बहत्तर† हजार बतलाया है। हमारे सामने धवला की तीन प्रतियां मौजूद हैं, जिनकी श्लोक-संख्या जांच लेना ठीक होगा। अमरावती की प्रति में १४६५ पत्र अर्थात् २९३० पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ पर १२ पंक्तियाँ लिखी गई हैं। प्रत्येक पंक्ति में ६२ से ६८ तक अक्षर पाये जाते हैं जिससे औसत ६५ अक्षरों की ली जा सकती है। तदनुसार कुल ग्रन्थ में २९३० × १२ × ६५= २२८५४०० अक्षर आते हैं। इनकी श्लोक-संख्या बनाने के लिये ३२ का भाग देने से ७१४१८ आये। यह प्रस्तुत प्रति की श्लोक-संख्या है जिसे ७२ हजार कहना साधारण बात है।

कारंजा व आरा की प्रतियों की उक्त प्रकार से जाँच-द्वारा भी प्रायः यही निष्कर्ष निकलता है। इससे तो अनुमान होता है कि प्रतियों में से एक खण्ड का खण्ड गायब होना असम्भव है, क्योंकि उसका प्रमाण और सब खण्डों को देखते हुए कम से कम पांच-सात हजार तो अवश्य रहा होगा। यह कमी प्रस्तुत प्रतियों में झलके बिना नहीं रह सकती थी। तारतम्य की दृष्टि से भी धवला अपने प्रस्तुत रूप में अपूर्ण नज़र नहीं आती। प्रथम तीन खण्ड तो पूरे हैं ही। चौथे वेदनाखण्ड के आदि से कृति आदि अनुयोगद्वार प्रारंभ हो जाते हैं जो बराबर क्रम से चौबीस तक पाये जाते हैं—प्रथम छह भूतबलिकृत सूत्रों और वीरसेन की टीकासहित और शेष १८ चूलिका नाम से वीरसेनकृत। इसके आगे किसी खण्ड की

* देखो ब्रह्महेम श्रुतस्कंध 'सदरीसहस्स धवलो'। † देखो इन्द्रनन्दि श्रुतावतार 'ग्रन्थसहस्रैः द्विसप्तत्या'।

कल्पना के लिये न तो कोई आधार है और न आवश्यकता। अतः वर्गणाखण्ड के लेखक-द्वारा छोड़ देने या छूट जाने की आशंका के लिये कोई आधार नहीं है।

अब हम यहां मुख्तार जी की उन मूल भूलों पर विचार करते हैं जिनके कारण उपर्युक्त गड़बड़ी उत्पन्न हुई है और साथ ही उन आधारों को प्रस्तुत करते हैं जिनसे धवला के विभाग सम्बन्धी उन बातों की पुष्टि होती है जिन्हें हम प्रथम जिल्द की भूमिका में कह आये हैं। मुख्तार जी अपने मन में यह धारणा कर चुके हैं कि बंधसामित्तविचय में आगे के कृति आदि चौबीस अनुयोग-द्वारों का विवरण वेदनाखण्ड के ही अन्तर्गत है और उनकी यह धारणा वेयणाकसिणपाहुड और वेदनाखण्ड में शब्द-साम्य के कारण उत्पन्न हुई जान पड़ती है। किन्तु इस शब्दसाम्य के निमित्त से होने वाले भ्रम का निराकरण हम ऊपर कर आये हैं। अपनी धारणा को पुष्टि देने के लिये उन्होंने वेदनाखण्ड के आदि के मङ्गलसूत्रों को दो पूर्वोक्त खुद्दाबंध और बंधसामित्त-खंडों का भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है. उसमें जो गड़बड़ी उत्पन्न हुई है उसका भी हम ऊपर परिचय करा आये हैं। उस प्रयत्न में उन्होंने 'उवरि उच्चमाण' पद का जो अर्थ किया है वह अत्यन्त विलक्षण और आश्चर्य में डालनेवाला है। और फिर भी उससे उनके मत की पुष्टि नहीं हो सकती, जैसा कि हम ऊपर दिखा आये हैं।

वेदनाखण्ड के आदि अवतरणों का ठीक अर्थ

'उवरि' शब्द का धवलाकार ने सर्वत्र 'आगे' के अर्थ में प्रयोग किया है और पहले के अर्थ में 'पुव्व' का। उदाहरणार्थ—संतपरूवणा के पृष्ठ १३० पर उन्होंने कहा है—

संपहि पुव्वं उत्त-पयडिसमुक्कित्तणा . . एदाहं पंचण्हमुवरि संपहि पुव्वुत्त-जहण्णट्ठिदि ......च पक्खित्ते चूलियाए णव अहियारा भवंति।

अर्थात् पूर्वोक्त प्रकृतिसमुत्कीर्तनादि पांचों के ऊपर अभी कहे गये जघन्यस्थिति आदि जोड़ देने पर चूलिका के नौ अधिकार हो जाते हैं। यहां ऊपर कहे जा चुके के लिये 'पुव्वं उत्तं' और 'पुव्वुत्तं' शब्द प्रयुक्त हुए हैं और 'उवरि' से आगे का तात्पर्य है। पृ० ७३ पर 'उवरि' से बने हुए उवरीदो (उपरितः) अव्यय का प्रयोग देखिये। आचार्य कहते हैं—

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी। जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'उसहमजियं च वंदे' इच्चेवमादि। जं उवरीदो हेट्ठा-परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'एस करेमि य पणमं जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स। सेसाणं च जिणाणं सिवसुहकंखाविलोमेण' ॥

यहां यह बतलाया है कि जहां पूर्व से पश्चात् की ओर क्रम से गणना की जाती है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं, जैसे, ऋषभ और अजितनाथ को नमस्कार। पर जहाँ नीचे या पश्चात् से पूर्व की ओर अर्थात् विलोमक्रम से गणना की जाती है वह पश्चादनुपूर्वी

कहलाती है। जैसे, मैं वर्द्धमान जिनेश को प्रणाम करता हूं और शेष (पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि) तीर्थङ्करों को भी। यहाँ उवरि से तात्पर्य आगे से है और पीछे की ओर के लिये हेट्ठा (अधः) शब्द का प्रयोग किया गया है।

धवला में आगे बंधन-अनुयोगद्वार की समाप्ति के पश्चात् कहा गया है 'एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम' अर्थात् यहां से ऊपर के ग्रन्थ का नाम चूलिया है। यहां उवरिम से तात्पर्य आगे आनेवाले ग्रन्थ-विभाग से है न कि पूर्वोक्त विभाग से।

और भी धवला में सैकड़ों जगह उवरि शब्द का प्रयोग हमारी दृष्टि में इस प्रकार आया है 'उवरि भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो' 'उवरिमसुत्तं भणदि' आदि। इनमें प्रत्येक स्थल पर निर्दिष्ट सूत्र आगे दिया गया पाया जाता है। उवरि का पूर्वोक्त के अर्थ में प्रयोग हमारी दृष्टि में नहीं आया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उवरि का अर्थ आगे आनेवाले खण्डों से ही हो सकता है पूर्वगत से नहीं। और फिर प्रकृत में तो 'उच्चमाण' पद इस अर्थ को बिलकुल ही स्पष्ट कर देता है, क्योंकि, उच्यमान का अर्थ उक्त तो हो ही नहीं सकता, उसका अर्थ केवल प्रस्तुत या आगे आनेवाले खण्ड ही हो सकता है, पहले समाप्त हो गये खण्ड कदापि नहीं। पर यदि आगे कहे जानेवाले तीन खण्डों का यह मंगल है तो इस बात का वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगलाचरण की सूचना से कैसे सामञ्जस्य बैठ सकता है? यही एक विकट स्थल है जिसने उपर्युक्त सारी गड़बड़ी को उत्पन्न किया है। इस पर जरा विचार कीजिये। अवतरण में पहले तो कह दिया गया है कि आगे कहे जानेवाले तीन खण्डों का यह मंगल है और फिर जब यह पूछा कि यह कैसे, तब कहा जाता है कि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किये जाने से। आगे कहे जानेवाले ये ही तीन वेदना, वर्गणा और महाबंध तो खण्ड हैं जिनका वह मंगल हो सकता है। फिर यदि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल अलग से किया गया है तो 'उवरि उच्यमान' पद से कौन से तीन खण्डों के मंगलाचरण होने की सूचना की गई होगी? इसी अड़चन से मुख्तारजी ने यहां खुद्दाबंध और बंधसामित्त खण्डों के अभिप्राय की कल्पना की है जो 'उवरि उच्यमाण' तथा विना मंगलाचरण के ग्रन्थ प्रारंभ करने के प्रबल निषेध की स्पष्ट सूचना तथा आगे के शंका-समाधान-क्रम के साथ बिलकुल सामंजस्य नहीं रखती। समस्त प्रकरण पर सब दृष्टियों से विचार करने पर ज्ञात होता है कि धवला की उपलब्ध प्रतियों में यहां एक अशुद्धि है जो मुख्तार जी के ध्यान में नहीं आ सकी और वे उसे नहीं सुधार सके। मेरे विचार से यहां पर 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलकरणादो' की जगह 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो' पाठ होना चाहिए। दीर्घ आ के स्थान पर ह्रस्व अ की मात्रा की अशुद्धियां तथा अन्य स्वरों में ऐसे ही व्यत्यय इन प्रतियों में भरे पड़े हैं। हमें इनके संशोधन में इस प्रकार के सुधार सैकड़ों जगह

करने पड़े हैं। यथार्थतः प्राचीन कन्नड़ लिपि में ह्रस्व और दीर्घस्वरों में बहुधा विवेक नहीं किया जाता था।* इस सुधार के साथ पढ़ने से पूर्वोक्त समस्त अवतरण का अर्थ, उसका सामञ्जस्य और शंका-समाधानक्रम ठीक बैठ जाता है। उसमें उक्त दो अवतरणों के बीच में आये हुए उन शंका-समाधानों का भी अर्थ सुलझ जाता है जिनका मुख्तार जी के अर्थ से बिलकुल सामञ्जस्य नहीं बैठता बल्कि विरोध उत्पन्न होता है और जिन्हें संभवतः इसी अड़चन के कारण उन्होंने अपने अवतरण में छोड़ दिया है, यद्यपि वह अंश प्रकृत विषय के लिये बहुत आवश्यक था। हम उस पूरे पाठ को अपने सुधारसहित यहां उद्धृत करते हैं—

'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खंडाणं। कुदो ? वग्गणामहा-बंधाणमादीए मंगलाकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलिभडारओ गंथस्स पारभदि, तस्स अणाइरियत्तपसंगादो। कधं वेयणाए आदीए उत्त-मंगलं सेस-दो-खंडाणं होदि ? ण, कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्सेव मंगलस्स सेस-तेवीस-अणियोगद्दारेसु पउत्तिदंसणादो। महा-कम्मपयडिपाहुडत्तणेण चउवीसण्हमणियोगद्दाराणं भेदाभावादो एगत्तं, तदो एगस्स एयं मंगलं तत्थ ण विरुज्झदे। ण च एदंमि तिण्हं खण्डाणमेगत्तमेगखंडत्तपसंगादो त्ति, ण एस दोसो, महाकम्मपयडीपाहुडत्तणेण एदेसिं पि एगत्तदंसणादो। कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खण्डगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादो।'

अब हम इसका अनुवाद देते हैं। पाठक ध्यान दें—

शंका—आगे कहे जानेवाले तीनों खंडों (वेदना, वर्गणा और महाबंध) में से किस खंड का यह मंगलाचरण है ?

समाधान—तीनों खण्डों का।

शंका—कैसे जाना ?

समाधान—वर्गणाखण्ड और महाबंध खंड के आदि में मंगल न किये जाने से। मंगल किये विना तो भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ का प्रारंभ ही नहीं करते, क्योंकि इससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है।

शंका—वेदना के आदि में कहा गया मंगल शेष दो खंडों का भी कैसे हो जाता है ?

समाधान—क्योंकि कृति के आदि में किये गये इस मंगल की शेष तेवीस अनुयोग-द्वारों में भी प्रवृत्ति देखी जाती है।

शंका—महाकर्मप्रकृतिपाहुडत्व की अपेक्षा से चौबीसों अनुयोगद्वारों में भेद न होने

* डा० उपाध्ये : परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृ० ८३।

से उनमें एकत्व है, इसलिये एक का यह मंगल शेष तेवीसों में विरोध को प्राप्त नहीं होता है। परन्तु इन तीनों खंडों में तो एकत्व है नहीं, क्योंकि इन तीनों में एकत्व मान लेने पर तीनों को एकखंडत्व का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, महाकर्मप्रकृति-प्राभृतत्व की अपेक्षा से इनमें भी एकत्व देखा जाता है।

शंका—कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहाँ (भूतबलि आचार्य की रचना में, प्ररूपित किये गये हैं, उनकी भी खण्ड-ग्रन्थ-संज्ञा न करके तीन ही खण्ड क्यों कहे जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनकी यहां प्रधानता नहीं है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—उनका संक्षेप से प्ररूपण किया गया है, इससे जाना जाता है।

इस पर से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि उक्त मंगलाचरण का सम्बन्ध बंध-सामित्त और खुद्दाबंधखण्डों में बैठाना बिलकुल निर्मूल, अस्वाभाविक, अनावश्यक और धवलाकार के मत से सर्वथा विरुद्ध है। हम यह भी जान जाते हैं कि वर्गणाखण्ड और महाबंध के आदि में कोई मंगलाचरण नहीं है। इसी मङ्गलाचरण का अधिकार उन पर चालू रहेगा। और हमें यह भी सूचना मिल जाती है कि उक्त मङ्गल के अधिकारान्तर्गत तीनों खण्ड अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबंध प्रस्तुत अनुयोगद्वारों से बाहर नहीं हैं। वे किन अनुयोगद्वारों के भीतर गर्भित हैं यह भी संकेत धवलाकार यहां स्पष्ट दे रहे हैं। खण्डसंज्ञा प्राप्त न होने की शिकायत किन अनुयोगद्वारों से उठायी गई ? कदि, पास, कम्म और पयडि अनुयोगद्वारों की ओर से। वेदना अनुयोगद्वार का यहां उल्लेख नहीं है, क्योंकि, उसे खंडसंज्ञा प्राप्त है। मुख्तारजी ने इस संबन्ध के अवतरण में बंधन का नाम कोष्ठक में अपनी ओर से जोड़ दिया है, यह सूचित करने के लिये कि वह नाम उनके मत से वहां छूट गया है। किन्तु यह मालूम नहीं पड़ता कि उक्त शिकायत में शामिल करने में उन्होंने बंधन का ही क्यों पक्षपात किया और शेष अठारह अनुयोगद्वार क्यों छोड़ दिये ? आखिर उन्हें भी तो वे वेदनाखण्ड के ही भीतर कृति आदि के साथ समानरूप से स्वीकार करते हैं, और एथ का तात्पर्य वे वेदनाखण्ड से ही लेते हैं ? यथार्थतः यहां बंधन-अनुयोगद्वार को शामिल करने की कोई जरूरत नहीं है। धवलाकार ने उसका तथा आगे अठारह अनुयोगद्वारों का उल्लेख जान-बूझ कर किसी मतलब से छोड़ा है। और वह मतलब यह है कि बंधन के ही एक अवान्तर भेद वर्गणा से वर्गणाखण्डसंज्ञा प्राप्त हुई है और उसके एक दूसरे उपभेद बंधविधान पर महाबंध की भव्य इमारत खड़ी है। जीवट्ठाण खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय

भी इसी के ही भेद-प्रभेदों के सुफल हैं। इसलिये उन सबमें भाग्यवान पांच-पांच यशस्वी सन्तानों के जनयिता बंधन को खण्डसंज्ञा प्राप्त न होने की कोई शिकायत ही नहीं थी। शेष अठारह अनुयोगद्वारों का उल्लेख न करने का कारण यह है कि भूतबलि भट्टारक ने उनका प्ररूपण ही नहीं किया। भूतबलि की रचना तो बन्धनअनुयोगद्वार के साथ ही महाबन्ध पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है। इस बात की सूचना धवलाकार ने अपनी टीका में स्पष्टतः दी है। उन्होंने भूतबलिकृत बन्धनप्ररूपणा के अन्तिम सूत्र को देशामर्षकसंज्ञा देकर कहा है कि उसी में शेष अठारह अनुयोगद्वारों की सूचना गर्भित है, इसलिये वे उन अठारह की प्ररूपणा संक्षेप में स्वयं करते हैं। यथा—

भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिद-सेस-अट्ठारस-अणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो।

धवला अ० पृ० १३३२।

इसके आगे के ग्रन्थ को उन्हों ने इसी कारण पृथक् निर्दिष्ट करनेके लिये चूलिका नाम दिया है—

एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम।

इन अठारह अनुयोगद्वारों की वीरसेनद्वारा रचना का विशद इतिहास इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में दिया है। देखो सं० प० भूमिका पृ० ३८. ६७।

इसी अवतरण से ऊपर और मुख्तारजी द्वारा उद्धृत निबद्ध-अनिबद्ध मंगल-सम्बन्धी अवतरण से नीचे एक और प्रकरण इसी विषय पर बहुत विशद प्रकाश डालनेवाला वर्तमान है जिसे भी मुख्तारजी ने संभवतः उक्त अड़चन के कारण ही उद्धृत करना उचित नहीं समझा। वह पूरा प्रकरण इस प्रकार है—

तत्थेदं किं णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि। ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादि चउवीस-अणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदबलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिबद्धत्तविरोहादो। ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडीपाहुडं अवयवस्स अवयवित्त-विरोहादो। ण च भूदबली गोदमो विगलसुदधारयस्स धरसेणाइरियसीसस्स भूदबलिस्स सयलसुदधारयवड्ढमाणंतेवासिगोदमत्तविरोहादो। ण चण्णो पयारो णिबद्धमंगलत्तस्स हेदुभूदो अत्थि। तम्हा अणिबद्धमंगलमिदं। अथवा होदु णिबद्धमंगलं। कधं वेयणाखण्डादिखण्डगयस्स महाकम्मपयडिपाहुडत्तं। ण कदिया (दि) चउवीस-अणियोगद्दारेहिंतो पुधंतेण पुधभूदमहाकम्मपयडिपाहुडाभावादो। एदेसिमणियोगद्दाराणं कम्मपयडिपाहुडत्ते संते पाहुडबहुत्तं पसज्जदे ? ण एस दोसो, कथंचि इच्छिज्जमाणत्तादो। कधं वेयणाए महा-

परिमाणाए उवसंहारस्स इमस्स वेयणाखण्डस्स वेयणाभावो ? ण, अवयवेहिंतो एयंतेण पुधभूदस्स अवयविस्स अणुवलंभादो। ण च वेयणाए बहुत्तमणिट्ठमिच्छिज्जमाणत्तादो। कधं भूदबलिस्स गोदमत्तं ? किं तस्स गोदमत्तेण। कत्तमण्णहा मंगलस्स णिबद्धत्तं ? ण, भूदबलिस्स खण्डगंथं पडि कत्तारत्ताभावाद। ण च अणेण कयगंथाहियाराणं एगदेसस्स पुव्विल्लसद्दत्थ-संदब्भस्स पव्वओ कत्तारो होदि अइप्पसंगादो। अथवा भूदबली गोदमो चेव एगाहिप्पायत्तादो। तदो सिद्धं णिबद्धमंगलत्तं पि। उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु ····
····इत्यादि।

१ शंका—उनमें से अर्थात् निबद्ध और अनिबद्ध मंगलों में से यह मंगल निबद्ध है या अनिबद्ध ?

समाधान—यह निबद्ध मंगल तो है नहीं, क्योंकि कृति अनुयोगद्वार आदि चौबीस अवयवों वाले महाकर्मप्रकृतिपाहुड के आदि में गौतम स्वामी द्वारा इसका प्ररूपण किया गया है और भूतबलि स्वामी ने उसे वहां से लाकर वेदनाखण्ड के आदि में मंगल के निमित्त रख दिया है, इसलिये उसमें निबद्धत्व का विरोध है। वेदनाखण्ड कुछ महाकर्मप्रकृतिपाहुड तो है नहीं, क्योंकि अवयव को अवयवी मानने में विरोध आता है। और भूतबलि गौतम स्वामी तो हो नहीं सकते, क्योंकि, विकलश्रुत के धारक और धरसेन आचार्य के शिष्य भूतबलि में सकल श्रुत के धारक और वर्द्धमान स्वामी के शिष्य गौतमपने का विरोध है। और कोई प्रकार निबद्ध मंगलपने का हेतु है नहीं इसलिये यह मंगल अनिबद्ध मंगल है।

अथवा यह मंगल निबद्ध मंगल भी हो सकता है।

२ शंका—वेदनाखण्ड आदिखण्डों में समाविष्ट (ग्रन्थ) को महाकर्मप्रकृति प्राभृतपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों से सर्वथा पृथग्भूत महाकर्मप्रकृतिपाहुड की कोई सत्ता नहीं है।

३ शंका—इन अनुयोगद्वारों में कर्मप्रकृतिपाहुडत्व मान लेने पर तो बहुत से पाहुड मानने का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात कथंचित् अर्थात् एकदृष्टि से अभीष्ट है।

४ शंका—(गौतम स्वामी रचित) महापरिमाणवाली वेदना के उपसंहार रूप इस भूतबलि-रचित वेदनाखण्ड को वेदना (अनुयोगद्वार कैसे माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवयवों से एकान्ततः पृथग्भूत अवयवी तो पाया नहीं जाता। और इससे यदि एक से अधिक वेदना मानने का प्रसंग आता है तो वेदना के बहुत्व से कोई अनिष्ट भी नहीं, क्योंकि, वह बात इष्ट ही है।

५ शंका — भूतबलि को गौतम कैसे मान लिया जाय ?

समाधान—भूतबलि को गौतम मानने मे प्रयोजन ही क्या है ?

६ शंका—यदि भूतबलि को गौतम न माना जाय तो मंगल को निबद्धपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतबलि के खण्ड ग्रन्थ के प्रति कर्तापने का अभाव है। कुछ दूसरे के द्वारा रचे गये ग्रन्थाधिकारों में से एक-देश का पूर्व प्रकार से ही शब्दार्थ और संदर्भ प्ररूपण करने वाला ग्रन्थकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि, इससे तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा, अर्थात् एक ग्रन्थ के अनेक कर्ता होने का प्रसंग आ जायगा।

अथवा, दोनों का एक ही अभिप्राय होने से भूतबलि गौतम ही है। इस प्रकार यहां निबद्धमंगलत्व भी सिद्ध हो जाता है।

यहां पर प्रथम शंका-समाधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वेदनाखण्ड के अन्तर्गत

वेदना और वर्गणा-खंडों की सीमाओं का निर्णय

पूरा महाकम्मपयडिपाहुड का विषय नहीं है, वह उस पाहुड का एक अवयवमात्र है, अर्थात् उसमें उक्त पाहुड के चौबीसों अनुयोगद्वारों का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। महाकर्मप्रकृतिपाहुड अवयवी है और वेदनाखण्ड उसका एक अवयव। दूसरे शंका-समाधान मे यह सूचना मिलती है कि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में अकेला वेदनाखण्ड नहीं फैला है किन्तु वेदना आदि खण्ड फैले हैं, अर्थात् वर्गणा और महाबन्ध का भी अन्तर्भाव वहीं है। तीसरे शंकासमाधान में महाकर्मप्रकृतिपाहुड के कृति आदि अवयवों में भी एक दृष्टि से पाहुडपना स्थापित करके चौथे शंकासमाधान में स्पष्ट निर्देश किया है कि वेदनाखण्ड गौतमस्वामिकृत बड़े विस्तार वाले वेदना-अधिकार का ही उपसंहार अर्थात् संक्षेप है। यह वेदना धवला की अ० प्रति में पृ० ७५६ पर प्रारंभ होती है, जहां कहा गया है—

कम्मट्ठजणियवेयण-उवहि-समुत्तिण्णए जिणे णमिउं।
वेयणमहाहियारं विविहहियारं परूवेमो ॥

और वह उक्त प्रति के ११०६ वे पत्र पर समाप्त होती है। जहां लिखा मिलता है—

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणि योगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।

इस प्रकार इस पुष्पिकावाक्य में अशुद्धि होते हुए भी वहां वेदनाखण्ड की समाप्ति में कोई शंका नहीं रह जाती।

पांचवें और छठवें शंका-समाधान में भूतबलि और गौतम में ग्रन्थकर्तृत्वरूप अभिप्राय की अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है जो सहज ही समझ में आ जाता है और इस प्रकार उक्त मंगल को निबद्ध भी सिद्ध करके बता दिया गया है।

इस प्रकार उक्त शंका-समाधान से वेदनाखण्ड की दोनों सीमाएं निश्चित हो जाती हैं। कृति तो वेदनाखण्ड के अन्तर्गत है ही, क्योंकि, उक्त शंका-समाधान की सूचना के अतिरिक्त मंगलाचरण के साथ ही वेदनाखण्ड का प्रारम्भ माना ही गया है।

वेदनाखण्ड के विस्तार का एक और प्रमाण उपलब्ध है। टीकाकार ने उसका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया है। यथा—

खंडगंथं पडुच्च वेयणाए सोलस-पद-सहस्साणि ।

यह पदसंख्या भूतबलिकृत सूत्रग्रन्थ की अपेक्षा से ही होना चाहिए। अत एव जब-तक यह ज्ञात न हो जावे कि पद से यहां धवलाकार का क्या तात्पर्य है, तथा वेदनादि खण्डों के सूत्र अलग करके उन पर वह माप न लगाया जावे, तब-तक इस सूचना का हम अपनी जांच में विशेष उपयोग नहीं कर सकते। तो भी टीकाकार ने एक अन्य खण्ड की भी इस प्रकार पदसंख्या दी है और उस खण्ड की सीमादि के विषय में कोई विवाद नहीं है, इसलिये हमें उनकी तुलना से कुछ आपेक्षिक ज्ञान अवश्य हो जायगा। धवलाकार ने जीवट्ठाण-खण्ड की पदसंख्या अट्ठारह हजार पद बतलाई है:—

'पदं पडुच्च अट्ठारह-पद-सहस्सं' (सं० प० पृ० ६०)

इससे यह ज्ञात हुआ कि वेदनाखण्ड का परिमाण जीवट्ठाण से नवमांश कम है। जीवट्ठाण के ४७५ पत्रों का नवमांश लगभग ५३ होता है, अतः साधारणतया वेदनाखण्ड की पत्र-संख्या ४७५ — ५३=४२२ के लगभग होना चाहिये। ऊपर निर्धारित सीमा के अनुसार वेदना की पत्रसंख्या प्रत्यक्ष में ६६७ से ११०६ तक अर्थात् ४३९ है जो आपेक्षिक अनुमान के बहुत समीप पड़ती है। समस्त चौबीस अनुयोगद्वारों को वेदना के भीतर मान लेने में तो जीवट्ठाण की अपेक्षा वेदनाखण्ड तिगुने से भी अधिक बड़ा हो जाता है।

जब वेदनाखण्ड का उपसंहार वेदनानुयोगद्वार के साथ समाप्त हो गया, तब प्रश्न उठता है कि उसके आगे के 'फास' आदि अनुयोगद्वार किस खण्ड के अंग रहे?

वर्गणाखण्ड-निर्णय

ऊपर वेदनादि तीन खण्डों के उल्लेखों के विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि वेदना के पश्चात् वर्गणा और उसके पश्चात् महाबन्ध की रचना है। महाबन्ध की सीमा निश्चित रूप से निर्दिष्ट है, क्योंकि धवला में स्पष्ट कह दिया गया है कि 'बन्धन' अनुयोग-द्वार के चौथे प्रभेद—बन्धविधान के चार प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध का विधान भूतबलिभट्टारक ने महाबन्ध में विस्तार से लिखा है, इसलिये वह धवला के भीतर नहीं लिखा गया। अतः यहीं तक वर्गणाखण्ड की सीमा समझना चाहिये। वहां से आगे के निबंधनादि अठारह अधिकार टीकाकार की सूचनानुसार चूलिकारूप हैं। वे टीकाकार-कृत हैं, भूतबलिकृत नहीं।

उक्त खण्डविभाग को सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये अब केवल उस प्रकार के किसी प्राचीन विश्वसनीय स्पष्ट उल्लेखमात्र की अपेक्षा और रह जाती है। सौभाग्य से ऐसा एक उल्लेख भी हमें प्राप्त हो गया है। मूडविद्री के पं० लोकनाथजी शास्त्री ने वीर-वाणीविलास जैन सिद्धान्तभवन की प्रथम वार्षिक रिपोट (१९३५) में मूडविद्री की ताडपत्रीय प्रति पर से महाधवल (महाबंध) का कुछ परिचय अवतरणों सहित दिया है। इससे प्रथम बात तो यह जानी जाती है कि पण्डितजी को उस प्रति में कोई मंगलाचरण देखने को नहीं मिला। वे रिपोर्ट में लिखते हैं—'इसमें मंगलाचरण श्लोक, ग्रन्थ की प्रशस्ति वगैरह कुछ भी नहीं है'। पं० लोकनाथजी की यह रिपोर्ट महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पण्डितजी ने ग्रन्थ को केवल ऊपर नीचे ही नहीं देखा—उन्होंने कोई चार वर्ष तक परिश्रम करके पूरे महाधवल ग्रन्थ की नागरी प्रति-लिपि तैयार की है, जैसा कि हम प्रथम जिल्द की भूमिका में बतला आए हैं। अत एव उस ग्रन्थ का एक-एक शब्द उनकी दृष्टि और कलम से गुजर चुका है। उनके मत से पूर्वोक्त 'मंगलकरणादो' पद में हमारे 'मंगलाकरणादो' रूप सुधार की पुष्टि होती है।

दूसरी बात जो महाधवल के अवतरणों में हमें मिलती है, वह खण्ड-विभाग से संबन्ध रखती है। महाबन्ध पर कोई पंचिका' भी उस प्रति में ग्रथित है जैसा कि अवतरण की प्रथम पंक्ति से ज्ञात होता है:—

'वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं'

इसी पंचिकाकार ने आगे चल कर कहा है—

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि वेदणाओ (दि) चौव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि वेदणा त्ति अणियोगद्दाराणि जाणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास (कम्मपयडिबंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि पुणो बंधविधाण-मणियोगो खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहितो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे-थोरुद्धयण पंचियसरूवेण भणिस्सामो'।

इस अवतरण के शब्दों में अशुद्धियां हैं। कोष्टक के भीतर के सुधारे या जोड़े हुए पाठ मेरे हैं। पर उस परसे, तथा उसमें आगे जो कुछ कहा गया है उससे यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि यहां निबंधनादि अट्ठारह अधिकारों की पंचिका दी गई है। उन अट्ठारह अधिकारों का नाम 'संतकम्म' था, जिससे इन्द्रनन्दि के 'सत्कर्म' संबन्धी उल्लेख की पूरी पुष्टि होती है। प्राप्त अवतरण पर से महाधवल की प्रति वा उसके विषय आदि के संबन्ध में अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और प्रति की परीक्षा की बड़ी अभिलाषा उत्पन्न होती है।

किन्तु उस सब का नियन्त्रण करके प्रकृत विषय पर आने से उक्त अवतरण में प्रस्तुतोपयोगी यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है कि कृति और वेदनाअनुयोगद्वार वेदनाखण्ड के तथा फास-कम्म-पयडि और बन्धन के बन्ध और बन्धनीय भेद वर्गणाखण्ड के भीतर हैं। इससे हमारे विषय का निर्विवादरूप से निर्णय हो जाता है।

प्रथम जिल्द की भूमिका में ठीक इसी प्रकार खण्ड-विभाग का परिचय कराया जा चुका है। उस परिचय की ओर पाठकों का ध्यान पुनः आकर्षित किया जाता है।

इस विवेचना की मैं श्री पं० जुगलकिशोरजी के शब्दों से अच्छे शब्दों में समाप्ति नहीं कर सकता—'आशा है सत्य के अनुरोध और भ्रामक सूचनाओं के प्रचार को रोकने की सद्भावना से लिखे हुए इस लेख से बहुतों का समाधान होगा, और वे सब इस बात का प्रयत्न करेंगे कि भविष्य में इस प्रकार की गलत सूचनाओं का अवरोध होवे, वे फैलने न पायें और हमारी लेखनी अधिकाधिक सावधान हो कर उन्नत, पुष्ट एवं निर्भ्रान्त साहित्य तय्यार करने में समर्थ हो सके।'

विविध विषय

(१)

हरिवंशपुराण का रचनास्थान

भास्कर की पिछली दो किरणों (भाग ६, किरण २-३) में श्रीयुत के० भुजबली शास्त्री ने श्रुतकीर्ति-रचित हरिवंशपुराण की प्रशस्तियां प्रकाशित की हैं। इसकी अपभ्रंश प्रशस्ति में लिखा है कि यह ग्रन्थ जेरहट नगर में समाप्त हुआ। उस समय मालव देश के मंडवगढ़ में गयासुद्दीन राज्य करता था। संस्कृत-प्रशस्ति निम्नलिखित है:—

'सिद्धि सम्वत् १५५३ वर्षे करवदि २ दूजगुरौ दिने अद्येह श्रीमण्डपाचलदुर्गे सुलितान गयासुद्दीनराज्ये प्रवर्तमाने श्रीदमोवादेसे महाखानभोजखानवर्तमाने जेरहटस्थाने सोनो-श्रीईसुरप्रवर्तमाने .... हरिवंशपुराणं परिपूर्णं कृतम्।' दोनों प्रशस्तियों में कुछ भिन्नता अवश्य है, परन्तु वह स्थान-विषयक नहीं कही जा सकती। दोनों में फर्क इतना ही है कि एक दूसरे से कुछ अधिक विस्तृत है। संस्कृत-प्रशस्ति में रचना-स्थान का पूर्ण विवरण दिया गया है, और अपभ्रंश प्रशस्ति में कुछ सामान्य। संस्कृत का मण्डपाचल और अपभ्रंश का मंडवगढ एक ही नगर हैं। ये मेवाड़ प्रान्तान्तर्गत मांडलगढ़ नहीं अपि तु मालवे की पुरानी राजधानी मांडू है जो किसी समय धारा नगरी से कुछ दूरी पर स्थित था और इस समय प्रायः निर्जन पड़ा हुआ है। खिलजी सुल्तान गयासुद्दीन यहीं राज्य करता था। इसी मालवा राज्य के अन्तर्गत दमोवा नामक देश अर्थात् प्रान्त था। उसका प्रान्ताधिकारी अर्थात् सूबेदार भोजखान था। दमोवा देश सम्भवतः मध्य प्रदेश का दमोह जिला है। शास्त्रीजी ने लिखा है कि सागर जिले में जेरठ नामक प्राचीन स्थान है। दमोह और सागर जिलों की सीमाएं मिलती हैं, इसलिये यह बहुत संभव है कि गयासुद्दीन के समय जेरठ दमोह प्रान्त के अन्तर्गत हो। अपभ्रंश-प्रशस्ति केवल मालव देश का नाम देकर ही रह गई। परन्तु संस्कृत-प्रशस्ति में रचयिता अपने स्थान के प्रान्ताधिकारी का नाम देकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि नगराधिकारी का भी नाम देता है। जेरहट नगर का तत्सामयिक अधिकारी (सम्भवतः कोतवाल) सोनी श्री ईसुर था। इस प्रकार संस्कृत-प्रशस्ति में कर्ता ने यथाशक्ति हरिवंश के रचनास्थान का विवरण दिया है। जेरहट नगर दमोवा प्रान्त में था और दमोवा प्रान्त गयासुद्दीन-द्वारा शासित मण्डपाचल-राज्य अर्थात् मालवे के अन्तर्गत था। जेरहट का शासक सोनी श्री ईसुर, दमोवा अर्थात् दमोह का भोजखान और मण्डपाचल अर्थात् मालवा का शासक गयासुद्दीन था।

—दशरथ शर्मा, एम० ए०

(२)

गोमट शब्द पर विचार

'विवेकाभ्युदय' में आस्थान-विद्वान् न्यायतीर्थ श्रीयुत पं० शान्तिराजजी शास्त्री मैसूर ने गोमट शब्द पर जो अपना विचार प्रकट किया है, उसका हिन्दी अनुवाद ज्यों का त्यों नीचे दिया जाता है। इस पर श्रीयुत गोविन्द पैजी तो अपना विचार प्रकट करेंगे ही। साथ ही साथ अन्यान्य अधिकारी विद्वानों को भी इस पर अपना अपना अभिमत अवश्य अभिव्यक्त करना चाहिये जिससे इस विषय का सम्मिलित अन्तिम निर्णय हो जाय।

"श्रीबाहुबलिस्वामी का 'गोमट' यह नाम अर्वाचीन है। ई० सन् ९७३-९८६ में तलकाड में राज्य करनेवाले गंगवंश के शासक राचमल्ल के मंत्री चामुण्ड राय के द्वारा श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बाहुबलिस्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठित होने के बाद ही यह गोमट नाम प्रसिद्ध हुआ। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य चामुण्डराय के द्वितीय धर्मगुरु थे। उन्हों ने चामुण्डराय को सिद्धान्त-सम्बन्धी बातों को संग्रहरूप में समझाने के लिये रचे गये ग्रन्थ का नाम 'गोमटसार' रक्खा है। परन्तु सिर्फ इधर के ही कुछ ग्रन्थों में गोमट शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है; पूर्व के किसी पुराणादि ग्रन्थों में यह दृष्टिगोचर नहीं होता। नेमिचन्द्राचार्य प्राकृत भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी सभी कृतियां प्राकृत भाषा-बद्ध ही हैं। उस भाषा के त्रिविक्रम व्याकरण के "गुम्म गुम्मडौ मुहेः" (३-४-१३१) इस सूत्रानुसार 'मोहक' इस अर्थ में णिजन्तार्थ में 'मुह' धातु का 'गुम्मड' आदेश होता है*। इस शब्द के डकार के स्थान में उसी व्याकरण के "गजडदब घझढधभां कचटतप खछठथफाः" (३-२-६५) सूत्रानुसार टकार आकर 'गुम्मट' शब्द बनता है। इस मूल रूप में ही उच्चारण भेद से गोमट और गोम्मट शब्द बन गये हैं। तुलु देश (South Kanara) में "गुम्मड देवर्" यों कहने को रूढि भी इसी बात को समर्थन करती है।

ज्ञात होता है कि चामुण्डराय के द्वारा श्रवणबेलगोल में निर्मापित ५७ फीट उन्नत बाहुबली की मूर्ति अनुपम सुन्दर एवं जगन्मोहक होने से ही नेमिचन्द्राचार्य ने उस विग्रह को 'गोमट' यह नाम रखा और "गुणरत्नभूषण" "सत्ययुधिष्ठिर" "सम्यक्त्वरत्नाकर" इन उपाधियों से चामुण्डराय भी अपने गुणों से तथा गोमटविग्रह के प्रतिष्ठापक होने के नाते संसार को मोहक अर्थात् संतुष्ट करनेवाला होने से गोमट इस प्रशस्ति से उन्हीं के द्वारा विभूषित किये गये। नेमिचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थ में बाहुबलिस्वामी एवं चामुण्डराय को "गोमट" नाम से सम्बोधित किया है।

*हेमचन्द्र-कृत प्राकृत व्याकरण (४, २०७) से भी इस बात की पुष्टि होती है। —के० बी० शास्त्री

श्रीयुत गोविन्द पेंजो का पक्ष है कि "गोमट" शब्द मन्मथ अर्थ में निष्पन्न हुआ है। आप का कहना है कि 'प्राकृत-मंजरी' के "मन्मथे वः" "न्मो मः" इन सूत्रों से मन्मथ शब्द के प्रथम मकार का वकार, न्मकार के नकार का मकार (थकार का बकार) आदेश हो कर "वम्मह" होता है। फिर अन्तिम थकार ठकार हो "गोम्मठ" बनता है। मगर अन्तिम थकार मन्मथ शब्द में है; 'गोम्मह' शब्द में तो अत्यान्तर हकार है। थकार के स्थान में ठकार आने पर "मम्मठ" रूप होना चाहिये। पता नहीं है कि यह "गम्मठ" "गुम्मठ" एवं "गुम्मट" कैसे हुए। साथ ही साथ ज्ञात नहीं होता है कि ऊपर दिखलाये गये "वम्मह" रूप का सार्थक्य क्या है। बाहुबल्यर्थ में मन्मथ शब्द ही अगर "गुम्मट" शब्द व्यवहृत हुआ है तो इस मूर्ति-निर्माण के तथा नेमिचन्द्राचार्य के ग्रन्थ में इसके प्रयुक्त होने के पूर्व इस शब्द का प्रयोग क्यों नहीं हुआ— ये बातें विचारणीय हैं। क्योंकि मन्मथ शब्द पहले भी मौजूद था।

चामुण्डराय को "वीरमार्तण्ड" "वैरिकुलकालदण्ड" "समरधुरन्धर" "प्रतिपक्षराक्षस" आदि उपाधियों के होने से वह अप्रतिम पराक्रमी था यह बात स्पष्ट है। पराक्रमी पराक्रम-गुण को अपनाना पसन्द करता है। अत एव वह इह में अतुल पराक्रमी हो कीर्तिशाली बन कर कैवल्य-साधक श्रीबाहुबलिस्वामी को अपना अभीष्टदेव चुन कर उनकी लोकोत्तर सुन्दर मूर्ति को स्थापित कर धन्य हुआ है।"

— के० भुजबली शास्त्री

(३)

श्रीपुराण

पहले मैंने समझा था कि 'श्रीपुराण' आचार्य सकलकीर्त्ति की रचना है। इस समझ के दो कारण थे—पहला जनश्रुति, दूसरा सकलकीर्त्ति की कृतियों मे भी आदिपुराण नामक ग्रन्थ का पाया जाना। फिर भी श्रीपुराण के मंगलाचरण आदि को देख कर मुझे सन्देह हुआ था अवश्य। इसीलिये भवन से प्रकाशित 'प्रशस्ति-संग्रह' के अन्तर्गत इस ग्रन्थ के परिचय में मैंने स्पष्ट लिख दिया था कि इस ग्रन्थ के रचयिता का प्रकृत पता लगाने के लिये भगवज्जिनसेन एवं आचार्य सकलकीर्त्ति के आदिपुराणों को तुलनात्मकदृष्टि से अवश्य देखना चाहिये। सकलकीर्त्ति का आदिपुराण 'भवन' में नहीं था, इसलिये उस समय मैं उससे इस श्रीपुराण का मिलान करने में असमर्थ रहा। साथ ही साथ प्रशस्ति-संग्रहान्तर्गत सभी ग्रन्थों को आमूलाग्र देखने को मुझे अवकाश मिलता नहीं है। खैर, अभी हाल में आये हुए श्री पं० नेमिराजजी शास्त्री मैसूर के पत्र से

ज्ञात हुआ है कि इसमें जिनसेनकृत आदिपुराण के श्लोक ही संगृहीत हैं जिनके द्वारा श्रीऋषभदेव की संक्षिप्त जीवनीमात्र संकलित है। परन्तु पता नहीं है कि इनके संग्रह-कर्त्ता कौन हैं। कुछ भी हो संक्षेप में श्रीभगवान् ऋषभदेव की जीवनी जाननेवालों के लिये यह विशेष उपयोगी है। बल्कि यह ग्रन्थ उक्त शास्त्रीजी के द्वारा कन्नड अनुवाद के साथ कन्नड लिपि में मैसूर से शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। हिन्दी अनुवाद के साथ नागरी लिपि में भी इसके प्रकाशन की आवश्यकता है। इससे मूल्य की अधिकता के कारण जो व्यक्ति आदिपुराण नहीं खरीदना चाहते हैं वे भी इसे अल्प मूल्य में खरीद कर लाभ उठा सकते हैं। खास कर व्यापारिकदृष्टि से जो ग्रन्थ प्रकाशन का व्यवसाय करते हैं उनका तो इस ओर अवश्य ध्यान जाना चाहिये।

—के० भुजबली शास्त्री

प्रशस्ति-संग्रह

पं. के. भुजबली शास्त्री.

(४३) ग्रन्थ नं० ५४/म्क

प्रतिष्ठा-तिलक

कर्त्ता—ब्रह्मसूरी

विषय—प्रतिष्ठा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च   चौड़ाई ६।।। इञ्च   पत्र-संख्या ११२

प्रारम्भिक भाग —

जिनाधीशमहं वन्दे विध्वस्ताशेषदोषकम् ।
सर्वज्ञं सर्वशास्त्रस्य कर्त्तारं त्रिजगत्प्रभुम् ॥१॥
गणाधीशं श्रुतस्कन्धमपि नत्वा त्रिशुद्धितः ।
प्रतिष्ठातिलकं वक्ष्ये पूर्वशास्त्रानुसारतः ॥२॥
जिनेन्द्रप्रतिमान्यासः प्रतिष्ठेति निगद्यते ।
तत्पूर्विका जिनेज्या हि भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ॥३॥

× × ×

मध्यम भाग (पूर्व पृष्ठ ६४, पंक्ति १२)—

अथाकारशुद्धिविधानम् ।
वेदिबाह्यप्रदेशे मरुदमरकुमाराद्युपस्कारयुक्ते
कूटादावष्टपत्राम्बुजलिखितपरब्रह्ममुख्यामराढ्ये ।
विन्यस्य स्नानपीठे कुशनिहितजिनार्चामुपानीय भक्त्या
संस्थाप्याग्रस्थकुम्भांबुभिरहमुचिताकारशुद्धिं विधास्ये ॥
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं भूः स्वाहा । जन्माभिषेकस्थानीयमाकार-
शुद्ध्यभिषेकप्रारम्भे स्नानपीठाग्रतः पुष्पाञ्जलिं कुर्यात् ।
भेरीगंभीरनादेत्यादि पद्यपठनानन्तरं बाह्ये पृथग्वाद्यघोषणम् ।

× × × ×

अन्तिम भाग—

देशेषु सर्वेष्वधिकः सुपाण्ड्यदेशो नदीमातृकदेवमातृकः ।
चोचाम्रमोचादिसुपूगवृक्षैः संवर्द्धमानो बहुशालिभिश्च ॥१॥

नानाविधैर्वर्द्धितधान्यवर्गैर्वृक्षैरशेषैः फलदैः सुयोग्यैः ।
बाभाति सत्पद्मसरोवरैश्च श्रीराजहंसैर्विहगैर्नरैश्च ॥२॥
दीपं गुडीपत्तनमस्ति तस्मिन् हर्म्यावलीतोरणराजिगोपुरैः ।
मनोहरागारसुरत्नसंभृतैरुद्यानजैर्भात्यमरावतीव ॥३॥
तद्राजराजेन्द्रसुपाराड्यभूपः कीर्त्या जगद्व्यापितवान् सुधर्मा ।
रराज भूमाववति निस्सपत्नः कलान्वितः सद्विबुधैः परीतः ॥४॥
तत्रास्ति सद्रत्नसुवर्णतुंगचैत्यालये श्रीवृषभेश्वरो जिनः ।
विशाखनन्दीशमुनीन्द्रमुख्याः सच्छास्त्रवन्तो मुनयो वसन्ति ॥५॥
श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥६॥
तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्त्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥७॥
शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ ।
कृत्स्नं श्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ ॥८॥
तदन्वयेऽभूद्विदुषां वरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः ।
श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदोषः ॥९॥
तच्छिष्यप्रवरो जातो जिनसेनमुनीश्वरः ।
यद्वाङ्मयं पुरोरासीत् पुराणं प्रथमं भुवि ॥१०॥
तदीयप्रियशिष्योऽभूत् गुणभद्रमुनीश्वरः ।
शलाकाः पुरुषाः यस्य सूक्तिभिर्भूषिताः सदा ॥११॥
गुणभद्रगुरोस्तस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते ।
यस्य वाक्सुधया भूमावभिषिक्ता जिनेश्वराः ॥१२॥
तच्छिष्यानुक्रमे जातेऽसंख्येये विश्रुतो भुवि ।
गोविन्दभट्ट इत्यासीद् विद्वान् मिथ्यात्ववर्जितः ॥१३॥
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्वा सद्दर्शनान्वितः ।
अनेकान्तमतं तत्त्वं बहु मेने विदाम्वरः ॥१४॥
नन्दनास्तस्य संजाता वर्धिताखिलकोविदाः ।
दाक्षिणात्या जयन्त्यत्र स्वर्णयक्षीप्रसादतः ॥१५॥
श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभः ।
उदयद्भूषणनामा च हस्तिमल्लाभिधानकः ॥१६॥
वर्द्धमानकविश्चेति षडभूवन् कवीश्वराः ॥१६॥

सम्यक्त्वं सुपरीक्षितुं मदगजे मुक्ते सरग्रापुरे-
-शस्याः(?) पाण्ड्यमहीश्वरेण कपटाद्धन्तुं स्वमभ्यागते ।
शैलूषं जिनमन्त्रवारिगणमुपास्यास्मिन्मदं ध्वंसति
श्लोकेनागतहस्तिमल्ल इति यः प्रख्यातवान् सूरिभिः ॥१७॥
श्रीवत्सगोत्रजनिभूषणगोपभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात् ।
नानाकलाम्बुनिधिपाण्ड्यमहीश्वरेण श्लोकैः शतैः सदसि सत्कृतवान् बभूव ॥१८
तद्धस्तिमल्लतनुजो भुवि सुप्रसिद्धः सद्धर्मपालकमहोज्ज्वलकीर्तिनाथः ।
तद्धर्म (?) वर्द्धयितुमप्यखिलागमज्ञः श्रीपार्श्वपण्डितबुधोऽविशदन्यराजकम् ॥१९ ।
श्रीवत्सकाश्यपवशिष्ठप्रशस्तभारद्वाजोल्लसद्गौतमभार्गवैश्च ।
आत्रेयकौण्डिन्यमहत्तमगस्त्यविश्वामित्रैः सुगोत्रैः सह बन्धुभिश्च ॥२०॥
एकैकस्मात्कारणात्तां पुरीं तद्भिन्या गत्वा विषयसंमंगलं च ।
तस्मात्तैः सार्द्धं सदाचारनिष्ठो देशं चागाद् होय्सालाख्यं प्रतीतम् ॥२१॥
पृथ्वीतले होय्सलदेशनाम्नि छत्रत्रयाभिख्यपुरी च तस्याम् ।
संराजते चाप्रमतीर्थनाथो विचित्रचित्रान्वितचैत्यगेहे ॥२२॥
तच्चन्द्रनाथजिनपादसरोजभृङ्गस्तां पार्श्वपण्डितबुधोऽप्यविशत्सबन्धुः ।
तत्सूनवश्चन्द्रपचन्द्रनाथवैजय्याजीयाश्च क्रमाद्बभूवुः ॥२३॥
चन्द्रनाथसुताद्याश्च सर्वे हेमाचले स्थिताः ।
तस्यानुजौ यथायोग्यदेशे वासं गतौ च तौ ॥२४॥
सद्वर्तनानुचरितोज्ज्वलचन्द्रपार्यसूनुः सुशास्त्रविद्भूद्विजयद्विजोत्तमः ।
तत्संभवः सकलशास्त्रकलाधिनाथो नाम्नेन्द्र××× विजयो जिनयाजजूकः ॥२५॥
शास्त्राम्भोजातभास्वज्जिनपदनखसच्चन्द्रिकासच्चकोरम्
विजयेन्द्रं सुषुवे हि तत्प्रणयिनी श्रीनामधेया च यम् ।
सद्धर्माब्धिसुपूर्णचन्द्रममलं सम्यक्त्वरत्नाकरम्
तत्पुत्रं खलु ब्रह्मसूरिणमिति ख्यातभाग्योदयम् ॥२६॥
षट्कर्मवैद्यागमशब्दशिल्पज्योतिष्ककाव्योचितनाटकञ्च ।
सङ्गीतसाहित्यकवित्वछन्दोऽलङ्कारशास्त्रं स विवेद सर्वम् ॥२७॥
वृत्तानुयोगाद्युदितप्रपञ्चविस्तारवेदी सकलानुवादी ।
तत्सच्चतुर्धाहतवेदशास्त्रकलागुरुः स्वकुलमलञ्चकार ।२८॥
श्रीचन्द्रप्रभतीर्थनाथपदपद्मामोदसंसक्तभृङ्गः ।
सर्वकलाविचारचतुरः संसेव्यमानो नृपैः ।

चार्वाकादिसुवादिपर्वतपविः सर्वज्ञसंस्थापकः ।
वाग्देवीभजनादितीदमवदत् तद्ब्रह्मसूरी मुदा ॥२९॥
सारं सारं प्रोक्तमित्यत्र शास्त्रे सर्वं लक्ष्यं लक्षणान्त्वेतदेव ।
छन्दोऽलङ्कारादितश्चानघं सञ्जीयाल्लोके बन्धुरं सर्वकालम् ॥३०॥
इति प्रतिष्ठातिलकोदितक्रमात् करोति यो भव्यजनप्रमोदताम् ।
जिनप्रतिष्ठां परमार्थनिष्ठां सद्ब्रह्म यास्यत्यचिरात् सुसौख्यम् ॥३१॥

इस प्रतिष्ठातिलक के कर्त्ता ब्रह्मसूरी ने अपना वंश-परिचय निम्नलिखित रूप से दिया है :—

पाण्ड्यदेश में गुडिपत्तन नाम का एक नगर है। यहाँ का राजा पाण्ड्यनरेन्द्र है। यह बड़ा ही धर्मिष्ठ, शूर-वीर, कला-कुशल तथा पण्डित-सेवी है। यहीं श्रीवृषभ तीर्थङ्कर का एक मनोज्ञ रत्नजटित सुवर्णमय मन्दिर है। इसमें विशाखनन्दी आदि अनेक विद्वान् मुनिगण वास करते हैं। कवि ने आगे प्रख्यात पुराणप्रणेता भगवज्जिनसेनाचार्य की परम्परागत श्रीगोविन्द भट्ट को ही अपना पूर्वज बतलाकर निम्न प्रकार से अपनी वंश-तालिका अंकित की है :—

गोविन्दभट्ट के श्रीकुमार, सत्यवाक्य, देवरवल्लभ, उदयभूषण, हस्तिमल्ल और वर्द्धमान नाम के छः लड़के थे। सुप्रसिद्ध कवि हस्तिमल्ल के पुत्र पण्डित पार्श्व हुए। वह अपने पिता के समान यशस्वी, धर्मात्मा एवं शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् थे। पीछे पार्श्व पाण्ड्य देश से काश्यप, वशिष्ठ आदि अपने गोत्रज बन्धुओं के साथ होय्सलदेश में आकर रहने लगे। यह होय्सलवंश पश्चिमी घाटी की पहाड़ियों में कडूर जिले के मद्गिरि तालुक में अंगडि नामक स्थान से प्रादुर्भूत हुआ था। इसका प्राचीन नाम शशकपुर है। यहां पर सळ नामक एक सामन्त ने एक व्याघ्र से जैनमुनि की रक्षा करने के हेतु होय्सळ नाम प्राप्त किया था। विद्वानों का कहना है कि प्रारंभ में होय्सळवंश पहाड़ी था। पीछे विनयादित्य के उत्तराधिकारी ने अपनी राजधानी शशकपुरी से बेलूर में हटाली। द्वारसमुद्र (हळेबीडु) में भी उनकी राजधानी थी। इस वंश के विष्णुवर्द्धन के समय होय्सळ नरेशों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इसी समय गंगवाडि का पुराना राज्य सब उनके अधीन हो गया था और इन्होंने कई अन्य प्रदेशों को भी जीत लिया था। प्रारंभ में विष्णु-वर्द्धन जैनधर्मावलम्बी रहा; किन्तु पीछे वैष्णव हो गया था। फिर भी जैनधर्म से उसकी सहानुभूति बनी ही रही। होय्सळ राज्य पहले चालुक्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। पीछे नरसिंह के पुत्र वीरबल्लाल के समय में वह स्वतन्त्र हो गया। यह वंश जैनियों का विशेष रूप से पृष्ठपोषक था।

उल्लिखित राज्य की राजधानी ग्रन्थकर्ता ने छत्रत्रयपुरी लिखी है। ऐतिहासिक प्रमाणों से इस वंश की राजधानी केवल तीन स्थानों में थी, जिनके नाम क्रम से शशकपुर, बेलूरु और द्वारसमुद्र थे। पता नहीं कि छत्रत्रयपुरी से ब्रह्मसूरी जी किस स्थान का संकेत करते हैं। बहुत संभव है कि द्वारसमुद्र को ही इन्होंने छत्रत्रयपुर लिख दिया हो।

अस्तु, उक्त पार्श्वपण्डित को चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नाम के तीन पुत्र थे। इनमें से चन्द्रनाथ और इनके परिवार पीछे हेमाचल में जा बसे। शेष दो भाई अन्यान्य स्थानों में चले गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और इन्हीं के लड़के इस ग्रन्थ के रचयिता परम धार्मिक सर्व शास्त्र-निष्णात एवं चारित्रचंचरीक श्रीब्रह्मसूरी जी हैं।

---

४४) ग्रन्थ नं० ५५/झ

प्रतिष्ठाकल्प

कर्त्ता—भट्टाकलंक

विषय—प्रतिष्ठा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च   चौड़ाई ६।।। इञ्च   पत्र-संख्या ८०

प्रारम्भिक भाग—

विज्ञानं विमलं यस्य विशदं विश्वगोचरम्।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय सुरेन्द्राभ्यर्चितांघ्रये ॥१॥
वन्दित्वा च गणाधीशं श्रुतस्कन्धमुपास्य च।
ऐदंयुगीनानाचार्यानपि भक्त्या नमाम्यहम् ॥२॥
अथ श्रीनेमिचन्द्रीयप्रतिष्ठाशास्त्रमार्गतः।
प्रतिष्ठायास्तदाद्युत्सर्वांगानां स्वयमङ्गिनाम् ॥३॥
इन्द्रप्रतिष्ठावभृथाद्यन्तानां कृत्स्नकर्मणाम्।
अवान्तरक्रियाणां च लक्षणप्रतिपादकः ॥४॥
प्रतिष्ठाकल्पनामासौ ग्रन्थः सारसमुच्चयः।
भट्टाकलंकदेवेन साधु संगृह्यते स्फुटम् ॥५॥

पुरातनेषु तन्त्रेषु किञ्चित्सूत्रसमुच्चितम् ।
किञ्चित्प्रयोगसंसिद्धं किञ्चित्कर्मान्तरस्थितं ॥६॥
मंत्रकाण्डगतं किञ्चित् किञ्चित्तन्त्रान्तरोदितम् ।
इत्येवं विप्रकीर्णं तल्लक्ष्म नैकत्र सञ्चितम् ॥७॥
अवगम्य तदेकत्र नेयं प्रकृतकर्मणः ।
सिद्ध्यर्थं प्रौढसाध्यं तन्मन्दानां नैव गोचरः ॥८॥
अतो मन्दावबोधार्थं लक्ष्म यद्यत्र योजितम् ।
तत्रैव क्रियतेऽत्रेति सफलो मे परिश्रमः ॥९॥
श्लोकाः पुरातनाः केचिद्विलिख्य लक्ष्मबोधकाः ।
प्रायस्तदनुसारेण मनुक्ताश्च क्वचित्क्वचित् ॥१०॥
यत्साक्षाच्च लक्ष्मैपद्यत्रयानेऽप्यपेक्षितम् ।
संगृह्यते तदेवात्र न पारंपर्यवाञ्छितम् ॥११॥
पारम्पर्यारवेणात्र संहिता-शास्त्र-भावितम् ।
नोच्यते किन्तु तद्वैद (?) दच्छास्त्रान्तरगोचरः ॥१२॥
तथाहीह प्रतिष्ठांगक्रियानिर्वहणाय हि ।
तत्कर्तुर्नियमेनात्रोपासकाध्ययनागमे ॥१३॥
पुराणाद्यात्मशकुनवास्तुज्योतिषशास्त्रगम् ।
सामान्यैरपि राजाद्यैर्महामुकुटशोभिभिः ॥१४॥
ज्ञानमावश्यकं तत्तु संख्या व्याकरणाद्विना ।
न भवेदिति तल्लक्ष्म वेद्यं तत्रैव नात्र तु ॥१५॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ३१, पंक्ति ६)—

अथैवमङ्कुरारोपस्नप्नानौ होमकर्म च ।
इत्युक्तं प्राक् ततोऽत्रैव तद्विधानं निरूप्यते ॥
मण्डपस्य च वेद्याश्च कुण्डानां चापि लक्षणम् ।
वक्ष्यतेऽग्रे प्रपञ्चेन यागशालाप्रवेशने ॥
अत्र कर्मानुपूर्वी च तत्तल्लक्ष्म च केवलम् ।
पूर्वसूरिवचो दृष्ट्वा कथ्यते साधु तद्यथा ॥
होमकर्मणि पूर्वांगत्वेन पुण्याहवाचना ।
कर्तव्या सापि संकल्पपूर्विका नवकेवला ॥

इति संकल्प्य पुण्याहे क्रियमाणे तदन्तरे ।
अस्ति क्रियाविशेषोऽतः सावम्बप्राग्निरूपिते ॥
होतुरासनविन्यासः कुण्डात् प्रागिति वक्ष्यते ।
तस्य कुण्डस्य चेत्येतद्दुभयोरन्तरालके ॥
प्रस्थं प्रस्तीर्य शालीनां तदूर्ध्वं तण्डुलानपि ।
तत्र स्वस्तिकमालिख्य कोष्ठगश्रीचतुष्टयम् ॥
मायाक्षरं वृतं तत्र तीर्थाम्बुपरिपूरितम् ।
पल्लवादर्शशोभाढ्यगन्धपुष्पाक्षताञ्चितम् ॥
तण्डुलामात्रपिहितं कुशकूर्चोपलक्षितम् ।
श्वेतसूत्रावृतं पञ्चरत्नकाञ्चनगर्भितम् ॥
श्रीखण्डपंकसंलग्नाक्षतविक्षेपलक्षितम् ।
धौतप्रत्यग्रधवलवासोमण्डितकन्दरम् ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

इत्यार्षे श्रीमद्भट्टाकलंकदेवसंगृहीते प्रतिष्ठाकल्पनाम्नि ग्रन्थे सूत्रस्थाने प्रतिष्ठाद्वितीय-तृतीयदिवसविधिनिरूपणीयो नामैकोनविंशः परिच्छेदः ।

प्रतिष्ठाकल्प, अकलङ्कसंहिता अथवा अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ के नाम से प्रसिद्ध यह ग्रन्थ राजवार्तिक, अष्टशती आदि ग्रन्थों के रचयिता विक्रम की ८वीं शताब्दी के विद्वान् भट्टाकलङ्कदेव की कृति माना जाता है। इस ग्रन्थ में तो इसकी रचना का समय नहीं दिया है, परन्तु ग्रन्थों की सन्धियों में ग्रन्थकर्त्ता का नाम 'भट्टाकलङ्कदेव' अवश्य दिया है। सन्धियों में ही नहीं, पद्यों में भी ग्रन्थकर्त्ता ने अपना नाम भट्टाकलङ्कदेव प्रकट किया है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार का कहना है कि सन्धियों और पद्यों में भट्टाकलङ्कदेव का नाम लगा होने से ही यह ग्रन्थ राजवार्तिक के कर्त्ता का बनाया हुआ समझ लिया गया है। अन्यथा, ऐसा समझने में और कथन करने की कोई दूसरी वजह नहीं है। भट्टाकलङ्कदेव के बाद होनेवाले किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में भी इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्राचीन शिलालेख भी इस विषय में मौन हैं। साथ ही साथ भट्टाकलंकदेव के साहित्य और उन की कथन-शैली से इस ग्रन्थ के साहित्य और कथनशैली का कोई मेल नहीं है। इसका अधिकांश साहित्य-शरीर ऐसे ग्रन्थों के आधार पर बना हुआ है, जिनका निर्माण भट्टाकलङ्कदेव के अवतार से बहुत पीछे के समयों में हुआ है।

मुख्तार साहब ने अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिये भगवज्जिनसेन (वि० ९वीं शताब्दी)-प्रणीत आदिपुराण, आचार्य शुभचन्द्र (लगभग वि० ११वीं शताब्दी)-कृत ज्ञानार्णव, भट्टारक एकसन्धि (वि० १३वीं शताब्दी)-रचित एकसंधि-संहिता, पण्डित आशाधर (वि० १३वीं शताब्दी)-प्रणीत जिनयज्ञकल्प, श्रीब्रह्मसूरि (लगभग वि० १५वीं शताब्दी)-विरचित प्रतिष्ठापाठ, श्रीनेमिचन्द्र (लगभग वि० १६वीं शताब्दी)-अङ्कित प्रतिष्ठातिलक, श्रीसोमसेन (वि० १७वीं शताब्दी)-प्रणीत त्रिवर्णाचार के पद्यों को उद्धृत किया है। इन पद्यों में मंगलाचरण भी गर्भित है। पं० जुगल किशोर जी के ख़याल से इसकी रचना विक्रम की १६ वीं या १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई है और यह अकलंक या अकलंकदेव नाम के किसी भट्टारक या विद्वान् की रचना है। मालूम होता है कि इन्होंने अपने नाम के साथ स्वयं ही 'भट्ट' की महत्त्वसूचक उपाधि को धारण करनी पसन्द किया है। इस सम्बन्ध में विशेष बात जानने के लिये 'ग्रन्थ-परीक्षा' भाग ३य का अवलोकन करना चाहिए।

---

(४५) ग्रन्थ नं० ५७/क

परसमय ग्रन्थ

कर्ता—(संगृहीत)

विषय—जैनाचारमण्डन

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८।। इञ्च चौड़ाई ६।।। इञ्च पत्र-संख्या २०

प्रारम्भिक भाग—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
कथमुत्पद्यते धर्मः कथं धर्मो विवर्द्धते।
कथं संस्थाप्यते धर्मः कथं धर्मो विनश्यति॥
सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्द्धते।
क्षमया स्थाप्यते धर्मः क्रोधलोभाद्विनश्यति॥
अहिंसासत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्।
पञ्चस्वेतेषु धर्मेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः॥

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

सोहम्मस्सिंदस्स य वाहणदेवा हुवंति विसरया।
दक्खिणउत्तरपासेसु तिप(?) वरदिव्वरूवधरा ॥१४३॥
अभियोगपुराहिंतो गंतूणं पंचजोयणाणि तदो।
दसजोयणविच्छिण्णं वेयड्ढगिरिस्स वरसिहरं ॥१४४॥
तियसिंदचावसरिसं विसालवरवेदियाहि परियरियं।
बहुतोरणदारजुदं[1] विचित्तरयणम्मि रमणिज्जं ॥१४५॥
तत्थ समभूमिभागे [2]फुरंतवररयणकिरणणियरम्मि।
चेट्ठंते णव कूडा कंचणमणिमंडिया दिव्वा ॥१४६॥
णामेहि सिद्धकूडो पुव्वदिसंतो तदो भरहकूडो।
खंडप्पवादणामो तुरिमो तह माणिभद्दो त्ति ॥१४७॥
विजयड्ढकुमारो पुण्णतिमिस्सं गुहाविधाणो य।
उत्तरभरहो कूडो पच्छिमयंतम्मि वेसमणा ॥१४८॥
कूडाणं उच्छेहो पुहपुह छज्जोयणाणि इगिकोसं।
तेत्तियमेत्तं णियमा हुवेदि मूलम्मि विक्खंभा ॥१४९॥

जो ६ को १ जो ६ को १ जो ४ को १ जो ३ $\frac{१}{२}$

तस्सद्धं वित्थारो पत्तेक्कं होदि कूडसिहरम्मि।
मूलसिहराणि छंदं मेलियदलिदम्मि मज्झस्स ॥१५०॥
आदिमकूडे[3] चेट्ठदि जिणिंदभवणं[4] विचित्तधयमालं।
वरकंचणरयणमयातोरणजुत्तं विमाणं व ॥१५१॥
दीहत्थमेक्ककोसो विक्खंभो होदि कोसद्धसम्मेत्तं।
गाउतियचरणभागो उच्छेहो जिणणिकेदस्स ॥१५२॥

को १ । $\frac{१}{२}$ । $\frac{३}{४}$ ।

कंचणपायारत्तयपरियरिओ गोउरेहि संजुत्तो।
वरवज्जणीलविज्जुमम[5] रगयवेरुलियपरिणामो ॥१५३॥
लंबंतरयणदामो णाणाकुसुमोपहारकयसोहो।
[6]गोसीसमलयचंदणकालागुरु[7]धूवगंधड्ढो ॥१५४॥

---

1 D हारजुदं; 2 पुरत्त (फुरंत ?); 3 D कूडा; 4 D जियंद; 5 विद्रुम(?); 6 ABS गोसीर; 7 ABS कालागरु।

वरवज्जकवाडजुदो बहुविहदारेहिं सोहिदो विउलो ।
वरमाणथंभसहिओ जिणिंदगेहो णिरुवमाणो ॥१५५॥
भिंगारकलसदप्पणचामरघंटादवत्तपहुदीहिं ।
पूजादव्वेहिं तदो विचित्तवरवत्थसोहिं वा ॥१५६॥
पुण्णायचंपयअसोयवउलादिरुक्खपुण्णेहिं ।
उज्जाणेहिं सोहदि विविहेहिं जिणिंदपासादो ॥१५७॥
सच्छजलपूरिदाहिं कमलुप्पलसंडमंडणधराहिं ।
पोक्खरणीहिं रम्मो मणिमयसोहाण[1]मालाहिं ॥१५८॥
तस्सिं जिणिंदपडिमा अट्ठमहामंगलेहिं संपुण्णा
सीहासणादिसहिदा चामरकरणागजक्खमिहुणजुदा ॥१५९॥
भिंगारकलसदप्पणवीयणधयछत्तचमरसुपइट्ठा ।
इय अट्ठमंगलाइं पत्तेक्कं अट्ठअधियसयं ॥१६०॥
कित्तीए वण्णिज्जइ जिणिंदपडिमा य सासदड्ढीए[2] ।
जो हरइ सयलदुरियं सुमरणमेत्तेण भव्वाणं ॥१६१॥
एवं हि रूवं पडिमं जिणस्स तत्थट्ठिदं भत्तिए सच्छचित्ता ।
झायंति केई सुविणट्ठकम्मा ते मोक्खमग्गं सकलं लहंते ॥१६२॥
एसा जिणिंदप्पडिमा जणाणं[3] झाणं वि णिच्चं सुबहुप्पयारं ।
भावाणुसारेण अणंतसोक्खं[4] णिस्सेयसं अब्भुदयं च देदि॥१६३॥
भरहादिसु कूडेसुं अट्ठसु वेंतरसुराण पासादा ।
वररयणकंचणमया वेदीगोउरदुवारकयसोहा ॥१६४॥
उज्जाणेहिं जुत्ता मणिमयसयणासणेहिं परिपुण्णा ।
णच्चंतधयवडाया बहुविहवण्णा विरायंति ॥१६५॥
बहुदेवदेविसहिदा वेंतरदेवाण होंति पासादा ।
जिणवरभवणपवणिणदपासादसरिच्छरूवड्ढी ॥१६६॥

को १ । १।२ ।
२ ४

भरहे कूडे भरहो विदुपवादम्मि णट्ठमालसुरो ।
कूडम्मि माणिभद्दे अहिवइदेवो अ[5] माणिभद्दो त्ति ॥१६७॥

---

1 सोवाण (?); 2 ABS सासदरिद्धीए; 3 D जिणाणं; 4 D सोक्खं पि; 5 य (?)।

वेयड्ढकुमारसुरो वेयड्ढकुमारणामकूडम्मि ।
चेट्ठेदि पुण्णभद्दो अहिणामो होइ पुण्णभद्दम्मि ॥१६८॥
तिमिसगुहम्मि य कूडे देवो णामेण वसदि कदमालो ।
उत्तरभरहे कूडे अहिवइदेवो भरहणामो ॥१६९॥
कूडम्मि य वेसमणे वेसमणो णाम अहिवरो देवो ।
दसधणुदेहुच्छेहो सव्वे ते पल्लपल्लाऊ ॥१७०॥
बेगाऊवित्थिण्णा दोसु वि पासेसु गिरिसमायामा ।
वेयड्ढम्मि गिरिंदे वणसंडा होंति भूमितलिं ॥१७१॥
दोकोसुं वित्थारो पणसयचावा पमाणरुंदो उ ।
वणवेदीआयारो[1] होंति (?) हु तोरणदारेहिं संजुत्तो ॥१७२॥
चरियट्टालयचारू णाणाविहजंतलक्खसंकुण्णा ।
विविहवररयणखचिदा णिरुवमसोहा हि वेदीओ ॥१७३॥
सव्वेसु उववणेसुं वंतरदेवाण होंति वरणयरा ।
पायारगोउरजुदा जिणभवणविभूसिया विउला ॥१७४॥
रजदणगे दोण्णि गुहा पण्णासा जोयणाणि दीहाओ ।
अट्ठं उव्विड्ढाओ बारसविक्खंभसंजुत्ता ॥१७५॥

५० । ८ । १२ ।

पुव्वाए तिमिसगुहा खंडपवालादिसाए अवरधरा ।
वज्जकवाडाहि जुदा अणादिणिहणा हि सोहंति ॥१७६॥
जमलकवाडा दिव्वा होंति हु छज्जोयणाणि वित्थिण्णा ।
अट्ठेवयसद्धाओ[2] दोसु वि गुहासु दाराणि पत्तेक्कं ॥१७७॥
पण्णासजोयणाणिं वेयड्ढणगस्स मूलवित्थारो ।
तं भरहादो सोधय सेसद्धं दक्खिणद्धं तु ॥१७८॥
दुसया अट्ठत्तीसं तिण्णि कलाओ य दक्खिणद्धम्मि ।
तस्स सरिच्छपमाणो उत्तरभरहो हि णियमेण ॥१७९॥

२३८ । ३ ।
१९

रुंदद्धं इसुहीणं वग्गिय अवणिज्ज रुंददलवग्गे ।
सेसं चउगुणमूलं जीवाए होदि परिमाणं ॥१८०॥

---

1 A आयारा; 2 D सिद्धाओ ।

बाणजुदरुंदवग्गो[1] रुंदकदी सोधिदूण दुगुणकदी।
जं लद्धं तं होदि हु करणीचावस्स परिमाणं ॥१८१॥
जीवकदी तुरिमं सासावद्धकदी य सोहिदूण पदं।
रुंदद्धम्मि विहीणो अद्धं बाणस्स परिमाणं ॥१८२॥
जोयणा य णवसहस्ससत्तसया अट्ठतालसंजुत्ता।
बारसकलाओ अधिओ रजदाचलदक्खिणो जीओ[2] ॥१८३॥

९७४८ । १२ ।

१९

तंजीवाए चावं णव य सहस्साणि जोयणा होंति।
सत्त सया छासट्ठी एक्क कला किंचि अधिरेक्को[3] ॥१८४॥

९७६६ । १ ।

१९

वीसुत्तरसत्तसया दस य सहस्साणि जोयणा होंति।
एक्कारसकलअहिया रजदाचलउत्तरे जीवा ॥१८५॥

१०७२० । १० ।

१९

एदाए जीवाए धणुपट्ठं दससहस्ससत्तसदा।
तेदालजोयणाइं पण्णारसकला य अधिरेओ[4] ॥१८६॥

१०७४३ । १५ ।

१९

जेट्ठाए जीवाए मज्झे सोहसु जहण्णजीवस्स।
सेसदलं चूलीओ हुवेदि वंसेयसेले उ[5] ॥१८७॥
चत्तारि सयाणि तहा पणसीदीजोयणेहिं जुत्ताइं।
सत्तत्तीसद्धकला परिमाणं चूलियाइरिमं ॥१८८॥

४८५ । ३७ ।

जेट्ठम्मि चावपट्ठे सोहेज्ज कणिट्ठचावपट्ठं ति।
सेसद्दलपयसभुजा हुवेदि वरिसम्मि सेले य ॥१८९॥
चत्तारि सयाणि तहा अडसीदीजोयणेहिं जुत्ताणि।
तेत्तीसद्धकलाओ गिरिस्स पुव्वावरम्मि पस्स भुजा ॥१९०॥

1 D वग्गो; 2 D दीउ; 3 D अधिवेको; 4 D अधिवेओ; 5 सेले य (?)।

४४ । ३३ ।
२
१९

। पद्दा[1] सम्मत्ता ।

चोद्दससहस्सजोयणचउस्सया एक्कसत्तरीजुत्ता ।
पंचकलासा[2] सेसे जीवा भरहस्स उत्तरे भाए ॥१९१॥

१४४७१ । ५ ।
१९

भरहस्स चावपट्टं पंचसयाबहियचउदससहस्सा ।
अडवीस जोयणाइं हुवंति एक्कारस कलाउ ॥१९२॥

१४५२८ । ११ ।
१९

जोयणसहस्समेक्कं अट्ठसया पंचहत्तरीजुत्ता ।
तेरसअद्धकलाओ भरहखिदीचूलिया एसा ॥१९३॥

१८७५ । १३ ।

१९

एक्कसहस्सट्ठसया बाणउदी जोयणाणि भागा वि ।
पण्णरसद्धं एसा भरहखेत्तस्स पस्स भुजा ॥१९४॥

१८९२ । १५ ।
२
१९

हिमवंताचलमज्झे पउमदहो पुव्वपच्छिमायामो ।
पणसयजोयणरुंदो तद्दुगुणायामसंपण्णो ॥१९५॥

५०० । १००० ।

दसजोयणावगाढो चउतोरणवेदियाहिं संजुत्तो ।
तस्सिं पुव्वदिसाए णिग्गच्छदि णिम्मगा गंगा ॥१९६॥
[3]छज्जोयणेक्ककोसा णिग्गदठाणम्मि होदि वित्थारो ।
गंगातरंगिणीए उच्छेदो[4] कोसदलमेत्तो ॥१९७॥

1 ABS एद्दा ; 2 कलंसा (?) ; 3 BS छजोयणे ; 4 B उच्चेदो, A उच्वेदो ।

गंगाणइए[1] णिग्गमट्ठाणे चिट्ठेदि तोरणो दिव्वो ।
णवजोयणाणि तुंगो दिवड्ढकोसादिरित्तो य ॥१९८॥

९ । ३ ।
२

चामरघंटाकिंकिणिवंदणमाला सहेइ कयसोहा ।
भिंगारकलसदप्पणपूयणदव्वेहिं रमणिज्जा ॥१९९॥
रयणमयथंभजोजिदविचित्तवरसालभंजियारम्मो ।
वरिंदणीलमरगयकक्केयणपउमरायजुदा ॥२००॥
ससिकंतसूरकंतप्पमुहमऊहेहि[2] णासियतमोघो ।
लंबंतकणयदामो अणाइणिहणो अणुवमाणो ॥२०१॥
छत्तत्तयादिसहिदा वररयणमईओ फुरिदकिरणोघा ।
सुरखेयरमहिदाओ जिणपडिमा तोरणुवरि णिवसंति ॥२०२॥
तम्हि समभूमिभागे पासादा विविहरयणकणयमया ।
वज्जकवाडेहिं जुदा चउतोरणवेदियाजुत्ता ॥२०३॥
एदेसु मंदिरेसुं होंति दिसाकण्णयाउ देवीओ ।
बहुपरिवाराणुगदा[3] णिम्मललावण्णरूवगदा ॥२०४॥
पउमद्दहादु दिसाए पुव्वाए थोवभूमिमेत्तम्मि ।
गंगाणईए मज्झे उब्भासदि एउ मणिमयकूडो ॥२०५॥
वियसियकमलायारो रम्मो वेरुलियणालसंजुत्तो ।
तस्स दला अइरत्तो पत्तेक्कं कोसदलमेत्तं ॥२०६॥
सलिलादु[4] वरिउदओ एक्कं कोसं हुवेदि एदस्स ।
दोकोसो वित्थारो चामीयरकेसरेहिं संजुत्तो ॥२०७॥
इगिकोसोदयरुंदो रयणमई तस्स कण्णिया होदि ।
तीए उवरिं चेट्ठदि पासादो मणिमओ दिव्वो ॥२०८॥
तप्पासादा णिवसदि वेंतरदेवी बलेत्ति विक्खादो[5] ।
[6]एक्कपलिदोवमाऊ बहुपरिवारेहिं संजुत्ता ॥२०९॥
एवं पउमद्दहादो पंचसयाजोयणाणि गंतूणं ।
गंगाकूडमपत्तो[7] जोयणअद्धेण दक्खिणावलिया ॥२१०॥

1 B गंगाइए; 2 मऊखेहिं (?); 3 A S B मदा; 4 D सलिलाओ दुवरी; 5 विक्खादा (?); 6 ASB एक्का; 7 D कूडप॰त्तो ।

चुल्लहिमवंतरुंदे णइरुंधस्सोधिदूण[1] अद्धकदी ।
दक्खिणभागे पव्वदउवरिम्मि हवेदि णइदीहं ॥२११॥
पंचसयातेवीसं अट्ठहिदा ऊणतीसभागा या ।
दक्खिणदो आगच्छिय गंगाणिरिजिब्भियं पत्ता ॥२१२॥

५२३ । २९ ।
१९

हिमवंतयंतमणिमयवरकूडमुहम्मि वसहरूवंमि ।
पविसिय णिवलइ दारा दसजोयणवित्थरा य मसिधवला ॥२१३॥
वज्जोयणेक्ककोसा पणालियाए हुवेदि विक्खंभा ।
आयामा बेकोसा [2]तत्तियमेत्तं च बहलत्तं ॥२१४॥

६ । को १ । को २ । को २ ।

सिगमुहकण्णजिहालोयणभूदाओवहिणासरिसो ।
वसहो त्ति तेण भण्णइ रयणामरजीहिआ तत्थ ॥२१५॥
पणुवीस जोयणाणि हिमवंते तत्थ अंतरेदूणा ।
दसजोयणवित्थारे गंगाकुडम्मि णिवसदे गंगा ॥२१६॥[3]
पणुवीसजोयणाइं दारपमुहंमि होदि विक्खंभा ।
सव्वाणिकत्ताण य एवं णियमा परूवेदि ॥२१७॥

२५ ।

पाठान्तरम्—
जोयणसट्ठीरुंदं समवट्टं अत्थि तत्थ वरकुंडं ।
दसजोयणउच्छेदं मणिमयसोवाणसोहिल्लं ॥२१८॥

६० । १० ।

बासट्ठिजोयणाइं दो कोसा होदि कुंडवित्थारो ।
संगोयणिकत्तारो एवं णियमा णिरूवेदि ॥२१९॥

६२ । को २ ।

पाठान्तरम्—
चउतोरणवेदिजुदो सो कुंडो तत्थ होदि बहुमज्झे ।
दीवा रयणविचित्ता चउतोरणवेदिया हि कयसोहा ॥२२०॥

1 D दसाधिदूण; 2 AB तत्तिय; 3 AB repeat this verse.

दसजोयणउच्छेहो सो जलमज्झम्मि अट्ठवित्थारो ।
जलउवरिं दो कोसो तंमज्झे होदि वज्जमयसेलो ॥२२१॥
१० । कोस २ ।
मूले मज्झे उवरिं चउदुगएक्का कमेण वित्थिण्णा ।
दसजोयणउच्छेहो चउतोरणवेदियाहि कयसोहा ॥२२२॥
तप्पव्वदस्स उवरिं बहुमज्झे होदि दिव्वपासादो ।
वररयणकंचणमओ गंगाकूडं ति णामेण ॥२२३॥
चउतोरणेहिं जुत्तो वरवेदीपरिगदो[1] विचित्तयरो ।
बहुविहजंतसहस्सो सो पासादो णिरूवमाणो ॥२२४॥
मूले मज्झे उवरिं तिदुमेक्कसहस्सदंडवित्थारो ।
दोण्णिसहस्सोत्तुंगो सो दीसदि कूडसंकासो ॥२२५॥
३००० । २००० । १००० । २००० ।
तस्सब्भंतररुंदो पण्णासब्भहियसत्तसयदंडा ।
चालीसचाववासं असीदिउदयं च तद्दारं ॥२२६॥
७५० । ४० । ८० ।
मणितोरणरमणिज्जं वरवज्जकवाडजुगलसोहिल्लं ।
णाणाविहरयणपहाणिच्चुज्जोयं विराजदे दारं ॥२२७॥
वरवेदीपरिखित्ते चउगोउरमंदिरम्मि पासादे ।
रम्मुज्जाणे तस्सिं गंगादेवी सयं वसइ ॥२२८॥
भवणोवरि[2] कुंडम्मि य जिणिंदपडिमादि सासदरदीउ ।
चेट्ठंति किरणमंडलउज्जोइदसयलदिग्भाओ ॥२२९॥
आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तु[3]मणप्पसा पडदि ॥२३०॥
पुव्विदपंकजपीडाकमलोदरसरिसवण्णवरदेहा ।
पढमजिणप्पडिमाओ भरंति जे ताण देंति णिव्वाणं ॥२३१॥
कुंडस्स दक्खिणेणं तोरणदारेण णिग्गदा गंगा ।
भूमिविभागे वक्को होदूण गदा य रजदगिरिं ॥२३२॥
[4]रम्मायाए गंगा संकुलिदूणं पि दूरदो एसा ।
विजयड्ढगिरिगुहाए पविसदि भेदाभिलेभुंजंगिद्ध (?) ॥२३३॥

---

1 D परमदो; 2 AB भवणोवर; 3 ABS अभिसत्तु; 4 D रम्माआए।

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. VI JUNE, 1940. No. I.

Edited by

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A., D. Litt.

Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,

ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :

INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8. SINGLE COPY Rs. 1-4

CONTENTS.

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. VI. No. I } ARRAH (INDIA) { June 1940.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

Continued from Vol. V. No. III, page 74.

The scene of the story is laid in Rājapura in Oudaya Deśa, in Bhārata Khaṇḍa. Māridatta is the name of the king. There is a Kāli temple in the city dedicated to Caṇḍa Māri Dēvi. It was the time of a great festival for this Caṇḍa Māri Dēvi. For the purpose of sacrificing, there were gathered in the temple precincts, pairs of birds and animals, male and female, such as fowls, peacocks, birds, goats, buffaloes and so on. These were brought by the people of the town as their offerings to the Devi. The king Māridatta, to be consistent with the status and position of Rāja, wanted to offer as sacrifice not merely the ordinary beasts or birds but a pair of human beings as well. So he instructed his officer to fetch a pair of human beings, a male and a female, to be offered as sacrifice to the Kāli. The officer accordingly went about in search of human victims. Just about that time a Jaina Saṅgha consisting of 500 ascetics presided over by Sudattācārya came and settled at the park in the outskirts of the city. In this Saṅgha there were two youths Abhayaruci and Abhayamti, brother and sister. These two young apprentices, since they were not accustomed to rigorous discipline

characterstic of the grown up monks in the Saṅgha, were very much fatigued on account of the long travel and were permitted by the head of the Saṅgha to enter the town for obtaining the alms for themselves. The officer of the king, who went about in search of human victims, was very glad to capture these two beautiful youths and marched them to the Kāli temple and informed the king of his capture. The king Māridatta gladly went to the Kāli temple with the object of offering his sacrifice with these beautiful youths. The people assembled there asked these two beautiful youths to pray to Kāli that, as a result of this great sacrifice, blessings must be showered on the king and the land. The two ascetics smiled at this request; and they themselves blessed the king that he might be weaned from this cruel form of worship, so that he might have the pleasure of accepting the noble Ahiṁsā Dharma which would lead him to a safe spiritual haven. When they pronounced this with a smile on their beautiful faces, the king was nonplussed for he could not understand how two such young and beautiful persons, in the face of death, could have such peace of mind as to laugh at the whole game as if it were none of their own concern. Therefore the king wanted to know the reason why they laughed at such a grave moment and expressed a desire to know who they were, and why they came to the city, and so on. The sword drawn for sacrifice was sheathed again, and the king was in a mood to know the reason of the queer behaviour of the two youths. As desired by the king the brother Abhayaruci began to answer. "The reason why we laughed, without being in fright, was the result of knowledge that everything that happens to an individual is but the fruit of his previous Karma. Fear to escape the fruits of one's own Karma is but the result of ignorance. Hence we were not afraid of our own fate which is the consequence of our own previous action. We have to laugh simply because the whole scene here is steeped in so much ignorance. As a result of our own conduct that we sacrificed a fowl made of rice flour, we had to suffer and endure for seven births successively taking the form of lower animals and suffering all sorts of pain. Only in this period, we have the good fortune to regain our human form. We know very well that all

this suffering was the result of our silly desire to offer sacrifice to Kālī, though the actual victim of sacrifice was merely an imitation fowl made of flour. After realising this, when your people asked us to pray to Caṇḍa Māri Devī for the propsperity and welfare of of yourself and your kingdom as a result of sacrifice of several animals and birds together with human beings, we could not but laugh at the simplicity and ignorance of people here."

When the king heard this, he gave up the idea of sacrifice and wanted to know more about the life of the two victims who exhibited such magnificent peace of mind even in the very jaws of death. Thus ends the first section.

In the second section is narrated the story of these two youths and how they brought upon themselves all the troubles on account of sacrificing a mock fowl. The scene is laid in Ujjain, the capital of Avanti of Mālavadēśa. The ruler of the country was one Aśōka. His queen was Candramatī. Yaśōdhara was their son. It is this prince Yaśōdhara that is the hero of this story. This Yaśōdhara married a beautiful princess by the name of Amṛtamati. This beautiful queen gave birth to a son Yaśōmati. The old king Aśōka abdicated the kingdom in favour of his son Yaśōdhara and instructed him to observe the principles of righteous rule according to Rājanīti. He instructed his son how he should safeguard Dharma, Artha and Kāma, the three Puruṣārthas. He should maintain religion and religious worship at a high level of purity based upon Ahiṁsā doctrine. Having given all this advice and establishing his son as the king of the land, the old king adopted the life of an ascetic and spent his time in an Āśrama While king Yaśōdhara and queen Amṛtamati were living happily, one early morning the queen heard the the sweet music of the elephant-keeper singing in Mala-pañcama-rāga. The queen was attracted by the music and sent her attendant Guṇavatī to procure the person who was responsible for such sweet music. This information created a surprise in that attendant who advised the queen to remember her status and prestige; but as she insisted on having the person with whom she fell in love, the attendant had to bring the keeper of the elephant

who was a detestable leper. Even in spite of this deformity, the foolish queen entered into an intimacy with that wretch. The king was at first ignorant of the whole affair. But soon the king came to know of this disgusting behaviour of the queen. Noticing the peculiar estrangement in her behaviour, he himself grew weary of worldly riches and was trying to discard the kingly pleasures and renounce the world. Just then he had an ominous dream in which the moon from the high skies was observed to fall down towards the earth losing all her light and glory. The king feared that this was symbolic of some calamity and wanted to know how to avoid the evil foretold in this dream. The queen-mother was consulted by the king who was advised to offer some animal sacrifice to Kālī for the purpose of warding off such a calamity. The king, because he was a faithful follower of Ahiṁsā Dharma, could not reconcile himself to animal sacrifice. Hence the king and his queen-mother both arrived at a compromise according to which the king had to offer a fowl made of rice-flour as a sacrifice to the Kālī. So the mock fowl was offered as a sacrifice to Kālī Thus troubles began. In the meanwhile, the queen knowing that her conduct was discovered by the king and the queen-mother, hated them both and finally succeeded in killing them by poisoning them Thus, after disposing off the king and his m other, this wicked queen Amṛtamatī made her own son Yaśomati king of Āvantideśa. After the death of Yaśodhara and his queen mother Candramati as a result of the sin of the sacrificing to Kālī, they were born as lower animals for seven births in succession.

The third section is the description of the various Janmas taken by king Yaśodhara and his mother as lower animals and birds, and the grief and suffering that they had to undergo.

In the fourth section the narrative of the new king Yaśomati is given and also the story of Abhayaruci and Abhayamati who were in their previous births Yaśodhara and his queen mother Candramati. Finally, when Māridatta learnt the whole story, he desired to know more about this noble Truth Ahiṁsā ; and he was taken to the Guru who was camping in the Udāyna in the outskirts

of the city where the king had the initiation into the noble faith of Ahiṁsā. Thereafter, he not only gave up the offering of animal sacrifice to Kāli himself, but also proclaimed to his people that such a sacrifice should not be offered any longer. Thus he elevated the religion and temple worship to a higher and nobler level all over his land. This is the story of the Yaśodhara Kāvya in Tamil about whose author we know nothing The story is found even in Sanskrit literature. There is a Sanskrit Yaśodhara Kāvya dealing with the same story. But it is not clearly known which is earlier, the Tamil or the Sanskrit one.

This Tamil Yaśōdhara Kāvya was first published by late T. Venkaṭa āma Iyengar an esteemed friend of the present writer. Unfortunately the edition is out of print and hence not available to readers at present.

(2) Cūḷāmaṇi.—It is composed by the Jaina author poet Tolāmoḷittēvar. He was evidently under the patronage of the chief Vijaya of Kārvetnagar. The editor of this work Damodaram Piḷḷai is of opinion that it must be earlier than some of the Major Kāvyas. His conclusion is based upon the fact that several stanzas from Cūḷāmaṇi are quoted by Amṛtasāgara, the author of Yāpparuṅgalakārikai. Cūḷamaṇi is based upon a Purāṇic story contained in Mahāpurāṇa by Jinasena. The hero of the story is one Tiviṭṭan one of the nine Vāsudevas according to the Jaina tradition of whom, Kṛṣṇa of Bhārata fame, is one. Cūḷāmaṇi resembles Cintāmaṇi in poetic excellence It contains 12 sargas and 2131 stanzas on the whole. The story runs as follows. Prajāpati, King of Suramaidēśa, whose capital was Pōtanapura had two principal queens Mṛgapati and Jayavati Tiviṭṭan, the hero, was the son of Mahādevī Mṛgapati, Vijaya the son of Jayavati and this was the elder of the two. Vijaya and Tiviṭṭan were exactly corresponding to Balarāma and Kriṣṇa, the former fair, and the latter dark in complexion. A soothsayer told the king Prajāpati that his son Tiviṭṭan would marry a Vidyādhara princess very shortly The Vidyādhara king of Rādānūpura had a daughter by name Svayamprabhā who was very beautiful. This Vidyādhara king also had a prediction made by a

soothsayer that his daughter Svayamprabhā would marry a Kṣatriya prince of Pōtanapura. The Vidyādhara Monarch sent one of his ministers with a letter to king Prajāpati offering his daughter in marriage to Tiviṭṭan. King Prajāpati of Potanapura, though surprised at first at this offer from the Vidyādhara king, consented to the marriage. In the meanwhile, the matter was known to the Vidyādhara emperor Aśvagrīva to whom both king Prajāpati and the father of Svayamprabhā were subordinates Aśvagrīva, the Vidyādhara emperor, demanded from the father of Tiviṭṭan the usual tribute. King Prajāpati fearing the wrath of the Vidyādhara emperor ordered the tribute to be paid immediately. But his son Tiviṭṭan would not permit this He denied allegiance to the Vidyādhara emperor and sent the messenger back saying "No tribute will be paid hereafter." One of the Vidyādhara min'sters attached to Aśvagrīva's court, wanted to kill this foolhardy Kṣatriya youth Tiviṭṭan by a stratagem He assumed the form of a lion and destroyed the cattle of the land Suramai belonging to the king Prajāpati The sons of Prajāpati, Tiviṭṭan and Vijaya, set out to slay the lion The lion which is the assumed form of the Vidyādhara minister cleverly decoyed Tiviṭṭan into a cave. Tiviṭṭan pursued the lion into the cave. There was a real lion which devoured the Māyā lion and wanted to have Tiviṭṭan also Tiviṭṭan was not to be frightened by this The Vidyādhara lion having disappeared into the mouth of the real lion of the cave, he caught hold of the head of the real lion and killed it easily. This killing of the lion was a part of the prediction given by the sooth-sayer to the king of Rādānūpura, the father of Svayamprabhā, who was to be given in marriage to Tiviṭṭan Therefore the king of Rādānūpura set out with his daughter Svayamprabhā for Pōdanapura where the Vidyādhara princess was given in marriage to the gallant Tiviṭṭan. Vidyādhara emperor Aśvagrīva, boiling with wrath, because of the treatment meted out to his messenger by his subject's son Tiviṭṭan, had now his anger aggravated because of the marriage with a Vidyādhara princess. He could not brook the idea of an ordinary Kṣatriya prince, and that too the son of his own subordinate, marrying a Vidyādhara princess of his own noble race. He marched with his

mighty force against Tiviṭṭan. A war ensued. Tiviṭṭan being a Vāsudeva, was in possession of divine magic powers, and with his Cakra made a clean sweep of the Vidyādhara army and finally slew the Vidyādhara emperor Aśvagrīva himself. The result of this victory made Tiviṭṭan's father-in-law suzerain lord for the whole of Vidyādhara land Tiviṭṭan himself inherited his father's domain and lived happily with his Vidyādhara bride Svayamprabhā together with his several thousand other spouses. He had a son by his Vidyādhara bride Svayamprabhā named Amṛtasena. He gave his sister in marriage to his brother-in-law Arkakīrti and by his sister a daughter was born called Sudārai and also a son. Tiviṭṭan had another daughter by name Jōtimālai for whose marriage he proclaimed a Svayaṁvara. This daughter chose as her husband her maternal uncle, Arkakīrti. whereas the Vidyādhara princess chose his own son Amṛtasena. Thus by these two marriages the alliance between Podanapura dynasty and the Vidyādhara dynasty was further strengthened. Thus. when the two countries were living in happiness and the people were enjoying prosperity, the old king Prajāpati renounced the kingdom in favour of his son and passed the remainder of his life in Yōga and meditation. But as a result of this Jinadīkṣā and spiritual penance king Prajāpati escaped from Saṁsāra and attained Mukti. Thus ends the story of Cuḷāmaṇi, a very important work included in the category of the five minor kāvyas.

(3) Neelakēśi.—This is also one of the five minor kāvyas which is evidently by a Jaina philosopher poet about whom we know nothing. It is a controversial work dealing with the system of Indian philosophy and it has an excellent commentary called Samaya Divākara by one Vāmana Muni. This Vāmana Muni is the same as the author of another classic called Mērumandirapurāṇam. Neelakēśi appears to be a refutation of the Buddhistic work called Kuṇḍalakēśi which is unfortunately lost now. This Kuṇḍalakēśi was included under the category of the five Mahākāvyas. Though the Tamil classic of this name is lost to the world, the story of Kuṇḍalakēśi as found in the Buddhistic work is given below for the simple reason that the related story of Neelakēśi is modelled after Kuṇḍalakēśi

and is intended to be a refutation of Kuṇḍalakēśi's philosophy. The story of Kuṇḍalakēśi is as follows taken from "The Buddhist Legends" (H. O. S.)

A rich merchant of Rājagṛha, it seems, had an only daughter who was about sixteen years of age, and she was exceedingly beautiful and fair to see. When women reach this age, they burn and long for men. Her mother and father lodged her on the topmost floor of a seven-storied palace in an apartment of royal splendour, and gave her only a single slave-woman to wait upon her.

Now one day a young man of station was caught in the act of robbery. They bound his hands behind his back and led him to the place of execution, scourging him with lashes at every cross-road. The merchant's daughter heard the shouts of the crowd, said to herself, "What is that?", looked down from the top of the palace, and saw him.

Straightaway she fell in love with him. So great, in fact, was her longing for him that she took to her bed and refused to eat. Her mother asked her, 'What does this mean, my dear daughter.' 'If I can have that young man who was caught in the act of committing robbery and who was led through the streets, life will be worth living; otherwise I shall die here and now.' 'Do not act in this manner, my dear daughter; you shall have someone else for your husband, someone who is our equal in birth and family and wealth." 'I will have no one else; if I cannot have this man, I shall die."

The mother, unable to pacify her daughter, told the father, but the father likewise was unable to pacify his daughter. 'What is to be done?', thought he. He sent a thousand pieces of money to the king's officer who had captured the robber and who was accompanying him to the place of execution, saying, 'Take the money and send the robber to me.' 'Very well' said the king's officer. He took the money and released the robber, had another man put to death, and sent word to the king, 'The robber has been executed, Your Majesty.'

Contd.

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Continued from Vol. V. No. III, page 88.

Thus we may conclude that the monuments of Asoka and their symbols betray the influence of Jainism on Asoka; and as he closely followed and copied Jaina ideas in his buildings, it may be regarded that he actually had the knowledge of Jainism and most probably professed it.

Technical terms of Jainism in Asokan Edicts.

It seems that Asoka, also, used the language of the Jainas in composing his edicts: as is evident from the opinions of various scholars.[78] Yet not only the language but many a technical term of Jainism with their very sense and meaning has been also used by him. We may point some of them herein below:—

1. *Srāvaka* (श्रावक) or *Upāsaka* (उपासक) words are used in the 1st minor Rock Edit of Rupnāth and also in those of Vairāṭ and Sahasrāma. In Jainism these words are reserved to indicate a layman;[79]

2. *Prāṇa* (प्राण) Asoka used the term (प्राण) in his Brahmagir (2nd minor) edict (हेमेव गुरुत्वं प्राणेषु द्रोणचव्यम्) while he exhorted the people to honour the *prāṇas* (of the living beings). Jainism characterises and classifies the mundane souls according to the *prānas* they possess and the injury *himsa* (हिंसा) of living beings

78. E. Senart, Les Inscriptions de Piyadasi. pp 505--513 & A. Weber, Uberein Fragment der Bhagwati Sect. I &c

79. In the following verse the word श्रावक is used to describe the Dharma of a layman :—

'एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं

सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे।'—अष्टपाहुड P. 99.

Likewise the word "उपासक" is used for a layman in the उपासकदशासूत्र and other texts.

also depends on hurting these *prānas.*[80] Which are ten in all as are named in the following verse :—

'पंचवि इन्दिय पाणा मणवचिकाया य तिण्णि बल पाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥५७॥'

Such use of the word *prāna* is not perhaps traceable elsewhere.

3. *Jīva* (जीव)—We find this word in the first Girnar Rock Edict and it is the very first *Tattva* of Jainism,[81] Jain king Khārvela while observing penances on the Kumarihill discerned the difference of Jīva and Ajiva.[82]

4. Śramaṇa श्रमण—The word Śramaṇa is traceable in the third and many other Rock Edicts. Jainism and Jaina ascetics are styled as Śramaṇa-Dharma and Śramaṇa.[83]

5. *Pāṇā-Anālambha* (पाणाअनालंभ) term is found in the third Rock Edict. In Jaina texts it can be traced profusely.[84]

6. *Kalpa* (कल्प) term is used in the fifth Rock Edict to denote a certain period. While calculating time Jaināṣ also use the term Kalpakāla.[85]

---

80. Outlines of Jainism, p. 82

"पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाऊ उस्सासो ॥३०॥" —पंचास्तिकाय

81. Tattwarthadhigama-Sutra (S. B. J.) p. 6

82. J.B.R.O.S., Vol. XIII pp. 234—235.

83. „ 'He who teaches the great vows (of monks) and the five small vows (of the laity) the five *āśravas* and the stoppage of *āśravas* and control, who avoids Karman in this blessed life of Śramaṇas him I call a Śramaṇa."

Sutra Kratanga, 2.6.6.

'Kalpa-Sutra' p. 83.

'समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति ।
णामाणि सुविहि दाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥८८६॥' —मूलाचार ।
'समयाए समणो होइ'
'से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था ।' —सूयगडांग ५३४

84. In "Mūlāchāra," 41 it is found in an affirmative sense.

"सव्वं पाणारंभं पचक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं मेहुण परिग्गहं चेव ॥४२॥"

85. Vrahad—Jaina—Śabdārṇava, pt. II p. 415.

7. *Ekadeśa* एकदेश—Aśoka mentions this term in his 7th Rock Edict to denote the partiality of Dharma. In a similar sense and meaning this term is used in Jainism.[86]

8 *Sambodhi* (संबोधि, —This Term is used in the 8th Rock Edict: which is also traceable in Jainism.[87]

9. *Vachnagupti* (वचनगुप्ति): Asoka used the term बचिगुत्ति in the 12th Rock Edict, while exhorting the people to honour other sects and do not belittle them without cause.[88] In Jainism only we find three kinds of *guptis* (1) *Managupti* (2) Vachanagupti 3) and Kāyagupti and every Jain Sramaṇa is required to observe them fully well.[89] Asoka is anxious of unity among various sects and so he advises the people to regulate their speech and if they had an occasion to criticise the other sect they should do so with great care. Indeed Asoka's this injunction is quite in agreement with the Jain teaching.[90]

---

86. 'निरत: कार्त्स्न्यनिवृत्तो भवति यतिः समयसारभूतोऽयं ।
यात्येकदेशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥' —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

87. सयं भवमय महणा बोधी गुणवित्थडामए लद्धा ।'—मूलाचार ।
'पयलिय माणकसाओ, पयलियमिच्छत्त मोहसमचित्तो ।
पावइ तिहुवणसारं बोही, जिणसासणे जीवो ॥७८॥'—मूलाचार ।

88. Mookerjee. Asoka p. 158 ff.

89. Outlines of Jainism. p. 97 –Sarvartha-Siddhi—Tika of Tattvarthadhigama –Sutra, Ch IX, sl 4..

90. Cf. " Sramanas and Brahamanas blame one another when they teach (their doctrines). But we (Nirgranthas) blame only (the wrong) doctrines and not at all (those who entertain them) " Sūtra –Kratāng, 2-6 12 (S.B.E. XLV. 414).

In the Jaina Puraṇas we meet with such instances where Jaina Śramaṇas undergo prāyaśchitta प्रायश्चित्त for not properly observing the Vachanagupti वचनगुप्ति and offending other sects; e g, Muni Viṣṇu Kumāra-Carita, in which a Śramaṇa Śrutakīrti is made to undergo prāyaśchitta प्रायश्चित्त for using harsh language against a Brahmaṇa antagonist.

10. *Vedaniya* (वेदनीय,—This term is used in the 13th Rock Edict in the meaning of pain. In Jainism, too, it is used in this very sense and is one of the eight Karmas.[91]

11. *Dhamma-Mangala*—(धम्म-मंगल). It is referred to in the 9th Rock Edict and in Jainism, too, it has the same significance and use.[92]

12. *Dāna and Pūjā* (दान व पूजा)—Asoka used this phrase in his 12th Rock Edict (G), while he expressed his catholicity in honouring all the sects. The Dharma of a lay man in Jainism is described in this very phrase [93]

13. *Dharma-Vijay* (धर्म-विजय)—Asoka mentions this word in his 13th Rock Edict. Jaina kings like Samprati, Śāliśuka and Khāravela too made such Dharmavijayas in their own capacity and fashion respectively.[94]

14 *Chaturmāsi-Posaha* (चातुर्मासि पोसह) in R. E. 2. It seems that 8th (अष्टमी) and 14th (चतुर्दशी) of each fortnight in every month are more sacred to Jainas than other sects Among the Jainas the last eight days of all the three seasons, styled as ashṭānhikā (अष्टाह्निका) are counted very sacred and are called as कार्तिक चातुर्मासा, फाल्गुण चौमासा and अषाढ़ चौमासा[95]. During these days all kind of *Hinsā* is prohibited. It seems that Asoka refers to this very पोसह in his above phrase.

91. Tattwārtha-Sutra (SBJ), p 160

92. "चत्तारि मंगलं, अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मोमंगलं।"

—नित्यपूजा

"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।" दश०, अ० १ गा० १

93. 'दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो, ण सावगो तेण विणा।"

—कुंदकुंदाचार्यः।

94. JBORS., Vol. III p. 453 ff, and Vol. XVI, p. 24 ff.

95. The "Jaina" Silver Jubilee Number, Bhavanagar, p. 78.

15. *Pākhanda* (पाखंड) is used by Asoka in R. E. 13. In Jainism this word is found,[96] while it is absent in Buddhism.[97]

16. *Samacariyaṃ* (समचरियं) is also to be found in Rock Edict 13 as in Jainism[98].

17. *Kalyāna* (कल्याण) This word is also traceable in the 13th R. E. and it finds place in Jaina texts[99].

18. *Apāsinave* (अपासिनवे) term is used in the 2nd pillar edict and it is also found in Jaina texts.[100]

19. *Dvipada-catuṣpadeṣu-pakṣivāricareṣu*—(द्विपदचतुष्पदेषु पक्षिवारिचरेषु)—This phrase is also found in the 2nd P. E. and by it are denoted those animals which received protection from Asoka. In Jainism too, the animals are classified in three kinds, which are similar to that mentioned in the phrase.[101]

96 *Ibid*, p. 77.

97 " It (पाखंड) is not found in Buddhism." —Wilson (JRAS., XII. p. 236).

98. 'जं छेयं तंसमायरे ।'—'समो श्र सव्वभूएसु; तसेसु थावरेसु य ।'—समवाए समणो-होइ ।'

Asoka used the word Samāvāya 'समावाय' in the 12th R. E.

99 'कल्लाण पावगाश्रो पावगाश्रो पाश्रो विचिणोदि जिणमदुमुविश्व ।
विचिणादि वा श्रपाये जीवाण सुहे य श्रसुहेय ॥४००॥ 'मूलाचार'
'सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥' —दशवैकालिक श्र० ४ गा० १०

100 In Tattvārthadhigam —Sūtra (S. B. J. series, p. 124) Āsrava is described twofold—good and bad. Apāsrava is bad Āsrava.

101. Prasna-Vyākarṇa Sūtra (Hyderabad ed: p. 7.)
"भगवंचणं ······धम्ममाइक्खइ ······ तेसिं सव्वेसिं······
दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि सरीसिवाणं ······।"
—समवायाङ्ग,

20. *Jīva-nikāya* (जीवनिकाय) – For it see 5th P. E. and this term is traceable in this very form in the Jaina texts [102]

21. *Prosadha* (प्रोषध)—For this term also the 5th P. E. may be referred to. In Jainism this term has a great importance, since one of the vows of layman is also styled as Prōshadhōpaivsā (प्रोषधोपवास[103].)

22. *Dharma-vriddhi* (धर्मवृद्धि) term is used in 8th P. E. Jaina ascetics use this term at large even to this day and the Jainas are always alert for the sacred cause of dharma-vridhi (धर्मवृद्धि.) We find Kṣapaṇaka (Jaina monk Jīvasiddhi using this term in the " Mudrā-Rākṣasa-Nāṭaka.)" [104]

23. *Pchûpayamana* (पचूपगमन) is used in 6th P. E. It is synonymous to Jaina Pratikramāṇa (प्रतिक्रमण) which has a special place in Jainism [105]

24. *Devānāmpriya* (देवानां प्रियः) and *Priyadarśana* (प्रियदर्शन) Both the terms are used in the 7th P. E. and also in others. The Jaina narrative accounts abound with these terms.[106]

25. *Asinava* (आसिनव)—It is mentioned with the word *Pāpa* in the III P. E. This distinction of *asrava* and *Papa* is clear in Jainism and the five *āsravas* named by Asoka also find place

102. 'ईयापथे प्रचलताश्च मया प्रमादादेकेंद्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा, इत्यादि ।'

—प्रतिक्रमणपाठ ।

103. "चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासः यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१९॥४॥"

—रत्नकरण्डकम् ।

See also Kalpasūtra (S.B.E.) pt. I and Uvāsagadasāo

104. Hindu Dramatic Works, p. 89 & Pravachanasāra (Bombay 1935). Intro

105. Mulāchāra, p. 11.;

' Pratikramaṇa, self-analysis and repentance for faults.' – Tattvartha-dhigama-Sūtra, p. 184.

106. Kalpasūtra p. 54 & 126-30.—" This same term of Devānāmaprya or beloved of the Gods should prove to have been an established and conventional title among the Jains " JRAS-IX-206,

in the *āsava* of Jainas. In Buddhism it is not traceable in this sense.[107]

26. *Bhūta* and *Prāṇa* (भूतप्राण) 13th R. E. " Asoka does contrast," says Dr. Bhandarkara " from *prāṇa* when he enumerates his ethical practices, as in *anārambho paṇānaṃ, avihisa bhūtānam.* Buddhists no where distinguishes between *prāṇa* and *bhūta*, whereas Jaina scriptures does not only distinguish them one from the other but also both from Jiva and Sattā. [108]' Thus it is clear that Asoka used the terms *bhūta* and *prāna* in the sense of Jainas. We come across the phrase *pāṇa-bhūya-jiva-satta* in Jaina Scriptures and though Asoka did not use them together, [109] but he had mentioned all the four in his edicts.[110]

The above-mentioned technical terms of Jainism used by Aśoka also signify his belief in that religion.

Teachings of Asoka.

Asoka was convinced like a Jaina that " the best work is instruction in Dharma," (R. E. 4. G.) and he considered it to be a duty of a king (R. E 6, I). Accordingly he proclaimed that " no other duty is more important than promoting the welfare of all men," (R. E. 6) and he set himself heart and soul to fulfill his this duty. Concerning this he speaks that " I shall issue proclaimations of Dharma and shall order instruction in Dharma to be given Hearing this men will conform to it, will be elevated and will be made to progress considerably by the promotion of Dharma " (P. E. 7 Asoka's this decesion too is in conformity with the Jaina idea on the point, for, it is said in the Jaina scriptures that it is very difficult

107. Bhandarakar, Asoka pp. 126—127 and Mookerjee Asoka, p. 71.

108. Bhandarakar, *loc Cited* p. 130.

109. "पाणा-भूया-जीवा-सत्ता ।"

—Ācārānga Sutta (S. B. E.) XXII p. 26 ;

"पाण-भूय-जीव-सत्ता ।"

—प्रतिक्रमणपाठ ।

110. In Jain scriptures they are used separately.

"जो समो सव्वभूदेसु तसे थावरेसु य ।
जस्स रागो य दोसो य वियऊंण जणेंतिदू ॥५२६॥

—मूलाचार पृ० २०४।

for men to hear Dharma and perchance they hear it, they come to know the Right Path of Soul's elevation and progress in Dharma.[111] Asoka is not anxious only for the worldly welfare of his subjects, he is rather more anxious for the good of their souls in the next world; which also, is but a true spirit of Jainism. For the benefit of soul of an individual in the next world Asoka issued the following injunctions and in these also we witness Jaina influence, as we shall see below:

1. *Animals must not be killed.*—By this prohibition Asoka preaches the most important teaching of Jainism in the shape of Ahimsa and regards it as one of his main precepts similarly to Jainism. (P. E. 7). Asoka stopped killing of animals for sacrifices and even for food Asoka's this special regard for the sanctity of and non-injury to all living beings is akin to Jain spirit of Ahimsā [112]

2. *Superstitious ceremonies condemned*—(R.E. 9B) Asoka's condemnation of superstitious ceremonies on the occasions of marriages and child-birth etc., as offensive and useless and recommendation in their place of the practice of Dharma is just the same what Jainism preaches. *Mithyātva* (superstition) is wholly condemned in Jainism[113] and *Dharma* is called there also as best *Mangalra*.[114]

To be continued.

111. माणुस्सं विग्गहं लध्धु सुई धमस्स दुल्लहां ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिम संसयं ॥८॥३॥ 'उत्तराध्ययन सूत्र'

112. It is only Jainism that wholly condemns hurting of animals, while killing of animals for food by laymen is justified in Buddhism.

113. Ratnakarandakam, 1, 22—23, etc.
"आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥१॥२२॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमूच्यते ॥१॥२३॥ इत्यादि"—रत्नकरंडकम् ।

114. aśavai kālikasūtra, I, 1; Nityamahayajna kalpa.
"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो ।
देवा वि तं नमं स्संति जस्स धम्मे सया मणो ॥"—दशवैकालिक सूत्र अ०१गा०१
"चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।"
—नित्यमहयज्ञकल्प,

PRESIDENTIAL ADDRESS.*

BY

Prof. J. C. Jaina, M A.

In this highly intellectual world of to-day, very often the validity of religion is questioned. The younger generation is less interested and less inclined towards religion. People say, it is for the sake of religious fanciful ideas that the Catholics and Protestants fought, Orthodox Hindus maltreated Harijans and prohibited them from entering the temple of their God, and in India even now there are communal riots and bloodshed among the Hindus and the Muslims every year. They abuse religion by saying that it is like opium, and it should never be prescribed for the welfare of the masses.

Really outwardly religion may seem as the main root of all disturbances, but it should never be forgotton that the defect lies in the misinterpretation of religious doctrines and not in the religion itself. For instance, science is being misapplied for the destruction of humanity, but we cannot fairly abuse science or scientific knowledge

Religion is defined by Yogindu, a Jain thinker, thus :—

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियइँ ।
धम्मु ण मढियपएसि धम्मु ण मत्थालुंचियइँ ॥
राय रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मो वि जिण-उत्तियउ जा पंचम-गइ णेई ॥

i.e., reading is not religion, books and the broom of peacockfeathers do not constitute religion, to live in a monastery is not religion and pulling out of hair is not religion, but by giving up pleasure and displeasure to live in one's own self is called Religion.

---

* It was delivered at the Jainism Section of the First Convention of Religions, held under the auspices of the Indian Research Institute, Calcutta 1937

So religion is not any caste, creed or colour, nor is it any superstition, custom or formalism, but it is an innate experience of Reality. independent of all historical religions, which distinguishes man from the animal. In the words of Prof. William James, " religion is the feelings, acts and experiences of individual man in their solitude, so far as they apprehend themselves to stand in relation to whatever they may consider divine." In our actual life we feel that we are not free to act, the mighty forces of nature are dashing us down, the cruel death snatches away our dearest kith and kin in the twinkling of an eye and we are left quite desolate. Religion tries to explain such riddles and it makes an attempt to unveil ourselves. Different thinkers of the world at all times, have tried to conceive the inconceivable and to utter the unutterable under different circumstances and different environments and hence arises the diversity of religion बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः. Every system of religious thought makes an effort to find out the ways and means to remove suffering and to realise the self in its own way, under different names and under various guises. Just as every individual has his own contribution to the development of society, just as each nation has its own specific civilisation and culture, so each religion has its own share in apprehending the mystery of the Universe As for instance, if Vedānta takes a monistic or idealistic view of life, Jainism and Sāmkhya philosophers take pluralistic or realistic view of it. Again, if to criticise the materialistic theory, the Upanishadic thinkers propounded the docrine of eternity of soul, Buddha, realising that it was being misinterpreted and misunderstood in the sense of self-individuality (अहंकार) which he considered the main root cause of suffering, established his theory of " no soul " (अनात्मवाद). Undoubtedly Buddha never meant thereby self-denial. The same thing can be said with regard to other religions. Thus different religious views contain different aspects of truth. The final goal of all religions is one, *i.e.*, to know the Infinite—to achieve the greatest good for the greatest number The difference we find in various religions is not in their essence—not in their fundamentals, but it is due to their social, political and historical conditions.

The Jain religion has its own contribution to add to the social and cultural life of India. Before Mahāvīra, the twenty-fourth Tīrthaṅkara of the Jains, was born, there was no organised religion in the country, different teachers preached different tenets, people used to spend much of their intellectual energy on ceremonies and sacrifices, and the rules of caste were observed very strictly. Under these and many other difficult circumstances, Mahāvīra and Buddha made revolutionary changes in the social and religious life of India. Mahāvīra refused to preach his tenets in Sanskrit, which was considered as the language of the learned, and which could be interpreted in various ways, but he preferred to speak to the masses in their own vernacular, *i.e.*, Ardhamāgdhī. Mahāvīra made no distinction of any caste or creed, and he treated all men and women equal. He said because a man is low born, we have no reason to deny him spiritual knowledge. Every soul is in possession of infinite capacity and every man and woman, leading a holy life, can attain spiritual perfection. Not only this, but it is interesting to note, that in his assembly hall (समवसरण) a compartment was allotted even to the animals. Thus Mahāvīra brushed aside the distinction of high and low, rich and poor, and superior and inferior, very boldly, and declared in plain words :—

कम्मणा बंभणो होइ कम्मणा होइ खत्तिओ।
कम्मणा वइसो होइ सुद्दो हवइ कम्मणा ॥

That is to say, one's own caste should be determined by one's own action and not by birth. Mahāvīra showed high respect towards women and so included them in his "Saṅgha." He boldly asked why a woman should be backward. Why should she be deprived of any knowledge? Again, Mahāvīra did not believe in God as a creator of this universe and as a revealer of the Vedas. He said that such theories had been a great hindrance in checking the progress of the human intellect and had led us to act according to the sweet will of others. So he proclaimed that man's fate lies in his own hands, and to achieve the highest end of life is possible only through our own strenuous efforts. Thus Mahāvīra laid emphasis on the theory of Karman *i.e.*, as a man has sown so shall he reap,

we are the makers our own fate; as a man determines so he becomes.

The most important contribution of Jainism is their theory of "Anekāntavāda." It propounds many-sided view of a thing, and emphasises the relativity of truth. Amṛtchandra, a great Jain thinker, has defined Anekāntavāda thus:—

तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यं, इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकं परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनं अनेकांतः।

In other words, the nature of things is extremely complex: we cannot affirm or deny anything absolutely. Every proposition is true only hypothetically. Every object is full of contradictions and oppositions. The plant germinates, blooms, withers and dies. Man is young, mature and old. So to understand a thing fully we should predicate the contradictions of existence and non-existence one and many, permanence and change and so on. For instance, "let us take the antithesis of the swift and the slow. It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift and slow; swift by comparison with what is slower than itself, slow by comparison with what is swifter than itself" 'Anekāntavāda' lays emphasis on the fact that "No judgment is true in itself and by itself. Every judgment as a piece of concrete thinking is informed, conditioned to some extent and constituted by the appercepient character of the mind." According to this doctrine, as there is truth in every idea, as there is reality in every existence, so every system of religion has some truth to offer. As long as we claim that we alone are in possession of truth, and others are groping in darkness, we can never achieve the truth, and consequently conflicts are sure to arise. A man who loves his own creed more than truth, ends by loving his own individuality better than his own sect. For instance, one may start by claiming that Hinduism is the only best religion, then he affirms Brahmanism is the only true creed, then he comes to Vaishṇavism, then to Vallabha sect, and finally he claims his own particular standpoint as the only true representation of truth. Jainism affirms that none can claim the ownership of the whole truth. As no system is wholly

untrue, similarly no system can be called absolutely true. Truth can be seen only by degrees and partially. So to acquire a sympathetic understanding of our own religion, we should show reverence and the spirit of toleration and trust towards all other creeds. "Anekāntavāda" in this sense, takes a most comprehensive and synthetic view of all systems of religious thought, and declares that the different views propounded by different religions are only to suit the varying conditions of life. Upadhyāya Yaśovijaya, a great scholar of Jainism, writes :—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।
तस्यानेकांतवादस्य क न्यूनाधिकशेमुषी ।
तेन स्याद्वादमालंब्य सर्व दर्शन तुल्यतां ॥
मो क्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित् ॥

i.e. a true follower of Anekāntavāda has a sympathetic view towards all other religions, just as a mother has to her babies. Hence one who regards all systems of religious thought with the same eye, one who takes a synthetic view of all other creeds, is called a real knower of the scriptures. Siddhasena Divākara, the famous Jain logician has emphasised the same view-point, when he affirms that all heretical doctrines combined (मिच्छादंसण समूह) constitute the sayings of lord Jina. Ānandaghana, a Jain mystic, represented the same spirit of compromise and good-will, when he described six systems of Indian Philosophy as the different parts of God Jaina (षड्दरसण जिण अंग भणीजे). In the words of Swāmi Rāmkrishṇa, 'Anekāntavāda' declares " as the same sugar is made into various figures, so one sweet Mother Divine is worshipped in various climes and ages under various names and forms. Different creeds are but different paths to reach the Almighty. Really it was a very great truth when Jainism said that truth is one and there are various ways of approaching it.

Jainism is as old as human knowledge. Jainism has made substantial contribution in the sphere of Art and Science of India. Jains possess a very rich and vast literature of their own. Some of their important books were translated even into the Persian

language. They have got their Rāmāyaṇa and Mahābhārata which possess their own specialities. There were Jain kings and ministers in ancient days; and at the court of Akbar and other Kings, Jains occupied a very important position. Buddhism has totally disappeared from the soil of India, while the Jain religion even now occupies a very important place in Indian life; this fact show that Jains one day had possessed many-sided ability to adjust themselves according to the different circumstances. Nevertheless, Jainism has its own specific beauties, and its contributions to Indian civilisation and culture are immense.

Finally I come to the present needs of the world. The greatest achievement of our age is modern science. Modern science has given us things which we never conceived of in the past, it has brightened and cleansed the human existence in so many different ways, it has provided us with railways, aeroplanes, wireless, televisions, cinemas and what not. The world has become economically a single unit and we do not hear of famine any more. The tendency of science is to dispel superstitious fears and irrational beliefs from our mind. No doubt we are better off a hundred times now than we were before. But unfortunately this is not the whole tale. To quote Bertrand Russell "science has merely increased the power of man to satisfy his desires" On the one hand there is so much over-production of goods that the producers have to destroy them to prevent a fall in prices and on the other, millions of men and women go cold and hungry for want of clothing and food. Every nation wants to sell its productions to all and wants to buy from none. Economic struggle is going on everywhere among the nations. The strong and advanced nations carry on scientific exploitation of the weaker ones by fair or foul means. Love of wealth is increasing more and more, which is cutting short the roots of modern civilisation. Self-indulgence, universal greed and utter disregard of the interests and aspirations of others are becoming the main features of our time. Under these circumsances everybody's eyes are on the next world war, which is thought inevitable. Our science is trying its best to make it most successful, most horrible and thereby helping to bring about a collapse of the civilisation of the West.

Under such circumstances, " tell us what to do " is the common cry of the people. Shall we look towards religion for assistance and work out for an international peace through religion ? According to Prof. Radhakrishnan such an ideal is possible and it seems to him as the most hopeful political instrument for world peace. To put it in his own words " The political ideal for the world is not so much a single empire with a homogeneous civilisation and a single communal will, but a brotherhood of free nations differing profoundly in life and mind, habits and institution existing side by side in peace and order, harmony and co-operation, and each contributing to the world its own unique and specific best, which is irreducible to the terms of the others."

Now, in order that religion may be a living force again, we should pursue our religious studies in a scientific way. To achieve this end, our first duty would be to encourage the comparative study of all religions. We should view different religions from different angles of vision as the different branches of the self-same tree or the broken lights of a single truth. As various rivers crossing the different ways, at the end submerge into one and the same ocean, so all religious systems of the world are spun around the same central conception of the ultimate Reality ; only they develop new ideas and new forms to suit the new enviroments and new conditions of life. This will help us to realise the striking identity of the fundamental teaching of all religions. Our study of religions should also be supplemented by science on different problems of life. In other words, our religion should be a scientific religion, which can fulfil the needs of a modern man. Peace through religion can be brought about only through the spirit of tolerance and trust and by means of starting world-wide campaign to propagate the foundamental principles of religion, the principles of non-violence at its back. So long as we think that we alone have the monopoly of truth and we alone belong to the superior race, so long as the greed for empires and wealth is there and so long as the feelings of conceit and pride are predominant, unity and peace are impossible. Peace can be achieved only through contentment and fellow-feeling.

In spite of the fact that India is a slave-country and there are many religious and communal disturbances every now and then, it may be said that Indian culture is par excellance in many respects. It has always shown the spirit of adaptability and catholicity towards others. At various times a number of invaders descended upon India but Indians were never lacking in showing them the spirit of 'give and take.' Vâśishṭha and Viśvāmitra, although belonging to the different castes, lived in the same forest and contemplated the philosophical problems in the same assembly; many Jain and Buddhistic thinkers originally belonged to the caste of the Brāhmaṇas; and Brāhmaṇas respected Ṛshabha and Buddha as their incarnation of God, so Jaina and Buddhists worshipped Rama and Krishna as their heroes; Kabīra, Dādu, Nānak and many other Hindu saints had a great reverence for both Rāma and Rahima, and for them there was no difference between Kaba and Kailāsa and Kurāṇa and Purāṇa; Raja Ram Mohan Rai tried to modernise the people of India into the western says and considered British Rule as due to a dispensation of Providence. These evidences are enough to show that Indian culture is a harmony of various cultures and creeds, where every historical group is unique and scientific, and has its own ultimate value. Even in our own times we do have numerous inter-caste marriages. Muslims enjoy the festivals of the Hindus and so Hindus of the Muslims; many Hindus are great scholar of Arabic and Persian, and similarly there are many Muslim scholars who are very efficient in Hindi and Sanskrit language. This shows really a very broad-minded spirit of Indian culture.

In one word, unity in diversity and diversity in unity had been the main theme of Indian culture. As a Jain and a fellow citizen of the world, I can assure you, gentleman, that Jains will be ever prepared to support the cause of world peace with all their moral strength of religion and philosophy. Surely Jain religion like other religions of the world possesses the all-embracing spirit of Catholicity, tolerance and trust, and it would never be found wanting in the work of uprooting the feelings of discontent, greed, selfishness hatred and bigotry from India and the world at large.

BĀHUBALI GOMMAṬESVARA

BY

K. P Mitra, M.A., B.L.

I am giving here a legendary account of the incident that led to the adoption of the statuesque posture by Bāhubali, upon which the colossal statue has been modelled. Bāhubali was one of the sons of Lord Ṛṣabha, who was the first Tirthaṅkara, the first king, and the first teacher of arts and sciences in the Avasarpiṇī cycle. Ṛṣabhadeva had two wives, Sumaṅgalā (*alias* Nandā), and Sunandā. The former brought forth the twins—Bharata, a boy and Brāhmī, a girl, and the latter, Bāhubali, a boy, and Sundarī, a girl. After reigning for many thousands of years at Vinīta (Ayodhyā) Ṛṣabhadeva left the world in quest of absolute knowledge. Before retiring, however, he crowned his eldest son, Bharata, as king of Ayodhyā, while he placed Bāhubali on the throne of Takṣaśilā. The other sons obtained the kingdoms of Baṅga, Aṅga, Magadha, Koṅkana, Kuṇāla, Kuntala, Avantī and various other countries. Ṛṣabhadeva observed the austerities, underwent the fast, and ultimately broke it with the juice of sugarcane offered to him by Sreyāṃsa, son of Somaprabha, son of Bāhubali, *viz.*, his great grandson. Maintaining silence he wandered through many lands, till after a thousand years of religious exercise, he exhausted his *ghātiya karman* and obtained *kevala jñāna* under a *vaṭa* or nyagrodha tree in the city of Purimatāla (or Purimātala) and was honoured by kings of gods who came and waited upon him with their whole retinue (*samavasaraṇa*). Two men—Jamaga and Samaga—came to king Bharata, the former informing him of the Lord's attainment of *kevala jñāna*, and the latter of the appearance of the jewel of a *cakra* (*cakkarayaṇaṃ*) in the royal armoury, which would enable him to conquer the earth (lit. *chakkhaṇḍa-mahī-pasāhaṇa-sahāyaṃ*). Infatuation insidiously creeping upon him, Bharata debated within himself, "Whom shall I worship first? My father, the Chief of saints or the wonderful discus?" Instantly did he perceive his delusion and

he said to himself, "How could I think like this? Can there be any comparison between (lit. where is) my father, who grants *abhaya* (assurance, lit. fearlessness to the world, and the discus which is the instrument of destruction of living beings? Fie on me, that through infatuation, did I think thus unreasonably. I will worship my father first."[1] With good sense thus dawning on him, Bharata mounted Marudevī on an elephant and proceeded with his fourfold army to do honour to Ṛṣabha Then noting the splendour of *samavasaraṇa* he addressed Marudevī, "Mother, thou didst lament unto me heretofore that thy son abandoned the royal pleasure like a handful of grass and affliated with heat and cold, hunger and thirst, was roaming alone. But I said, 'Lament not, mother, no son of a mother hath that glory that thy son hath'. Thou hadst no faith in my words, now look, the very gods of the three worlds are celebrating the Lord's *samavasaraṇa*. They are singing and dancing" Marudevī became overwhelmed with joy at seeing the glory (*ṛddhi*) of her son as Tīrthaṅkara, and being deeply absorbed she became (even while seated on the elephant) an *antakṛt kevalī*... Bharata left behind the royal insignia, entered the *samavasaraṇa*, circumambulated the Jina thrice, saluted him, sat in his own seat and listened to the following discourse of the Jina, "Rare indeed is this human birth; knowing that indulgence in worldly pleasures brings about its harvest of pain, and that this life is fleeting, perform sage-like duties (*munidhammam*) for the attainment of liberation." Hearing this, five hundred of his sons beginning with Ṛṣabhasena and seven hundred grandsons, adopted *saṃyama* (restraint). Brāhmī and other daughters became female *sādhus*, Bharata and others became *śrāvakas*. Sundarī and others became Śrāvikās ... .
Bharata returned home and worshipped the discus, which instantly came out and proceeded towards the east, covering a *yojana* each day, followed by Bharata, the *cakki* (the discus-bearer) with his army. In sixty thousand years the whole of Bhārata was conquered. Having returned home Bharata found that Sundarī had become wan and pale, her face had become lustreless and she looked thin

1. Tāyammi pūie Cakka pūiaṃ puaṇāriho tāo.
Ihaloiaṃ tu cakkaṃ paraloasuhāvaho tāo.

like a streamlet in summer. Thereupon he reproved his men for their neglect of her. They however explained that she had become disgusted with the world and wanted to take *pabbajjā*, but was prevented by the Lord. Since then she has been following *āyambila*.[2] Knowing that she wanted to be ordained, Bharata gave her permission, and she was ordained by the Lord.

Then Bharata sent messengers to his brothers who were told, "If you want to reign, then worship the feet of Bharata." The brothers met for consultation and said, "Our father has divided his kingdom amongst us, giving Bharata and us our respective portions. But Bharata, out of pride, wants to make us his servants. Then what should do we do? Serve him or resist him in war? Very well, let us ask the Lord and then decide." At this time he was at the Aṣṭāpada hill So they went to him. He advised, 'Serve only *dharma*, the sole bringer of good and happiness. War against the senses and win." Then he discoursed on *taṇhā* (thirst) which can never be assuaged by indulgence in worldly pleasures.[3] He said, "Ye have enjoyed heavenly pleasures for long, yet your thirst has not been slaked ......Now, it behoves you to be restrained for the attainment of imperishable happiness" On hearing this ninetyeight brothers accepted ordination at the hands of the Lord. When Bharata heard this from his messengers, he made their sons kings in those kingdoms.

Bharata was informed by Susena, his commander-in-chief, that the discus, although it had conquered all the directions (*disā-cakkaṃ*), was not entering the city. Bharata said, "Is there, up to this day, any hero who has not been conquered?" The minister replied, "There is no one who has not been conquered by you in war, but your younger brother, Bāhubali, whose mighty arms have suppressed the armies of his adversaries, still remains unwon; hence the *cakra* does not enter the city." Bharata sent an ambassador named Suvega to Bāhubali asking him to submit, but finding the latter

2 A kind of penance, *Anta* 32.

3. Tāhe iṅgāladāhakadittantaṃ kahei.

unyielding went with his fourfold army to conquer him. Bāhubali came out to meet him. The two armies met, like unto the eastern and the western oceans that transgressed their boundaries; there was a great fight and a great slaughter. The gods, *siddhas*, *yakṣas* and *vidyādharas* hovered in the sky, dreading an untimely end of the *kalpa* (cycle of existence). Noting this unnatural contest the gods addressed them, "Ye are the excellent sons of Ṛṣabha, the Lord of the three worlds, why are ye destroying lives in this fashion? Fight righteously (*uttama-juddheṇa* ..."[4] They assented, and fought with eyes, next with speech, with arms, fists and clubs (*diṭṭhi-girā-bāhu-laṭṭhīhiṃ*), in all of which Bharata was overcome by the mighter Bāhubali. Dejected, Bharata thought, "I wonder if I be a *cakrī*" Then the *cakra*, resplendent with rays, came upon the hand of Bharata, and was sent forth so that it might kill Bāhubali. But after circumambulating Bāhubali it returned to his hand, for it was powerless against one of the same kin. Then said Bāhubali, "Thou art proud because of this *cakra*, singlehandad can I crush thee, though armed with the *cakra*, but now, have I nothing to do with worldly objects, which thou art plundering; my brothers have forsaken their kingdoms and have taken the way indicated by father."[5] Then saying to himself, "Oh, the stream of the ever-developing universe subject to pleasures of sense and attachment" he pulled out his hair like grass. Then reflecting for a while what to do, he decided to stand there in statuesque posture intent upon gaining absolute knowledge. Bharata addressed him. "Unconquered art thou, but I have been conquered not only by thee, but by passions (*kasāyehi*, viz., anger, pride, deceit and greed), in that, impelled by greed of worldly objects, I am fighting." He then made obeisance to Bāhubali, and instituting the latter's son Somaprabha in the kingdom returned to his city.

4. According to another version, Bāhubali addressed Bharata,

"What is the use of killing innocent men, the fight is between you and me, let us fight by eyes etc."

5. Cf. also his speech, "Dhisidhisi purisattaṇaṃ te ahammajujjhapavattassa, alaṃ me bhogehi, geṇhahi rajjaṃ pabbayāmi" tti mukkadaṇḍo pavvaiyo.

Bāhubali remained in that posture (*padimam thio*) for a year without food, and enduring cold and heat, wind and rain, and similar other hardships ....." and the creepers wreathing round the boughs of the trees on the bank clung to his neck and crowned his head with their canopy and the blades of kuśa grass grew between his feet, and he became in appearance like an ant-hill."[6] Subsequently he obtained absolute knowledge.

In one version we find that he stood in the statuesque posture on the very field of battle for one year, when the Lord sent Brāhmī, Sundarī and other nuns who said, "One mounted on the shoulder of an elephant rarely obtains knowledge." Bāhubali reflected, "Pride is the elephant that I am riding. I am going to worship the Lord." As he raised his foot he attained *kevalajñāna.* In another version it is related that he went to the summit of the Kailāsa mountain and stood in that posture.

Bāhubali (also spelt Vāhuvali, Bāhubali) was famous as having mighty and victorious arms with which he overcame his adversaries (*vivakkha-bala-dalana-bāhu-balo, dhrta-jaya-bāhu*). He was also called Bhujavali (Bhujavali) and Dorbali, *i.e.*, one of mighty arms

In inscription no. 85 *Epigraphia Carnatica* (Vol. II p. 67) he is described as the son of Puru (*Puru-sunu-Bāhubali*) and that "Bharata, the son of Puru Deva, surrounded by all the kings conquered by him, erected, in glee, an image, representing the victorious Bāhubali *kevali* which was 525 bows in height, near Podanpura. After a long time, innumerable *kukkuṭa-sarpa*" (dragons having the body of fowl and the head and neck of a snake), terrifying the world, grew up in the place, surrounding (the image of) that Jina, for which the image became known as *kukkuṭeśvara.*" This story with slight variations occurs in the writings of later Jaina authors, *e.g.*, the *Ādipurāṇa* of Sakalakīrti, and *Bhujabalicarita* of Doddhiya (who says that Bharata put up a golden statue of Bhujabali which at one time became infested with *kukkuṭa sarpas*),

6. *Āvaśyaka*...Tāhe saṃvaccharaṃ acchai kāyussaggeṇa, vallīvitāṇeṇam veḍhiyo pāyā ya vammīyaniggaehiṃ bhuyaṃgehiṃ.

and in Jain Kanarese literature, such as *Aditpurāṇa, Bharateśa-vaibhava, Bhujabaliśataka, Gommateśvaracarita, Rājāvalikathe* and *Sthalapurāṇa.*[7]

The sculptural representation of Bāhubali at Sravaṇa-Belgola, Karkala and Yenur, shows the ant-hills from which emerge serpents, and the creeper that twines round his legs and arms. "These details are identical in all three, and supposed to represent so rigid and complete an absorption in penance that ant-hills had been raised around his feet and plants had grown over his body, without disturbing the profoundness of the ascetic's abstraction from mundane affairs."[8]

Bāhubali obtained indeed a victory over his elder brother, Bharata, but this distressed him so greatly that he renounced all temporal power, and subjected himself to the severest austerities in the *kāyotsarga*[9] posture that gained for him the unique distinction of having "obtained omniscience in this Avasarpini cycle in Bharata-kṣetra even before Lord Ṛṣabha,"[10] and thus presents an ideal of asceticism of unsurpassed sublimity. The huge image of him

7 *Jaina Antiquary.* Vol. III No III pp 57 ff *Podanapura and Takṣasila* by K P. Jain who says that the story of Bāhubali's victory over Bharata and his subsequent renunciation of the world (as narrated in this article of mine) is related by the authors of *Harivamśapurāṇa* (Sarga XI) and *Mahāpurāṇa* (Parva XXXV) who style the capital as Podana. and by Raviṣena, the author of *Padmacarita* (Parva IV sls 67-77) who styles it as Pautana These and the other authors mentioned above say that Podanapura was the capital of Bāhubali Mr. Jain does not agree with the editor of *Bhavisayattakahā* (G O S. no XX) in his identification of Podanapura with Takṣaśila, and endeavours to show that it was somewhere in the northern border of South India Mr Govind Pai identifies it with Bodhan in the Nizam's territories.

8. Lewis Rice-*Inscriptions at Sravaṇa Belgola,* Introduction, p. 33.

9. The technical word for standing or statuesque posture of a Jaina image is *kāyotsarga* See inscription no 2402 of Inscriptions published by the late P. C. Nahar-*Śrī Bāhubali-Mūrtih kāyotsargostha karita.*

10. But *contra* other versions noted above In the *Āvaśyakasūtram* it has been related that according to some versions Marudevī was the first fo attain *kevalajñāna* (iha Bharahosappiṇie paḍhamasiddhottikāūṇa devehiṃ pūjā kayā...")

constructed by Raja Chamuṇḍa Rāya at Vindhyagiri reflects a serene expression of deep concentration. Mr. J. L Jaini in his introduction to *Gommatasāra-Jīvakāṇḍa* observes, "The grandeur of the image, as also its serene looking and peace inspiring presence, are all known to all Jainas and non-Jainas who have had the good fortune of visiting it. When I visited the sacred place in 1910, I met some English men and women missionaries, who out of respect for the Holy Image took off their shoes and visited it in their bare feet. They also held the opinion which I have given above. The image is about 57 feet high and still every limb and minor limb is in exquisite proportion." Unfortunately experts in art are not of the same opinion regarding proportion. Dr. M. H. Krishna, Director of Archaeology in Mysore, observes, "The image on the whole is a very successful piece of sculpture since the spirit of Jain renunciation is fully brought out in it. The naked figure shows absolute renunciation, while its stiff erect posture stands for perfect self-control and the benign smile on the face shows inward bliss and sympathy for the suffering world. But the image could come in for much criticism especially from the point of view of Anatomy," and he points out the defects. It should be borne in mind that statues were made according to the rules and conventions of the *Śilpaśāstra.* The sculptor and his patron were satisfied if the *sastra* was followed, and they did not mind the anatomy. Convention is given precedence over anatomy. Dr. Krishna remarks, "Convention and want of proportion are the two important defects in the figure while its merits are the sublime beauty of the face and the gigantic proportions of the colossal image."[11]

The statue is generally known as that of Gommata, Gommaṭa, Gommaṭasvāmi, or Gommaṭeśvara. Mr. Jaini thinks that the name Gāmmaṭeśvara or the "Lord of Gommaṭa" was given to it by Cāmuṇḍa Rāya who constructed it He was the minister and commander-in-chief of the great Gaṅga kings, Mārasiṃha II, and Rācamalla or Rājamalla II, and had many titles, e.g., *Raṇaraṅga-malla,*

11. *Proceedings of the Eighth All-India Oriental Conference,* pp. 690-91. *The Art of the Gomata Colossus.*

Ashyaparākrāma, Guṇaratnabhūṣaṇa, Samyaktvaratna-nilaya, etc., [12]
The inscription at the righthand slab at the foot of the image reads thus : –

Śrī-Cāmuṇḍarājaṃ māḍisidaṃ
Śrī-Cāmuṇḍarājan [se] Yv [v] ittāṇ.

The first line is in Kanarese, meaning "Sri-Cāmuṇḍarāja caused to be made," the second line is its Tamil translation, while the inscription on the left-hand slab, which reads,

Śrī --Cāmuṇḍarājeṃ Karaviyaleṃ.

is its Marathi translation.

Mr. Ghoshal thinks that the statue was established by Cāmuṇḍa Rāya between A.D 978 and 984, for though the latter mentions all his military exploits and explains in detail how he gained his numerous titles in his work, the *Cāmuṇḍa-Rāya Purāṇa*, which was completed in A. D. 978, he does not mention the erection of the monumental image, and Rācamalla's reign ended in A D. 984. On astronomical grounds he takes the date to be A. D. 980. Mr. Jaini takes the date to be 983, following the decision of Rao Bahadur R. Narasimhachar who brought out the revised edition of *Epigraphia Carnatica*, Vol. II (Inscriptions at Sravaṇa Belgola). Mr. Govinda Pai takes it to be 981. He says the prevailing notion is that the statue was named after Gommaṭa or Gommaṭa Rāya which was the other name of Cāmuṇḍa Rāya, since he was named so in *Gommaṭasāra* composed by Nemicandra Siddhānta-Cakravarti, [13] but this

12. Introduction to *Davva-saṃgaha* edited by S C Ghosal (S.B.J. series). pp. xx ff. Mr. Govind Pai says that he was the minister of Rakkasa Gaṅga (brother and successor of Rājamalla) as well.

13. See verses 966 to 972 of *Gommaṭasāra-karmakāṇḍa* and verse 734 of *Gommaṭasāra-Jīvakāṇḍa*.

Gommaṭa saṃgahasuttaṃ Gommatasiharuvaṅ Gommaṭa jiṇe ya I
Gommaṭarāyaviṇimmiya dakkhiṇakukkuḍajiṇe jayau II
Jeṇa viṇimmiya-paḍima-vayaṇaṃ sabbaṭṭasiddhidevehiṃ I
Sabbaparamohiyogihim diṭṭaṃ so Gommaṭa jayau II

—Karmakāṇḍa, vv. 968-69.

Ajjajjaseṇaguṇagaṇa samūhasaṃghāri Ajiyaseṇagurū I
Bhūvaṇaguru jassa guru so rāyo Gommaṭa jayau II

—Jīvakāṇḍa, v. 734.

is wrong, in as much as neither in his work *Cāmuṇḍarāya-purāṇa*, nor in *Ajitapurāṇa* (a Kanarese work composed in A.D. 993 by poet Ranna, the protege of Cāmuṇḍa Rāya) is he called Gommaṭa or Gommaṭa-rāya. It is not that the image Gommaṭeśvara was named after Cāmuṇḍa Rāya *alias* Gommaṭa, but that Cāmuṇḍa Rāya was called Gommaṭa Rāya, because he erected the image of Bāhubali who was even before his time called Gommaṭa. Most probably it was Nemicandra who was the first to give the name of Gommaṭa to Cāmuṇḍa Rāya, as the latter erected the statue of Bāhubali who was for special reasons called Gommaṭa, a variation of Skt. Manmatha [Skt. Manmatha = Pkt *Gammaha*, acc. to Kātāyana's *Prākṛta-mañjarī* 3·42 = Kannaḍa (*tadbhava*) *gammaṭa*, meaning the Hindu god, Kāmadeva, and therefore 'beautiful'].[14] He substantiates his argument by saying that in works in Sanskrit, Prakrit and Kanarese languages Bahubali was called the first Kāmadeva of this age, *e.g.*, in *Ādipurāṇa* Skt, 16-9., *Ādipurāṇa* (Kanarese, by Pampa, 88·52-53) and in Sravana Belgola inscription no 234 (A.D. 1180).[15] Mr. Ghosal (*op cit.*, intro xxx ff.) says that in a Skt. work, *Vāhuvali Caritra*, it is narrated that when king Rājamalla of Madhura) was sitting with his minister Chāmuṇḍa Raja, " a travelling merchant came there and told them that in the north there is a town called Paudanapuri, where there is an image of Vāhuvali, also called Gommata, established by Bharata." In order to visit it Chāmuṇḍa Rāja accompanied by his mother proceeded and when he had reached the Vindhyagiri hill in Sravaṇa Belgola, he was advised in a dream by a goddess to shoot an arrow at the hill. When he did so, it cleft in twain and revealed the image of Vāhuvali, formerly established by Rāvaṇa. The story is repeated with variations in a recent Kanarese work named Rājāvali-kathe. There is a similar story in Sthalapurāṇa. All these are legendary in character, hence the attempt to make

14. This is how Mr. Pai derives *Gommaṭa*. The recognised Prākṛta form of *manmatha* is *mammaha* (see *Gāthā-saptaśatī*, 430, and *Abhijñāna-śakuntalam*), or *vammaha*, but as to its being *gammaha*, the philologist is the authority.

15. Śrī-Jaina-Sidhanta Bhaskara, 42 pp 102 ff.

Chāmuṇḍa Rāya the discoverer, and not the founder of the image on such weak a basis, cannot be regarded as successful.

The image of Gommaṭeśvara at Karkala was erected by Vira-Pāṇḍya in A.D. 1432, and at Yenur by Timmarāja in A. D. 1604. Dr. Vincent Smith says that the three statues are " undoubtedly the most remarkable of the Jain statues and the largest free-standing statues in Asia...All three being set on the top of eminences are visible for miles round, and inspite of their formalism, command respectful attention by their enormous mass and expression of dignified serenity."[16] The image at Sravaṇa Belgola is 56½ ft high, that at Karkal is 15 ft. less in height, and that at Yenur is 35 ft high. " The extreme conventionallism of Jain art is well illustrated by the fact that, whereas all the three colossi are substantially identical, save for the smile at Yenur, the dates very widely. For fuller details of the statues at Karkala and Yenur see *Jaina-Siddhānta Bhāskara* 5-2-92ff and 5-4-234ff.

16. History of Fine Art in India and Ceylon, p 268

Chār
on s

Pāṇ
Dr.
mos
stat
visil
resp
fied
Kar
"T
fact
sav
det
Bh

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc, typewritten, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A., D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित	...	२।)
			(मू० कम कर दिया गया है)
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित	...	१)
(३)	प्रतिमा-लेख-संग्रह	...	।।)
(४)	जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें	...	२।)
(५)	" २य भाग	...	४)
(६)	" ३य "	...	४)
(७)	" ४र्थ "	...	४)
(८)	" ५म "	...	४)
(९)	" ६म "	...	४)
(१०)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची	...	।।)
			(यह अर्ध मूल्य है)
(११)	भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	...	।।।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ७ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI. NO. II

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1940

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर; और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ७ मार्गशीर्ष किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९७

विषय-सूची

ग्रन्थमाला-विभाग

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ७ | दिसम्बर १९४० । मार्गशीर्ष वीर नि० सं० २४६७ | किरण २

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.]

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में सैद्धान्तिक-सामाजिक-राजनैतिक इत्यादि वार्ताओं के साथ-साथ अनेक भौगोलिक नामों का भी उल्लेख हुआ है। पाठकों के परिचय के लिये हम उन्हें निम्नलिखित पंक्तियों में उपस्थित करते हैं; जिससे उन्हें पता चलेगा कि श्रवणबेल्गोल के लोगों को सारे भारत में फैले हुए स्थानों का परिचय था और वहां की यात्रा करने भारत के दूर-दूर देशों से यात्री आया करते थे। हम इन भौगोलिक नामों को अकारादि क्रमानुसार लिख रहे हैं और जिस शिलालेख में उनका उल्लेख है उसका नं० उसके आगे दे रहे हैं। साथ ही यथासंभव उस स्थान का परिचय भी देने का प्रयास किया है।

अजितसुरनगर १०५ (२५४) 'भक्त्या शक्त्या च मुक्त्यै जितसुरनगरे स्थापयद्भद्रमद्रौ'।

अण्णितटाक ४२ (६६)

अडेयारराष्ट्र-अदेयरेनाडु २ (२०) संभवतः पल्लव देश में था। आधुनिक अडयार (Adyar) से नामसाम्य है।

अन्बमासलु २४ (३५) श्रीकम्बय्यन् के राज्य में एक ग्राम था।

अम्मेले ३६१ (२५२) नामक एक ग्राम था।

अय्कनकट्ट ५९ (७३) परमगांव की सीमाओं में इसका उल्लेख है।

अनादिग्राम ११७ (२५९) कोंगुनाडु में यह ग्राम था।

अय्यावले ६८ (१५९) 'अय्यावले सम्भवतः बम्बई प्रान्त के बीजापुर (?) जिलान्तर्गत आधुनिक 'ऐहोले' का ही प्राचीन नाम है।' शक सं० १०५९ से पूर्व वहां के एक राज्याधिकारी मल्लि सेट्टि थे। उनकी जैन धर्मपरायणा पत्नी चट्टिकब्बे ने श्रवणबेल्गोल में उनकी निषद्या निर्माण कराई थी।

अरकेरे १२० (३१८) यहां के वीर वीरपल्लवराय प्रसिद्ध थे।

अर्जुनशीतग्राम ३८२ (२८७) इस ग्राम के निवासी बघेरवाल संघवी जैनियों ने शक १५६७ में यात्रा की थी। यह ग्राम सम्भवतः कहीं पर मध्यभारत में था।

अवरेहाल्लु १२२ (३२६) शक सं० ११२२ में इस ग्राम को नागदेव हेग्गडे नामक दातार ने गोम्मटदेव की पूजा के लिए दान किया था।

अंगडि ३६१ (२५२) के एक जौहरी ने मोसले के बहुव्यवहारिसेट्टि के प्रतिष्ठित तीर्थंकरों की पूजा के लिए दान दिया था।

आदितीर्थ १२३ (३७५) श्रवणबेल्गोल का उल्लेख इस नाम से हुआ है।

आर्व्व ८९ (२३८) यह ग्राम श्रवणबेल्गोल के पास में कहीं था।

आईनहल्लि ८३ (२४९) शक सं० १६२१ में मैसूर के राजा कृष्णराज ओडेयर ने यह ग्राम अन्य ग्रामों के साथ गोम्मटदेव को दान दिया था। इसलिये यह ग्राम मैसूर राज्यान्तर्गत श्रवणबेल्गोल के निकट होना चाहिए।

इनुंगुर २३ (२८) शक सं० ६२२ के लगभग इनुंगुर के मेलुगवासगुरु ने कटवप्र पर्वत पर देहोत्सर्ग किया था।

इस्थानपेठ ३४० (२१०) यहां के अग्रवाल जैनियों ने सं० १८०० में यात्रा की थी॥ यह स्थान उत्तरभारत में कहीं पर था।

उच्चंगि ५३ (१४३) व ९० (२४०) गङ्गवाडि के निकट यह एक मजबूत किला था। विष्णुवर्द्धनादि कई होयसलवंशी राजाओं ने इसे विजय किया था।

उज्जयनि (उज्जैन) १ (१) मालव देश की राजधानी।

उत्तनहल्लि ८३ (२४९) संभवतः मैसूर राज्य का एक ग्राम था।

उत्तेनहल्लि ४३४ (३५४) मुम्मडि कृष्णराज ओडेयर की सनद में उल्लेख है।

ऋषिगिरि ३४ (८४) कटवप्रपर्वत (चिक्कबेट्ट) का अपरनाम है।

एडबल्लगेरे १२९ (३३४) शक सं० १२०५ में इस ग्राम को श्रवणबेल्गोल के जौहरियों ने नगरजिनालय के आदिदेव की पूजा के लिए दान किया था।

एरम्बरगे १३० (३३५) होयसल राज्य का एक देश था।

ओम्मलिगेयहाल्लु ५१ (१४१ शक सं० १०४१ में यहां पर एक पट्टशाला (वाचनालय) चालू थी।

कग्गेरे ९० (२४०) होयसलनरेश नरसिंह ने बेल्गोल की वंदना कर के सवणेरु के साथ इस ग्राम का भी दान दिया था।

कटवप्र (कलवप्पु) २७-२९, ३३, १५२ आदि। चिक्कबेट्ट का अपरनाम है।

कलसतवाडि ४५९—४६० यहां की जिनमूर्तियां मिलती हैं।

कदम्बहल्लि में शान्तीश्वरवस्ति (मंदिर) थी।

कब्बालु ४३३-४३४ कृष्णराज ओडेयर की सनद में इस ग्राम का उल्लेख था और इसे किक्केरि तालुका में लिखा था।

कबाले ८३ मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर ने शक सं० १६२१ में बेल्गोल के दर्शन कर के इस ग्राम को भी दान में दिया था।

कब्बप्पुनाडु ५१, ४९२ इस नाम के प्रदेश में ओम्मलि० ग्राम था जहां पर पट्टशाला स्थापित थी। यह होयसल नरेशों के राज्य के अन्तर्गत था।

कब्बादुनाथ श्रवण १३७ हुल्लराज मंत्री के दान में इसका उल्लेख है।

कमलपुर, कमुलपुर ११८, ४०५ शक सं० १५७८ में यहां के बघेरवाल जीनासा आदि ने बेलगोल में कोई धर्मकार्य किया था। यह स्थान उत्तर भारत में होना चाहिए। उल्लेख भी नागरीलिपि के लेख में है।

करवध ३४७ सं० १८०० के नागरीलिपि के लेख में पानीपत के साथ इस स्थान का उल्लेख है।

करहाटक ५४ स्वामी समन्तभद्राचार्य ने इस स्थान पर वादभेरी बजाई थी। कोल्हापुर ज़िले का करहाट नामक स्थान यह बताया जाता है।

कर्णाटक, कर्णाटक देश, ८३, १०६, ४३४ दक्षिण भारत का एक प्रदेश, जो वर्तमान के कन्नड जिलों के इर्दगिर्द फैला हुआ था। कन्नड के 'कन-नाडु' शब्द से कर्णाट शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है 'कृष्ण प्रदेश'। वस्तुतः यहां की जमीन की मिट्टी और स्त्री पुरुषों का रंग काला ही है। हुएनसांग के समय में यहां चालुक्यों का अधिकार था और यह साम्राज्य दूर दूर तक फैला हुआ था।

कलन्तूर १५९ के एक मुनि जी ने कटवप्रपर्वत पर १०८ वर्षों तक तप तपा था।

कलले ३२८ इस स्थान से श्री नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्त्ती के शिष्य श्री बालचन्द्र का सम्बन्ध था। उनके उपदेश से महदेव सेट्टि ने मल्लिनाथ की प्रतिमा निर्माण कराई थी।

कलस ग्राम ४३४ मैसूरराज्यान्तर्गत था।

कलिङ्गदेश १३८, ४९९, होयसल नरेश एरेयङ्ग ने कलिङ्गदेश का विजय किया था। इसी वंश के सोमेश्वर नृप के विषय में कहा गया है कि उन्होंने कलिङ्गनरेश का मस्तक विदीर्ण किया था। इन उल्लेखों में कलिंगदेश की गणना अन्य बड़े देशों के साथ की गई है। अतएव यह कलिंगदेश भारत का प्राचीन कलिंग और वर्तमान उड़ीसा के अन्तर्गत प्रक-

होता है। मगध सम्राटों ने इस देश को कई बार जीता था। जैनपुराणों में कलिंग देश का वर्णन भ० महावीर से भी पहले मिलता है। एक समय यहाँ श्री कृष्ण जी के वंशज जरत्कुमार राज्याधिकारी थे और उनकी सन्तति में भ० महावीर के समय जितशत्रु नामक राजा राज्य करते थे। बीच में चम्पा के करकण्डु राजा के शासनाधिकारी होने का भी उल्लेख मिलता है। स्वयं भ० महावीर ने कलिंगदेश के कुमारीपर्वत पर पधार कर धर्मामृत बरसाया था। मालूम होता है कि उनके समय से ही कलिंग में श्रमण परम्परा दि० मुनियों का संघ) स्थापित हो गई थी, जिसका उल्लेख कलिंग के जैन-सम्राट् खारवेल के शिलालेख में हुआ है। कलिंग में जैनधर्म की महिमा खारवेल और उनके वंशजों द्वारा खूब विस्तृत हुई थी। बौद्धग्रन्थ 'दाठावंश' से भी वहाँ पर मध्यकाल तक जैनधर्म का प्राबल्य प्रमाणित होता है। चीनीयात्री हुएनसांग ने कलिंग राज्य को ५००० ली (८३३ मील) में फैला हुआ बताया था और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) जैनियों का प्राबल्य लिखा था।

कल्कणिनाडु प्रदेश ५३, ५६ होय्सलनरेशों के शासनाधिकारमें यह प्रदेश था।

कल्लेह ग्राम १३६, यहां के बुसुवि सेट्टि ने विजयनगर नरेश बुक्काराय को प्रार्थनापत्र देकर एक शासन का जीर्णोद्धार कराया था। इस उल्लेख से यह ग्राम विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत प्रमाणित होता है।

कवट्ट ग्राम ३६, पता नहीं दक्षिण देश मे यह कहां था ?

काञ्चीपुर ५४, ९०, १३८ ३६० व ४८६, स्वामी समन्तभद्राचार्यजी ने यहाँ आकर वाद घोषणा और जैनधर्म की प्रभावना की थी। लेख नं० ९० से होय्सल सेनापति गङ्ग का भी सम्पर्क कांची से प्रकट होता है। लेख नं० १३८ व ४८६ बताते है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन ने काञ्चीपुर को कंपा दिया था। प्राचीनकाल से काञ्चीपुर जैनधर्म का केन्द्र रहा है। श्रीसमन्तभद्राचार्य, श्रीअकलङ्कस्वामी प्रभृति जैनाचार्यों ने यहां आकर धर्म की महिमा स्थापित की थी। हुएनसांग चीनीयात्री ने काञ्चीपुर को द्राविड़देश की राजधानी लिखा था और बताया था कि वहाँ अस्सी देवमंदिर और असंख्य (बौद्ध) विरोधी हैं, जिनको निर्ग्रन्थ (दि० जैन) कहते हैं। 'उत्तरपुराण' में काञ्चीपुर को कलिंगदेश के अन्तर्गत लिखा गया है और वहाँ के वणिक्पुत्रों को लंका आदि द्वीपों से व्यापार करते हुए बताया है। कालिदासजी ने 'रघुवंश' (४, ३८-४३) में कलिंग का विस्तार दक्षिण में महेन्द्रपर्वत तक बताया है। यह महेन्द्रपर्वत पूर्वीय घाट पर्वतमाला का एक भाग माना जाता है। ऐसी स्थिति में 'उत्तरपुराण' का उपर्युक्त कथन तथ्यपूर्ण है। लेख नं० ४५५ में काञ्चीदेश का भी उल्लेख है। आधुनिक कांजीवरम् (Conjeevaram) ही प्राचीन कांचीपुर है।

काडलूर ग्राम २४ शक सं० ७२२ में रणावलोक श्रीकम्बय्यन् के राज्यान्तर्गत यह ग्राम था।

कावेरी नदी ५९, गङ्गराज के सम्बन्ध में दक्षिण भारत की इस प्रख्यात नदी का उल्लेख हुआ मिलता है।

काशी ८४, ४३५, ४३६, लेखों में काशी का उल्लेख दान को सुरक्षित रखने के लिए शपथरूप में हुआ है, जिससे उसकी तीर्थजन्य मान्यता और पवित्रता प्रकट होती है। जैनियों का काशी एक पुरातन तीर्थ है। यहीं पर श्रीसुपार्श्वजी और पार्श्वनाथजी का जन्म हुआ था। सब से पहले श्रीऋषभदेव ने विहार कर के यहां पर जैनधर्म का प्रचार किया था। अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीर ने भी यहाँ की जनता को अपने धर्मोपदेश से कृतार्थ किया था। सारांशतः काशी जैनधर्म का एक प्राचीन केन्द्र रहता आया है।

कित्तूर—कीर्त्तिपुर ७, दक्षिण भारत का यह एक पवित्र स्थान था, जहाँ जाकर लोग समाधिमरण किया करते थे।

किल्केरे २४ महासामन्त रणावलोक श्रीकम्बय्यन के राज्यान्तर्गत था।

कुम्भकोण ४३५, ४३६, ४३७ यहां पर शक सं० १७७८ में श्री अनन्तनाथ भगवान की एक प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। यहां की श्रीनेका श्राविका शुभा ने चन्द्रनाथ स्वामी की प्रतिमा और शान्तण्ण श्रेष्ठी ने नमिनाथ स्वामी की प्रतिमा उसी समय प्रतिष्ठित कराई थी। ज्ञात होता है कि शक सं० १७७८ में यहां एक बिम्बप्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न हुआ था।

कुम्मट १३०, होय्सलनरेश बल्लाल द्वि० ने इस स्थान को विजय किया था।

कुम्बेयनहल्लि ग्राम ४९५ होय्सल साम्राज्यान्तर्गत था।

कुरुक्षेत्र ५३, ५६, ५९, ८३, ४८६ लेखों में कुरुक्षेत्र का उल्लेख दान को सुरक्षित रखने के लिये शपथ दिलाने में किया गया है। जैनग्रन्थों में इस क्षेत्र का ही उल्लेख कुरुजांगल नाम से हुआ प्रतीत होता है। 'उत्तरपुराण' (६३।३४२) में इस प्रदेश को आर्यक्षेत्र के मध्य में सब से बड़ा लिखा है। इस देश में श्रीऋषभदेव के समान भ० महावीर का भी विहार हुआ था। हरिवंश० (३।३७) कुरुवंशी राजाओं ने इस प्रदेश पर दीर्घकाल तक राज्य किया था। उन राजाओं में ही तीर्थंकर-चक्रवर्त्ती श्रीशान्ति, कुन्थु और अरह नामक चक्रवर्त्ती हुए थे। कुरुक्षेत्र में ही जरासंध से यादवों का युद्ध हुआ था; जिसमें भ० अरिष्टनेमि ने भी भाग लिया था। (?) (हरि० ५०।६४) कुरुक्षेत्र की रणभूमि आजकल थानेश्वर से दक्षिण की ओर बताई जाती है। वह अम्बाला और पानीपत के बीच में है। 'महाभारत' (आदि० १०९,१) के अनुसार कुरुदेश तीन भागों में विभक्त था; (१) कुरुक्षेत्र (२) कुरूस (३) कुरुजांगल। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। हुएनसांग ने भी थानेश्वर के पास कुरुक्षेत्र (धर्मक्षेत्र) को स्थित बताया था। उसके समय में भी लोग कुरुक्षेत्र को पवित्र मानते थे।

कृष्णावेण्णा १३८ यह दक्षिण की कृष्णा नदी है।

केलङ्गेरे ग्राम ४०, १३७ श्रवणबेल्गोल के निकट था।

केल्लहनेहल्लि ग्राम ४८६ यह भी श्रवणबेल्गोल के निकट था।

कैलासशैल ४२ संभवतः वही कैलाशपर्वत है जहां पर भरत महाराज ने रत्नमयी जिन-प्रतिमाएं निर्मापीं थीं और यहीं से तीर्थंकर ऋषभदेव मुक्त हुए थे। (हरि० १२।८१) कहते हैं, बाहुबली स्वामी ने यहीं एक वर्ष तक प्रतिमायोग में स्थित रह कर तप तपा था। (हरि०११।९७) भरत महाराज के बनाये हुये रत्नमयी २४ चैत्यालयों के चहुंओर सगर के पुत्रों ने गंगा का प्रवाह बहाया था। (उत्तर पु० ४८।१०७—१०८) चक्रीपुत्र भगीरथ वरदत्त को राज्य देकर कैलाश पर्वत पर आये थे और शिवगुप्त मुनि से दीक्षा ले वहीं तप तपने लगे थे तथा केवल-ज्ञानी हुए थे। (उपु० ४८।१३८—१३९) 'आराधना कथाकोष' से (१।७४) प्रकट है कि अंजनचोर यहीं से मुक्त हुए थे। सारांशतः कैलाशपर्वत जैनियों का अति प्राचीन तीर्थ रहा है और वहां पर भ० महावीर के समय तक मनुष्यों का गमनागमन होता था। उपरान्त वह मनुष्य के लिए अगम्य हो गया।

कोंगुनाडु प्रदेश ११७ के अनादि ग्राम की गणना शक सं० १५३१ में की गई थी।

कोङ्गलि ग्राम ५६, शान्तल देवी ने इस ग्राम का दान किया था।

कोंगुप्रदेश ५६, १२४. १३०, १३७, १४४ इत्यादि यह प्रदेश होय्सलनरेश विष्णुवर्द्धन के आधीन था। अन्य होय्सल राजाओं का भी इस प्रदेश पर अधिकार रहा था।

कोट्टर ९ दक्षिण भारत के इस स्थान के गुणसेन गुरु ने समाधि मरण किया था।

कोट्टसा, ३७९ यदि यह कोई स्थान था तो महाराष्ट्र में होना संभव है।

कोपण कोपन्न ४७, २३७. १४४ दक्षिण भारत का कोपण एक मुख्य तीर्थ था। दानवीर गङ्ग, हुल्ल आदि ने यहां पर असंख्य जिन मन्दिर आदि बनवाकर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया था। निजाम राज्यान्तर्गत रायचूर से नैऋत्य दिशा में स्थित वर्तमान कोप्पल ही प्राचीन कोपण है। यहां ई० पूर्व ३री शताब्दी की प्राचीन कीर्तियां उपलब्ध हैं। महाराज नृपतुंग और महाकवि रन्न ने कोपण को एक महानगर और पवित्र तीर्थ लिखा था। 'चामुण्डराय पुराण' से स्पष्ट है कि तत्कालीन जैनी कोपण में सल्लेखनापूर्वक देह त्याग करना विशेष पुण्यप्रद मानते थे। कई शिलालेखों में कोपण को क्रमशः तीर्थ, आदितीर्थ तथा महातीर्थ कहा गया है। श्रवणबेल्गोल के शि० नं० ४७५ में लिखा है कि 'कोपण तीर्थ के उच्चारण मात्र से मानो कैवल्य की प्राप्ति होती है।' सारांशतः कोपण की पवित्रता और महत्ता इन उल्लेखों से स्पष्ट हैं। यही नहीं यहीं पर आहवमल्ल और राजेन्द्रदेव चोल में युद्ध हुआ था, जिसके कारण यह क्षेत्र कर्मवीरों के लिए आकर्षण की वस्तु है। ई० दसवीं

शताब्दी के लगभग इस स्थान पर सिलाहारवंश के राजाओं की एक शाखा का राज्याधिकार था। ११वीं शताब्दी के सिलाहारवंशी महामंडलेश्वर गोवणरस ने अपने को कोपणपुरवराधीश्वर लिखा था। एक समय कोपण महातीर्थ में जैनियों का प्राबल्य सर्वोपरि था। यहां पर असंख्य जिन मंदिर थे, जिनमें से लगभग एक दर्जन जिन मंदिरों का पता अब भी चलता है*। हुल्ल सेनापति ने यहां के 'चतुर्विंशति जिन मुनिसंघ' के लिये स्वर्ण का दान दिया था। कोपण की तुलना में बहुधा श्रवणबेल्गोल आदि को जैन कविगण उपस्थित करते थे—यह उसके महत्व को बताता है। यहां से कन्नड भाषा के कई शिलालेख एवं जिनमूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। उनका परिचय हैदराबाद पुरातत्व-विभाग द्वारा प्रकाशित 'नं० १२ कोपवल' नामक ग्रन्थ में कराया गया है। सन् ८८१ ई० के लेख से स्पष्ट है कि सर्वनन्दी भट्टारक ने यहां आकर समाधिमरण किया था। वह नगर के महान् उपकारक थे। लगभग १३वीं शताब्दी का एक शिलालेख बताता है कि मूलसंघ सेनगण के किन्हीं भट्टारक के शिष्य पट्टन स्वामी पायकगण थे, जिनकी वहां निषधि बनाई गई। १८वीं शताब्दि के एक लेख में देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक के शिष्य वर्द्धमानदेव द्वारा 'छाया-चन्द्रनाथ-स्वामिन' की प्रतिमा उकेरी जाने का उल्लेख है। ईस्वी दसवीं शताब्दि के एक लेख में चावय्य द्वारा जटासिंहनन्दी आचार्य के चरण चिन्ह स्थापे जाने का जिक्र है। यहां के शिलालेख नं० ७ में सिंहनन्द्याचार्य के समाधिमरण का विशेष वर्णन है जो पश्चिमी चालुक्यनरेश विक्रमादित्य पंचम (सन् १००५—१०१७) के समय का है। श्री 'सिंहनंदितम्मदिगल्' ने एक मास में इङ्गिणिमरण किया था ×। इस अवधि में श्रीसिंहनन्दी अण्ण, मतिसागर अण्ण, नरलोका-मित्र और ब्रह्मचारी अण्ण ने उनकी वैयावृत्ति की थी। इस बीच में सामिकुमार ने जिनबिम्ब की पूजा की थी। सिंहनन्द्याचार्य के समाधि ग्रहण कर लेने पर उपरान्त विछुकुंडे की नागदेव वस्ति के श्रीकल्याणकीर्ति जिनशासन के नायक हुये थे। वह देशीगण और कुंदकुंदान्वय के मुनिराट् थे। उन्होंने 'चन्द्रायण' आदि अनेक व्रत उपवास किए थे। उनके सत्संग से अनेक भव्यों ने अपने कर्मों का क्षय किया था। उनके उत्तराधिकारी इन्डोली के श्री रविचंद्राचार्य हुए थे। उनके पश्चात् क्रमशः गुणसागर मुनिपति, गुणचन्द्र मुनीन्द्र, अभयनंदि मुनीन्द्र और गणदीपक माघनंदी हुये थे। कल्याणकीर्ति आचार्य ने सिंहनन्द्याचार्य के तपःस्थल पर जिनेन्द्र-चैत्य निर्मापा था और विच्छुकुंड ग्राम में शान्तिनाथ भ० की मूर्ति स्थापी थी। नं० ८ का शिलालेख विजयनगर सम्राट् कृष्णदेवराय के समय का है और

*विशेष के लिए "जैन-सिद्धान्त-भास्कर" भा० ६ कि० २ पृ० ११० देखो।

× डा० कृष्णमाचर्लू ने 'इङ्गिणिमरण' को एक स्थान लिखा है, वह ठीक नहीं है। वह एक प्रकार का समाधिमरण है।

उसमें मंडारद् तिम्यप्पय्य के दान का उल्लेख है। नं० ९ का शिलालेख चतुर्विंशतिजिन प्रतिमा के आसन पर अंकित है जो कोप्पल से उपलब्ध हुई है और नबाब सालारजंग के महल में रक्खी हुई है। उसमें लिखा है कि रायराजगुरु मंडलाचार्य माघनन्दी सिद्धांत-चक्रवर्ती के समृद्धिशाली कोप्पणतीर्थ के निवासी बोप्पण और उनकी धर्मपत्नी मलउव्वे ने चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमा निर्मापण कर के मादण दंडनायक द्वारा निर्मित बस्ति में विराजमान की। नं० १० का लेख एक अन्य प्रतिमा जो पंचपरमेष्ठी की है और उपर्युक्त स्थान पर है, पाद आसन पर अंकित है। उसमें लिखा है सिद्धचक्रद् नोंपि (व्रत) और श्रुतपंचमी नोंपि का पालन कर के एरमबरगे के कुलाग्नि-सेनबोव देवण्ण ने पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा निर्मापी थी। कहते हैं कि कोपण एक छोटी-सी पहाड़ी के पास बसा हुआ था और वहां ७७२ बसदि (मंदिर) थे। यहां होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन की रानी शांतल देवी ने भी एक जिन मंदिर बनवाया था, जिसको तमोली लक्खय्य ने दान दिया था। इस लेख में अरसिय बसदि, तीर्थद बसदि और तिम्मव्वरसिय बसदि का उल्लेख है। ७वीं ८वीं शताब्दी में यहां जिन यात्रियों ने वंदना की थी, उनके नाम एक गुफा में लिखे हुए हैं। निस्सन्देह कोपण दक्षिण भारत का एक प्रमुख तीर्थ और जैनकेन्द्र था। वहां एक आचार्य पट्ट था, जिसका उत्तराधिकारी आसपास के ग्रामों में से योग्यतम जैनमुनि बनाया जाता था। उन आचार्यों द्वारा कोपण का महान् उपकार हुआ था + ।

कोलार (कुवलाल) ५६ गंगवंशी राजाओं की प्राचीन राजधानी, जो पूर्वी मैसूर में पालार नदी के तट पर है।

कोलिपाक ४०८ यहां के आदिनाथ प्रसिद्ध थे।

कोल्लापुर (कोल्हापुर) ४०, ४२२, ४७१ जैनों का प्राचीन केन्द्र है। वहां पुरातन जैनी किसान ३६००० की संख्या में हैं। जैनियों का यहां विशेष प्रभाव था। यहां सिलाहार वंश के राजा जैनी थे। इसका अपरनाम क्षुल्लकपुर है। यहां का प्रसिद्ध अंबाबाई मंदिर मूलतः जैनियों का है। लेख नं० ४० में यहां के श्रीरूपनारायण जैन मंदिर का उल्लेख है। स्वयं कोल्हापुर के शिलालेख (शक १०६५) में इस मंदिर के जीर्णोद्धार किये जाने का उल्लेख है। लेख नं० ४२२ में कोल्लापुर के पट्टाचार्य भट्टारक जिनसेन का ज़िक्र है। लेख नं० ४७१ से स्पष्ट है कि शान्तीश्वरबस्ति में शान्तीश्वर भगवान् की प्रतिमा कोल्लापुर की सावन्तबसदि में पट्टाधीश सागरनंदी द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी।

क्रमशः—

+ मूल शिलालेखों के लिए "The Kannada Inscriptions of Kopbal" (Hyd.Ar. Series) No. 12 देखिये।

जैन रामायणें

[लेखक—श्रीयुत प्रो० डी० एल० नरसिंहाचार्य, एम ए.]

'रामायण' का विकास एक ही कवि के मस्तक की उपज है और 'महाभारत' एक से अधिक लेखकों के प्रयास का फल है। भारतीय साहित्य के इतिहास को जानने वाले यह जानते हैं। किन्तु 'रामायण' के प्रथम और अन्तिम परिच्छेद प्रक्षिप्त हैं। 'जैन रामायणों' का अध्ययन भी 'रामायण' के विकास-वर्णन को बतलाने के लिए मनोरंजक है।

किसी राष्ट्र के प्रचलित गीतों का विकसित रूप ही काव्य होता है। वह एक ही दिमाग की उपज होती है। राम-कथा के गीत वाल्मीकिजी से पहले भी अवश्य प्रचलित कहे जा सकते हैं। उन्हीं गीतों के आधार से 'वाल्मीकि रामायण' रची गई प्रतीत होती है। वाल्मीकि के उपरान्त 'रामायण' का और भी विकास हुआ। सम्प्रदाय और मतमतान्तरों के वशवर्ती होकर भी राष्ट्र की एक कथा अनेक रूप धारण कर लेती है। ये रूप कालान्तर में स्वाधीन भी हो जाते हैं। 'जैन रामायण'—'अद्भुत रामायण'-'वशिष्ठ रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' के विषय में यही कहा जा सकता है। इस लेख में यही बताया गया है कि ई० प्रथम शताब्दि में परिपूर्ण हुई वाल्मीकि रामायण से निकल कर किस तरह जैन रामायणें' विकसित हुई हैं। यह रामायण-साहित्य में एक नया प्रयास होगा*। जैनों की मान्यता के अनुसार 'जैन रामायण' १८वीं शताब्दी तक प्रचलित थी। 'रामकथावतार' (१८५७ ई०) के लेखक देवचंद्र + ने रामायण' का विकास तीर्थंकर आदिदेव द्वारा हुआ बताया है। इन प्रथम तीर्थंकर ने भरत महाराज को रामकथा सुनाई थी। गुरुपरम्परा से वह कथा प्रचलित रही और अन्त में अन्तिम तीर्थंकर महावीर को उपलब्ध हुई। भ० महावीर ने वह रामकथा मगध के राजा श्रेणिक को सुनाई। तब से कूचि भट्टारक, नंदिमुनि, कवि परमेष्ठी, रविषेण, वीरसेन, सिद्धसेन, पद्मनन्दी, गुणभद्र और सकलकीर्ति ने उस पर रचनायें रचीं। कन्नड भाषा में चामुंडराय, नागचंद्र, माघनंदि सिद्धांती, कुमुदेन्दु, नयसेन आदि ने रामायण की रचना की थी। देवचंद्र ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में लिखा है कि उन्होंने गुणभद्राचार्य के 'त्रिषष्ठिलक्षणमहापुरुषपुराण' एवं अन्य जैन पुराणों के आधार से किन्हीं संदिग्ध स्थलों को स्पष्ट कर दिया है।

---

*प्रो० चक्रवर्ती ने "जैनरामायण" पर एक लेख इसके पूर्व अंग्रेजी 'जैनगजट' में प्रकट कराया था—लेखक

जब रामकथा के गीत वाल्मीकि 'रामायण' से पहले लोगों में प्रचलित थे, तब यह कैसे माना जाय कि उन गीतों के आधार से नहीं बल्कि वाल्मीकि रामायण के आधार से जैन रामायण रची गई?

—अनुवादक

+Lives of Kannada Poets, Vol. III, 150. इन्हीं लेखक ने कर्नल मैकेन्जी सा० को प्राचीन साहित्य की खोज में सहायता दी थी।

इस मान्यता का वह अंश कि रामकथा आदि तीर्थंकर ने बताई थी अनैतिहासिक समझना ठीक है। क्योंकि जैनपुराणानुसार रामकथा का अवतरण बीसवें तीर्थङ्कर मुनि-सुव्रतनाथ के तीर्थकाल में हुआ है। हां, महावीर जी के पश्चात् जो मान्यता देवचन्द्र ने बताई है, उसका आधार प्रायः ऐतिहासिक है, क्योंकि उल्लिखित कवियों में से किन्हीं की रचनायें उपलब्ध हैं। कूचि भट्टारक और नन्दिमुनि के विषय में अधिक नहीं जाना जाता; तो भी चामुंडराय (९७८ ई०) ने लिखा है कि प्रत्येक ने एक एक 'महापुराण' रचा था‡। पंप कवि (९४१ ई०) ने जिनकी प्रशंसा की है वह संभवतः उपर्युल्लिखित कवि परमेष्ठी थे। कहा जाता है कि कवि परमेष्ठी ने 'त्रेसठ' शलाका पुरुषों के चरित्र का परिचायक एक पुराण लिखा था*। चामुंडराय यह भी बताते है कि जिनसेन (७८३ ई०) ने अपना 'आदि पुराण' कवि परमेष्ठी के 'महापुराण' के आधार पर रचा था। अतः यह स्पष्ट है कि कवि परमेष्ठी सन् ७८३ ई० से पहले इस धरातल को सुशोभित करते थे। उनके पुराण में रामकथा अवश्य होना चाहिए क्योंकि ६३ शलाका पुरुषों में राम-लक्ष्मण की भी गणना है। रविषेण प्रख्यात 'पद्मपुराण' अर्थात् 'महारामायण' के कर्त्ता हैं, जिसे उन्होंने सन् ६७८ ई० में रचा था‡। वीरसेन और सिद्धसेन का परिचय अज्ञात है। पहले संभवतः वही वीरसेन हों जो जिनसेन के गुरु थे। दूसरे सिद्धसेन संभवतः वही हों जिनकी प्रतिभा की प्रशंसा चामुंडराय ने खूब ही की है+ पद्मनंदी का भी कुछ परिचय अप्राप्त है। प्रथम शताब्दी के कुंदकुंदाचार्य का अपर नाम भी पद्मनंदी था, परन्तु वह तो शायद यह पद्मनंदी नहीं हो सकते। जैनसाहित्य में गुणभद्राचार्य का नाम प्रसिद्ध ही है। सकलकीर्ति नामक एक लेखक का अस्तित्व ईस्वी १५वीं शताब्दी में विदित है, किन्तु उन्होंने कोई 'जैन रामायण' लिखी हो इसका पता नहीं*। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि यहां किस सकलकीर्ति से अभिप्राय है। देवचन्द्र ने जिन कन्नड कवियों का उल्लेख किया है वे सर्वज्ञात हैं। हां, यह द्रष्टव्य है कि माघनन्दी और नयसेन की रची हुई रामायणें उपलब्ध नहीं हैं।

इस विवृत्ति से स्पष्ट है कि जैन साहित्यक इतिहास से उपर्युक्त मान्यता का समर्थन होता है। यद्यपि बहुत से ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है, फिर भी रविषेण और गुणभद्र की रचनायें अवशिष्ट हैं। मजे की बात यह है कि प्राकृतभाषा में रची हुई रामायणों के लेखकों का उल्लेख इस मान्यता में नहीं हुआ है। इन लेखकों में विमलसूरि सर्व प्राचीन हैं। अन्य

‡चामुंडरायपुराण, श्लोक २४

*Ibid verse 5

‡Hiralal's Catalogue, XXI

+ चामुंडरायपुराण, श्लोक ४

*History of Indian Literature, II, 496, 502.

प्राकृतभाषा में रामायण के लेखक हेमचन्द्र और चौमुह थे। संभव है कि देवचन्द्र इनसे परिचित न हों। जो हो, निस्सन्देह जैन 'रामायणों' का बाहुल्य उल्लेखनीय है।

वाल्मीकि की 'रामायण' के प्रति इन जैनलेखकों का रुख क्या रहा है ? इसको विमलसूरि और उनके निकटवर्ती रविषेण ने अपने आदर्श से स्पष्ट कर दिया है। विमलसूरि ने अपना 'पउमचरिय' महावीर निर्वाण के ५३० वर्ष बाद रचा था, यह वह स्वयं कहते हैं। दूसरे शब्दों में उनकी यह रचना ईस्वी ३री व ४थी शताब्दी की है, क्योंकि भ० महावीर की निर्वाण तिथि ५२७ ई० पू० मानी जाती है। जैनसाहित्य के अपने वर्तमान ज्ञान के आधार से हम कह सकते हैं कि विमलसूरिजी पहले जैन महाकवि थे जिन्होंने वाल्मीकि 'रामायण' का निरीक्षण जैनधर्म और जैनाचार की दृष्टि से किया था। यह बात सम्राट् श्रेणिक के मुख से निरूपी गई है। श्रेणिक का मन प्राचीन रामायणों के संदिग्धस्थलों से द्विविधा में पड़ा हुआ था। उन्होंने भ० महावीर के प्रमुख गणधर गौतम से उनका समाधान चाहा। श्रेणिक यों सोचने लगे कि "राक्षसों में महान् बलवान् की पराजय वानरों द्वारा कैसे हो सकती है ? क्या यह अविश्वसनीय नहीं है कि कुम्भकर्ण साल के प्रथम छः महीनों तक बराबर विना भूख प्यास की बाधा के पड़े सोते रहे—यहां तक कि उनके कानों के पास घोर शब्द किये जाने पर उनकी निद्रा भङ्ग नहीं होती थी ? और उससे भी अधिक अविश्वसनीय यह कथन है कि सोकर उठते ही कुम्भकर्ण हाथी और भैंसे निगल जाते थे ? भला रावण और अन्य राक्षस जो जैनी थे वह कैसे मनुष्य का रक्त पी और मांस भक्षण कर सकते थे ? आह ! यह 'रामायण' तो असत्य, गन्दी और संदिग्ध है। अपनी शंकाओं को निवृत्त करने के लिये संसार में आज अनेक ज्ञानी पुरुष हैं।" अतः श्रेणिक गौतम स्वामी के पास पहुंचते हैं और उनके सम्मुख अपनी शङ्काओं को उपस्थित करते हैं। गौतमस्वामी इसी प्रसंग में रामायण की कथा को निरूपते हैं। और कहते हैं 'श्रेणिक नृप ! ध्यान से सुनो। मैं वही कहूंगा जिसे पहले केवली भगवान् कह चुके हैं। रावण मांस भक्षक राक्षस नहीं है। दुष्ट और मूर्ख कवियों द्वारा कही गई सब ही बातें नितान्त असत्य है।"

यह कथन पौराणिक क्षेत्र का है, परन्तु इसमें अपना कुछ महत्त्व भी है। विमलसूरि जैसे त्यागी महात्मा जैनी को राक्षसों के भयानक दुराचार पूर्ण व्यवहार जैसे कि वाल्मीक ने कहा है, पूर्णतया अमानुषिक तथा क्षोभदायक प्रतीत हुए। उनकी विचारशक्ति पर एक प्रबल प्रहार हुआ। इतना होने पर भी वह अपने सहधर्मियों को वाल्मीक रामायण की तरह एक रामायण प्रदान करने के कार्य्य से दूर न रह सके क्योंकि रामायण उन दिनों इतनी ही प्रचलित हो चुकी थी जितनी कि आधुनिक काल में है। साधारण जनता का इस से रक्त-माँस जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। लोगों के चरित्र पर इसका अत्यधिक उत्तम प्रभाव

पड़ता था जिसके लिये यह ग्रन्थ जगत विख्यात हो चुका था। इसीलिये प्रत्येक धर्मावलम्बियों ने इसको अपने धार्मिक ग्रन्थों तथा पाठ्य पुस्तकों में स्थान दिया था। बौद्धधर्मानुयायियों ने ऐसा ही किया प्रतीत होता है। "दशरथ जातक" में रामायण का एक भाग ले लिया गया है। उस कथा में रावण का नाम भी नहीं है। बौद्धों की दृष्टिकोण में रामायण का महत्त्व उसके प्रमुख पात्र रामचन्द्र के भोलेभाले स्वभाव त्यागभाव तथा कर्त्तव्य परायणता के ही कारण था। उन्होंने केवल सदाचार पर ध्यान दिया जो कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म का एक प्रधान अंग था। वह यहां तक विश्वास करते हैं कि बुद्ध ने ही इससे प्रथम राम के रूप में जन्म लिया था। रावण के चरित्र को अपने धर्मानुकूल बनाने में उनको बड़ी कठिनता उपस्थित हुई इसीलिये वह उसे अपने इस ग्रन्थ में स्थान न दे सके। परन्तु कुछ शताब्दियों के उपरान्त लंकावतार के रावण को जो ४४३ ई० पू० में लिखा गया था, एक बौद्ध महायान का रूप दिया गया है, जो कि बुद्ध जी का एक अनुयायी धर्मात्मा था। मगर इसमें उसके सीता जी के अनुराग का कथन पूर्णरूप में उड़ा दिया गया है। कहानियों के रूप में यह बौद्धों का कथन सरसता से बहुत दूर है।

जैनों का दृष्टिकोण बड़ा मनोरंजक है। यह सत्य है कि जैन धर्म के पवित्र ग्रंथ प्रायः शुष्क भाषा में लिखे गये हैं और जहाँ तक मुझको ज्ञान है उनमें साधारण सांसारिक बातों का वर्णन जैसा कि बहुत सी बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में मिलता है, नहीं है। जैन रामायण इनसे विपरीत है और जैनधर्मावलम्बियों की महान उदारता का दिग्दर्शन कराती है। जैनशास्त्रकार रावण के चरित्र को मानुषिक तथा अति उच्च सिद्ध करने में वहाँ तक सफलीभूत हुए जहाँ तक बौद्धों का ध्यान भी न पहुंच सका। यह वर्णन कि यह परिवर्तन कैसे हुआ उल्लेखनीय है।

जैनधम अपने को सार्वभौम धर्म सिद्ध करता है। जैनधर्म कहता है कि मनुष्य ही नहीं तिर्यंच और नारकी तक पक्के जैनी हो सकते हैं अगर वह इस धर्म में श्रद्धान करें। चाहे जैसा दुष्ट तथा तिरस्कृत पुरुष क्यों न हो यदि वह उचित समय पर कर्म बंधनविच्छेद करना प्रारंभ करता है तो वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होगा। आत्मा की जन्ममरणयात्रा में कर्म का प्रधानतया हाथ है इस मतानुसार रावण किसी भी प्रकार घृणा अथवा तिरस्कार का पात्र नहीं है। इसके प्रतिकूल वह हमारी सहानुभूति प्राप्त करने योग्य है। विमल सूरि ने भी अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। प्रारम्भ में ही उन्होंने कह दिया है कि रावण दुष्ट प्रकृति वाला राक्षस नहीं था। वाल्मीकि के अनुसार वह एक राक्षस अनार्य्य तथा मनुष्य व देवताओं का प्रबल शत्रु था। उनके मतानुसार उस के कालिमायुक्त-चरित्र में कोई भी उज्ज्वल स्थान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह संसार के सम्पूर्ण दुराचारों

का पुतला था। परन्तु विमलसूरि ने एक अलहदा ढङ्ग से उसका चरित्र चित्रण किया है जो कि पूर्णतया मानुषिक है। मनुष्य की प्रकृति पूर्णतया मानुषिक या अमानुषिक नहीं हो सकती। मनुष्यप्रकृति सदाचार व दुराचार का मिश्रण होता है। इन दो में से किसी एक का दूसरे से बढ़ जाना मनुष्य को भला या बुरा बना देता है। इसलिये वाल्मीकि द्वारा उपस्थित किया गया रावण का चित्र अतिशयोक्तियों से परिपूर्ण है। यह एक आर्य्य की एक अनार्य्य की ओर घृणा प्रदर्शित करता है। विमलसूरि ने इस अन्याय को जान कर एक ही बार में, (लेखनी द्वारा ही नहीं वरन् विचारों द्वारा भी) उसको मनुष्य बना दिया। राक्षस का भद्दा बाह्यरूप क्षण भर में एक श्याम घटा के समान विलीन हो गया। वह रूप बड़ा सुन्दर हो गया और अब रावण सर्वगुण सम्पन्न बन गया।

विमलसूरि उसको इस प्रकार वर्णन करते हैं। "शरीर गेहुँआ, रत्न के समान कान्तिवान, मुख पूर्णविकसित कमलस्वरूप, दीर्घकाय वक्षःस्थल, बलवान् लम्बी भुजायें पतली कमर, सिंह के समान पुट्ठे हाथी के समान रानें, ग्राह के समान पैर, रत्नजटित नवीन वस्त्रों से विभूपित यह रावण संसार के पुरुषों के राजा इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान प्रतीत होता था।" वास्तव में यह रूप एक हद तक मानने योग्य है। उसके असाधारण शिर तथा भुजायें विलीन हो जाती हैं और वह एक साधारण मनुष्य का शरीर धारण करता है। विमलसूरि के जादू भरे स्पर्श से न केवल रावण को मनुष्यरूप प्राप्त हो गया वरन् मनुष्य हृदय भी प्राप्त हुआ। उसके हृदय में कोमल एवं सुन्दर विचारों का वास हो गया। "पउम चरिय" में बहुत से उदाहरण हैं, जिन से रावण के हृदय की उच्चता सिद्ध होती है। एकाध उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

एक बार त्रैलोक्य विजय में संलग्न रावण ने वरुण को परास्त कर के बन्दी बनाया। वरुण के प्रजागण शोकातुर होकर विलख विलख रो रहे थे। रावण ने उनका विलाप सुना और दयार्द्र होकर वरुण को स्वतन्त्रता तथा उसका राज्य सौंप दिया। उसके जीवन की अंतिम घड़ियों में जब कि मृत्यु और अपमान उसकी शोकाकुल आत्मा के निकट मँड़रा रहे थे, वह पछताता है उस दुष्कार्य्य के लिये जो उसने सीता के साथ उसको उसके पति से दूर रखने तथा दुःख आदि देने में किया था। वह स्वयं अपने से घृणा करता है, विलाप करता है, अपनी माता से बिछुड़े हुए बालक के समान बेचारी सीता के दुखों पर रोता है। कविताद्वारा विमल सूरि रावण को सर्वोच्च मनुष्य से भी उच्च मानने के लिये हमें बाध्य करने के प्रयास में पूर्ण सफलीभूत हुए हैं।

कवि एक पग आगे और बढ़ता है रावण को जैनधर्मानुयायी बनाता है। इसका अर्थ यह है कि रावण हिंसा से दूर अथवा किसी जीवधारी को दुःख अथवा क्षति पहुंचाने से दूर

रहा है। रावण की लड़ाइयों के वर्णन में कवि ने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है। रावण सब राजाओं को मार कर तीन खण्ड का चक्रवर्ती राजा नहीं बनता है केवल उनको हराकर और दासता स्वीकार कराकर छोड़ देता है। शायद ही कोई राजा उसके हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ हो। वह अहिंसा के सिद्धांत का विशेष ध्यान रखता था। एक बार राजपुर का शासक मारुत बलि दे रहा था। जब रावण ने सुना तो वह वहाँ गया। उसको मारने के विचार से नहीं वरन् इस दुष्कर्म को रोकने के लिये। यह कार्य्य उचित ही था क्योंकि बलि में प्रत्यक्ष रूप में हिंसा होती है। वाल्मीकि के रावण के विपरीत जो कि साधुओं का शत्रु था, विमलसूरि का रावण जैन मुनियों का अनन्य भक्त था। वह उनको साष्टांग प्रणाम करता है और उनसे धर्मश्रवण करता है। एक बार वह श्रीमुनि अनन्तवीर्य केवली के समीप गया और उनका धार्मिक व्याख्यान श्रवण किया। वह हरिषेण की पवित्र कथा सुनकर बहुत हर्षित हुआ। तीन खण्ड की विजय के पश्चात् उसने जैन तीर्थंकरों के मंदिरों की स्थापना के द्वारा जैनधर्म का प्रचार किया। इस प्रकार विमल सूरि ने उसको जैनधर्मावलम्बी बना कर उसका आचरण अति उच्च कर दिया है।

इन बातों पर ध्यान देने के पश्चात् विमलसूरि का यह कथन कि रावण एक श्रेष्ठ तथा संपूर्ण राज्यगुणविभूषित राजा था पाठकों को आश्चर्य में नहीं डाल सकता एक राजा की अपेक्षा वह शक्तिवान्, महान् तथा अद्वितीय शासक था। विमल सूरि रावण को एक महान् राजा के समान ऐश्वर्यवान् वर्णन करते हैं। अपनी विजय यात्रा समाप्त करने के पश्चात् रावण अतुल सम्पत्ति, कीर्त्ति तथा वैभव का स्वामी बन गया, अनेक विद्याधर उसके दास हो गये। तीन खंड में उसका कोई भी शत्रु नहीं रहा, उसकी राजधानी के नागरिक उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। जिस देश में उसका शुभागमन होता है वह देश स्वर्ग के समान धन, धान्य तथा रत्न से पूरित हो जाता है। वहाँ पर फिर अकाल का भय नहीं रहता। उस देश में पुण्य का वास हो जाता। हरी-भरी पर्वतीय झरनों सहित, 'कुटज' पुष्पों से सुशोभित भूमि एक नवयौवना सुन्दरी के अनुरूप दशानन के शुभागमन पर मधुर मुस्कान से उसका स्वागत करती। पूर्वजन्म के शुभ कर्म्मों के परिणाम स्वरूप रावण इन सुख, कीर्त्ति तथा ऐश्वर्य को भोगता। विमल सूरि एक शब्द में ही रावण की संपूर्ण महत्ताओं का वर्णन करते हैं, वह शब्द है 'प्रवरपुरुष' अर्थात् सर्व श्रेष्ठ पुरुष।

मैंने विमलसूरि के रावण के आचार के कथानक का संक्षिप्त परिचय दिया है। उन्होंने उसे सर्वश्रेष्ठ पुरुष, एक जैनी तथा पूर्ण राजा वर्णन किया है। परन्तु ऐसा शक्तिवान् राजा भी मृत्यु को प्राप्त होना चाहिये। यहाँ पर यह सिद्धांत आता है। विमल सूरि उसको प्रति वासुदेव (प्रतिनारायण) त्रेसठ शलाकाधारी पुरुषों में से एक बताते हैं। उसकी मृत्यु अपने

शत्रु वसुदेव के ही द्वारा होनी अनिवार्य्य है। उनके मध्य शत्रुता का भी कोई कारण होना आवश्यक है। अस्तु, रावण द्वारा सीता की चोरी ही उसके विनाश का कारण बनती है। यह बात रावण को नारद मुनि के द्वारा पूर्णतया ज्ञात हो चुकी थी। यह भविष्यवाणी थी कि रावण की मृत्यु राजा जनक की पुत्री सीता के कारण राजा दशरथ के पुत्रों के द्वारा होगी, रावण ने दशरथ और जनक को मारकर ऐसी मृत्यु से बचना चाहा मगर दुर्भाग्यवश वह दोनों विभीषण के हाथ से निकल गये और विभीषण उनकी मोम की बनी हुई मूर्त्तियों को ही वास्तविक दशरथ व जनक जान काट कर चला आया।

इसी प्रसंग में हमको एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना है। रावण की मृत्यु का कारण उसका सीता के प्रति अनुचित अनुराग था। विमल सूरि ने रावण के चरित्र चित्रण के द्वारा ब्रह्मचर्य्य रहित जीवन के भयानक विनाशकारी परिणामों को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहा। ब्रह्मचर्य्य जैनियों के पाँच व्रतों में से एक व्रत है। चाहे जैसा महान् व चरित्रवान् पुरुष हो यदि किसी समय वह ब्रह्मचर्य्य पथ से डिग जाता है तो उसकी मृत्यु बड़े दुःख व घोर अपमान सहित होती है। यदि कोई मनुष्य स्वभाव से ही दुराचारी हो तो उसकी दुर्दशा में किसी प्रकार की शंका करना घोर मूर्खता है, इसलिये विमलसूरि सीता से मिलाप के पूर्व तक रावण के ब्रह्मचर्य्य का ध्यान रखते हैं। मन्दोदरी के अतिरिक्त रावण के अनेक विवाहिता रानियाँ थीं। अपनी विश्वविजय की यात्रा में एक बार नलकूबर की राजधानी में उसका आगमन हुआ। नलकूबर की पत्नी उपरम्भा जो कि अपने पति से प्रसन्न नहीं थी रावण से लड़कपन से ही प्रेम करती थी। जब उसको यह ज्ञात हुआ कि रावण उसके इतने समीप है तो उसने अपने रूपद्वारा रावण को अपने वश में करना चाहा, परन्तु रावण उसके जाल में न फँसा। इसके अतिरिक्त उसने उपरम्भा को समझाया कि उसको अमूल्य शीलरत्न की रक्षा करना चाहिए और अपने कुल की मर्यादा नहीं खोना चाहिये। रावण इस परीक्षा में पूर्ण सफल रहा। रावण को अपने ब्रह्मचर्य्य में किसी प्रकार की दुर्बलता का आभास मिला और इसलिये उसने अनन्तवीर्य्य के निकट एक व्रत पराङ्गनाविरत ग्रहण किया। और नारी रूपी शत्रु से अपनी रक्षा करने के लिये एक सुदृढ़ दुर्ग की स्थापना की। उसका सीता पर आसक्त होना उसकी दुर्बलता का द्योतक है और इस दुर्बलता का दंड उसे अच्छी तरह भोगना पड़ा। वह पूर्ण त्यागी न था।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि विमल सूरि का वाल्मीकि कृत रामायण के रावण के चरित्र को जैनधर्म के सिद्धांतों के अनुरूप कविताबद्ध करना एक अनोखी सूझ है। यूनानी विद्वान् अरिस्तू का यह सिद्धांत है कि दुःखान्त कथा के नायक का अद्वितीय त्याग और सत्यप्रियता को प्रधानता न देना चाहिये। परन्तु उस पर आई हुई विपत्ति का कारण उसके पाप न बताकर

दृष्टि की त्रुटि होना बताना चाहिये।' यह विमल सूरि के रावण के लिए पूर्णतया उचित सिद्ध होता है। विमलसूरि के कथन का महत्त्व वहां पर बढ़ जाता है जब कि रावण की दुःखद घटना उनके हृदय में दया का संचार करती है। एक कवि व कलाकार की अपेक्षा विमलसूरि की निपुणता रावण के चरित्र चित्रण में पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। रावण को उन्होंने अपनी कथा का प्रधान नायक माना है यद्यपि वह अपनी कथा का नाम 'पउमचरिय' रखते है जो कि रामचन्द्रजी का उपनाम है। रामचन्द्र की अपेक्षा रावण हमारा ध्यान अधिक आकर्षित करता है और हमारे मस्तिष्क में सदा के लिये वास कर जाता है। रावण का चरित्र मनुष्योपयोगी बातों से परिपूर्ण है।

मैं विमल सूरि के वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखने का कारण और इस आधार पर रची हुई कविता की सुन्दरता पर एक संक्षिप्त प्रकाश डाल चुका हूं। उन्होंने हमको एक नवीन रावण दिया है जिसके साथ हमको सहानुभूति हो सकती है। उनका अदम्य साहस एक नई रचना को जन्म देता है, उनका काव्य एक कवि की विचारशक्ति की उड़ान की अपेक्षा कवियों के लिए एक उदाहरण है। उन्होंने बाद के कवियों के लिए एक मानचित्र छोड़ दिया जिसके आधार पर कि वह अन्य रचनायें रच सकें। इस प्रकार उन्होंने एक नवीन 'पद्धति' को जन्म दिया। प्राकृत भाषा के लेखकों में जिन्होंने श्रीविमल सूरि का अनुसरण किया है, उनमें 'पउमचरिय' के रचयिता 'चौमुंह' वर्णन करने योग्य हैं। दशम शताब्दी में रचित 'हरिवंश पुराण' ग्रंथ के रचयिता धवल ने उनके बावत् कुछ वर्णन किया हैं। उसी नाम का एक ग्रंथ के १२००० श्लोकों का एक भाग स्वयंभू देव ने रचा है, वह भाग उपलब्ध है। वह अपनी रचना समाप्त न कर सके अतः त्रिभुवन स्वयंभू नामधारी एक दूसरे लेखक द्वारा वह पूर्ण हुआ। परन्तु वह दूसरा भाग जो इस प्रकार पूर्ण हुआ अब उपलब्ध नहीं है। ग्वालियर के यशःकीर्त्ति भट्टारक ने उपरांत उसको पूरा किया है। स्वयंभू देव का अस्तित्वकाल सप्तम व दशम शताब्दी के मध्य है। मैं इन दोनों ग्रंथों को प्राप्त करने में असमर्थ रहा। यद्यपि मेरा इन ग्रन्थों को विमल सूरि पद्धति के अनुसार कहना केवल अनुमान पर है परन्तु इस आधार पर कि उनके नाम एक से हैं और उनमें एक ग्रन्थ का उपलब्ध भाग विमल सूरि की रचना से मिलता है इस कल्पना को सत्य सिद्ध करता है।

विमलसूरि के अनुसरण करने वालों में सर्व प्राचीन संस्कृत रचनाकार 'पद्मपुराण' अथवा 'महा रामायण, के रचियता रविषेण हैं। उन्होंने विमलसूरि की रामायण को एक बृहत् रूप दे दिया है। वर्णित अध्यायों का अधिक संख्या में होने से ग्रन्थ को बढ़ा दिया गया है। उनका काव्य सरल और सीधा है। कहीं २ पर उनके श्लोक विमलसूरि के श्लोकों का केवल अनुवाद रूप ही मिलते हैं। उनकी रचना विमलसूरि की रचना से पूर्णतया मिलती है।

हेमचन्द्र की रामायण का नाम दूसरे नम्बर पर आता है जो विद्वानों की पूर्वपरिचित है। देवविजय गणी ने एक रामचरित की संस्कृत गद्य में रचना की। उन्होंने हेमचन्द्र का अनुसरण किया है। कन्नड साहित्य में विमलसूरि के अनुयायिओं में जैन रामायणों के सम्बन्ध में नागचन्द्र का नाम प्रमुख है, जिनका कि दूसरा नाम अभिनव पम्प है। उन्होंने कथा की रचना में बड़ी योग्यता का परिचय दिया है और अनावश्यक बातों में काट छाँट कर के उसको असली रामायण से अधिक सुन्दर बना दिया है। उनकी शैली सरस और सरल है। उसने कन्नड़ भाषा की अन्य जैन रामायणों के लिए एक मानचित्र तय्यार कर दिया है। उनमें कुमुदेन्दु का नाम मुख्य है, जिसके नाम पर ही उसकी रचना का नाम कुमुदेन्दु रामायण रख दिया गया है। यह ग्रन्थ तेरहवीं शताब्दी में रचा गया था। यह सुपरिचित षट्पद छन्दों में रचा गया है। इनकी रचना में इस छन्द के छहों प्रकार के छन्द पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रागत छन्द हैं। उसने नागचन्द्र की उपमाओं और अलंकारों का दुवारा अपनी रामायण में उपयोग किया है, जिससे सिद्ध होता है कि उन्होंने नागचन्द्र का अनुसरण किया है। देवप्पा ने १५२५ ई० में साँगत्य छन्द में रामविजय चरित की रचना की है। देवचन्द्र ने जिनके बाबत् अभी वर्णन हो चुका है अपनी रचना रामकथावतार में नागचन्द्र के बहुत से छन्दों को शामिल कर लिया है। इसके बाद चन्द्रसागर वर्णिने जैन रामायण की रचना भामिनि षट्पद छन्दों में उन्नीसवीं शताब्दी में किया है।

विमलसूरि के अनुसरण करने वालों का शिजरा निम्न प्रकार है।

पउमचरिय
(विमलसूरि)

प्राकृत	संस्कृत	कन्नड
(१) पउमचरिय (चौमुह)	१ पद्मपुराण (रविषेण)	१ पम्प रामायण (नागचन्द)
(२) पउमचरिय [स्वयंभूदेव, त्रिभुवन स्वयंभू, यशःकीर्त्ति भट्टारक]	२ जैन रामायण हेमचन्द्र	२ कुमुदेन्दु रामायण (कुमुदेन्दु)
	३ रामचरित (देवविजयगणी)	३ राम विजय चरित (देवप्प)
		४ रामकथावतार (देवचन्द)
		५ जिनरामायण (चन्द्रसागर वर्णी)

विमलसूरि और वाल्मीकि रामायण की कुछ बातें जिनमें कि एक दूसरे में बहुत अन्तर पड़ गया है अब यहाँ दी जाती हैं। 'पउमचरिय' का सार संक्षिप्त में वही हैं जो वाल्मीकि रामायण का है। शम्भूक एक नीच गोत्र का मनुष्य था जो कि एक साधु का रूप धारण किए था। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में बताया गया है कि उसकी मृत्यु राम द्वारा हुई। विमलसूरि इस घटना को बड़ी बुद्धिमत्ता से एक नई प्रकार से वर्णन करते हैं। इनकी रामायण में शम्भूक चन्द्रनखा का पुत्र बताया गया है। चन्द्रनखा रावण की बहिन और खर की स्त्री थी। लक्ष्मण भ्रमणावस्था में एक बाँस की झाड़ी देखते हैं। उसमें एक तलवार फूलों से पूजी हुई घुसी हुई है। लक्ष्मण इसकी धार की परीक्षा करने के लिए बाँसों पर एक तलवार का भरपूर हाथ मारते हैं। एक ही हाथ में बाँस कट पड़ते हैं। उन बाँसों के साथ एक लड़के का कटा हुआ सिर देखते हैं। यह लड़का शम्भूक था। लक्ष्मण अपने से अजान में हुई भूल के लिए पश्चात्ताप करते हैं। कला की अपेक्षा विमलसूरि का यह कल्पना कार्य्य सराहनीय है। 'पउमचरिय' के अनुसार सुग्रीव और हनुमान् बानर वंशी लोगों के शासक थे। रावण को कर दिया करते थे। हनुमान् वरुण के विरुद्ध लड़े गये युद्ध में उसकी सहायता करते है। राम और लक्ष्मण के यहाँ कई ब्याह हुए हैं जिससे राम का सीता के प्रति अथाह प्रेम प्रकट नहीं होता। अतः यह बात प्रशंसा योग्य नहीं है। यह वासुदेव लक्ष्मण थे जिन्होंने रावण को मारा था। रामचन्द्र उसी जन्म वा देह से मोक्षगामी थे। अतः वह हिंसाकर्म्म कर के अपने को नरक में क्योंकर डाल सकते थे। लक्ष्मण रावण को मारने के कारण नरक गये। सीता को प्रभामंडल नाम का एक भाई था जिसने कि बड़े २ साहसोचित कार्य्य किए हैं। अन्तर कहीं कहीं पर मिलता है। इसकी कथा वही है जो वाल्मीकि रामायण की है। अतः यह कहा जा सकता है कि विमलसूरि का स्कूल वाल्मीकि का स्कूल है। यह स्कूल ही अधिक ख्याति प्राप्त कर चुका है क्योंकि रावण का चरित्र जो इस कथा में अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है मनुष्य के मस्तिष्क के लिए बड़ा रुचिकर है।

अब मैं जैन रामायण की एक दूसरी शाखा का वर्णन करूँगा। चूंकि मैं गुणभद्राचार्य से प्रथम के किसी भी रामायण के रचियता को नहीं जानता, अतः इस शाखा को उन्हीं के नाम से पुकारूँगा। गुणभद्र ने अपनी रामायण को श्रीमुनिसुव्रत नाथ जिन के जीवनचरित्र, उत्तर पुराण के ६८ वें पाठ में एक पूरक कथा की तरह वर्णन किया है। उस कथा का ढाँचा निम्न प्रकार है।

रत्नपुर के राजा प्रजापति को चन्द्रचूड़ नामधारी पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जिसके मित्र का नाम विजय था। उनके कुबेर की कन्या के साथ बलात्कार करने के प्रयत्न के कारण उनको देश

निकाला दिया जाता है। वह एक पहाड़ी पर छोड़ दिये गये। उस पर एक साधु रहते थे। वह साधु के पास बड़े आदर भाव के साथ जाते हैं और मुनिव्रत धारण करते हैं। वह मुनि भविष्यवाणी करते हैं कि तुम तीन भवों के पश्चात् अष्टम वासुदेव व बलभद्र होगे। वह सानत्कुमार स्वर्ग में जाकर कनकचूल तथा मचूल नाम के देव होते हैं। वहाँ से फिर वह काशी राज्य के शासक दशरथ की राजधानी वाराणसीपुर में राजा दशरथ के यहाँ राम और लक्ष्मण नाम से जन्म धारण करते हैं। इनके जन्म के पश्चात् वह साकेतपुर को अपनी राजधानी बना लेते हैं। यहाँ पर भरत और शत्रुघ्न उत्पन्न होते हैं। राजा जनक औ उनकी स्त्री वसुधा को एक लड़की मिलती है जिसका नाम वह सीता रखते हैं। एकबार राजा जनक ने होम करने का विचार किया मगर रावण के भय से वह ऐसा न कर सके। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि जो कोई भी उनको बलि यज्ञ करने में रावण के विरुद्ध सहायता करेगा वही सीता को ब्याहेगा। यहाँ पर तमाम बलियज्ञों के पापमय परिणामों के विरुद्ध एक लम्बा वर्णन है।

उपरान्त रावण की जन्मकथा वर्णित है। अपने तीसरे पूर्व भव में वह सार समुच्चय नाम के देश में नरदेव नामक पुरुष था। वह मृत्यु को प्राप्त होकर सौधर्मकल्प में देव हुआ। वह देव चय कर के लंका के राजा पुलस्त्य की रानी मेघश्री का पुत्र रावण हुआ। एकदा रावण की भेंट मणिमती नामक साध्वी से हुई, जो तपस्या कर रही थी। रावण ने उसे चलित करने की कोशिश की। मणिमती को इस पर क्रोध आ गया और उसने निदान बांधा कि वह रावण की पुत्री होकर उससे अपना बदला चुकायगी। वह मरी और मंदोदरी के गर्भ से रावण के पुत्री हुई। उसके जन्म समय अनेक अपशकुन हुए। इसलिए ही उसे एकान्त में मिथिला के पास छोड़वा दिया गया। जनक यज्ञ करने के लिए भूमि ढूंढ़ रहे थे। वह कन्या उन्हें मिल गई। उन्होंने उसे वसुधादेवी के सिपुर्द कर दिया और उसका नाम सीता रख दिया। जनक के बुलाने पर राम मिथिला गए। जनक ने प्रसन्न हो सीता का ब्याह राम से कर दिया। राम साकेत वापस आए और कुछ दिनों बाद लक्ष्मण और सीता को लेकर वाराणसी में आकर राज्य शासन करने लगे। दशरथ को यह विछोह असह्य हुआ; परन्तु राम ने एक नृप का कर्तव्य समझाकर उन्हें संतोषित किया। नारद महाराज रावण से सीता के सौन्दर्य की तारीफ करते हैं। रावण सीता के रूप पर मोहित होता है और अपनी बहिन सूर्पणखा को सीता की शीलपरीक्षा के लिए भेजता है। वह हताश होकर लौटती है। इस पर रावण जाता है। वह वाराणसी की चित्रकूटवाटिका में पहुंचता है, जहां राम और सीता क्रीड़ा कर रहे थे। रावण अपनी विद्या से मारीच का रूप एक सुन्दर हिरण में पलटता है। सीता हिरण पर मोहित होती है। राम हिरण

पकड़ने जाते हैं और दूर निकल जाते हैं। उधर रावण राम का रूप रख कर सीता के पास आता है और उसे लिवा ले जाता है। लंका पहुंच कर रावण सीता को लुभाने की कोशिश करता है, परन्तु सीता अनशन माड़ लेती हैं। राम व लक्ष्मण व्यर्थ सीता को ढूंढ़ते हैं। दशरथ के दुःस्वप्न से उन्हें पता चलता है कि रावण से सीता को कष्ट पहुंचा है। वे वालि, सुग्रीव और आञ्जनेय से मिलते हैं। वालि की मृत्यु लक्ष्मण के हाथ से होती है। आञ्जनेय सीता के समाचार लाते हैं। मन्दोदरी सीता को पहचानती है कि यह मेरी पुत्री है और रावण से कहती है कि उन्हें राम को लौटा दें। युद्ध अनिवार्य होता है। आञ्जनेय पुनः लंका जाते हैं और विभीषण को राम के पक्ष में कर आते हैं। वह लंका जला आते हैं; परन्तु रावण आदित्य गिरि पर विद्यासिद्ध करता है। युद्ध में रावण मायामयी सीता का सिर काटता है, जिससे राम शोकग्रस्त होते हैं। विभीषण सान्त्वना देते हैं। लक्ष्मण के चक्र से रावण की मृत्यु होती है। वाराणसी आकर राम मुनिपद धारण कर के केवली होते हैं। लक्ष्मण रावण की हत्या के पाप में पङ्कप्रभा नरक में जाते हैं।

संक्षेपतः गुणभद्राचार्य के अनुसार राम-कथा का यह वर्णन है। उन्हीं के अनुरूप प्राकृत भाषा में भी कोई रामायण हो, इसका पता नहीं। पुष्पदन्त का 'तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकार' 'उत्तरपुराण' के आधार पर रचा गया है। सम्भवतः उसमें यही रामकथा हो। संस्कृतभाषा में श्रीकृष्ण रचित (सन् १५२८ ई०) 'पुण्यचन्द्रोदयपुराण' है जिसमें यही रामकथा है। कन्नड भाषा में सर्वप्राचीन रामकथा चामुंडराय के 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष पुराण' में है जिसकी रचना सन् ९७८ ई० में हुई थी। वह गुणभद्राचार्य के वर्णनानुकूल है। इसके पश्चात् नागराजकृत 'पुण्याश्रव कथासार' (सन् १३३१ ई०) है। बंधुवर्म के 'जीव-संबोधन' (१२०० ई०) में भी ऐसी ही रामकथा है। यह श्रेणी अब यों समझिये :—

गुणभद्र की राम कथा विमलसूरि के वर्णन से विभिन्न है। इसमें सीता को रावण की पुत्री बताया है। कई एक रामकथाओं में सीता रावण की पुत्री कही गई है। (देखो हिस्ट्री

औफ इण्डियन लिट्रेचर भा० २ पृ० ४९४। किन्तु गुणभद्र की रामकथा का आधार क्या है? इसका ठीक पता नहीं चलता। शायद 'अद्भुत रामायण' अथवा 'दशरथ जातक' का प्रभाव उन पर पड़ा हो। मारीच का हिरणरूप होने का वर्णन ठीक वाल्मीकि की तरह है। अतः उनका आधार कोई एक विशेष नहीं कहा जा सकता—उन्होंने सब ही जनश्रुतियों से कुछ न कुछ ग्रहण किया प्रतीत होता है। (?) हाँ, गुणभद्राचार्य और विमलसूरि इस विषय में एकमत है कि वैदिक यज्ञों का निषेध करें और हरिषेण की कथा लिखें। वह कला की दृष्टि से हेय है। इसीलिये उसका कम प्रचार हुआ है।

भारतीय साहित्य में अन्य रामायणों पर जैन रामायणों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। श्री डी० सी० सेन बंगाली रामायणों पर इस जैन प्रभाव को स्वीकारते हैं। डॉ० टॉमस सा० ने एक तिब्बतीय 'रामायण' का विशेष वर्णन लिखा है। इस रामायण की प्रतियां चीनी-तुर्किस्तान से मिली थीं और लगभग सन् ७०० –९०० ई० की हैं। वे स्वतन्त्र रचनायें हैं। उन पर जैनों का प्रभाव स्पष्ट है। विमलसूरि ने रावण के पिता का नाम रयनासव (रत्नास्रव) लिखा है। तिब्बतीय रामायण में भी वही नाम है। इनमे सीता को रावण की पुत्री गुणभद्र के अनुसार ही लिखा है। कन्नड की अन्य रामायणों में जैन प्रभाव नहीं दिखता।

सारांशतः यह स्पष्ट है कि जैन रामायण की वर्णनशैली की दो भिन्न श्रेणियां है, जिनका एक दूसरे से गहन मतभेद है। विमलसूरि ने 'वाल्मीकि रामायण' का अनुसरण किया प्रतीत होता है—जबकि गुणभद्राचार्य का कोई एक केन्द्रीभूत आधार नहीं था। विमलसूरि की रचना कलामय है जबकि दूसरी कथा मात्र कथा है। यह स्पष्ट है कि 'जैन रामायणों' का 'रामायणों' के अध्ययन में एक विशेष स्थान है।

—अनुवादक नेमिचन्द जैन, अलीगंज।

'रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी, लंदन में जैन ग्रन्थ'

[लेखक—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

हमारे खयाल में जैनियों में शायद ही आजतक किसी विद्वान या जैनसंस्था ने अपने प्राचीन ग्रन्थों की शोध का सतत प्रयत्न किया हो, स्थान-स्थान पर घूमकर शास्त्रभंडारों की सार-संभाल की हो और उनकी सूचियाँ बनाई हों। वैसे अनियमित रूप में 'जैन सिद्धान्त भवन, आरा' और 'ऐलक पन्नालाल सरस्वती भंडार, बम्बई' आदि संस्थाओं ने ग्रन्थ संग्रह का कार्य अवश्य किया है; परन्तु वह कार्य सेर में पोनी के बराबर भी नहीं है। आज हमें यह भी पता नहीं है कि हमारे घर में क्या है? हमारे शास्त्रभंडारों में कितने अमूल्य ग्रन्थरत्न छुपे पड़े हैं? आज सारे संसार में हमारी साहित्य रचनाओं की संख्या कितनी और उनका साहित्यक क्षेत्र में क्या स्थान है? हम जैनियों के लिये यह लज्जा का स्थल है कि हमने अपने उपलब्ध साहित्य की सूची भी तैयार नहीं कर पायी है! प्रत्येक जैन-मंदिर में प्रतिदिन हम जिनवाणी की पूजा-अर्चा करते हैं; परन्तु उसकी तरफ से बेखबर हैं कि वह है क्या और कहाँ और कितनी? अपनी माता की जो सारसंभाल नहीं करता और उसे उन्नत नहीं रखता उसे कौन सपूत कहेगा? यदि कोई जैनी जिनवाणी को माता कहता है तो वह अपने हृदय में पूछे कि उसने अब तक अपनी 'माँ' के लिये क्या किया है? और वह प्रण करे कि मैं अपनी 'माँ' का जीवन सुरक्षित रखने के लिये अमुक रूप में कार्य करूंगा। जब प्रत्येक जैनी अपने कर्तव्य को पहचानेगा और जिनवाणी की सच्ची सेवा करने के लिये बद्धपरिकर होगा तो जिनवाणी माता का सुखद-प्रकाश चहुं ओर छिटकता दिखाई पड़ेगा। इस दिशा में हम यूरुपीय विद्वानों की कार्यतत्परता की सराहना किये बिना नहीं रह सकते। वह हमारे अमूल्य ग्रन्थ रत्नों को संग्रहीत कर के पुस्तकालयों में सुरक्षित कर गये हैं—अनेकानेक शास्त्रभंडारों की उन विद्वानों ने शोध की है और कई अप्राप्त ग्रन्थों का उन्होंने पता लगाया है। यह है ज्ञान की सच्ची विनय। इस सच्ची लगन का ही परिणाम है कि अनेक ग्रन्थ लुप्त होने से बच गये हैं। इस नोट में पाठकों के सम्मुख उन जैनग्रन्थों की नामावली हम उपस्थित कर रहे है, जो लंदन की 'रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी' के संग्रहालय में हैं। इनमें से प्रायः सब ही ग्रन्थ कर्नल जेम्स टॉड सा० ने राजस्थान में घूम कर प्राप्त किये थे और अन्त में उनको उन्होंने सोसायटी को अर्पण कर दिया था। राजस्थान में प्रायः श्वेताम्बर जैनधर्म का बाहुल्य रहा है—यही कारण है कि संग्रह में प्रायः सब ही ग्रन्थ श्वेताम्बर संप्रदाय के हैं। आजकल लंदन पर जर्मनी के आकाशी आक्रमण

हो रहे हैं और आशङ्का है कि कहीं यह अपूर्व संग्रह क्षति में न आ जाय! काश दुनियां में जिनवाणी का प्रचार होता, तो शायद यह नृशंसता न दिखती! भावना कीजिये कि दुनियां से नृशंसता मिट जाय और प्रयत्न कीजिये कि जिनवाणी का प्रकाश दिगंतव्यापी हो! सोसायटी के संग्रहालय की ग्रन्थ सूची उसके जून (१९४०) मास के जर्नल में प्रकाशित हुई है। उसी से जैनग्रन्थों की नामावली सधन्यवाद दी जा रही है :—

(१) नं० १० उपदेशमाला या उवएसमाला—प्राकृत-धर्मदासकृत जयशेखर की संस्कृत अवचूरि सहित। ४३ पत्र। १८वीं शताब्दि।

(२) नं० १३ उपदेशरसाल—संस्कृतहिन्दी-रत्नमन्दिर कृत 'उपदेश तरंगिणी' के आधार पर कथा व ऐतिहासिक सूचनायें हैं। ६० पत्र। विक्रम सं० १८६६ मधुमास वद दशम्।

(३) नं० १७ सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन—लघुवृत्ति सहित अध्याय ५-संस्कृत—हेमचन्द्र कृत-पत्र १८-सं० १५३१

(४) नं० १८ वासुपूज्य चरित्—संस्कृत-नागेन्द्रगच्छीय वर्द्धमानसूरि कृत महाकाव्य-रचनाकाल १२९९ विक्रम—९४ पत्र असम्बद्ध—१६ वीं शताब्दि।

(५) नं० १९ सन्देह-विषौषधि—भद्रबाहु के 'कल्पसूत्र' पर जिनप्रभकृत संस्कृत वृत्ति। १६ वीं श०। नं० ३० इसी की दूसरी प्रति है।

(६) नं० २० निरयावलिया-सुय श्वे० आगम का उपाङ्ग—४१ पत्र-प्राकृत-१६वीं श०।

(७) नं २१ स्याद्वाद्-रत्नाकर अथवा प्रमाण-नय-तत्वालोकालङ्कार—वादि देव (देव सूरि) कृत जैन न्याय ग्रन्थ रत्नप्रभ की 'रत्नाकरावतारिका' टीका सहित। ७१ पत्र। संस्कृत। १६वीं श०। (शायद यह ग्रन्थ दिगम्बरीय हो ?)

(८) नं० २२ ताजिकसार-ज्योतिष-हरिभद्र कृत-सं० ४८ पत्रा सं० १८०७ उदयपुर मध्ये।

(९) नं० २७ हीर सौभाग्य सं०-देवविमल गणि रचित श्वे० हीर विजय सूरि की प्रशंसात्मक रचना। ८०। पत्र। १७ वीं श०।

(१०) नं० २८ प्रज्ञापना टीका—मलयगिरि कृत श्वे० चतुर्थ उपाङ्ग 'प्रज्ञापना' की संस्कृतटीका। सं० १६१३। जेसलमेर।

(११) नं० २९ तत्वचिन्तामणि (प्रत्यक्ष खंड, परिच्छेद १)-सं०-गंगेश उपाध्याय कृत। पत्र ४७। १६वीं श०। (?)

(१२) नं० ३१ कुमारपाल-राजर्षि-रास—हिन्दी-सांगण के पुत्र ऋषभदास द्वारा सं० १६७० में रचित—१८६ पत्र-सं० १७४६।

(१३) नं० ३३ वृद्ध शत्रुंजय माहात्म्य—सं०-धनेश्वर रचित-पंक्ति मध्यमें गुजराती भाष्य-७९४ पत्र-सं० १७८७

(१४) नं० ३४ कालिकाचार्य कथानक—प्राकृत-भावदेवकृत-सचित्र-पत्र ११२-सं० १४६१

(१५) नं० ३५ संग्रहणी सूत्र और त्रैलोक्यदीपिका-प्रा०—मलधारि हेमचंद्र के शिष्य चन्द्रसूरि रचित। वच्छराज के गुजराती अनुवाद सहित। ४० पत्र। सं० १७५० जालोर। नं० ७३ दूसरी प्रति है।

(१६) नं० ३६ में कई रचनाओं का संग्रह है जिनमें एक 'कामधेनु कोष्ठका:' रायचन्द्र के तिथि-चूडामणि-'कामधेनु' से रचा गया है। पृ० २४। १७वीं श०। सं०।

(१७) नं० ३७ पञ्चलिङ्गी-विवरण; श्री जिनेश्वरकृत प्राकृत 'पञ्चलिङ्गी' की जिनपति कृत संस्कृत टीका! इसमें सम्यक्त्व के पांच लिङ्ग उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुम्पा और आस्तिक्य) का निरूपण है। बम्बई से छप चुकी है।

(१८) नं० ४१ जम्बूकुमार रास—गुज०-नयविमल सूरि कृत सं० १७३७ में—पत्र २२-सं० १७९४

(१९) नं० ४२ हम्मीर चरित्—सं०-नयचंद्र कृत-चौहान राजा हम्मीर का चरित्र है। १०० पत्र। १८वीं श०।

(२०) नं० ४३ षड्विधावश्यक विधि—सं०-कर्त्ता अज्ञात-९३ पत्र-सं० १६२९। नं० ६७ दूसरी प्रति है।

(२१) नं० ४७ एक जैन प्राकृत काव्य, जिसका नाम संभवत: 'हरिवंश-वंश' सदृश है। महाभारत की जैन आवृत्ति जिसमें नेमिनाथ जी तक कथा है। १५९ पत्र। ४४०४ श्लोक। असमाप्त। १७वीं श०। 'यया पुव्व-गंथाउ। परंपराएण अनुमयं तावं हरि-वंस-वंस-जाइ व। उप्पत्ती मिचि वुच्छामि।' (यह ग्रन्थ शायद दिगम्बरीय हो-देखना चाहिए।)

(२२) नं० ४८ कथामहोदधि—सं० प्रा०-सोमचंद्र कृत-३९ पत्र-१७वीं श०।

(२३) नं० ४६ भडली वाक्य—राजस्थानी व सं०—३२० श्लो०—भडली की उक्तियों का भट्टारक वर्द्धमान द्वारा निरूपण—२६ पत्र—सं० १८०१

(२४) नं० ५० सिंहासन-बत्तीसी-कथा-चोपाई-गुजराती-नेतसीकृत। ५३ पत्र। सं० १८२४

(२५) नं० ५२ कर्मविपाक प्राकृत-जगच्चंद्र के शिष्य देवेन्द्र कृत 'कर्मग्रंथों' की प्रथम पुस्तक। संस्कृत में 'सुबोधा' नामक स्वोपज्ञ टीका सहित। १८ पत्र। १६वीं श०।

(२६) नं० ५५ रत्नचूड रास—एक जैन कथा ३४३ छन्दों में प्राचीन गुजराती—१४ पत्र-सं० १६७८

(२७) नं० ६१ उत्तराध्ययनचूर्णि-ज्ञानसागर कृत संस्कृत टीका पत्र ३२ सं० ११०१

(२८) नं० ६२ स्थापनाङ्ग श्वे० आगम ग्रन्थ अभयदेववृत्ति सहित।

(२९) नं० ६५ शान्तिनाथ-देव-चरित सं०-अजितप्रभ कृत—१३७ पत्र—सं० १६६५

(३०) नं० ६६ दशवैकालिकचूर्णि—११ पत्र।

(३१) नं० ६८ विक्रम-खापरा-चोर-चरित्र-गुजराती-साधु हर्ष के शिष्य राजशील ने चित्रकोट में ज्येष्ठशुक्ल सं० १५५३ में रचा। पत्र ६। सं० १७२७

(३२) नं० ६९ इलाकुमार चौपाई—गुज०-ज्ञानसागर कृत-(सं० १७१९) पत्र ५—सं० १७२६

(३३) नं० ७० मदनकुमार रास—गुज०-जालोर में सं० १६०३ को दामोदर ने रचा—२२ पत्र-सं० १७५२

(३४) नं० ७१ बच्छराज-हंसराज-नी-चौपी-गुज०-जिनोदयकृत—पत्र १२-४८। सं० १८२२

(३५) नं० ७४ ज्ञाता धर्म-कथा-श्वे० आगम—१३४ पत्र—१५९५

(३६) नं० ८७ अभिधान चिंतामणि-सं०-हेमचन्द्र कृत वल्लभगणि की टीका सहित जिसे उन्होंने जोधपुर में रचा था। १०७ पत्र। १७वीं श०।

(३७) नं० ९४ अनेकार्थ संग्रह व अभिधान चिंतामणि-सं०-हेमचंद्र कृत- सं० १ ००

(३८) नं० १०० नेमिनाथ चरित्—हेमचन्द्र कृत त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष चरित्र का अष्टम पर्व। पत्र ८७। १७वीं श०।

(३९) नं० १०१ वृहत्-क्षेत्र-समास—प्रा० सं०-जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत—पत्र ३७८-८१९—सं० १३३२

(४०) नं० १०६ राजस्थानी भाषा में जैन कविताओं का संग्रह।

(४१) नं० १०७ में अजितप्रभ का अपूर्ण शांतिनाथ चरित एवं एक अन्य प्रा० सं० ग्रन्थ है जिसमें धार्मिक क्रियाओं और गणगच्छों का इतिहास है।

(४२) नं० १०८ उत्तराध्ययन—टीका, गयसुकुमालनी ढाल, जैन ट्रेक्ट और सूरि परिचयावली आदि है। १६वीं शं०।

(४३) नं० १०९ गजसिंह चरित्र आदि है। सं० १५५६।

(४४) नं० ११० उत्तराध्ययन, जगद्विलास, प्रवचनसारोद्धार आदि हैं।

(४५) नं० १४४ उपदेश रसायन—अपभ्रंश प्रा०—जिनदत्तकृत जिनपाल के संस्कृत 'संक्षेप विवरण' सहित। ६७ पत्र। स० १२९४।

(४६) नं० ११५ प्रदेशीराज रास—गु०-पत्र २७-सं० २७८६

४७) नं ११७ लघुक्षेत्र समास आदि सं० १८७२

(४८) नं० ११९ आसाढ़ कृत विवेक मंजरी—जैन प्रा० २९४ पत्र— सं० १३३६

(४९) नं० १३३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति. जीवाभिगम आदि (गु०; १७वीं० श० ।

(५०) नं० १३४ ऋषभ चरित्र—हिन्दी-दिनयर सागर ९१ पत्र – २८ वीं श०—

(५१) नं० २४० जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—प्रा०—सं० १६४२

(५२) नं० १४६विक्रम चरित्र—सं०—रामचंद्र सूरि—५७ पत्र १८७८ सं० ।

(५३) नं० १४७ भोज चरित सं०—राजवल्लभ पाठक कृत । पत्र ८७ । सं० १८७६

(५४) नं० शकुनावली विचार – राज० हिंदी-जिनवर कृत पत्र ४० सं० १८७५

खोज-बीन

(१)

संघो, संघवी, सिंघई, सिंगई

ये सब शब्द 'संघपति' के अपभ्रंश हैं। संघपति के प्राकृत रूप 'संघवइ' 'संघवइ' होते हैं। गुजरात काठियावाड़ में प्रचलित 'संघवी' शब्द इससे बिल्कुल नजदीक का है। यह 'संघवी' ही बुन्देलखंड आदि में 'सिंघई' या 'सिगई' हो गया है। राजपूताने का 'संघी' या 'सिंघी' पद भी इसी का रूप है।

प्राचीन काल में धनी-मानी लोग बड़े बड़े संघ तीर्थयात्रा के लिए निकालते थे जिनमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ होता था। उन दिनों यात्रा-कार्य बड़ा कठिन था। सब की जान-माल की रक्षा करना, यात्रा में किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे इसका प्रबन्ध करना, सारा खर्च उठाना, यह साधारण काम नहीं था। इसका भार जो कोई उठाता था, शायद वही संघपति कहलाता था।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में शत्रुंजय, गिरनार आदि के लिए संघ निकालने की परम्परा अनवच्छिन्नरूप से अबतक जारी रही है और अब तक इस तरह के संघ निकालनेवाले संघपति की पदवी से विभूषित किये जाते हैं, परन्तु दिगम्बर-सम्प्रदाय में बीच में यह परम्परा नष्ट-सी हो गई थी, उसके पहले के अवश्य ही बहुत से प्रमाण मिलते हैं। फिर भी इस पदवी का मोह नष्ट नहीं हुआ। इसलिये संघ निकालने के बदले जो लोग भगवान का गज-रथ निकालने लगे, उन्हें भी पीछे से यह पदवी दी जाने लगी। अब बुन्देलखंड और सी० पी० की परवार, गोलापूर्व, गोलालारे आदि जातियों के लोग गजरथ निकालकर ही 'सिंघई' या 'सिंगई' बन जाते हैं, संघ निकालने की बात को तो शायद वे भूल-से गये हैं।

खण्डेलवालों और दूसरी कुछ जातियों में भी 'संघी' पद है। परन्तु जान पड़ता है, वह पुराने संघपतियों के ही वंश में चला आया हुआ है, गजरथ चलाकर प्राप्त किया हुआ नहीं।

बड़े-बड़े नगरों में जहाँ जैनों का जनसंघ काफी होता था, वहाँ के सर्वप्रधान मुखिया को भी 'संघपति' कहा जाता था, ऐसा मालूम होता है।

प्राचीन शिलालेखों, प्रतिमालेखों और ग्रन्थ-प्रशस्तियों में संघपति का संक्षिप्तरूप 'सं०' लिखा मिलता है। शायद यह पद आगे के वंशधरों को भी परम्परा से मिलता था।

(२)

साधु और साहु

'साधु' शब्द का प्राकृत रूप 'साहु' होता है, और चूंकि 'साहु' लोकभाषा का एक प्रचलित पद (टाइटिल) था इसलिए जब संस्कृत के लेखकों को अपनी संस्कृत रचना में उसके निर्देश की आवश्यकता हुई, तब उन्होंने उसका संस्कृतरूप 'साधु' बना लिया और साहु की पत्नी 'साहुणी' को 'साध्वी'। परन्तु इन शब्दों से प्रायः भ्रम हो जाया करता है। आम तौर से साधु शब्द का उच्चारण करते ही हमारे सामने मुनि यति का भाव आ जाता है और साध्वी से आर्यिका या तपस्विनी का। परन्तु ग्रन्थ-प्रशस्तियों प्रतिमा-लेखों आदि में साधु शब्द साहूकार या धनी गृहस्थ के अर्थ में अधिकता से व्यवहार किया गया है और साध्वी उसकी पत्नी के लिए।

पं० आशाधर जी ने अपनी प्रशस्ति में एक जगह लिखा है—"मुग्धबुद्धिप्रबोधाय महीचन्द्रेण साधुना, धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता।" इसका अर्थ बड़े बड़े पंडित तक यही कर डालते हैं कि महीचन्द्र नामक साधु ने टीका बनवाई। परन्तु वास्तव में महीचन्द्र एक साहु या सेठ थे। यथार्थ में साहु या शाह शब्द फारसी भाषा का है जिसका अर्थ स्वामी, राजा, सज्जन, महाजन आदि होता है। मुसलमान-काल में यह शब्द लोकभाषा में प्रचलित हो गया था। संस्कृत में साधु शब्द भला, सज्जन आदि अर्थों में भी व्यवहृत होता है, इसलिए यद्यपि 'साहु' का 'साधु' रूप बहुत दूरवर्ती नहीं हो जाता है, फिर भी यह 'साहु' शब्द संस्कृत से आया हुआ नहीं मालूम होता।

(३)

पति-पत्नी के समान नाम

कथा-ग्रन्थों में अक्सर भविष्यदत्त सेठ भविष्यदत्ता सेठानी, सोमदत्त ब्राह्मण सोमश्री ब्राह्मणी, धनदत्त धनदत्ता यज्ञदत्त यज्ञदत्ता आदि पति-पत्नियों के एक से नाम मिलते हैं। इससे आजकल के पढ़नेवालों को यह खयाल हो जाता है कि ये सब कल्पित नाम हैं और यों ही गढ़ लिये गये हैं। यह हो सकता है कि बहुत-सी कथायें कल्पित हों, कथायें कल्पित बनाने के लिए कोई रुकावट भी नहीं है परन्तु केवल इस प्रकार के नामों से ही उन्हें कल्पित नहीं कहा जा सकता। जिस तरह आजकल पति के नाम के पूर्व 'मिसिस' या 'श्रीमती' जोड़ देने से उसकी पत्नी का बोध होता है, उसी तरह जान पड़ता है पूर्वकाल में यहाँ के भी बहुत से प्रान्तों में पति के नाम के आगे श्री, दे (देवी), ही (ह्री) जोड़ देने या लिंग-परिवर्तन कर देने से ही पत्नी का नाम हो जाता था। प्राचीन लेखों और ग्रन्थ प्रशस्तियों में से इस तरह के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे—

"संवत् १७९७ वर्षे श्रावणसुदि १४ शनिवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीमहेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये सवाई जयपुर मध्ये श्रीपार्श्वनाथ चैत्यालये बिलालागोत्रे साह श्रीहर (हीरा) राम तस्य भार्या हीरादे तयोः पुत्रः साहश्री सांवलदासजी तस्य भार्या सावलदे तयोःपुत्रौ द्वौ। प्रथम साह श्री नंगासुखजी तस्य भार्या नंगादे तयोः पुत्रौ द्वौ। चिरंजीवि हितराम जी द्वितीय भागचन्द्रः। सांवलदासस्य द्वितीय पुत्रः साहजी श्रीगोपीराम जी। तस्य भार्ये द्वे। एतेषां मध्ये साह जी श्रीगोपीरामजी इदं पुस्तकं षट्कर्मोपदेशरत्नमालानामकं आचार्य श्रीक्षेमकीर्तिजी तन्निज्ञाय्य पंडित गोवर्द्धनदासाय लिखापि (?) घटापितं ज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं। श्रीरस्तुकल्याणमस्तु। शुभं भवतु।"*

जयपुर के उक्त भंडार में ही पंडित जिनदास वैद्य का 'होलीरेणुका पर्वचरित्र' नाम का एक ग्रन्थ (गठरी ६, नं० १ पत्र ५६, श्लोक ८४३) है, जिसकी प्रशस्ति में जिनदास वैद्य की विस्तृत पूर्व कुलपरम्परा दी हुई है। उसमें बादशाह फीरोज़शाह, ग्यासुद्दीन और नादिरशाह बादशाहों के द्वारा सम्मानित पं० हरपति, पद्म और बिम्भ की प्रशंसा की गई है और फिर लिखा है कि बिम्भ के पुत्र धर्मदास वैद्यशिरोमणि थे। इन धर्मदास की पत्नी का नाम धर्मश्री था—'धर्मश्रीरिति नामतोऽस्य वनिता देवादिपूजारता।'

इन दोनों के रेखा नामक पुत्र हुए जिनका रणथंभोर में शेरशाह नरेन्द्र ने सम्मान किया। इनकी पत्नी का नाम रेखाश्री था—भार्यास्य सद्गुणोपेता नाम्ना रेखासिरि स्मृता।'

इन्हीं के पुत्र ग्रन्थकर्त्ता जिनदास हुए। वैद्य जिनदास की पत्नी का नाम भी दिया है परन्तु वह ठीक ठीक पढ़ा नहीं जाता।

करकंडुचरिउ (कारंजा सीरीज) की प्रति के अन्त में यह प्रशस्ति दी है—"संवत् १५९७ वर्षे......खंडेलवालान्वये गोधागोत्रे साहा नांदा (नयणा) तद्भार्या नयणाश्री तत्पुत्र साह मेहा तद्भार्ये द्वे प्रथमा मेहादे द्वितीया सुहागदे तत्पुत्रौ द्वौ प्रथम साह करमा........."

मुनि श्रीजिनविजयजीद्वारा सम्पादित, 'प्राचीन जैन-लेख-संग्रह' में पाली ग्राम का एक लेख (नं० ४३३) इस प्रकार का है—'सं० १५०७ वर्षे फा० व० ३ बुधे ओशवंशे वहरा हीरा भा० हीरादे पु० व० वेता भा० वेतलदे पु० व० हिमति पितृ श्रेयसे श्रीशान्तिनाथबिंबं कारितं श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरि श्रीजिनसागरसूरिभिः प्रतिष्ठिता।"

* भट्टारक सकलभूषण कृत इस ग्रन्थ की प्रति जयपुर के पाटोदी जी के मन्दिर में (गठरी न० ८, ग्रन्थ नं० ४, पत्र संख्या १३६, श्लोक संख्या ३५८०) है। स्व० पं० पन्नालाल जी वाकलीवाल जी ने जब वे जयपुर में थे, इस प्रशस्ति की नकल मेरे पास भेजी थी।

इस तरह के और भी अनेक उदाहरण ढूँढ़ कर दिये जा सकते हैं। यह पद्धति जान पड़ती है अब भी कहीं कहीं प्रचलित है। आठ नव वर्ष पहले घाटकोपर (बम्बई का उपनगर) में मैं जिन धनी सेठ के मकान में रहता था, वे दो भाई हैं, कच्छी हैं। उनमें एक भाई का नाम वेलजी और उनकी पत्नी का नाम वेलाबहू है। दूसरे भाई का नाम मैं भूल गया हूं, परन्तु उनकी पत्नी का नाम भी उनके नाम के साथ ही 'बहू' जोड़ कर रखा हुआ है।

करीब करीब सभी जगह स्त्री के दो नाम होते हैं एक पिता के घर का और दूसरा पति के घर का। पति के घर आने पर उसे नया नाम दिया जाता है। कोई नया नाम रखने की अपेक्षा पति के नाम के साथ ही श्री, देवी, ही, बहू आदि जोड़ कर नया नाम बना लेना अधिक सुभीते का है। परन्तु स्त्रियाँ अपने पति का नाम लेने में संकोच करती हैं और इस तरह उनके नाम में भी पति के नाम का उच्चारण हो जाता है, शायद इसी लिए इस पद्धति का विस्तार नहीं हुआ और यह बन्द हो गई।

(४)

साधुओं का बहुपत्नीत्व

हमारे भंडारों में जो हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, उनके अन्त में ग्रंथकर्त्ताओं की प्रशस्तियों के सिवाय ग्रन्थ लिखानेवालों और उन्हें 'ज्ञानावरणी-कर्मक्षयार्थं' दान करनेवालों की भी प्रशस्तियाँ रहती हैं। इनमें प्रायः उनके सारे कुटुम्ब के नाम रहते हैं। उनमें ऐसे बहुत से संघपति या साधु (साहु) मिलते हैं जिनके एकाधिक स्त्रियाँ होती थीं। उनकी प्रथमा, द्वितीया, तृतीया भार्याओं के नाम और उनके पुत्रों के नाम भी रहते हैं। इससे पता लगता है कि उस समय धनी प्रतिष्ठित कुलों में बहुपत्नीत्व का आम रिवाज था और वह शायद प्रतिष्ठा का ज्ञापक था। कम से कम अप्रतिष्ठा का कारण तो नहीं समझा जाता था। उदाहरण के लिए हम यहाँ पर केवल पं० राजमल्लजी की वि० सं० १६४१ में बनी हुई लाटी-संहिता की विस्तृत प्रशस्ति का कुछ अंश उद्धृत कर देना काफी समझते हैं—

तत्रत्य· श्रावको · रू भार्या तिस्रोऽस्य धार्मिकाः।
कुलशीलवयोरूपधर्मबुद्धिसमन्विताः ।।१०
नाम्ना तत्रादिमा मेघी द्वितीया नाम रूपिणी
रत्नगर्भा धरित्रीव तृतीया नाम देविला ।।११

अर्थात् भारू नाम श्रावक की मेघी, रूपिणी और देविला नाम की तीन स्त्रियाँ थीं। आगे चलकर भारू के नाती न्योता के विषय में लिखा है।

न्योतासंघाधिनाथस्य द्वे भार्ये शुद्धवंशजे ॥१५
आद्या नाम्ना हि पद्माही गौराही द्वितीया मता।

अर्थात् संघपति न्योता की पद्माही और गौराही नाम की दो स्त्रियाँ थीं। न्योता के पुत्र देईदास के भी दो भार्या थीं—एक रामूही और दूसरी कामूही—

भार्या देईदासस्य रामूही प्रथमा मता ॥१९
कामूही द्वितीया ज्ञेया भर्तृच्छन्दानुगामिनी।

इसी वंश में आगे संघपति भोल्हा की भी आज्ञाही, वाधूही आदि तीन और सं० कामगा की डूगरही और गंगा ये दो स्त्रियाँ बतलाई हैं।

ऐसा नहीं मालूम होता कि सन्तानादि न होने के कारण ये धनी लोग अनेक शादियाँ करते थे, क्योंकि प्रायः उन स्त्रियों के पुत्रों का भी उल्लेख है और उन्हें कुल, शील, रूप, धर्म बुद्धियुक्त और पतिच्छन्दानुगामिना भी बतलाया है। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि अनेक पत्नियाँ होना बड़े पुरुषों की शोभा थी और यह इतना रूढ़ था कि इसमें दोष की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।†

—नाथूराम प्रेमी

† यंत्रों की प्रशस्तियों में भी साहु (सेठ) लोगों की बहुपत्नियाँ प्रमाणित हैं, जैसे कि निम्न-लिखित उल्लेखों से स्पष्ट है:—

"अलीगंज यंत्र न० २—'……गोलाराडे खरौआवंशे साहु उदैराज तद्भार्या द्वि० निम्मा चन्द्रा………'

जसवंतनगर यंत्र नं० १०,—'सं० १६८४……गोलाराला खरवावंशे श्रो सा० उद्योत भार्या द्वयम् निमा, चन्द्रा तत्र निमा पुत्रास्तथा भ्राश्री नरी समोषण, चन्द्रा पुत्रम् त्रयः परसरमा श्रीपाल लखमीदास ……..।'

जसवंतनगर यंत्र न० १२—"सं० १६७० .. ..बुढ़ेले ज्ञातीये सेठिया गोत्रे……साहु तारण भार्या द्वयमरावदे कपूरा……।"

कुरावली प्रतिमा मं० १३ शान्तिनाथ—"सं० १५०१……पं० आचार्य श्री रैहधूनामधेय तदाम्नाये अग्रोत्कान्वये वासिलगोत्रे सा० थौधर भार्या द्वे……संघाधिपति गजे भार्या द्वे रावश्री गांगो………"

किन्हीं लोगों का यह अनुमान करना ठीक नहीं जँचता कि मृतपत्नियों की संतान जीवित रहने के कारण उनका उल्लेख किया गया है।

—का० प्र०

श्री महाधवल में क्या ?

[लेखक—प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एलएल. बी.]

१—महाबन्ध का परिचय

षट्खण्डागमका सामान्य परिचय उसके दो भागोंमें प्रकाशित भूमिकाओंमें विस्तारसे दिया जा चुका है। वहां हम बतला आये हैं कि धरसेनाचार्यसे आगमका उपदेश पाकर पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंने उसकी छह खंडों में ग्रन्थ रचना की। उन छह खंडों के नाम हैं—जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त विचय, वेदणा, वग्गणा और महाबंध इनमेंसे प्रथम पांच खंड उपलब्ध श्री धवलकी प्रतियोंमें पाये जाते हैं, और छठवें महाबंधके सम्बन्धमें यह सूचना पाई जाती है कि—

'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलिभडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि"।

(धवला, कारंजा प्रति, पत्र १२५९—६०)

अर्थात् "बंधविधान चार प्रकारका है—प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। इन चारों प्रकारके बंधोंका विधान भूतबलि भट्टारकने महाबंधमें सविस्तर रूप से लिखा है, इस कारण हम (वीरसेनाचार्य) ने उसे यहां नहीं लिखा। इस प्रकारसे समस्त महाबंधके यहां प्ररूपण हो जाने पर बंधविधान समाप्त होता है।"

श्री जयधवलान्तर्गत गुणधराचार्यकृत कषाय प्राभृतके ऊपर जो यतिवृषभाचार्यकृत चूर्णि-सूत्र पाये जाते हैं, उनमें भी महाबंधके विषयका संकेत है, और जयधवलाकारने वहां भी महाबंधका तथा उसके विषयका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

'सो पुण पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधो बहुसो परूविदो'। (चूर्णिसूत्र)

'सो उण गाहाए पुव्वद्धम्मि णिलीणो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसविसओ बंधो बहुसो गंथंतरेसु परूविदो त्ति तत्थेव वित्थरो दट्ठव्वो। ण एत्थ पुणो परूविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलंभादो। तदो महाबंधाणुसारेण पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधेसु विहासियसमत्तेसु तदो बंधो समत्तो होइ।

(जयधवला, अमरावती प्रति, पत्र ५४८)

अर्थात चूर्णिसूत्रकार कहते हैं—'उस प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधका

प्ररूपण विस्तारसे (अन्यत्र) किया जा चुका है'। इस पर जयधवलाकार टीका करते हुए कहते हैं—

"गाथाके पूर्वार्धमें सूचित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश विषयक बंध दूसरे ग्रन्थोंमें विस्तारसे प्ररूपित हो चुका है, अतएव उसका विस्तार उन्हीं ग्रन्थोंमें देख लेना चाहिए। यहां उसके पुनः प्ररूपण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो विषय एक जगह प्रकाशित हो चुका है, उसके पुनः प्रकाशनसे कोई विशेष लाभ नहीं पाया जाता। अतः महाबंधके अनुसारही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप बंधोंके समझ लेने पर बंधका प्रकरण समाप्त हो जाता है"।

इन उल्लेखोंसे सुस्पष्ट है कि महाबंध स्वयं भूतबलि आचार्यका रचा हुआ ग्रन्थ है, उसमें बंध विधानके चार प्रकार—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका खूब विस्तारसे वर्णन किया गया है, और यह वर्णन इतना विशद और सर्वमान्य हुआ कि यतिवृषभ और वीरसेन जैसे आचार्योंने अपनी अपनी ग्रन्थ-रचना में उसकी सूचनामात्र दे देना पर्याप्त समझा। उस विषय पर और कुछ विशेष कहनेकी उन्हें गुंजायश ही नहीं दिखी।

२—महाबंध, महाधवल व सत्तकम्म और उसकी पंजिका

इस महाबंधकी अभीतक कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई। किन्तु हम सब यह आशा करते रहे हैं कि मूडबिद्रीके सिद्धान्तभवनमें जो महाधवल नामकी कनड़ी प्रति ताड़पत्रों पर सुरक्षित है, वही भूतबलिकृत महाबंध ग्रन्थ है। इस आशाका आधार केवल हमारा अनुमान ही है; क्योंकि अभीतक न तो कोई परीक्षक विद्वान उस प्रतिका अच्छी तरह अवलोकन कर पाया; और न किसीने उसके कोई विस्तृत अवतरण आदि देकर उसका सुपरिचय ही कराया। उस प्रतिका जो कुछ थोड़ासा परिचय अभीतक उपलब्ध हुआ है, वह मूडबिद्रीके पं० लोकनाथ जी शास्त्रीकी कृपासे उनके वीरवाणीविलास जैन सिद्धान्त भवनकी प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) के भीतर पाया जाता है। उस परिचयके सूक्ष्म अवलोकनसे मुझे अब यह भय होने लगा है कि कदाचित् महाधवलकी प्रतिके सम्बन्धमें हमारी उपर्युक्त आशा निर्मूल सिद्ध हो? पं० लोकनाथ जी के दिये हुये अवतरणों परसे तो ज्ञात होता है कि महाधवलकी प्रतिके अन्तर्गत कोई स्वतन्त्र मौलिक रचना ही नहीं है। उस ग्रन्थके आदिकी जो एक पंक्ति दी गई है वह इस प्रकार है—

'वोच्छामि सत्तकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं'

इसका अर्थ हुआ 'मैं सत्तकम्म पर पंचिकारूपसे सुमहार्थ विवरण कहता हूं'। इससे जाना जाता है कि रचयिताकी प्रतिज्ञा किसी **सत्तकम्म** नामक ग्रन्थ पर पंचिका या पंजिकारूप

सुविस्तृत विवरण लिखनेकी है; किसी मौलिक ग्रन्थकी रचना करनेकी नहीं। इस परसे यह आशा हो सकती है कि भूतबलिकृत महाबंधका ही दूसरा नाम सत्तकम्म हो, और प्रस्तुत प्रतिमें वही महाबंध किसी अज्ञात आचार्य द्वारा रचित पंजिका सहित सुरक्षित हो। धवलाके प्रथम भागकी भूमिका लिखते समय मुझे यही आशा हुईथी, और उसके आधार भी अनेक थे। धवल ग्रन्थमें 'संतकम्मपाहुड' और 'कसायपाहुड' के अनेक उल्लेख साथ साथ इस प्रकार आये हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि वहां 'संतकम्म'से लेखकका अभिप्राय पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा उद्धृत समस्त महाकम्मपयडिपाहुडसे है। उदाहरणार्थ, धवला भाग १ पृ० २१७ पर पाया जाता है—

'एसो सन्तकम्मपाहुड-उवएसो। कसायपाहुड-उवएसो पुण··· 'इत्यादि।

आगे पृ० २२१ पर पुनः आया है—

'आइरियकहियाणं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कधं सुत्तत्तणमिदि चे ण,··· 'इत्यादि।

जयधवलामें एक स्थानपर स्पष्ट ही कहा गया है कि संतकम्म महाधिकारमें कृति वेदनादि चौबीसों अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध हैं। यथा—

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्दारेसु पडिबद्धेसु ·····इत्यादि।
(जयधवला, अमरावती प्रति, पत्र ५१२)

विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें समस्त धवला टीकाको ही सत्कर्म नाम दिया है। यथा—

'प्राकृत-संस्कृतभाषया सत्कर्मनामटीकां द्वासप्ततिसहस्रप्रमितां धवलानामांकितां लिखाप्य ·····' इत्यादि।

इन उल्लेखों परसे यह जाना जा सकता है कि महाकम्मपयडि पाहुड का ही दूसरा नाम संतकम्मपाहुड है और चूंकि यह समस्त ग्रन्थ या उसका बहुभाग धवलाके अन्तर्गत हैं, अतएव समस्त धवलाको भी सत्कर्म संज्ञा देना निरर्थक नहीं कहा जा सकता। वीरसेन स्वामीने एक स्थान पर यह भी बतला दिया है कि किसी ग्रन्थके एक भागको भी पूरे ग्रन्थके नामसे उल्लिखित करनेमें कोई दोष नहीं है। वेदना खंड के आदिमें प्रसंगानुसार प्रश्न उठाया गया है कि 'वेदना खंड आदि एक एक खंडको महाकर्मप्रकृतिपाहुड कैसे कहा जा सकता है'? इसका आचार्यने उत्तर दिया है कि "चौबीस अनुयोगद्वारोंसे एकान्ततः पृथग्भूत तो महाकर्म-प्रकृति पाहुडत्वका सद्भाव है नहीं, अतः एक एक अनुयोगद्वारको भी महाकर्म प्रकृति पाहुड कहनेमें कोई दोष नहीं'। फिर प्रश्न उठता है कि 'इस तरहसे इन सब अनुयोगद्वारोंमें कर्मप्रकृतिपाहुडत्व मान लेनेसे तो बहुतसे उसी नामके पाहुड माने जानेका प्रसंग आ जायगा?' इसका आचार्य उत्तर देते हैं—'इसमें भी कोई दोष नहीं, यह तो किसी प्रकारसे इष्ट ही है।"

'कथं वेयणा खंडादि खंडगयस्स महाकम्मपयडिपाहुडत्तं ? ण, कदियादि-चउवीस-अणियोगद्दारेहितो पयंतेण पुधभूद-महाकम्मपयडिपाहुडाभावादो। पदेसिमणियोगद्दाराणं कम्मपयडिपाहुडत्ते संते पाहुडबहुत्तं पसज्जदे ? ण एस दोसो, कथंचि इच्छिज्जमाणत्तादो।'

इसके अनुसार हमने समझ लिया था, कि पंजिकाकारने सम्भव है संतकम्मपाहुडके एकदेश विषयका प्ररूपण करने वाले महाबंधको ही 'सत्तकम्म' कहा हो। और इसी ओर हमारा झुकाव इस कारण और भी हो गया, क्योंकि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें तुम्बुलूराचार्य द्वारा दोनों सिद्धान्तोंपर कनड़ीमें चूड़ामणि नामकी बड़ी भारी टीकाके अतिरिक्त छठे खण्ड पर लिखी गई पंजिकाका भी उल्लेख किया गया है। यथा—

अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे।
षष्ठेन विना खंडेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ॥१६५॥
चतुरधिकाशीति सहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम्।
कर्णाटभाषयाकृत महतीं चूडामणिं व्याख्याम् ॥१६६॥
सप्तसहस्रग्रन्थां षष्ठस्य च पंचिकां पुनरकार्षीत्।

इन्हीं आधारों परसे उक्त ग्रन्थकी भूमिका में मैंने उस समय लिखा था कि "महाधवलका जो परिचय धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंके प्रशस्तिसंग्रहमें दिया गया है, उसमें पंचिका रूप विवरणका उल्लेख पाया जाता है। जान पड़ता है कि यही तुम्बुलूराचार्यकृत षष्ठ खण्डकी वह पंचिका है, जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि चूड़ामणि व्याख्याकी भाषा कनड़ी थी, किन्तु इस पंचिकाको उन्होंने प्राकृतमें रचा था।"
(देखो धवला, भाग १, भूमिका पृ० ४५)

आगे चलकर मैंने फिर कहा है "जान पड़ता है महाधवलका मूल ग्रन्थ संतकम्म (सत्कर्म) नामका है और उसमें महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे वेदना और वर्गणा खण्डमें वर्णित प्रथम छहको छोड़कर शेष निबन्धनादि अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण है। महाधवल या सत्कर्मकी उक्त पंचिका कबकी और किसकी है ? सम्भवतः यह वही पंचिका है, जिसको इन्द्रनन्दिने समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बुलूराचार्य द्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचित कहा है।" (धवला, भाग १, भूमिका पृ० ६९)

किन्तु अभी अभी स्वयं श्री धवलमें ही हमें एक ऐसा उल्लेख मिल गया है, जिसमें महाबंधको संतकम्म पाहुडसे पृथक् निर्दिष्ट किया है। उपक्रम अनुयोगद्वारमें एक स्थान पर कहा है कि—

'एत्थ एदेसिं चदुण्हमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं, तहा परूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविदं, तहा परूवणा एत्थ किं ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयबंधम्मि चेव वावारादो।' (धवला, कारंजा प्रति, पत्र १२६८)

यहां शंकाकारके मुखसे यह कहलाया गया है कि 'इस विषय पर इन चारों उपक्रमोंका जैसा प्ररूपण 'संतकम्मपयडिपाहुड' में किया गया है, वैसाही क्यों करना चाहिए; जैसा महाबंध में प्ररूपण है, वैसा क्यों न किया जाय ?, इत्यादि।

इस परसे स्पष्ट है कि यद्यपि महाकर्मप्रकृतिपाहुडकी अपेक्षासे महाबंध भी उस प्राभृतका एक अंग है, तथापि अपनी रचना की दृष्टिसे वह संतकम्मपाहुडसे पृथग्भूत गिना जाता था। अतएव संतकम्म या सत्तकम्मसे महाबन्धका तात्पर्य सामान्यतः नहीं लिया जा सकता।

पं० लोकनाथजीके दिये हुए अवतरणोंका सूक्ष्म विश्लेषण करनेसे यह और भी सुदृढ़ हो जाता है कि पंजिकाकारका अभिप्राय यहां 'सत्तकम्म' से महाबंधका बिलकुल नहीं है; किन्तु किसी अन्य ही रचनासे है। पंडितजीका दूसरा अवतरण इस प्रकार है—

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि-वेदणाओ (दि) चौवीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि-वेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास (कम्मपयडि-बंधणेसु) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि, पुणो बंधविधाणणामणियोगो खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसट्ठार-साणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगंभीरत्तादो अत्थ-विसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो।'

इस अवतरणमें 'वेदणाओ' के स्थान पर कोष्ठक में सूचित वेदणादि' की कल्पना मेरी है, और आगे पाससे आगे छूटे हुए स्थान पर 'कम्म-पयडि-बंधणेसु' पाठका अनुमान भी मेरा है। शेष अवतरण कुछ विरामादि चिन्होंको छोड़कर पं० लोकनाथजी द्वारा उद्धृतरूपमें ही है। इसका अर्थ मैं इस प्रकार करता हूं—

'महाकर्म प्रकृति पाहुडके कृति, वेदना आदि चौवीस अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे कृति और वेदना, ये दो अनुयोगद्वार वेदनाखंडमें; फिर स्पर्श, कर्म प्रकृति और बंधन इन चार अनुयोगद्वारोंमेंसे बंधनके बंध और बंधनीय नामक अनुयोगों सहित तीन अनुयोग वर्गणाखंडमें, और बंधका बंध विधान नामका अनुयोगद्वार खुद्दाबंध खंडमें (?) विस्तारसे प्ररूपित किये जा चुके हैं। इन छहों अनुयोगद्वारोंसे शेष अठारह अनुयोगद्वार 'सत्तकम्म' में सब प्ररूपित किये गये हैं। तो भी उनके अति गंभीर होनेके कारण उनके विषम पदोंका अर्थ स्थूल उद्धरणों द्वारा पंजिका रूपसे कहते हैं।"

इस अवतरणमें अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनायें पाई जाती हैं। प्रथम तो महाकर्मप्रकृति-पाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारों का जो खंडरचनामें समावेश बतलाया है, वह बहुत उपयोगी है। उससे स्पष्ट जाना जाता है कि कृति और वेदनाका अन्तर्भाव वेदनाखंडमें, तथा स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधनके प्रथम दो विभाग-बंध और बंधनीयका अन्तर्भाव वर्गणा खण्डमें हो

जाता है। बंधनके बंधविधान नामकभेदका जो खुद्दाबंधमें प्ररूपण कहा गया है, वह शंकनीय है, क्योंकि ऊपर जो महाबंधसे सम्बन्ध रखने वाले दो अवतरण धवला और जयधवलाके दिये जा चुके हैं, उनसे स्पष्ट है कि बंधविधानका सविस्तर वर्णन महाबंध में किया गया है, खुद्दाबंधमें नहीं। यथार्थतः खुद्दाबंधमें तो बन्धनके अन्य एक भेद बंधक अर्थात् बंध करने वाले जीवका, कर्मबंधके भेदोंके आश्रयसे वर्णन पाया जाता है, और उसके स्वामित्व, काल, अन्तर, भंगविचय आदि ग्यारह अधिकार हैं। तथा वह खण्ड, जीवट्ठाण व बंधसामित्तविचयके समान, उक्त अनुयोगद्वारोंके क्रमवार प्ररूपणमें पृथक् रचा गया है। खुद्दाबन्धके आदिमें स्पष्ट कहा गया है कि—

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि-वेदणादिसु चदुवीस-अणियोगद्दारेसु छट्ठस्स बंधणे त्ति अणियोगद्दारस्स बंधो, बंधगा, बंधणिज्जं, बंधविधाणमिदि चत्तारि अधियारा। तेसु बंधगेत्ति विदिओ अधियारो, सो पदेण वण्णेण सूचिदो। जे ते महाकम्मपयडिपाहुडम्मि बंधगा णिद्दिट्ठा, तेसिमिमो णिद्देसो त्ति वुत्तं होदि।'

(धवला, अमरावती प्रति, पत्र ४७५)

जान पड़ता है कि यहां प्रतिमें ही या उसके अवतरण लेनेमें महाबन्धकी जगह खुद्दाबन्ध लिखा गया है। महाधवलमें नकल करने वालेने जान बूझकर भी महाबन्धकी जगह खुद्दाबन्ध लिखा हो, तो आश्चर्य नहीं: क्योंकि वह भी प्रस्तुत ग्रन्थको महाबन्ध ही समझ रहा हो, अतएव महाबन्धका प्ररूपण पहले हो चुका, यह बात उसे इष्ट प्रतीत नहीं हुई।

दूसरी बात जो इस अवतरणमें ज्ञात हो जाती है, वह यह है कि महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम छह अनुयोगद्वारोंको छोड़कर शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण करने वाले ग्रन्थका नाम 'सत्तकम्म' है और उसी 'सत्तकम्म' की प्रस्तुत ग्रन्थमें पंचिका रची गई है।

महाकर्मप्रकृतिपाहुडके अन्तिम अठारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें धवलामें यह सूचना पाई जाती है—

'भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं, तेणेदेण सुत्तेण सूचिद-सेस-अट्ठारस-अणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो।'

अर्थात् भूतबलिभट्टारकने यह सूत्र देशामर्षकभावसे (एक देश सूचना द्वारा समस्त विषयकी सूचनारूपसे) लिखा है। अतएव इस सूत्र द्वारा सूचित शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका कुछ संक्षेपसे हम (वीरसेनस्वामी) प्ररूपण करते है।'

इससे हमें ज्ञात हुआ कि बंधनके आगेके अठारह अनुयोगद्वार स्वयं धवलाकार वीरसेन स्वामी द्वारा प्ररूपित हैं। सूत्रकार भूतबलि आचार्यने उनका प्ररूपण नहीं किया। वीरसेन

स्वामीने इस अपनी रचनाको मूलसूत्रकारोंकी रचनासे पृथक् निर्देश करनेके लिये उक्त सूचनाके अतिरिक्त एक और सावधानी की है। और वह यह है कि धवलाके इस विभागको उन्होंने चूलिका कहा है। यथा—

'एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम'।

वीरसेनकी इस चूलिकारूप रचनाका नाम सत्कर्म अन्यत्र भी पाया जाता है। सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी रचनादिका विशद इतिहास प्रस्तुत करनेवाले इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें कहा है—

काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥१७७॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितम-निबंधनाद्यधिकारानष्ट दश च लिलेख ॥१७८॥
आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्।
वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृत-जिनगृहे स्थित्वा ॥१७९॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट् खंडतस्ततस्तस्मिन्।
उपरितम-निबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥१८०॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खंडं विधाय संक्षिप्य।
इति षण्णां खंडानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥१८१॥
प्राकृत-संस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्। इत्यादि।

अर्थात् "कुन्दकुन्दाचार्यसे लगाकर बप्पदेव तक सिद्धान्तग्रन्थोंकी अनेक टीकायें लिखी जानेके पश्चात् कितने ही काल जाने पर चित्रकूटपुर निवासी श्रीमान् एलाचार्य सिद्धान्ततत्त्वज्ञ हुये। उनके समीप समस्त सिद्धान्तका अध्ययन करके वीरसेन गुरुने ऊपरके आठ अधिकार लिखे। फिर चित्रकूटसे आकर भगवान् वीरसेनगुरुने वाटग्रामके आनतेन्द्र द्वारा निर्मापित जिनालयमें निवास किया। और वहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति ग्रन्थको भी पाकर उन्होंने ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकारोंकी रचना पूरी की। इस प्रकार उन्होने संक्षेपमें 'सत्कर्म' नामक छठे खंडकी रचना की; और इन छहों खण्डोंकी उनकी संस्कृत-प्राकृतमिश्रित धवला टीका बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण तैयार हो गई।"

यहाँ इन्द्रनन्दिने वीरसेनाचार्य द्वारा रचित शेष या उपरितम अठारह अधिकारों या अनुयोगद्वारोंको ही 'सत्कर्म' नाम दिया है। अतः अनुमान होता है कि महाधवल कहलानेवाली प्रतिमें जो शेष अठारह अनुयोग द्वारोंके प्ररूपण करनेवाले 'सत्तकम्म' की पंजिका सुरक्षित है, वह वीरसेन स्वामीकी इसी रचना पर पीछेके किसी आचार्य द्वारा रची गई पंजिका हो।

इस अनुमानको जाँचके लिए पं० लोकनाथजी द्वारा दिये गये नीमरे अवतरणको देखिए। ग्रन्थके विषयका प्रारंभ इस प्रकार किया गया है—

'तं जहा—तत्थ पढमाणियोगद्दारस्स णिबंधणपरूवणा सुगमा। णवरि तस्स णिक्खेवो छव्विहसरूवेण परूविदो, तत्थ तदियस्स दव्वणिक्खेवस्स सरूवपरूवणट्ठं आइरियो एवमाह—

तं जहा—तत्र ताव जीवदव्वस्स पोग्गलदव्वमवलंबिय पज्जाएसु परिणमण-वहाणं उच्चदे। जीवदव्वं दुविहं, संसारिजीवो मुक्कजीवो चेदि। तत्थ मिच्छत्तासंजमकसाय-जोगेहि परिणदसंसारिजीवो जीव-भव-खेत्त-पोग्गलविवाइसरूवकम्मपोग्गले बंधिऊण पच्छा तेहिंतो पुव्वुत्तछव्विहफलसरूवपज्जायमणेयभेयभिण्णं संसरंतो जीवो परिणमदि त्ति। एदेसिं पज्जायाणं परिणमणं पोग्गलणिबंधणं होदि। पुणो मुक्कजीवस्स एवंविधणिबंधणं णत्थि, किंतु सत्थाणेण पज्जायंतरं गच्छदि। पुणो

'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबंधो इदि।'

एदस्सत्थो—एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदंसणाणि। पुणो दुविह-जीवाणं णाण-सहायविवक्खिदजीवेहिंतो वदिरित्त-जीवपोग्गलादिसव्वदव्वाणं परिच्छेदणसहावेण पज्जा-यंतरगमणणिबंधणं होदि। एवं दंसणं पि वत्तव्वं।

इस अवतरणसे परमें सुस्पष्ट है कि ग्रन्थकी रचना टीका-टिप्पणरूप ही है, स्वतन्त्र रचनारूप नहीं। दूसरी यह बात भी स्पष्ट है कि रचना निबंधन अधिकारके विषयको लेकर प्रारम्भ होती है। उसमें महाबंधको अन्तर्भूत करनेवाले छठे बन्धन अधिकारका स्पर्शमात्र भी नहीं है। पंजिकाकार कह भी चुके हैं कि उस विषयका खूब प्ररूपण अन्यत्र हो चुका है; फिर पंजिकाकार कहते है कि वहाँ पर अर्थात् उनके आधारभूत ग्रन्थके अठारह अधिकारोंमेंसे प्रथमानुयोग निबंधनकी प्ररूपणा सुगम है। विशेष केवल इतना है कि उस निबंधनका निक्षेप छह प्रकारसे बतलाया गया है। उनमें तृतीय अर्थात् द्रव्यनिक्षेपके स्वरूपकी प्ररूपणामें आचार्य इस प्रकार कहते हैं, जिसका खुलासा यह है कि यहां पर पुद्गलद्रव्यके अवलंबनसे जीवद्रव्यका पर्यायोंमें परिणमन विधानका कथन किया जाता है। जीवद्रव्य दो प्रकारका है संसारी और मुक्त। इनमें मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगसे परिणत जीव संसारी है। वह जीवविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और पुद्गलविपाकी कर्मपुद्गलोंको बांधकर अनन्तर उनके निमित्तसे पूर्वोक्त छह प्रकारके फलरूप अनेक प्रकारकी पर्यायोंमें संसरण करता है, अर्थात् फिरता है। इन पर्यायोंका परिणमन पुद्गल निबंधन होता है। पुनः मुक्तजीवके इस प्रकार का परिणमन नहीं पाया जाता है किन्तु वह अपने स्वभावसे ही पर्यायान्तरको प्राप्त होता है। ऐसी स्थितिमें—'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो' अर्थात् जिस द्रव्यका स्वभाव द्रव्यान्तरसे प्रतिबद्ध है, यह वाक्य आचार्य द्वारा कहा गया है। इत्यादि।

इस प्रकरणके मिलानके लिए हमने वीरसेन स्वामीके धवलान्तर्गत निबन्धन अधिकारको निकाला। वहाँ आदिमें ही निबंधनके छह निक्षेपोंका कथन विद्यमान है और उनमें तृतीय द्रव्यनिक्षेपका कथन शब्दशः ठीक वही है, जो पंजिकाकारने अपने अर्थ देनेसे ऊपरकी पंक्तिमें उद्धृत किया है और उसीका उन्होंने अर्थ कहा है। यथा—

"णिबंधणे त्ति अणियोगद्दारे णिबंधणं ताव अपयद-णिबंधण-णिराकरणट्ठं णिक्खिवियव्वं। तं जहा—णामणिबंधणं, ठवणणिबंधणं, दव्वणिबंधणं, खेत्तणिबंधणं, कालणिबंधणं भावणिबंधणं चेदि छव्विहं णिबंधणं होदि।

इसके पश्चात् नाम और स्थापना निबंधनका स्वरूप बतलाया गया है और उसके पश्चात् द्रव्य निबंधनका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

"जं दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि जस्स वा सद्दस्स (दव्वस्स) सहावो दव्वंतर-पडिबद्धो तं दव्वणिबंधणं"।

(धवला, कारंजा प्रति, पत्र १२६०)

प्रतिमें 'सद्दस्स' पद अशुद्ध है, वहां 'दव्वस्स' ही होना चाहिये। इस लक्षणमें वाक्यके ये शब्द 'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो' ठीक वे ही हैं जो पंजिका में भी उद्धृत किये गये हैं और इन्हीं शब्दोंका पंजिकाकारने 'एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदंसणाणि' आदि वाक्योंमें अर्थ किया है। यथार्थतः जितना वाक्यांश पंजिकामें पाया जाता है उतने परसे उसका अर्थ व्यवस्थित करना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु धवलाके उक्त पूरे वाक्यको देखनेमात्रसे उसका रहस्य एकदम खुल जाता है।

इसपरसे पंजिकाकारकी शैली यह जान पड़ती है कि आधार ग्रन्थके सुगम प्रकरणको तो उसके अस्तित्वकी सूचनामात्र देकर छोड़ देना, और केवल कठिन स्थलोंका अभिप्राय अपने शब्दोंमें भूमिकारूपसे समझाकर उसी सिलसिलेमें मूलके विवक्षित पदोंको लेकर उनका अर्थ कर देना। इस परसे पंजिकाकारकी उस प्रतिज्ञाका भी स्पष्टीकरण हो जाता है जहाँ उन्होंने कहा है कि "तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो" अर्थात् 'उन अठारह अनुयोगद्वारोंका विषय बहुत गहन है, अतएव हम उनके अर्थकी दृष्टिसे विषमपदोंका व्याख्यान करते हैं। और ऐसा करने में मूलके केवल थोड़ेसे स्थूल उद्धरण लेंगे, यही पंजिकाका स्वरूप है। मूलग्रन्थके वाक्योंको अपनी वाक्य रचनामें लेकर अर्थ करते जाना अन्य टीका ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, विद्यानन्दिकृत अष्टसहस्रीमें अकलंकदेवकी पूरी अष्टशती इसी प्रकार गुंथी हुई है। पंजिकाकी यह विशेषता है कि उसमें पूरे मूलग्रन्थका समावेश नहीं किया जाता; केवल विषमपदोंको लेकर समझाया जाता है।

बस, यहीं हमारा महाधवलकी प्रतिका परिज्ञान समाप्त हो जाता है, क्योंकि इसके आगेका कोई अवतरण पं० लोकनाथजी शास्त्रीने उद्धृत नहीं किया। यदि और कोई अवतरण हमारे सम्मुख होते तो उनपर से विषयकी और भी अधिक जाँच की जाती। प्रतिके अन्तमें ग्रन्थके मूलभागका भी कोई अवतरण शास्त्रीजीने नहीं दिया, केवल यह सूचना की है कि "ग्रन्थके अन्तमें कर्ताके नाम प्रशस्ति आदि कुछ भी नहीं है। अन्तमें दो चार कर्णाटक भाषाके श्लोक हैं जो कि माघनन्द्याचार्यके विषयमें प्रशंसात्मक पद्य हैं, तथा अन्तके श्लोकमें लिखा है कि रूपवतासेनकी पत्नीने पंचमी व्रतविधान करके उद्यापनाके समय इस महाधवल सिद्धान्त ग्रन्थको लिखवाकर श्रीमाघनन्द्याचार्यको शास्त्रदान किया।" ये कनड़ीके पद्य शास्त्रीजीने उद्धृत भी किये हैं। किन्तु उनपरसे मूल ग्रन्थके विषयमें कोई प्रकाश नहीं पड़ता और न प्रति लिखनेका समय ही ज्ञात होता। तथापि उस प्रशस्तिमें भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि ग्रन्थका नाम महाधवल व अन्य कुछ भी उन पद्योंमें नहीं पाया जाता।

३—क्या महाधवल कहलाने वाली प्रति में महाबंध होने की संभावना है ?

पं० लोकनाथजी के अवतरणों परसे महाधवलकी प्रतिके ग्रन्थभागकी अन्तिम सीमाका हमें कुछ भी परिचय प्राप्त न हो सका। अतएव इस विषयमें अन्तिम आशा यह हो सकती है कि उक्त प्रतिके प्रारम्भमें वीरसेनकृत अठारह अनुयोगद्वारोंकी पंजिका हो और तत्पश्चात् उसमें महाबंधकी रचना भी हो। किन्तु ग्रन्थके परिमाणको देखनेपर यह आशा भी निराशामें परिणत होने लगती है। पं० लोकनाथजी शास्त्रीने उक्त महाधवलकी श्लोक-संख्या चालीस हजार अंकित की है। परंतु इसका निर्णय उन्होंने प्रतिको देखकर किया नहीं प्रतीत होता, किन्तु ब्रह्म हेमचन्द्र विरचित श्रुतस्कंधकी एक गाथाके आधारसे किया है जिसे उन्होंने स्वयं भी उद्धृत कर दिया है। वह गाथा है—

'सत्तरी सहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहस बोधव्वो।
महबंधो चालीसं सिद्धन्ततयं अहं वंदे॥८८॥

इस गाथाके अनुसार ही उन्होंने धवलाकी श्लोकसंख्या सत्तर हजार, जयधवलाकी साठ हजार और महाधवलकी चालीस हजार दी है। यद्यपि पंडितजीने उक्त रिपोर्टमें ताड़पत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई नहीं दी, तथापि उन प्रतियोंका जो परिचय पंडितजीने हमें भेजनेकी कृपा की है उसमें उन्होंने तीनों प्रतियोंके ताड़पत्रोंकी लम्बाई लगभग सवा दो फुट और चौड़ाई तीन इञ्च लिखी है। लिखाई भी तीनों प्रतियोंकी प्रायः एकसी अनुमान की जा सकती है। धवलाकी सत्तर हजार श्लोक संख्या ५९२ ताड़पत्रोंमें समाप्त हुई कही गई है, जिसके

अनुसार प्रत्येक पत्रपर औसत ११८ श्लोक प्रमाण आती है। उसी प्रकार जयधवलाकी साठ हजार श्लोकसंख्या ५१८ पत्रोंमें समाप्त होनेसे प्रतिपत्र ११६ की औसत आती हैं। अतः धवला और जयधवलाकी पत्रसंख्या उनके परिमाणके अनुसार प्रायः समान है। किन्तु महाधवलके ताड़पत्रोंकी संख्या केवल दो सौ कही गई है। यदि प्रत्येक पत्र पर हम धवला प्रतिके ११८ श्लोकोंकी औसत ले लें तो इन दो सौ पत्रोंका ग्रन्थ प्रमाण केवल तेईस हजार छह सौ अर्थात् चौबीस हजार के भीतर आता है, चालीस हजार नहीं। यदि चालीस हजारकी पूर्ति उन दो सौ पत्रोंमें मानलें तो प्रत्येक पत्रमें श्लोक संख्या दो सौ माननी पड़ेगी जो धवला और जयधवलाको औसतसे प्रायः दूनी पड़ जाती है और असाधारण जँचती है इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें महाबंधकी श्लोक-संख्या केवल तीस हजार प्रकट की है। यथा—

प्रविरच्य महाबंधाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम् ॥१३९॥
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।

किन्तु इस तीस हजारको भी दो सौ पत्रोंमें समाविष्ट करनेके लिये प्रतिपत्र एक सौ पचास श्लोक-संख्या मानना पड़ेगी जो धवला जयधवलाकी औसतसे फिर भी प्रायः डेढ़गुनी बढ़ जाती है। ऐसी अवस्थामें महाधवल कहलानेवाली प्रतिके भीतर पूरे महाबंधकी ही गुंजायश नहीं बैठती। फिर उसमें अनुयोगद्वारोंकी 'सुमहार्थ विवरण' रूप पंजिका और महाबंध, दोनों रचनाओंके समाविष्ट होनेकी आशा करना तो बिलकुल ही अयुक्तिक ठहरता है। यथार्थतः तो वह दो सौ पत्रोंका कुल ग्रन्थ तेईस या चौबीस हजार श्लोक-प्रमाण सिद्ध होता है, जो उक्त सत्कम पंजिकाका ही परिमाण अनुमान किया जा सकता है।

यही आशंका मुझे धवलाके द्वितीय भागकी प्रस्तावना लिखते समय उत्पन्न हुई थी, किन्तु उस समय उसका आवरण करके प्रस्तावनाके पृष्ठ ३२ पर मैंने केवल इतना संकेत कर दिया था कि "प्राप्त अवतरण परसे महाधवलकी प्रति व उसके विषय आदिके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और प्रतिकी परीक्षा करनेकी बड़ी अभिलाषा उत्पन्न होती हैं"। इत्यादि।

इस निराशाके अंधकारमें आशारूपी प्रकाशकी एक चिनगारी मुझे एक जनःश्रुति परसे आती है। कुछ वयोवृद्ध लोगोंसे ऐसा भी सुना गया है कि मूडबिद्रीमें सिद्धान्तग्रन्थोंकी प्रतियां तीन नहीं, चार हैं, जिनके नाम धवल, जयधवल, महाधवल और विजयधवल कहे जाते हैं। यदि इस किंवदन्तीमें कुछ तथ्यांश हो तो उस चौथी प्रतिमें महाबंधके होनेकी आशाकी जा सकती है।

लेखका सारांश

इस लेखका सारांश यह है कि श्रीषट्खंडागमके पांच खंड श्रीधवलमें ग्रथित हैं और छठा खण्ड महाबन्ध स्वयं भूतबलि आचार्य द्वारा विस्तारसे रचित स्वतंत्र प्रस्तकारूढ (?) कहा गया है। अब तक हम सबकी यह आशा रही है कि मूडबिद्रीके सिद्धान्तभवनमें जो महाधवलकी प्रति सुरक्षित है, उसीमें महाबंध खण्ड विद्यमान है। किन्तु उस महाधवलका प्रतिका जो कुछ परिचय अब तक बाहर आया है उसपरसे आशंका होती है कि सम्भवतः उसमें महाबंध खण्ड न होकर केवल वीरसेनाचार्य द्वारा धवला में रचित शेष अठारह अनुयोगद्वारोंकी एक पंजिकामात्र सुरक्षित है। इस निष्कर्ष परसे महाबंध ग्रन्थकी सत्ताके विषयमें बड़ी आकुलता हो उठी है। अतएव मूडबिद्री सिद्धान्त भवनके संरक्षकोंसे प्रार्थना है कि वे दो चार अधिकारी विद्वानोंसे महाधवलकी जांच कराकर इस आशंका और आकुलताका शीघ्र निवारण करनेकी कृपा करें। यदि उक्त प्रति में सचमुच ही महाबंध नहीं है तो यह भी खोज की जानी चाहिये कि क्या और किसी प्रतिमें वह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान है। हमारी साहित्यिकनिधि हमारे प्रमादसे बहुत खोई गई है, किन्तु अब इस ग्रन्थरत्नका खोया जाना समझदारों को बहुत दुःखकर होगा।

आशंका और आशा, दोनों सिद्ध होते दिखाई देते हैं।

महाबन्ध संबंधी इस विषयकी महत्ताके ख्यालसे इस लेखका सारांश तुरंत जैन साप्ताहिक पत्रोंमें प्रकाशित करा दिया गया था। उस लेख पर मुझे विषयके जानकार विद्वानोंके जो अभिप्राय मिले उनसे मेरी आशंकाकी पूर्णतया पुष्टि हुई। पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने तारीख ४-११-४० के पत्रमें मुझे सूचित किया 'मेरी तो बहुत पहलेसे यह धारणा है कि महाधवलमें महाबंध नामका छठा खंड शामिल नहीं है।' मूड़बिद्रीसे पं० लोकनाथ जी शास्त्रीने अपने तारीख ८-११-४० के पत्र द्वारा सूचित किया कि 'इसका (महाधवलका) प्रारंभिक भाग आदि देखने पर ज्ञात होता है कि यह महाबंध खंड न होकर केवल वीरसेनाचार्य द्वारा रचित धवलाके शेष अठारह अधिकारों की पंजिकामात्र है।" शास्त्रीजीने अपने पत्रके साथ महाधवलके कुछ और भी अवतरण भेजनेकी कृपा की जो उनके पास पहलेसे नोट थे। उनसे मुझे और भी उक्त बातका निश्चय हो गया क्योंकि वे अवतरण निबंधन अधिकारके आगे प्रक्रम और उपक्रम अधिकारोंके हैं जिनका धवलासे ठीक मिलान बैठ जाता है। किन्तु ग्रंथके अन्तकी सीमाका कुछ भी परिचय प्राप्त न होने से मुझे तथा उक्त दोनों विद्वानोंको यह आशा लगी हुई थी कि अन्तकी ओर संभवतः महाबंध हो ? अब मुझे मूडबिद्रीसे भट्टारक स्वामी तथा मठके पंचोंकी ओरसे तार द्वारा, और फिर पं० लोकनाथजी

तथा भट्टारकस्वामीके पत्रों द्वारा यह सूचना मिली है कि मेरे लेख से चिन्तित होकर महाधवल प्रतिकी अनेक स्थानीय विद्वानोंसे देखरेख कराई गई जिसके फलस्वरूप ज्ञात हुआ है कि "ताड़पत्रके पत्र २७ तक सत्कर्मपंजिका समाप्त हुई है, उसके बाद महाबंध प्रकरण है। उसमें प्रकृत्यादि चार बंधविधान हैं।"

इस प्रकार हमारी आशंका और आशा दोनों सिद्ध होती दिखाई देती हैं। इस विषयके निर्विवाद निर्णयके लिये मैंने सिद्धान्त ग्रन्थोंके अधिकारियोंसे महाधवलके कुछ आदि, मध्य और अन्तके सुविस्तृत अवतरण भेजनेकी प्रार्थना की है। यह अत्यन्त हर्ष और संतोषकी बात है कि इस विषयमें भट्टारक चारुकीर्त्तिजी स्वामी तथा मठके अन्य सब पंचगण बड़ी रुचि और उदारता दिखा रहे हैं, तथा मुझे उनकी ओरसे सहयोगका पूर्ण आश्वासन मिल रहा है। सब कार्य काललब्धिसे सफल होते हैं।

श्रीयुत प्रोफेसर हीरालालजी का 'श्रीमहाधवलमें क्या ?' यह शीर्षक लेख मुझे मूडबिद्री में पढ़ने को मिला। उस समय वहां पर इसकी काफी चर्चा भी थी। अपने भाग्योदय से श्रद्धेय भट्टारकजी एवं पंचों के सदिच्छानुसार स्थानीय अन्य विद्वानों के साथ मुझे भी उक्त ग्रन्थरत्न को देखने का सुअवसर मिला जिसका परिणाम प्रोफेसर साहब ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। प्रोफेसर हीरालालजी के इच्छानुसार महाधवल के आदि, मध्य और अन्त के अवतरण भी मेरे सामने ही मूडबिद्री से अमरावती भेज दिये गये थे। अब इस विषय का निर्विवाद निर्णय हो जाना चाहिये। बल्कि बड़े हर्ष की बात है कि मेरी प्रेरणा एवं भट्टारकजी तथा पंचों की असीम उदारता से पं० लोकनाथजी शास्त्री एवं पं० नागराजजी शास्त्री धवला के मुद्रित दो खंडों का मिलान मूल प्रतियों से कर के पाठभेदादि को मेरे सामने ही अमरावती भेज चुके थे। आगे का अर्थात् तीसरे खंड का काम भी चालू रहा। इतना ही नहीं, धवलादि ग्रन्थों के ताड़पत्र सम्बन्धी प्रतियों के रक्षादारु पर जो सुंदर रंगीन चित्र थे उन का फोटो भी मैंने प्रोफेसर हीरालाल जी के पास भिजवाया है। मैं आशा करता हूं कि इन चित्रों को भी प्रोफेसर साहब धवला के आगे के किसी खंड में अवश्य स्थान देंगे। इन सब बातों को ज्ञात कर समाज को आशातीत संतोष होना स्वाभाविक है।

—के० भुजबली शास्त्री

मंत्रशास्त्र का एक अलभ्य जैनग्रन्थ

(लेखक—श्रीयुत अगरचंद नाहटा, सं० "राजस्थानी")

विविध तीर्थकल्प के रचयिता सुप्रसिद्ध खरतरगच्छीय श्रीजिनप्रभसूरिजी† ने अपनी 'अनुयोगचतुष्टय व्याख्या' नामक लघुकृति में अपने 'रहस्यकल्पद्रुम" नामक ग्रन्थ का उल्लेख इन शब्दों में किया है :—

खरटमहासमतुल्लं वज्जाखीरेण भाविथं दहसो ।
निम्गीवोयरपक्कं हवेइ कंदुज्जलं सव्वं ।
आम्नायस्त्वयं 'रहस्यकल्पद्रुमे'ऽस्माभिः प्रकटितः 'इति द्रव्यानुयोगः ॥३॥
(अनेकार्थरत्नमंजूषा पृ० १३०)

पर खेद है कि अभी तक इस उत्तम ग्रन्थ का कहीं पता नहीं लगा। बीकानेर बृहद् ज्ञानभंडार के फुटकर मंत्रसंग्रह के पत्रों में चार पत्रों की एक प्रति है उसमें इस रहस्य-कल्पद्रुम' का कुछ अंश उद्धृत किया पाया जाता है जिससे मूलग्रन्थ के विषयादि की कुछ झाँकी मिल जाती है। पाठकों के अवलोकनार्थ उन पत्रों की आवश्यक नकल यहाँ दी जाती है:—

"भट्टारकश्रीजिनप्रभसूरिकृतरहस्यकल्पद्रुममध्यात् प्रयोगा दृष्टप्रत्यया लिख्यन्ते ॥
"ॐ नमो अरि अरिणमोहिणि मोहय २ स्वाहा" अर्हदायतने जाप्य. ।

१०८ इति पूर्वसेवा, लाभाय नित्यं जापः १०८ ।१। अनेनाभिमंत्र्य यद्वस्तु दीयते तेनैवर्क्षापुरुषवश्यता ।२। अनेनैव समकृत्वः एकविंशतिककरैः चीरतरुं आहत्य पुरे प्रवेशे तत्र लाभः ।३। अनेनैव पात्राणि वार २१ अभिमंत्र्यते भिक्षालाभः ।४।

(=ॐ ह्रीं कपालेश्वरीयं (?) भिक्षां मे देहि २ हुं फट् स्वाहा वार ७ अनेन मंत्रेण पात्रा(णि) मंत्रयेत् भिक्षा प्रचुर पतिते (?) ॥२॥

ॐ सिद्धि घंटा टंका जीमूत स्वाहा । एनं मंत्रं भणद्भिः चीरवृक्षः कर्करैर्हन्यते प्रदक्षिणं भ्रमद्भिः वार २१ ग्राममध्ये प्रविष्टानां स्नान-गौरव-विलेपन-भोजन-वसनादि नगरेभ्यो भवति ॥

---

†आप का ऐतिहासिक चरित्र हमारे लिखित, जिनविजय जी सम्पादित सूरि जी रचित "विधिप्रवर" ग्रन्थ में शीघ्र ही प्रकट होने वाला है।

ॐ अनघे कामाय स्वाहा ।। एनं मंत्रं भणद्ग्रामप्रवेशे सप्तभिः जलचुलुकाभिः किंचिद्वनस्य सीछंट्यते (?) मध्ये गतो भोजनादिः ।

ॐ नमो माणिभद्राय ह्रीं किणि २ स्वाहा ।। वार ३२ अभिमंत्र्य दंतकाष्ठं क्रियते अशनादिलाभः ।।

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं ग्लूं गणपति वरवरद विश्वं मम वश्यमानयानय स्वाहा ॥ दिन प्रति वार १०८ जप्यते लाभः ।

ॐ ह्रीं असिआउसा अनाहत विद्योर्हं नमः ॥ लाभ मंत्रः ॥

ॐ ह्रीं चरेसुचरे असिआउसाय नमः वार १०८ प्रभाते स्मरणं धनलाभः ।

ॐ नट्ठट्ठमयठाणे पणट्ठकम्मट्ठनट्ठसंसारे, परिमिट्ठानट्ठियट्ठे, *अट्ठगणा धीसरेवंदे ।१।
अनया विद्ययाश्वादिक्रयाणक ? वार २१ऽ१०८ अभिमंत्र्यते विक्रयो भवति ।।

ॐ क्वादेवदत्तय २ अलक्तकेन यावंति नामानि लिखित्वा आसनस्याधो मुच्यते तावंति वशी ॥

णमो विउव्विरिद्धिपत्ताणं, दिन २८ जाप काम्यवस्तूनि प्राप्यंते ॥

विद्यामंत्र—ॐ ह्रीं श्रीं अर्हंवद २ वाग्वादिनि भगवति सरस्वती ह्रीं नमः ।। लक्ष जापात्सिद्धिः ।।

दृष्ट्वा संभ्रमकारिवस्तु० ? इदं काव्यं वारत्रयं भणित्वास्योपरि हस्तवाहना वद्योमोना ।(?)

ॐ ह्रीं ऐं क्लीं नमः । ए जीभइं माझि पहिलुं लिखीजैपछै पांणी सुं पाइयै ग्रहण दिनै ॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं हत्कल्ह्रीं ऐं वद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः ॥ ए मूल शुद्ध मंत्रः १२००० जापः पंचामृतहोमः शारदा वरदायिनी भवति ॥

ॐ मञ्ज श्रीकुमारदूताय बोधिसत्वाय महासत्वाय कारुणिकाय तद्यथा किरि २ पि हिंगे स्वाहा ।। सप्त चुलुकान् मंत्रयित्वा पिबेन् । सप्ताह्न सकृतः दुःशास्त्रं समायाति ।।

ॐ ह्रीं श्रीं सूर्याय नमः । सप्तलक्षाणि यो विद्यां मायायेकाक्षरं जपेत् तस्य सिद्ध्यंति वागीशाः पुष्पैरिंदुसमप्रभः ॥१॥ ॐ जंभे मोहेव सुमति सुभगे स्वाहा । वार ७ऽ२१ वस्त्रमभिमंत्र्य परिधापनं सौभाग्यं भवति ॥

इसके बाद "अथ पद्मावतीसाधनमंत्रः लिख्यते" लिखा है। अतः संभव है रहस्य कल्पद्रुम का उद्धरण ऊपर के अंश तक का ही होगा।

* अट्ठगणाधीसरी वंदे (पाठा०)।

प्रस्तुत चार पत्रों वाली प्रति सं० १९०० के लगभग की ही लिखी हुई है। अतः बहुत संभव है लेखक ने ग्रन्थ को देख कर ही उससे नकल की होगी। अतएव खोज करने पर मूलग्रन्थ कहीं (किसी भंडार में) अवश्य मिल जायगा। शोध-खोज प्रेमी विद्वानों से अनुरोध है कि यदि कहीं इस ग्रन्थ की प्रति उन्हें उपलब्ध होजाय तो मुझे सूचित करने की कृपा करें।

यद्यपि जैनमुनियों को तंत्र-मंत्र, औषधादि का उपयोग करने का मूल जैनागमों में निषेध है, पर मध्यकाल में काफी प्रचार हुआ है दि० मंत्रसाहित्य के कुछ ग्रन्थों का उल्लेख पं० भुजबलीजी ने अपने "जैनमंत्रशास्त्र" लेख में किया है। श्वेताम्बर समाज में भी मंत्र-साहित्य काफी उपलब्ध है जिनके विषय में फिर कभी प्रकाश डाला जायगा।

नाहटाजी का यह लेख मेरी अनुपस्थिति में कम्पोज हुआ है। इस "रहस्यकल्पद्रुम" ग्रन्थ की नहटाजी ने तारीफ भी की है। पर ग्रन्थ के उद्धरणों को देखने से इसकी उत्तमता में संदेह होता है। या फिर यथार्थनिर्णय इसकी शुद्ध प्रति मिलने पर ही होसकता है। यह प्रति तो अशुद्धियों से भरी पड़ी है।

—के० भुजबली शास्त्री

विविध-विषय

(१)

'भास्कर' की बात

'भास्कर' अपने जन्मकाल से त्रैमासिकरूप में प्रकट होकर ज्ञान का प्रकाश करता आया है। उसका उद्देश्य एक मात्र जैन-महिमा को प्रकाशित करना है। उसके संचालक और सम्पादक केवल धर्मभाव और साहित्य-लगन से प्रेरित होकर उसकी सेवा करने में तल्लीन हैं— किसी का कोई निजी स्वार्थ नहीं है। परमार्थ-प्रकाश ही उनका स्वार्थ है—ज्ञानविनय के इस सच्चे साधन से वे अपनी आत्मतुष्टि कर रहे हैं। 'भास्कर' भी ज्ञानोद्योत में अग्रणी होता आया है; परंतु हमें यह प्रकट करते हुए दुःख होता है कि जैनियों ने अपने 'भास्कर' को वैसा नहीं अपनाया जैसा उन्हें अपनाना चाहिये। हम जानते हैं और मानते हैं कि 'भास्कर' के लेख गंभीर और नीरस होते हैं; परन्तु ज्ञान-मार्ग ही ऐसा है। ज़ाहिरा वह नीरस है, परन्तु जिन्हें ज्ञानरस का स्वाद मिल गया है उनके लिये वह अत्यन्त सरस है। आज यदि जैनी 'भास्कर' जैसे ज्ञान-रस से ओतप्रोत वीर-संदेश-वाहक और उद्योतक पत्र को नहीं अपनाते हैं, तो यही समझना चाहिये कि उनमें ज्ञान-रसके रसिकों का बाहुल्य नहीं है। यदि यह अनुमान ठीक है तो जैनियों के लिये यह स्थिति भयानक है। याद रखिये; ज्ञान ही जीवन है—ज्ञान ही प्रकाश है और ज्ञान में ही अमरत्व है। जैनजीवन के लिये ज्ञान का प्रसार जैन जनता में अधिकाधिक होना आवश्यक है। 'भास्कर' इस ज्ञान प्रसार में निरन्तर सहायक रहा और रहेगा। उसके पाठक यदि अधिक होंगे तो वह भी धर्म और संघ की सेवा अधिक कर सकेगा। यदि इसके पाठक और ग्राहक अधिक नहीं होंगे तो भी समुदार सञ्चालक महोदय की दानशीलता से वह ज्ञानोद्योत का पुण्य प्रयत्न करता रहेगा। आज योरप के महायुद्ध ने जीवन के प्रत्येक भाग में संकट उपस्थित कर दिया है। भारत का पत्र-संसार भी इस संकट से मुक्त नहीं है। 'भास्कर' भी उसके भयानक प्रभाव से अछूता कैसे रहे? एक ओर परिमित ग्राहक संख्या—दूसरी ओर काग़ज़, स्याही आदि के बढ़ते हुए दाम; ऐसी स्थिति में 'भास्कर' अपने जीवन को स्थिर रख सके, यही बड़ी बात है! हठात् सञ्चालक महोदय की दानशीलता ने उसे जीवित रक्खा है! इस उदारता के लिये 'भास्कर-मंडल' संचालक महाशय का आभारी है। परन्तु इस संकटकाल में 'भास्कर' अब एक वर्ष में चार बार दर्शन न देकर केवल दो बार ही प्रकट होगा—वह त्रैमासिक से अर्द्धवार्षिक होगा! इस संकट के व्यतीत होने पर अथवा बीच में ही यदि पाठकों का काफी सहयोग मिला तो 'भास्कर' अपने पूर्वरूप पर आ जायगा। आशा है, पाठकगण हमारी असमर्थता का ध्यान रखकर 'भास्कर' को उन्नत बनाने के लिये पूरा सहयोग देंगे। —कामता प्रसाद

(२)

यों तो इधर अर्से से मैं पारिवारिक झंझटों से अधिक घिरा रहा। इधर ४, ५ महीनों से इसकी मात्रा बढ़ गई है। अभी भी मेरा एकमात्र पुत्र यकृद्रोग से पीड़ित है। जब आरा एवं पटना के नामी वैद्य एवं डाक्टरों के इलाज से कोई लाभ नहीं हुआ तब उन्हीं की सलाह से खास कर जलवायु परिवर्तन के लिये बालक को मुझे देश ले जाना पड़ा। अभी भी वह वहां पर अस्वस्थ ही है। इस अनिवार्य कारण से दिसम्बर की किरण कुछ विलम्ब से आपलोगों की सेवा में भेजी जा रही है। मैं इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूं। मुझे दृढ़ आशा है कि आगे ऐसा नहीं होगा। 'भास्कर' की पिछली प्रत्येक किरण यथासमय पाठकों की सेवा में पहुंचती रही है। इसलिये मेरा विश्वास है कि नाममात्र का यह विलम्ब आपलोगों को नहीं खटकेगा।

(३)

इसी किरण में प्रकाशित एक निवेदन से विज्ञ पाठकों को 'भास्कर' की आर्थिक स्थिति का ज्ञान हुआ ही होगा। कारणवश इसका संकेत कुछ समय पूर्व बम्बई विश्व-विद्यालय के रिसर्च स्कॉलर, सुयोग्य विद्वान् श्रीयुत उमाशंकर प्रेमचन्द शाह, एम० ए० बरोदा को करना पड़ा। उक्त महोदय ने अपने एक मार्मिक पत्र के साथ तुरन्त ही 'भास्कर' के लिये सहायता के रूप में १०) रुपये भेज दिये। देखिये—एक जैनेतर विद्वान् का जैन साहित्यप्रेम। जहाँ हमारे लक्षाधीश तक 'भास्कर' के केवल चार रुपयों की वी० पी० लौटाने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं, वहाँ पर इन जैनेतर विद्वान् की उदारता उल्लेखनीय है। क्या अपने को समाज का कर्णधार समझनेवाला जैन धनिकवर्ग इससे शिक्षा लेगा?

—के० भुजबली शास्त्री

साहित्य-समालोचना

(१)

मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि

लेखक—अगरचन्द नाहटा और भंवरलाल नाहटा : प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५/६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता : पृष्ठ ७६ + ४ ; मूल्य दो आने ; संवत् १९९७।

इस छोटी सी रचना में नाहटाबन्धुओं ने सुयोग्य विद्वान् श्रीजिनचन्द्रसूरि का जीवन-चरित आकर्षक शैली में अंकित किया है। चरित्र बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इस ऐतिहासिक कृति का मुख्य आधार जिनपालोपाध्याय-रचित 'गुर्वावली' है जो कि पुरातत्त्व के पण्डित श्रीजिनविजयजी के द्वारा संपादित होकर 'सिंघीग्रन्थमाला' की ओर से प्रकाशित होने जा रही है। प्रस्तुत चरित्र संक्षिप्त होते हुए भी प्रामाणिक है। इसमें परिशिष्टरूप में सूरि जी की एकमात्र कृति 'व्यवस्थाकुलक' भी सानुवाद दिया गया है। वास्तव में नाहटा-बन्धुओं का यह परिश्रम प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

(२)

गौरवगाथा

लेखक—अयोध्या प्रसाद गोयलीय : प्रकाशक—मंत्री, जैन संघटन सभा, पहाड़ी धीरज, देहली ; पृष्ठ सं० २० : मूल्य चार पैसा : सन् १९४० ।

इस ऐतिहासिक रचना में सिद्धहस्त अनुभवी लेखक ने वीरसेनाचार्य, कालकाचार्य, राजा हरसुख राय और सेठ सुगनचन्द इन चार आदर्श व्यक्तियों का अनुकरणीय जीवनचरित्र अङ्कित किया है। अपने पूर्वजों की गौरवगाथाओं से परिचित होने के लिये यथार्थ में ऐसी रचनाएं बड़े काम की चीजें हैं। श्री गोयलीय जी की सजीव लेखनी में बल है, उत्साह है। मैं आशा करता हूं कि प्रत्येक नवयुवक इसे मंगा कर एकवार अवश्य पढ़ेगे।

(३)

एकीभाव स्तोत्र (सटीक)

अनुवादक और संपादक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री; पृष्ठ सं० ५१; मूल्य तीन आने; सन् १९४०।

आचार्य वादिराजकृत यह स्तोत्र जैन समाज में विश्रुत है और इस के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत संस्करण में भट्टारक श्रीचन्द्रकीर्ति कृत संस्कृत टीका, पं० भूधर दासकृत पद्यानुवाद एवं पं० परमानन्द शास्त्रीकृत हिन्दी-अनुवाद ये तीनों सम्मिलित कर दिये गये हैं इसलिये अधिक उपयोगी है। साथ ही साथ प्रारम्भ में विद्वान् सम्पादक के द्वारा परिश्रम से लिखी गई प्रस्तावना ने भी इस संस्करण की उपयोगिता को बढ़ाया है। सारांशतया संस्करण सर्वथा उपादेय है।

(४)

वृहत्स्वयंभूस्तोत्र

सम्पादक—वे० लोकनाथ शास्त्री: प्रकाशक—श्रीवीरवाणीग्रन्थमालासमिति, मूडबिदुरे; पृष्ठ संख्या १०१; मूल्य छः आने; सन् १९४०।

यह श्रीसमन्तभद्राचार्य रचित सुप्रसिद्ध 'वृहत्स्वयंभूस्तोत्र' का कन्नड अनुवाद है। अनुवाद अच्छा है। श्लोक बहुत छोटे टाइपों में दिये गये हैं यह थोड़ा खटकता है। ग्रन्थकर्त्ता के परिचय को विशद कर दिया जाता तो और सुन्दर होता। कागज, मुद्रण आदि सन्तोषप्रद हैं।

(५—६)

कथामंजरी

लेखक—पं० देवीदयाल चतुर्वेदी, 'मस्त'; प्रकाशक—सरल-जैन-ग्रन्थ-माला, जब्बलपुर; पृष्ठ सं० ३५+३८; मूल्य प्रथम भाग का ढाई आने और द्वितीय भाग का तीन आने; सन् १९४०।

कथामंजरी के दोनों भागों में जैनधर्म की बालोपयोगी कई सुन्दर एवं सचित्र कथाएँ दी गई हैं। वास्तव में धार्मिक भावनाओं को जगाने के लिये ऐसी सरल और रोचक कथाएँ बहुत ही उपयोगी साधन हैं। इस उपयोगी साधन से हमारे पूर्वज भलीभांति परिचित थे। हां, यह बात सत्य है कि जैन समाज में समयानुकूल रोचक ढंग से लिखी हुई सचित्र कथाओं का अभाव था। सरल-जैन-ग्रन्थमाला ने इस ओर कदम बढ़ा कर जैनसमाज का अनुकरणीय सच्चा उपकार किया है। बालकों के कल्याणेच्छु संरक्षक बालोपयोगी इन पुस्तकों को खरीद कर प्रकाशक के उत्साह और बालकों के ज्ञान-साधन को अवश्य बढ़ावेंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

गंगातरंगिणीए उभयंतरवेदियाण वणसंडा ।
अत्तुट्टसरूवेणं संपत्तरजदसेलंतं ॥२३४॥
वरवज्जकवाडाणं संवरणपवेसणाइं मुणूणं ।
सेसगुहब्भंतरयं गंगातडवेदिवणसंडा ॥२३५॥
रुप्पगिरिस्स गुहाए गमणपदेसम्मि होदि वित्थारो ।
गंगातरंगिणीए अट्ठं वि य जोयणाणि पुढं ॥२३६॥
विजयड्ढगिरिगुहाए संगंतूणं जोयणाणि पणुवीसं ।
पुव्वावरा णदाओ[1] उम्मग्गणिमग्गसरिआओ ॥२३७॥
णियजलपवाहपडिदं दव्वं गरुवं पि णेदि[2] उवरिम्मि ।
जम्हा तम्हा भणणइ उम्मग्गा वाहिणी एसा ॥२३८॥
णियजलभरउवरिगदं दव्वं लहुगं पि णेदि हेट्ठम्मि ।
जेणं तेणं भण्णइ एसा सरिया णिमग्ग त्ति ॥२३९॥
सेलगुहाकुंडाणं मणितोरणदारणिस्सरंतीओ ।
वड्डरयणविणिम्मियसंकमपहुदी य वित्थिण्णा ॥२४०॥
वणवेदीपरिखित्ता पत्तेक्कं दोण्णि जोयणायामा ।
वररयणमया गंगाणइस्स पवहम्मि पविसंति ॥२४१॥
पण्णासजोयणाइं अधियं गंतूण पव्वयगुहाए ।
दक्खिणदिसद्दारेणं खुभिदा भोगीव णिग्गादा गंगा ॥२४२॥
णिस्सरिदूणं एसो दक्खिणभरहंमि कंदसेलादो ।
उणवीसं सहियसयं आगच्छदि जोयणा अधिया ॥२४३॥

११९ । ३ ।
१९

आगंतूण णियंतो पुव्वमहीमागधम्मि तित्थयरे ।
चोद्दससहस्ससरियापरिवारा पविसदे उवहि ॥२४४॥
गंगामहाणदीए अड्ढाइज्जेसु मेच्छखंडेसु ।
कुंडजसरिपरिवारा हुवंति ण हु वज्जखंडम्मि ॥२४५॥
बासट्ठि जोयणाइं दोण्णि य कोसाणि वित्थरा गंगा ।
पण कोसा[3] गाढत्तं उवहिपदेसप्पवेसम्मि २४६॥

1 D णावणदाओ; 2 ABS णो; 3 D आगाढत्तं।

दीवजगदीयपासे णइविल[1]वदणम्मि तोरणं दिव्वं ।
विविहवररयणखचिदं खंभट्ठियसालभंजियाणिवहं ॥२४७॥
थंभाणं उच्छेहो तेणउदीजोयणाणि तियकोसा ।
पदाण अंतरालं बासट्ठी जोयणा दुवेकोसो[2] ॥२४८॥

९३ । को ३ । ६३ । को २ ।

छत्तत्तयादिसहिदा जिणिंदपडिमा य तोरणुवरिम्मि ।
चेट्ठंति सासभाओ सुमरणमेत्तेण दुरिदहरणा ॥२४९॥
वरतोरणस्स उवरिं पासादा होंति रयणकणयमया ।
चउतोरणवेदिजुदा वज्जकवाडुज्जलदुवारा ॥२५०॥
पदेसु मंदिरेसुं देवीओ दिक्कुमारिणामाओ ।
णाणाविहपरिवारा वेंतरियाओ विरायंति ॥२५१॥
पउमद्दहादो पच्छिमदारेणं णिस्सरेदि सिंधुणई ।
तट्ठाणवासरादो तोरणपहुदी सुरणदिसरिच्छा ॥२५२॥
गंतूण थोवभूमीं सिंधुमज्झम्मि होदि वरकूडो ।
वियसियकमलायारो रम्मो वेरुलियणालजुदो ॥२५३॥
तस्स जला अइरित्ता दोहजुदा होंति कोसदलमेत्त ।
उच्छेहा सलिलादो उवरिं पत्तम्मि इगिकोसा ॥२५४॥
बे कोसा वित्थिण्णो तण्णिय[3]मेत्तोदएण संपुण्णो ।
वियसंतपउमकुसुमोवमाणसंठाणसोहिल्लो ॥२५५॥
इगि कोसं बे कंदा रयणमइकण्णियायधीरम्मा ।
तीए उवरिं विचित्तो पासादो होदि रमणिज्जो ॥२५६॥
वररयणकंचणमओ फुरंतकिरणो पणासिअंतमो ।
सो उत्तुंगतोरणदुवारसुंदरसुहुमोहिल्लो ॥२५७॥
तस्सिं णिलए णिवसइ अवणा णामेण वेंतरा देवी ।
एक्कपलिदोवमाऊ णिरुवमलावण्णपरिपुण्णा ॥२५८॥
पउमद्दहादो पणुसयमेत्ताइं जोयणाइं गंतूणं ।
सिंधूकुंडमपत्तो दुकोसमेत्तेण दक्खिणावलिदो ॥२५९॥
उभयतडवेदिसहिदा उववणसंडेहिं सुट्ठु सोहिल्ला ।
गंग व्व पडइ सिंधू जिब्भादो सिंधुकुंडउवरिम्मि ॥२६०॥

---

1 ABS णइविद; 2 ABS दुवेकोसा; 3 AB तत्तिय ।

कुंडं दीवा सेला भवणं भवणस्स उवरिमं कूडं ।
तस्सिं जिणपडिमाश्रो सव्वं पुव्वं व वत्तव्वं ॥२६१॥
णवरि विसेसो वसो सिंधूकुंडंमि सिंधुदेवि त्ति ।
बहुपरिवारेहिं जुदा उवभुंजदि विविहसोक्खाणं ॥२६२॥
गंगाणई व सिंधू विजयड्ढगुहाय उत्तरदुवारे ।
पविसिय वेदीजुत्ता दक्खिणदारेण णिस्सरदि ॥२६३॥
दक्खिणभरहस्सद्धं पाविय पच्छिमपभासतित्थम्मि ।
चोद्दससहस्ससरियापरिवारा पविसए उवहिं ॥२६४॥
तोरणउच्छेहादी[1] गंगाए वण्णिदा जहा पुव्वं ।
सस्सव्वं[2] सिंधूए वत्तव्वा णिउणबुद्धीहिं ॥२६५॥
गंगासिंधुणईणं वेयड्ढणगेण भरहखेत्तम्मि ।
छक्खंडं संजादं ताण विभागं परूवेमो ॥२६६॥
उत्तरदक्खिणभरहो खंडाणि तिण्णि होंति पत्तेक्कं
दक्खिणतियखंडेसुं अज्जाखंडो त्ति मज्झिमा ॥२६७॥
सेसा वि पंच खंडा णामेणं होंति मेच्छखंड त्ति ।
उत्तरतियखंडेसुं मज्झिमखंडस्स बहुमज्झे ॥२६८॥
चक्कीण माणमलणो णाणाचक्कहरणामसंछण्णो ।
मूलोवरिमज्झेसुं रयणमओ होदि वसहगिरी ॥२६९॥
जोयणसयमुव्विद्धो पणुवीसं जोयणाणि अवगाढो ।
एक्कसयमूलरुंदा पण्णत्तरि मज्झवित्थारो ॥२७०॥
१०० । २५ । १०० । ७५ ।
पण्णासजोयणाइं वित्थारो होदि तस्स सिहरम्मि ।
मूलोवरि मज्झेसुं चेट्ठंते वेदिवणसंडा ॥२७१॥
चउतोरणेहिं [3]जुत्तो पोक्खरिणीवाविकूवपरिपुण्णा ।
वज्जिंदणीलमरगयकक्केयणपउमरायमया ॥२७२॥
होंति हु वरपासादा विचित्तविण्णासमणहरायारा ।
दिप्पंतरयणदीवा वसहगिरिंदस्स सिहरम्मि ॥२७३॥
वररयणकंचणमया जिणभवणा विविहसुंदरायारा ।
चेट्ठंति वण्णणाओ पुव्वं पिव होंति सव्वाओ[4] ॥२७४॥

1 D उस्सेहादी ; 2 तस्सव्वं (?); 3 जुत्ता (?); 4 सव्वाओ (?) ।

गिरिउवरिमपासादे वसदो णामेण वंतरो देवो ।
विविहपरिवारसहिदो उवभुंजदि विविहसोक्खाइं ॥२७५॥
एक्कपलिदोवमाऊ दसचावसमाणदेहउच्छेहो ।
बहुवंछो विहभुंजो एसो म्लेच्छंगसोहिल्लो ॥२७६॥
। छक्खंडं गदं ।
तस्सिं अज्जाखंडे णाणाभेदेहिं संजुदो कालो ।
वट्टइ तस्स सरूवं वोच्छामो आणुपुव्वीए ॥२७७॥
पासरसगंधवण्णो वदिरित्तो अगुरुलहुगसंजुत्तो ।
वत्तणलक्खणकलियं कालसरूवं इमं होदि ॥२७८॥
कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हुवंति एदेसुं ।
मुक्खाधारबलेणं अमुक्खकालो पयट्टेदि ॥२७९॥
जीवाण पुग्गलाणं हुवंति परियट्टणाइ विविहाइं ।
एदाणं पज्जाया वट्टंते मुक्खकालआधारे ॥२८०॥
सव्वाण पयत्थाणं णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ ।
बहिरंतरंगहेदूहिं सव्वभेदेसु वट्टंति ॥२८१॥
बाहिरहेदू कहिदो णिच्छयकालो त्ति सव्वदरिसीहिं ।
अब्भंतरं णिमित्तं णियणियदव्वेसु चेट्ठेदि ॥२८२॥
कालस्स भिण्णभिण्णा अण्णुण्णपवेसणेण परिहीणा ।
पुहपुह लोयायासे चेट्ठंते संचएण विणा ॥२८३॥
समयावलिउस्सासा पाणा थोवा य आदिया भेदा[1] ।
ववहारकालणामा णिद्दिट्ठा वीयराएहिं ॥२८४॥
परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्स दिक्कमेणत्तो ।
जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो ॥२८५॥[2]
होंति हु असंखसमया आवलिणामो तहेव उस्सासो ।
संखेज्जावलिणिवहो सो चेय[3] पाणो[4] त्ति विक्खादो ॥२८६॥

१ । १ । १ ।
२ ६

सत्तुस्सासो थोवं सत्तत्थोवायलि त्ति णादव्वो ।
सत्तत्तरिदलिदलया णाली बे णालिया मुहुत्तं च ॥२८७॥

1 AB भेदो, 2 Mss. have a confusion in numbers, 3 AB चेयव, 4 पाणो (?

१ । ७ । ७७ । १
७ १ २

समऊणोक्कमुहुत्तं भिण्णमुहुत्तं मुहुत्तया तीसं ।
दिवसो पण्णरसेहिं दिवसेहिं एक्कपक्खो हु ॥२८८॥

दो पक्खेहिं मासो मासदुगेणं उडू उडुत्तिदयं ।
अयणं अयणदुगेणं वरिसो पंचेहि वच्छरेहिं जुगं ॥२८९॥

माघादी होंति उडू सिसिरवसंतानिदाघपाउसया ।
सरओ हेमंता वि य णामाइं ताण जाणिज्जं ॥२९०॥
बेण्णि जुगा दस वरिसा ते दसगुणिदा हवेंति वाससदं ।
एदेसिं दसगुणिदे वाससहस्सं वियाणेहि ॥२९१॥
दस वाससहस्साणि वाससहस्सम्मि दसहदे होंति ।
तेहिं दसगुणिदेहिं लक्खं णामेण णादव्वं ॥२९२॥
चुलसीदिहदं लक्खं पुव्वंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं णादव्वं पुव्वपरिमाणं ॥२९३॥
पुव्वं चउसीदिहदं णिवदंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं णिउदस्स पमाणमुद्दिट्ठं ॥२९४॥
णिउदं चउसीदिहदं कुमुदंगं होदि तं पि णादव्वं ।
चउसीदिलक्खगुणिदं कुमुदं णामं समुद्दिट्ठं ॥२९५॥
कुमुदं चउसीदिहदं पउमंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदिलक्खवासेहिं पउमं णामं समुद्दिट्ठं ॥२९६॥
पउमं चउसीदिहदं णलिणंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदिलक्खवासे णलिणं णामं वियाणाहि ॥२९७॥
णलिणं चउसीदिगुणं कमलंगं णाम तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदिलक्खेहिं कमलं णामेण णिद्दिट्ठं ॥२९८॥
कमलं चउसीदिगुणं तुडिदंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं तुडिदं णामेण णादव्वं ॥२९९॥
तुडिदं चउसीदिहदं अडडंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं अडडं णामेण णिद्दिट्ठं ॥३००॥
अडडं चउसीदिगुणं अममंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं अममं णामेण णिद्दिट्ठं ॥३०१॥

अममं चउसीदिगुणं हाहंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं हाहाणामं समुद्दिट्ठं ॥३०२॥
हाहाचउसीदिगुणं हूहंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं हूहूणामस्स परिमाणं ॥३०३॥
हूहूचउसीदिगुणं एक्कलदंगं हुवेदि गुणिदं तं ।
चउसीदीलक्खेहिं परिमाणमिदं लदाणामे ॥३०४॥
चउसीदीहदलदाए महालतांगं[1] हुवेदि गुणिदं तं ।
चउसीदीलक्खेहिं महालदाणाममुद्दिट्ठं ॥३०५॥
चउसीदिलक्खगुणिदा महालदाओ हुवेदि सिरिकंपं[2]
चउसीदिलक्खगुणिदं तं हत्थपहेलिदं णाम ॥३०६॥
हत्थपहेलिदणामं गुणिदं चउसीदिलक्खवग्गेहिं ।
अचलप्पणाम[3] चेओ कालं [4]कालाणुवेदिणिद्दिट्ठा ॥३०७॥
एक्कत्तीसट्ठाणे चउसीदिं पुहपुहट्ठवेदूणं ।
अण्णोण्णहदे लद्धं अचलप्पं होदि णउदि[5]सुण्णंगं ॥३०८॥

८४ । ३१ । ९० ।

एवं सो कालो संखेज्जो वच्छराण गणणाए ।
उक्कस्सं संखेज्जं जावल्लतं वं [6]पवत्तं उ (?) ॥३०९॥
वयण ।

एत्थ उक्कस्ससंखेज्जयं जाण णिमित्तं जंबूदीववित्थारं सहस्सजोयणउवेदपमाणचत्तारि-सरावयं कादव्वा सलागपडिसलागा महासलागा एदे तिण्णि वि अवट्ठिदा[7] चउत्थो अणवट्ठिदा एदे सव्वे पण्णाए ठविदा एत्थ चउत्थसरावयअब्भंतरे दुवे सरिसवेत्थुदे तं जहण्णं संखेज्जयं जादं एदं पढमवियप्पं तिण्णि सरिसवेत्थूदे [8]अजहण्णमणुक्कस्ससंखेज्जयं एवं सरावए पुणो । एवमुवरिमज्झिमवियप्पं पुणो [9]भरिदसरावया देउ वा दाणउ वा हत्थे घेत्तूण दीवे समुद्दे एक्केक्कं सरिसवंदे य सो णिट्ठिदो तक्काले सलायअब्भंतरे एगसरिस-उत्थूदा जं हि सलाया समत्ता तं हि सरावउ वड्ढारेयंतु तं भरिदूण हत्थे घेत्तूण दीवे समुद्दे णिट्ठिदव्वा जं हि णिट्ठिदं तं हि सरावयं वड्ढावेयव्वं सलायसरावए सरिसवत्थूदे एवं

1 लदंगं (?); 2 B S सिरकंपं (कप्पं ?); 3 D अचलप्पं णामदुओ; 4 D का.लं काळाउ हवेदि णिद्दिट्ठा; 5 D णवदि; 6 D पवत्तेओ; 7 B S अवट्ठिदो; 8 D आजहणण; 9 D भरिदि ।

सलायसरावया पुणो पडिसलायसरावया पुणो महासलाया सरावया पुणो तिण्णि सरावया पुणो जह दीवसमुद्दे संखेज्जदीवसमुद्दवित्थरेण सहस्सजोयणागदेण सरिसवं भरिदे तं उक्कस्स संखेज्जयं अदिच्छिदूण जहण्णपरित्तासंखेज्जयं गंतूण पडिदं तदा एगरूवमवणिदे जादमुक्कस्ससंखेज्जयं जम्हि जम्हि संखेयं मग्गिज्जदि तम्हि तम्हि य जहण्णमणुक्कस्स-संखेज्जयं गंतूण घेत्तव्वं, तं कस्स विसओ, चोद्दसपुव्विस्स।

उक्कस्ससंखमज्झे इगिसमय जुदं कजहण्णयमसंखं।

तत्तो असंखकालो उक्कस्सयमंखसमयत्तं ॥१॥

[1]यं तं असंखेज्जयं तिविधं। परित्तासंखेज्जयं जुत्तासंखेज्जयं असंखेज्जासंखेज्जयं चेदि। जं तं परित्तासंखेज्जयं तं तिविधं। जहण्णपरित्तासंखेज्जयं अजहण्णमणुक्कस्सपरित्ताअसंखेज्जयं उक्कस्सपरित्ताअसंखेज्जयं चेदि। जं तं जुत्तासंखेज्जयं तं तिविधं। जहण्णजुत्ताअसंखेज्जयं अजहण्णमणुक्कस्सजुत्ताअसंखेज्जयं उक्कस्सजुत्ताअसंखेज्जयं चेदि। जं तं असंखेज्जा-असंखेज्जयं तं [2]तिविधं। जहण्णअसंखेज्जाअसंखेज्जयं अजहण्णमणुक्कस्सअसंखेज्जा-असंखेज्जयं उक्कस्स असंखेज्जाअसंखेज्जयं चेदि। जं तं जहण्णपरित्तासंखेज्जयं [3]विरलेदूण एक्केक्कस्स रूवस्स जहण्णपरित्तासंखेज्जयं देदूण अण्णोण्णब्भत्थे कदे उक्कस्सपरित्ताअसंखेज्जयं समिह जम्हि [4]आविच्छेदूण जहण्णजुत्ताअसंखेज्जयं गंतूण पडिदत्तादो[5] एगरूवे अवणिदे जादं उक्कस्सपरित्ताअसंखेज्जयं अधियाकज्जं तम्हि तम्हि जहण्णजुत्तो असंखेज्जयं घेत्तव्वं। जं तं जहण्णजुत्ताअसंखेज्जयं तं सयं वग्गिदो उक्कस्सजुत्तासंखेज्जयं अधिच्छिदूण जहण्णमसंखेज्जा-असंखेज्जयं गंतूणं पडिदं तदो एगरूवं अवणिदे जादं उक्कस्सजुत्तासंखेज्जयं तदा जहण्णम-संखेज्जाअसंखेज्जयं दोप्पडिरासियं कादूण एगरासिं [6]सलायासणाम ठविय एगरासिं विरलेदूण[7] एक्केक्कं सरूवस्स एगपुंजसमाणं दादूण अण्णोण्णब्भत्थं करिय सलायरासिदो एगरूवं अवणिदव्वं पुणो वि उप्पण्णरासिं विरलेदूण एक्केक्कं सरूवस्सुप्पण्णरासिपमाणं दादूण अण्णोण्णं भत्थो कादूण सलायरासिदो य रूवं अवणेदव्वं एदेण कमेण सलायरासी णिट्ठिदा णिट्ठिय तदणंतररासिं दुप्पडिरासिं कादूण एयपुंजसलायं ठविय एयपुंजं विरलिदूण एक्केक्कस्स रूवस्स उप्पण्णरासिं दादूण अण्णोण्णब्भत्थं कादूण सलायरासिदो एयं रूवं अवणिदव्वं एदेण सरूपण बिदियसलायपुंजं समत्तं। समत्तकाले उप्पण्णरासिं दुपडिरासिं कादूण एयपुंजं सलायं ठविय पुंजं विरलिदूण एक्केक्कस्स रूवस्स उप्पण्णरासिपमाणं दादूण अण्णोण्णब्भत्थं कादूण सलायरासीदो एयरूवस्स अवणिदव्वं एदेण कमेण तदियपुंजं णिट्ठिदं एवंकदो उक्कस्स असंखेज्जासंखेज्जयं ण पावदि धम्माधम्मा लोगागासा एगजीव-

1 जं (?); 2 BS विविधं; 3 D विरलोदूण; 4 D अदच्छिदूण; 5 D पडिदत्तदो 6 D सलायसणाम; 7 D विरलोदूण।

पदेसा चत्तारि वि लोगागासमेत्ता पत्तेगसरीरबादरपदिट्ठिय पदे दो वि किंचूणसायरोवमं विरलेदूण विभंगं कादूण अण्णोण्णब्भत्थे रासिपमाणं होदि। छक्खिपदे असंखेज्जरासीओ पुव्विल्लरासिस्स उवरि पक्खिविदूण[1] पुव्वं व तिण्णिवारवग्गिदे कदे उक्कस्सअसंखेज्जा संखेज्जयं[2] ण उप्पज्जदि[3] तदा ठिदिबंधट्ठाणाणि ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि कसायोदयट्ठाणाणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि योगपलिच्छेदाणि उस्सप्पिणिओसप्पिणीसमयाणि च पदाणि पक्खिविदूण पुव्वं व वग्गिदसंवग्गिदं कदे तदो उक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं जम्हि असंखेज्जासंखेज्जयं वग्गिज्जदि तम्हि तम्हि य जहण्णमणुक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं घेत्तव्वं, कस्स विसओ, ओधिणाणिस्स। छ।

उक्कस्स असंखेज्जे अवणाणंतो हुवेदि रूवजुदे।
तत्तो वड्ढदि कालो केवलणाणस्स परियंतं ॥छ॥

जं तं तं तिविहं परित्ताणंतयं जुत्ताणंतयं अणंताणंतयं चेदि जुत्तपरित्ताणंतयं तं तिविहं जहण्णपरित्ताणंतयं अजहण्णमणुक्कस्सपरित्ताणंतयं उक्कस्सपरित्ताणंतयं चेदि[3] जं तं जुत्ताणंतयं तं तिविहं जहण्णजुत्ताणंतयं अजहण्णमणुक्कस्सजुत्ताणंतयं उक्कस्सजुत्ताणंतयं चेदि जं तं अणंताणंतयं तत्तिविधं जहण्णमणंताणंतयं अजहण्णमणुक्कस्सअणंताणंतयं उक्कस्सअणंताणंतयं चेदि जं तं जहण्णपरित्ताणंतयं विरलेदूण एक्केक्कस्स रूवस्स जहण्णपरित्ताणंतयं दादूण अण्णोण्णब्भत्थंक्कदे उक्कस्सपरित्ताणंतयं अधिच्छिदूण जहण्णजुत्ताणंतयं गंतूण पडिदं एवदिओ अभवसिद्धियरासी तदा एगरूवे अवणिदे जादं उक्कस्सपरित्ताणंतयं तदा जहण्णजुत्ताणंतयं सयं वग्गिदं उक्कस्सजुत्ताणंतयं अधिच्छिदूण जहण्णमणंताणंतयं गंतूण पडिदं तदा एगरूवे अवणिदे जादउक्कस्सजुत्ताणंतयं तदा जहण्णमणंताणंतयं पुव्वं वग्गिदसंवग्गिदं कदे उक्कस्सअणंताणंतयं ण पावदि सिद्धा णिगोदजीवा वणप्फदी कालो य पोग्गला चेव सव्वं वमलोगागासं थ क्र)प्पेदि णंतपदक्खेवा ताणि पक्खिवदूण पुव्वं व तिण्णिवारे वग्गिदसंवग्गिदं कदे तदा उक्कस्सअणंताणंतयं ण पावदि तदा धम्मट्ठियं अधम्मट्ठियं अगुरुलहगुणं अणंतं पक्खिविदूण पुव्वं व तिण्णिवारे वग्गिदसंवग्गिदं कदे उक्कस्सअणंताणंतयं ण उप्पज्जदि तदा केवलणाणकेवलदंसणस्स वाणंता भागा तस्सुवरिं पक्खित्तो उक्कस्सअणंताणंतयं उप्पण्णं अत्थि तं भायणं णत्थि तं दव्वं एवं भणिदो एवं वग्गिय उप्पण्णसव्ववग्गरासीणं पुंजं केवलणाणकेवलदंसणस्स अणंतिमभागं होदि तेण कारणेण अत्थि तं भाजणं णत्थि तं दव्वं। जम्हि जम्हि अणंताणंतयं वग्गिज्जदि तम्हि तम्हि अजहण्णमणुक्कस्सअणंताणंतयं घेत्तव्वं, कस्स विसओ, केवलणाणिस्स।

1 परिठविदूण (?); 2 B संखेज्जदा; 3 This prose portion is extremely corrupt and obscure; so I have constituted it with all caution.

प्रशस्ति-संग्रह

पं. के. भुजबली शास्त्री.

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ १०, पंक्ति ८)—

कैवर्तीगर्भसंभूतो व्यासो नाम महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् (?) ॥१०४॥
उर्वशीगर्भसंभूतो वशिष्टस्तु महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१०५॥
चाण्डालीगर्भसंभूतो विश्वामित्रमहामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१०६॥
शीलं प्रधानं न कुलं प्रधानं
कुलेन किं शीलविवर्जितेन ।
बह्वो (?) नरा नीचकुलेषु जाताः
स्वर्गं गताः शीलगुणस्य धारिणः ॥१०७॥

इति मार्कण्डेयपुराणे, भविष्यपुराणे, विष्णुपुराणे, पद्मपुराणे (च) ऋषिकुलाधिकारः ।

ब्रह्मचर्यं भवेन्मूलं सर्वेषां व्रतधारिणाम् ।
ब्रह्मचर्यस्य भंगे तु सर्वं व्रतं (व्रतं सर्वं) निरर्थकम् ॥१०८॥
सुखशय्यासनं वस्त्रं तांबूलं स्नानमण्डनम् ।
दन्तकाष्ठं सुगन्धं च ब्रह्मचर्यस्य दूषणम् ॥१०९॥
एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यन्तु एकतः ।
एकतः सर्वपापानि मद्यं मांसं च एकतः ॥११०॥
आरंभे वर्तमानस्य हिंसकस्य युधिष्ठर ।
गृहस्थस्य कुतः शौचं मैथुनाभिरतस्य च ॥१११॥
मैथुनं ये न सेवन्ते ब्रह्मचारि(चर्य)दृढव्रताः ।
ते संसारसमुद्रस्य पारं गच्छन्ति मानवाः ॥११२॥

इति शिवपुराणे ब्रह्मचर्याधिकारः ।

× × ×

अन्तिम भाग—

मूर्खास्तपोभिः कृशयन्ति देहं ।
बुधा मनोदेहविकारहेतुम् ॥
श्वा क्षिप्तमस्त्रं ग्रसते हि कोपात् ।
क्षेप्तारमस्त्रस्य च हन्ति सिंहः ॥१९०॥

कायस्थित्यर्थमाहारं कायं ज्ञानार्थमिष्यते ।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं पदम् ॥१९१॥

नार्थः पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो
व्यावर्तते पितृवनान्न न (न्न) बन्धुवर्गः ॥
दीर्घे पथि प्रवसतो भवतस्सखैकं ।
पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव ॥१९२॥

नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तथा शोकः समारभ्यते ।
तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोऽथवा स्याद्यदि ॥
यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि ।
प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षोविशः (?) ॥१९३॥

त्वं शुद्धात्मा शरीरं सकलमलयुतं त्वं सदानन्दमूर्तिः ।
देहो दुःखैकगेहं त्वमसि कलावित्कायमज्ञानपुञ्जम् ॥
त्वं नित्यः श्रीनिवासः क्षणरुचिसदृशो शाश्वतैकाङ्गमङ्गं ।
मा गा जीवाऽऽत्र रागं वपुषि भज निजानन्दसौख्योदयं त्वम् ॥१९४॥

निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपते ।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥१९५॥

यह 'परसमयग्रन्थ' एक संग्रहग्रन्थ है। इसे मैंने राजकीय प्राच्यपुस्तकागार मैसूर से लिखवाया था। वहाँ की मुद्रित ग्रन्थनालिका में यह इसी नाम से अङ्कित है। इस ग्रन्थ में संग्रहकर्त्ता ने जैनधर्म में प्रतिपादित मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, नवनीतत्याग, कन्दमूलत्याग, रात्रिभोजनत्याग, जलगालन, आहारदान, ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि मान्य आचारों को हिन्दुओं के पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिंगपुराण, भगवद्गीता और महाभारत आदि ग्रन्थों के प्रमाणोद्धरणपूर्वक पुष्ट किया है। हाँ, एक बात है। वह यह है कि इस ग्रन्थ में जिन ग्रन्थों का हवाला दिया गया है उनके नाम और पद्य मात्र दिये गये हैं; अध्याय, प्रकरण, पृष्ठ आदि का इसमें कुछ भी निर्देश नहीं मिलता है। अतः मूलग्रन्थों से अगर कोई इन प्रमाणों को मिलान करना चाहे वह सहज नहीं है।

अस्तु, सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रजी के द्वारा रचित 'वेदाङ्कुश' नामक एक लघुकलेवर ग्रन्थ वि० संवत् १९७६ में अहमदाबाद में छपा है। यह 'श्रीहेमचन्द्राचार्य-ग्रन्थावली' का पाँचवाँ ग्रन्थ है। वेदाङ्कुश और परसमयग्रन्थ ये दोनों ग्रन्थ एक ही विषय के हैं। बल्कि वेदाङ्कुश के बहुत से पद्य परसमयग्रन्थ में यथावत् और बहुत से पाठभेद

के साथ मिलते हैं। फिर भी परसमयग्रन्थ के कर्त्ता वेदाङ्कुश के कर्त्ता से भिन्न ज्ञात होते हैं। प्रतिपादित विषयों का क्रम भी दोनों का भिन्न भिन्न है। बल्कि वेदाङ्कुश में परसमयग्रन्थ की अपेक्षा विषय का बाहुल्य है। वेदाङ्कुश में जहां क्रमशः परोपकार, धर्म, सत्य, निन्दा, दया आदि २५ विषयों पर प्रकाश डाला गया है, वहां परसमयग्रन्थ में उपर्युक्त कतिपय परिमित विषयां पर ही प्रकाश डाला गया है। वेदाङ्कुश में सर्वप्रथम परोपकार पर प्रकाश डाला गया है और परसमयग्रन्थ में अहिंसा पर। हां, जैसे मैं ऊपर लिख चुका हूं कि मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग रात्रिभोजनत्याग और ब्राह्मणत्व आदि कतिपय विषयों के पद्य दोनों में एक से मिलते हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि इस परसमयग्रन्थ को किसी दिगम्बर विद्वान् ने संग्रह किया हो। सुदूरवर्ती दक्षिण भारत में प्राप्त इस ग्रन्थ की प्रति भी इसी बात की ओर संकेत करती है। क्योंकि दक्षिण भारत में कल तक दिगम्बर जैनों का ही बोलबाला रहा है। हां, उपलब्ध प्रति अधूरी मालूम होती है। समग्र प्रति मिलने पर इस पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। जिन्हें इसकी समग्र प्रति उपलब्ध हो उन्हें इस पर अवश्य विशेष प्रकाश डालना चाहिये।

(४६) ग्रन्थ नं० ५८/क

कषायजयभावना या कषायजयचत्वारिंशत्

कर्त्ता—कनककीर्ति मुनि

विषय—उपदेश

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौड़ाई ६॥ इञ्च पत्रसंख्या ६

प्रारम्भिक भाग—

येन कषायचतुष्कं ध्वस्तं संसारदुःखतरुबीजम्।
प्रणिपत्य तं जिनेन्द्रं कषायजयभावनां वक्ष्ये ॥१॥
कोपी नाशयति क्षणेन विपुलां संसंचितं (?) संपदं।
कोपी च त्यजति द्रुतं प्रणयिनीं भार्यां स्वकीयामपि॥
कोपी पुण्यजनोचिताम् सुखकराम्........ ... ।
....॥२॥

भ्रू भंगभंगुरितभीमललाटपट्टं । रक्तं विरूपमपि कंपितसर्वगात्रम् ॥
प्र(?)प्रस्खलद्वचनमुद्गतलोलदृष्टिं । कोपः करोति मदिरेव जनं विचेष्टम् ॥३॥
नो संवृणोति परिधानमपि स्वकीयं । भाण्डानि चूर्णयति हन्ति शिशून् प्रदुष्टः ॥
स्वात्मं(?) परं परिभवत्यपि मुक्तकेशः। कोपी पिशाचसदृशं स्वकमातनोति ॥४॥
कोपेन कश्चिदपरं ननु हन्तुकामस्तत्तायसं स परिगृह्य करेण मूढः ॥
स्वं निर्दहत्यपरमत्र विकल्पनीयं । किंवा विडम्बनमसौ न करोति कोपः ॥५॥

× × × × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ५, पंक्ति ४)—

व्याघ्री नो कुपिता न चापि शरभी नैवान्तकी राक्षसी ।
शस्त्रेणापि तथा न पावकशिखा नो शाकिनी डाकिनी ॥
नो वज्राशनिरुत्तमांगपतितो सर्वस्य हानिं तथा ।
दुःखं भूरि यथा करोति रचिता माया नृणां संसृतौ ॥२१॥
त्यक्ताशेषपरिग्रहा अपि सदा विज्ञातशास्त्रा अपि ।
शश्वद्द्वादशभेदतत्तपसा संपीडितांगा अपि ॥
केचिद्गौरव(?)गौरवाद्विहितया दुर्लक्ष्यामायया ।
मृत्वा यान्ति कुदेवयोनिमवशा माया न किं दुःखदा ॥२२॥
छिद्रावलोकनपरं सततं परेषां जिह्वाद्वयेन भयदा न विधानदक्षम् ॥
अन्तर्विपाकहृदयं च खलस्वभावं । माया करोति हि नरं स भुजंगचेष्टम् ॥२३॥
धीरोऽपि चारुचरितोऽपि विचक्षणोऽपि ॥
शीलालयोऽपि सततं विनयान्वितोऽपि ॥
वृद्धोऽपि वृद्धधनवानपि धीधनोऽपि ।
मायासखः सदसि याति लघुत्वमेव ॥२४॥
आराध्यमानस्य च देववृन्दं । प्रपूज्यमानस्य हि साधुवृन्दम् ॥
निषेव्यमानस्य तु राजलोकं । न मायिनः सिद्ध्यति कार्यजात(ल)म् ॥२५॥

× × × × ×

प्रारम्भिक भाग—

इमे कषायाः सुखसिद्धिबाधका इमे कषाया भववृद्धिसाधकाः ॥
इमे कषाया नरकादिदुःखदा इमे कषाया बहुकल्मषप्रदाः ॥३८॥
कषायवान्नो लभते सुदर्शनं कषायवान् ज्ञानमवैति नोज्ज्वलम् ॥
कषायवान् चारुचरित्रमुत्पाति (?) कषायवान् मुञ्चति शोभनं तपः ॥३९॥

यतः कषायैरिह जन्मवासे समाप्यते दुःखमनन्तपारम् ॥
हिताहितप्राप्तविचारदक्षैरतः कषायाः खलु वर्जनीयाः ॥४०॥
इति कनककीर्तिमुनिना कषायजयभावना प्रयत्नेन ।
भव्यचित्तशुद्ध्यै (?) विनयेन समासतो रचिता ।
इति कषायजयचत्वारिंशत्समाप्तः ।

यह कषायजयभावना या कषायजयचत्वारिंशत् ४० पद्यों की एक छोटी सी रचना है। रचना छोटी होने पर भी साहित्यिकदृष्टि से भी इसके पद्य सुन्दर हैं। इसमें क्रोध, मान आदि कषायों से होने वाली अवस्था एवं हानि का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके कर्त्ता कनककीर्ति मुनि हैं। मालूम नहीं होता है कि यह कनककीर्ति मुनि कौन हैं? क्योंकि इस रचना में कहीं भी आप की गुरुपरम्परा आदि का कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भव है कि 'अष्टाह्निकोद्यापन' आदि के कर्त्ता कनककीर्ति भट्टारक ही इसके रचयिता हों।

---

(४७) ग्रन्थ नं०—६१/क

प्राकृतव्याकरण

कर्त्ता—श्रुतसागर

विषय—व्याकरण
भाषा—संस्कृत एवं प्राकृत

लम्बाई ८॥। इञ्च चौड़ाई ४॥। इञ्च पत्रसंख्या १५२

प्रारम्भिक भाग —

अथ प्रणम्य सर्वज्ञं विद्यानन्दास्पदप्रदम् ।
पूज्यपादं प्रवक्ष्यामि प्राकृतव्याकृतं सताम् ॥

तदार्षं च बहुलं तत्प्राकृतमृषिप्रणीतमार्षमनार्षं च बहुलमित्यधिकृतं वेदितव्यं। तत्र ॠ ऌ ॡ ऐ औ ङ ञ श ष प्लुतविसर्गौ स्वरव्यञ्जनद्विवचनचतुर्थीबहुवचनानि

× × × × ×

मध्यम भाग (पूर्व पृष्ठ ७३, पंक्ति २)—

श्रीकुंदकुंदसूरेर्विद्यानन्दिप्रभोश्च पादकंजम् ।
नत्वा च पूज्यपादं संयुक्तमतः परं वक्ष्ये ॥

को वा मृदुत्वरुग्णदष्टमुक्तशक्तेषु। मृदुत्वादिषु पञ्चसु शब्देषु यः संयुक्तो वर्णस्तस्य ककारो भवति वा। मृदुत्वं माउत्तणं माउक्कणं। रुज्यतेस्म रुग्णः भुग्णाषयपिः (?) रोमादिना वक्रीभूते लुग्गो लुक्को दृष्टः। दृष्टः दट्ठो डक्को। मुक्तः मुत्ता मुक्को। शक्तः सक्तो सक्को ॥१॥ खः क्षस्य कुच्छौ च क्वचित् क्षकारस्य खकारो भवति कुच्छौ वा क्वचिद्भवतः। लक्षणं लक्खणं। क्षयः खउ क्षीयते। खिज्जइ छिज्जइ खिज्जइ। क्षीणं रीणं झीणं खीणं ॥२॥

× × × × × ×

अन्तिम भाग—

इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिव्याकरणकमलमार्त्तण्डतार्किकशिरोमणिपरमागमप्रवीणसूरि-श्रीदेवेन्द्रकीर्तिप्रशिष्यमुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिभट्टारकान्तेवासिश्रीमूलसंघपरमात्मविद्वत्सूरिश्रीश्रुत-सागरविरचिते औदार्यचिन्तामणिनाम्नि स्वोपज्ञवृत्तिनि प्राकृतव्याकरणे संयुक्ताव्ययनिरूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इसके कर्त्ता आचार्य श्रुतसागर एक बहुश्रुत विद्वान् थे। षट्प्राभृत की टीका मे एवं यशस्तिलकचन्द्रिकाटीका मे ज्ञात होता है कि यह कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम-स्वामी, उभयभाषाकविचक्रवर्ती आदि उपाधियों मे विभूषित थे। इन्होंने ९९ महावादियों को पराजित किया था। श्रुतसागर जी मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण के आचार्य एवं विद्यानन्दिभट्टारक के शिष्य थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—पद्मनन्दी-देवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दी।

पं० नाथूरामजी प्रेमी का अनुमान है कि विद्यानन्दी भट्टारक के पट्ट पर आपकी स्थापना नहीं हुई थी। क्योंकि पं० आशाधर के महाभिषेक नामक ग्रन्थ की इनकी टीका के अन्त में विद्यानन्दी के बाद की गुरुपरम्परा इस प्रकार है—विद्यानन्दी-मल्लिभूषण-लक्ष्मीचन्द्र*। इससे विदित होता है कि विद्यानन्दी के पट्ट पर मल्लिभूषण की और उनके पट्ट पर लक्ष्मीचन्द्र की स्थापना हुई थी। यशस्तिलकटीका में श्रुतसागर ने मल्लिभूषण को अपना गुरुभ्राता लिखा है। इससे भी सिद्ध होता है कि विद्यानन्दी के उत्तराधिकारी मल्लिभूषण ही हुए हैं।

यशस्तिलकचन्द्रिकाटीका से मालूम होता है कि उस समय गुर्जर देश के पट्ट पर भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र विराजमान थे और मल्लिभूषण का प्रायः स्वर्गवास हो चुका था। लक्ष्मीचन्द्र के बाद भी श्रीश्रुतसागर के पट्टाधिकारी होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भव है कि यह सिंहासनासीन हुये ही नहीं। उल्लिखित पद्मनन्दी, विद्यानन्दी आदि सब गुजरात के ही भट्टारक हुये हैं। परन्तु यह मालूम नहीं होता है कि गुजरात

* देखें—'षट्प्राभृतादिसंग्रह' की भूमिका पृष्ठ ६—७।

की किस स्थान की गद्दी को इन्होंने सुशोभित किया था। क्योंकि पूर्व में ईडर, सूरत, सोजित्रा आदि कई स्थानों में भट्टारकों की गद्दियां रहीं हैं। हां, यशस्तिलक की रचना के समय मालवे के पट्ट पर सिंहनन्दी भट्टारक थे। इन्हीं की प्रेरणा से श्रुतसागरजी ने नित्यमहोद्योत या महाभिषेक की टीका लिखी थी।

श्रुतसागरसूरि के भी अनेक शिष्य रहे होंगे। वैराग्यमणिमाला के रचयिता श्रीचन्द्र आप ही के शिष्य हैं। आराधनाकथाकोष, नेमिपुराण आदि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने भी श्रुतसागर को गुरुभाव से स्मरण किया है।* नेमिदत्त ने भी वही गुरुपरम्परा दी है, जो श्रुतसागर के ग्रन्थों में मिलती है। श्रुतसागर की यशस्तिलक-चन्द्रिका, महाभिषेकटीका, तत्वार्थटीका, तत्वत्रयप्रकाशिका, जिनसहस्रनामटीका आदि अनेक रचनायें मिलती हैं। इनके सिवाय तर्कदीपक, विक्रमप्रबन्ध, श्रुतस्कंधावतार, आशाधरकृत पूजाप्रबन्ध की टीका, बृहत्कथाकोष आदि और भी कई ग्रन्थ इनके बनाये हुये कहे जाते हैं।

इन्होंने अपने उपलब्ध किसी ग्रन्थ में अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। पं० नाथूरामजी प्रेमी का कहना है कि आप विक्रम की १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। प्रेमीजी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित हेतु उपस्थित करते हैं—

१—ऊपर जिस महाभिषेकटीका की प्रति का उल्लेख किया गया है वह वि० सं० १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागर के पढ़ने के लिये दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख श्रुतसागर ने स्वयं अपनी टीकाओं में कई जगह किया है।

२—आराधनाकथाकोष के कर्त्ता ब्र० नेमिदत्त वि० १५७५ के लगभग हुये हैं और वे श्रुतसागर के गुरुभ्राता मल्लिभूषण के शिष्य थे।

३—स्वर्गीय बाबा दुलीचन्दजी की सं० १९५४ की बनाई हुई हस्तलिखित ग्रंथों की सूची में श्रुतसागर का समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीका में जगह जगह लौंकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में से यह मूर्तिपूजा का विरोधी पन्थ वि० संवत् १५०८ के लगभग स्थापित हुआ है। अतएव श्रुतसागर का समय इसकी स्थापना से अधिक नहीं तो ४०-५० वर्ष पीछे अवश्य मानना चाहिये।

अस्तु, श्रुतसागरजी के इस प्राकृतव्याकरण की यह भवन की प्रति अधूरी है। इस प्रति में द्वितीय अध्याय के बाद केवल एक पत्र है। अतः समग्र प्रति को खोजने की जरूरत है।

* देखें—'आराधनाकथाकोष' की प्रशस्ति।

(४८) ग्रन्थ नं०—$\frac{६२}{क}$

तत्त्वार्थवृत्ति

कर्त्ता—भास्करानन्दी

विषय—दर्शनादि

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२। इञ्च चौडाई ८।। इञ्च पत्रसंख्या १५४

प्रारम्भिक भाग—

जयन्ति कुमतध्वान्तपाटने पटुभास्कराः ।
विद्यानन्दास्सतां मान्याः पूज्यपादा जिनेश्वराः ॥

अथातिविस्तारमन्तरेण विमतिप्रतिबोधनार्थायेष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरं तत्त्वार्थसूत्रपद-विवरणं क्रियते तत्रादौ नमस्कारश्लोकः :—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

× × ×

मध्य भाग (पृष्ठ ८३, पंक्ति ६)—

"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"

टीका—स्पृश्यते वा स्पर्शनमात्रं स्पर्शः, स च मूलभेदापेक्षयाष्टविधो मृदुकठिनगुरुलघु-शीतोष्णस्निग्धरूक्षविकल्पात् । रस्यते रसनमात्रं वा रसः, स हि पञ्चविधः तिक्ताम्लकटु-कषायमधुरभेदात् । गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्धः, स द्विधा सुरभिरसुरभिभेदात् । वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः, स पञ्चधा कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात् । त एते भेदा उत्तरभेदोत्त-रोत्तरभेदापेक्षया संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पाश्च जायन्ते ।

स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्ते सन्ति येषां पुद्गलानां ते स्पर्शरस-गन्धवर्णवन्त इति नित्ययोगेऽत्र मत्वर्थीयस्य विधानं यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति । ननु 'रूपिणः पुद्गलाः' इत्यत्र रूपाविनाभाविनां रसादीनामपि ग्रहणात्तेनैव सूत्रेण पुद्गलानां रूपादिमत्त्वे सिद्धे अनर्थकमिदं सूत्रमिति । नैष दोषः । 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्यत्र सूत्रे धर्मादीनां नित्यत्वादिप्ररूप(णा)या पुद्गलानामरूपत्वे प्राप्ते तन्निरासार्थं रूपिणः पुद्गलाः

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI DECEMBER, 1940. No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
Babu Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 4. Foreign Rs. 4-8. Single Copy Rs. 1-4.

CONTENTS.

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

Vol. VI No. II	ARRAH (INDIA)	December 1940

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A Chakravarti, M A., I.E.S.

Continued from Vol VI, No. I, page 8,

The merchant gave his daughter in marriage to this robber. She resolved to win the favour of her husband ; and from that time on, adorned with all her adornments, she prepared her husband's meal with her own hand. After a few days the robber thought to himself, 'When can I kill this woman, take her jewels and sell them, and so be able to take my meals in a certain tavern? This is the way.'

He took to his bed and refused to eat. She came to him and asked, 'Are you in pain?" 'Not at all, wife.' 'Then perhaps my mother and father are angry with you?' 'They are not angry with me, wife.' 'What is the matter, then?' 'Wife, that day when I was bound and led through the streets, I saved my life by vowing an offering to the deity that lives on Robber's cliff ; likewise it was through his supernatural power that I gained you for my wife. I was wondering how I could fulfil my vow of an offering to the deity.' 'Husband, do not worry ; I will see to the offering ; tell me what is needed' 'Rich rice-porridge, flavoured with honey ; and the five kinds of flowers including the Tāja flower." "Very well, husband, I will make ready the offering."

Having prepared the whole offering, she said to her husband "Come, husband, let us go.' 'Very well, wife; let your kinsmen remain behind; put on your costly garments and adorn yourself with your precious jewels, and we will go gaily, laughing and disporting ourselves.' She did as she was told. When they reached the foot of the mountain, the robber said to her, "Wife, from this point on let us two go alone; we will send back the rest of the company in a conveyance; you take the vessel containing the offering and carry it yourself.' She did as she was told.

The robber took her in his arms and climbed the mountain to the top of the Robber's cliff. (One side of this mountain men can climb; but the other side is a precipitous cliff, from the top of which robbers are flung, being dashed to pieces before they reached the bottom; therefore it is called "Robber's cliff"). Standing on the top of the mountain, she said, 'Husband, present the offerings.' Her husband made no reply. Again she spoke, "Husband, why do you remain silent" Then he said to her, 'I have no use for the offering; I deceived you in bringing you here with an offering." 'Then why did you bring me here, husband.' 'To kill you, seize your jewels, and escape.' Terrified with the fear of death, she said to him, 'Husband, both my jewels and my person belong to you; why do you speak thus ?'. Over and over again she pleaded with him. 'Do not do this,' but his reply only was, 'I will kill you.' 'After all, what will you gain by killing me? Take these jewels and spare my life; henceforth regard me as your mother, or else let me be your slave woman and work for you.' So saying, she recited the following stanza,

> Take these golden bracelets, all sets with beryls
> Take all, and welcome; call me your slave-woman.

The robber, hearing this, said to her, 'Despite what you say, were I to spare your life, you would go and tell your mother and father all. I will kill you. That is all. Lament not with vehement lamentation.' So saying he recited the following stanza,

> Lament not over much; tie up your possession quickly.
> You have not long to live; I shall take all your possessions.

She thought to herself, 'Oh, what a wicked deed is this ?. However, wisdom was not made to be cooked and eaten, but rather to make men look before they leap. I shall find a way of dealing with him.' And she said to him, 'Husband, when they caught you in the act of committing robbery and led you through the streets, I told my mother and father, and they spent a thousand pieces of money in ransoming you and they gave you a place in their house, and from that time on I have been your benefactress; to-day do me the favour of letting me pay obeisance to you.' 'Very well, wife,' said he, granted her the favour of paying obeisance to him, and then took his stand near the edge of the cliff.

She walked around him three times, keeping him on her right hand, and paid obeisance to him in the four places. Then she said to him, 'Husand, this is the last time I shall see you. Henceforth you will see me no more, neither shall I see you anymore.' And she embraced him both before and behind. Then, remaining behind him, as he stood off his guard near the edge of the cliff, she put one hand to his shoulder and the other to his back, and flung him over the cliff. Thus was the robber hurled into the abyss of the mountain, and dashed to pieces when he reached the bottom. The deity that dwelt on the top of the Robber's cliff observed the actions of the two, and applauding the woman, uttered the following stanza:

Wisdom is not always confined to men;
A woman, too, is wise and shows it now and then.

Having thrown the robber over the cliff, the women thought to herself, "If I go home, they will ask me, 'Where is your husband ?' and if in answer to this question, I say, 'I have killed him' they will pierce me with their knives of their tongue, saying 'We ransomed the scoundrel with a thousand pieces of money and now you have killed him.' If, on the other hand. I say, 'He sought to kill me for my jewels,' they will not believe me. I am done with home." She cast off her jewels, went into the forst, eand after wandering about for a time came to a certain hermitage of nuns. She reverently bowed and said, 'Sister, receive me into your order as a nun'. So they received her as a nun.

After she had become a nun, she asked 'Sister, what is the goal of your religious life.' 'Sister, the development of spiritual ecstasy through the employment of the Kasinas, or else the memorising of a thousand articles of faith, this is the highest aim of our Religious Life." "Spiritual ecstasy I shall not be able to develop, Reverend Sister; but I will master the thousand articls of faith." When she mastered the thousand articles of faith, they said to her, "You have acquired proficiency; now go through the length and breadth of the land of the Rose-Apple and look for someone able to match question and answer with you."

So placing a branch of Rose-Apple in her hands they dismissed with these words, "Go forth, Sister, if anyone who is a layman is able to match question and answer with you, become his slave; if any monk, enter his Order as a nun, adopting the name 'Nun of the Rose Apple' She left the hermitage and went about from place to place asking questions of everyone she saw. No one was able to match question and answer with her; in fact, such a reputation did she acquire that whenever men heard the announcement, "Here comes the Nun of the Rose-Apple," they would run away

Before entering a town or village for alms, she would scrape a pile of sand together before the village gate and there plant her rose apple branch. Then she would issue her challenge. 'Let him that is able to match question and answer with me trample this rose-apple branch under his feet.' So saying, she would enter the village. No one dared to pass beyond that spot. When one branch withered, she would procure a fresh one.

Travelling about in this way, she arrived at Sāvatthi, planted the branch before the city gate, issued her challenge in the usual way, and went in to seek alms. A number of young boys gathered about the branch and waited to see what would happen, Just then the elder Sāriputta, who had made his round and eaten his breakfast and was on his way out of the city, saw those boys standing about the branch and asked them 'What does this mean?'. The boys explained matters to the Elder. Said the 'Elder, Go ahead, boys,

trample that branch under your feet.' 'We are afraid to, Reverend Sir.' 'I will answer the question; you go ahead and trample the branch under your feet.' The Elder's words supplied the boys with the necessary courage. Forthwith they trampled the branch under their feet shouting and kicking up the dust.

When the nun returned, she rebuked them and said, 'I don't intend to bandy question and answer with you,' how did you come to trample the branch under your feet?.' 'Our noble Elder told us to.' 'Reverend Sir, did you tell them to trample my branch under their feet?.' 'Yes, Sister.' 'Well then, match question and answer with me'. 'Very well, I will do so.'

As the shades of evening drew on, she went to the Elder's residence to put her questions. The entire city was stirred up. The people said to each other, 'Let us go and hear the talk of the two learned persons.' Accompanying the nun from the city to the Elder's residence, they bowed to the Elder and seated themselves respectfully on one side.

The nun said to the Elder, 'Reverend Sir, I wish to ask you a question.' 'Ask it, Sister.' So she asked him the thousand articles of faith. Every question the nun asked, the Elder answered correctly. Then he said to her, 'You have asked only these few questions; are there any others?.' 'These are all, Reverend Sir.' 'You have asked many questions; I will ask you just one; will you answer me?.' Ask your question. 'What is one' She said to herself, 'This is the question I should be able to answer'; but not knowing the answer, she inquired of the Elder, 'What is it, Reverend Sir?.' 'That is the Buddh's question, Sister.' 'Tell me also the answer, Reverend Sir.' 'If you will enter our order, I will tell you the answer.' 'Very well, admit me to the Order.' The Elder sent word to the nuns and had her admitted. After being admitted to the Order, she made her full profession, took the name Kuṇḍalakeśi, and after a few days became an Arhat endowed with the supernatural faculties..

In the Hall of Truth the monks began a discussion of the incident. 'Kuṇḍalakeśi heard little of the Law, and yet she succeeded in being admitted to the Order; moreover, she came here after fighting a fierce battle with a robber and defeating him.' The teacher came in and asked them, 'Monks, What is it that you are sitting here discussing now ?.' They told him, 'Monks, we assure not the Law. I have taught as being 'little' or 'much.' There is no Superior merit in a hundred sentences that are meaningless; but one Sentence of the Law is better. He that defeats all other robbers wins no victory at all, but he who defeats the robbers, his own Depravites, his is victory indeed.' There he joined the connection and preaching the Law, pronounced the following stanza :

> Though one should recite a hundred stanzas
> Composed of meaningless sentences
> Yet one Sentence of the Law were better
> Which if a man hear he is at peace.
> Though one should conquer a thousand
> times a thousand men in battle,
> Yet would he be the mightiest conqueror
> Who should conquer one himself.

Neelakeśi which is one of the five minor Kāvyas in Tamil is evidently an answer to Kuṇḍalakeśi, the Buddhistic work. As is suggested by the author himself the story is not taken from among the Purāṇic stories. The story is probably an imaginative creation by the author merely to serve as a frame-work for introducing philosophical discussions. The work has not seen the light of day up to the present. The present writer is trying to bring out an edition of this rare classic which is in the press. In the course of a few months it may be made available to the public[1]. The story begins with a scene laid in Pāñcāla Deśa which is otherwise known as Pārtti Nāḍu. The king of the land is referred to be Samudrasāra and his capital is Puṇḍravardhana. On the outskirts of this city there is a cremation ground which goes by the name of Palalaiyam. There is also a famous Kālı temple there. Just about the Kālı temple there is a Jaina Yogin called Municandra. One day

[1] Since edited by him.

people from the town brought as their offering to the Kālī a number of beasts and birds. The Jaina Ācārya asked them the reason for this extraordinary sacrifice. In answer they gave that these animals and birds they had to offer to Kālī for the queen gave birth to a child as the result of Kālī's blessing. The Jaina Ācārya informed those persons that the Goddess would be quite satisfied if baked clay models of animals and fowls were set up as their offerings before the Kālī temple. Such a procedure would be quite enough to satisfy the Goddess and to fulfill their vows. Further it would relieve a number of animals from death and also save themselves from the sin of Himsā. This teaching evidently appealed to the people at large who drove away all their animals back to their home. This behaviour of the people very much upset the Goddess Kālī who realised that she was not capable of frightening away the Jaina ascetic because of his superior spiritual culture. But now she wanted to drive him away from the precincts of the Kālī temple so that he might not interfere with the regular sacrifice. Hence she went about in search of her chief, the great Neelakēśi, of the southern country, before whom the complaint was placed as to the Jaina ascetic's interference with the regular sacrifice and worship at the Kālī temple. The great Neelakēśi marched towards the north in order to get rid of this Jaina Yogin and to restore regular worship and sacrifice at the Kālī temple at the city of Puṇḍravardhana. Neelakēśi created there several frightening situations hoping to drive away Municandrācārya. All her attempts to frighten the Yogin proved futile. He was not the person to be easily got rid of He was firmly rooted in his practice of Yoga and no amount of dreadful circumstances created in the environment would affect his calm and peaceful meditation. He went on as if nothing had taken place around him. Then Neelakēśi thought that the only way by which she could defeat this Yogin by some hook or crook, was to deviate him from his spiritual purpose and draw him towards sensual pleasures. She thought that this would be the surest way to spoil his penance. With this object in view, she put on the beautiful form of the princess of the land and began to play the coquette before the Yogin. She behaved even as a public courtezan trying to attract the Ācārya. Even this attempt

proved no more successful. In the meanwhile, Municandrācārya himself told her the whole truth. He made her understand that she was not really the princess from the royal household, that she was merely the chief of the Devatās attempting to frighten him away from the place in order to restore their usual animal sacrifice. This plain speaking made her realise the greatness and the wisdom of the Yogin, and she confessed before him that all he stated was true and begged him to pardon her. When she was pardoned by the Yogin, she, out of gratitude, expressed her willingness to adopt, in future, a more healthy and reasonable course of life and wanted him to help her in this by teaching her the fundamental principles of Ahiṁsā. When she heard the noble religious principles of Ahiṁsā she felt extremely grateful to the Guru and begged him to say what would be the best thanks-offering from the disciple. When he told her the best form of thanks-offering that he would have was to go about the land preaching this doctrine of Ahiṁsā, she accordingly accepted the task and thereafter taking the human form she devoted her time in propaganda work in favour of Ahiṁsā doctrine. This is the subject matter of the opening chapter Dharman-Urai-Carukkam.

The 2nd chapter Kuṇḍalakēśivādacarukkam is devoted to the discussion that Neelakēśi had with Kuṇḍalakēśi who was the representative of Buddhism. Naturally in this discussion Kuṇḍalakēśi is represented to be defeated by Neelakēśi. Kuṇḍalakēśi is made to acknowledge her defeat and to accept the doctrine of Ahiṁsā. Neelakēśi learns from Kuṇḍalakēśi that her teacher is one Arhacandra, a Buddhistic scholar.

The 3rd chapter is devoted to the discussion with Arhacandra who is also made to acknowledge his defeat in the discussion. Arhacandra after accepting Neelakēśi's religion of Ahiṁsā directed her to Mokkala, one of the chief disciples of Gautamaśākyamuni and one of the early founders of the Buddhistic Saṅgha.

To be continued.

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M R. A. S.

Continued from Vol. VI. No. I, page 16.

3. *Truth must be spoken.*—P. E. 7 and Brahm R. I.) Asoka's this precept is exactly the *Satyānuvrata* (vow of Truth) of Jainism[115] and for its right observance Asoka instructs the people to guard one's speech according to Dharma, which also constitute a certain *Bhāvanā* for the right observance of truthfulness in Jainism.[116]

4. *Moderation in Expenditure and possessions.*—(R. E. 3.) Asoka seems to represent in this precept the last *aṇuvrata* Parigraha-parimānavrata of the Jainas.[117]

5. *Self-control and purity of heart*—(bhāvaśuddhi R. E. 13). I think Asoka preaches the remaining two *aṇuvratas* of the Jainas through his teaching of self control and purity of heart. A self controlled and pure-hearted man can hardly be suspected of a guilt of theft and adultry.

6. *Distribution of gifts and respect*—(*dānamvapūjā*). In Jainism too, the main observance of Dharma for a layman is regarded in honouring the worshipable and distributing gifts to Brāhmaṇas and Śramaṇas.[118] To covet not other's wife and possessions means to subdue one's sensual cravings and to be pure at heart is nothing but to qualify oneself to acquire great merit, for on heart (or bhāva) depends the good and bad of beings.[119]

7. *Means of Acquiring Dharma.*—Asoka says that "happiness in this world and in the other world is difficult to secure without great love of Dharma, careful self-examination, great obedience and service, great fear and great energy." (P.E.I) It is alright according to Jainism as well. To keep faith in Dharma means great love for

---

115. Tattvārthadhigam—Sutrā S. B. J., p. 142.

116. *Ibid*, p,138 *Bhāṣhā-Samiti* vow of Jainism also is but to guard one's speech "क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च।"

117. Ratna Karandakam, 3—15.

118. Śri Kundakaundāchāryaḥ
दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मो, ण सावगो तेण विणा।'—श्रीकुन्दकौन्दाचार्यः

119. So says Jainachārya—"भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणविंति।"

it and a layman observing it passes a happy life here and after death attains to heavens.[120] Along with it self-examination is also essential. In Jainism it is called प्रतिक्रमण Pratikramana; and the Jains layman practises it every day when he observes his Sāmāyika-vow. [121] Great obedience and service of Asoka likewise seems to be the Vaiyāvratāya-Vow of the Jainas[122] and the great fear of Asoka is akin to the fear of transmigration etc., described in Jainism.[123] Last of all Asoka names the great energy as an essential for acquiring Dharma and here too he is quite minutely following the Jaina teaching, which instructs the layman to observe the great energy *utsāhbhāvanā* (उत्साहभावना).[124]

8. *Gifts of Asoka.* - Asoka exhorted people in order to observe Dharma, to keep oneself aloof of the *papāsrava* अपास्रव) to do many a good deed, to practise compassion, liberality, truthfulness and purity. (अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सचे सोचये मधुदाने). Asoka bestowed the gift of spiritual sight and granted many kindnesses up to the boon of life to animals birds and denizens of water. He got established hospitals not only for human beings but also for animals. He also distributed food to infirms and poors.[125] Thus Asoka's gifts

---

120. 'सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि च तहपुणो वि फासेदि ।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खय णिमित्तं ॥८४॥
—अष्टपाहुड़ पृ० २२१

'अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ।'
'पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जसिं पियो तवो संयमो य, खंति य बम्भचेरं च ॥'

121. "दव्वे खेत्ते काले भावे य किदावराह सोहणयं ।
णिंदण गरहण जुत्ता मण वच कायेण पडिकमणं ॥२६॥ - मूलाचारः ।"

122. Vaiyavrittya Karana —serving the meritorious.
Tattvarthadhigamsutra, (S. B. J.) p. 134.

'प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।'२०।९।

123. 'जिणवयण मणु गणेता संसार महाभयँपि चिंतता ।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्म मरणेसु ॥८०५॥ मूलाचारः ।'

124. 'उच्छाह भावणासं पसंस सेवा सुदंसणे सद्धा ।
ण जहदि जिणसम्मतं कुव्वन्तो णाणमग्गेण ॥१४॥'—अष्टपाहुड़ पृष्ठ ८९ ॥

125. [illegible] Asoka p. 132, 175 & 188—193.

are also in accordance to Jainism, for in it are described four kinds of gifts *i.e.*, (1) gift of knowledge (2) gift of life, (3) gift of food (4) gift of medicines.[126] Moreover it is the teaching of Jainism only that through the inflow (आस्रव) of bad Karmas sins are accumulated to which Asoka refers so remarkably. In Buddhist and Brahmans religions the (अपास्रव) is not to be found in this sense.[127] Compassion is very back bone of Jainism and truthfulness & purity also find an important place in Jainism.[128] Thus Asoka's gifts and method of observance of Dharma are quite in accordance to Jainism.

9. *Asoka's gentleness.*- Asoka says that to observe self-examination is difficult, but one should not let ruin one self by ferocity, cruetly, anger, arrogance and jealousy.[129] It points to the gentleness of the heart of Asoka. He imitates the Jain maxim that "live and let live and help others to live a happy life." Prisoners of Capital punishment did also receive kind attention of Asoka and he allowed them 3 days to observe and get observed by their relations religious vows and liberality etc. Here too Asoka acts according to Jain spirit, for he attracts the attention of prisoners to die a right death which constitute a vow itself in Jainism.[130]

10. *Asoka's Dharma yātras* —were indeed for his own good and that of other souls. " On these tours," says Asoka, " the following takes place : visiting Sramanas and Brahamanas and making gifts to them, visiting the aged and supporting them with gold, visiting the people of country, instructing them in Dharma and questioning them about Dharma as suitable for this occasion " (R. E. 8) Asoka's these tours seem to be simply the copy of the *Vihāra* of *Chaturvidha Jain Sangha,* in which *Śramaņas* instructs and questions generalaity about Dharma and pious people worship and

126. Tāttvarthādhigam—Sûtra (S. B. J.) p. 55.
127. Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol. VII p. 472.
128. "उत्तमक्षमामार्दवार्जव सत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६।६॥
—तत्वार्थसूत्र
129. P. E. III. 130. Tāttvarthādhigama—Sûtra (S-B J) p. 145.
See also Bhandarkara, Asoka pp, 126—127.
"मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥७॥"

distribute gifts to *śrāmaṇas* (ascetics) and Brahmanas (Vrati Śrāvaka) They also observe general liberality (Karuṇādāna) by distributing gifts without any distinction or limit to infirms, poor and needy [131]

11. *Dharma in a nutshell.*—In R. E. XIII Asoka described ' Dharma in a nutshell ' as the right behaviour towards all, manifesting itself tn (1) *akṣati*—non-injury, (2) *Saṃyaṃ*—restraint, (3) *Samācharaṇaṃ*—equal treatment and (4) *Mārdavaṃ*—mildness, in respect of all creatures, human beings, as well as beasts and birds (Sarva Bhūtānām).' * Asoka's this surmise of Dharma is also akin to Jaina view. Non-injury, restraint, mildness and equal treatment are most essential of the ethical rules of Jainism.†

Thus it is clear that the teaching of Asoka for the good of people in the next world as well, is quite in conformity to Jaina teaching. It seems that Asoka had closely followed it in drafting out his code of religious morality. Asoka is an ardent lover of Dharma and he exhorts people again and again to observe it in any shape—fully or in part एकदेशः (ēkadēśah 7th R. E) for, he knows that it is very difficult to observe the Dharma fully. (11th R. E.) It seems as if Asoka is refering here to the twofold Dharma of the Jain scriptures *i.e.*, (1) Dharma for ascetic and (2) that for laity. In the former it is obligatory to observe the Dharma fully, but in the latter it is not so.[132] A laity should observe the Dharma according to his energy. Asoka says clearly that it is not an easy task to observe the Dharma fully it requires rather great energy, zeal and sacrifice.

Asoka's following teachings are also in accordance to Jainism and they seem to have codified simply to promote the happiness in the

131. *Dāyadatte-dāna* of Jainism.

बृहत् जैन शब्दार्णव भा० २ पृ० ४९२

* Mookerjee, Asoka p. 70.

† Outlines of Jainism, pp. 67—73.

132. 'एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जईधम्मं णिकल वोच्छे ॥२७॥ अष्टपाहुड पृ० ९९,
"निरत: कात्स्न्र्य निवृत्तो भवति यतिः समयसार भूतोयं ।
यात्वेकदेशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय ।

present life of human beings. These are :—(1) obedience to mother and father, to elders and teachers, respect of pupils to their gurus. (R E IX)[133] (2, Arrangement of medicine for man and animal alike, to send medicinal trees and herbs to other countries and to plant trees and got dug wells etc, on roadside for the benefit of man and animal.[134] (2 R. E. & P. E. 7.) (3) To honour relations and serve elders (4. R. E.) to visit the aged and give them gold. R. E. 8.) (4) Proper treatment towards Śramaṇas and

133. Respect is defined as a very root of Dharma in Jainism See Uttaradhyayan, *e.g.*

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ॥"

× × × ×

'तिण्हं दुप्पडि आरं समणाउसो तं जहा।
अमपिउणो भट्टिदायगस्स धम्मापरियस्स॥

× × ×

'तं पुण पिय माइ सहोयरेसु पणइणि अवच सयणेसु।
गुरुजण नायर परतित्थिएसु पुरिसेण कायव्वं।'

× × ×

'तम्हा विणयमेसिज्जा सीलं पडिलभेज्जए।'—उत्तराध्ययन १ अ०

× × ×

'देवभक्त्या गुरूपास्त्या सर्वसत्त्वानुकम्पया।
सत्संगत्वाऽऽगमश्रुत्वा गृह्यतां जन्मनः फलम्॥'

× × ×

'सावज्जजोगविरई, उक्त्तिण गुणवओ च पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा, वणतिगिच्छगुणधारण चेव।

134. Jainas are found ever enthusiastic to give aushadhidān (औषधिदान) and they have their free dispensaries in most of the important towns of India. The Jaina Ayurvedic dispensary at Barnagar (Malwa) is even sending medicines to Africa and other foreign countries. Moreover the Jainas are only people who are alert to have opened hospitals for animals. They also got dug wells and tanks and lay groves for the benefit of all.

Brahmans and servants and dependants (9, P. E.) and the poor and miserable (P. E. VII.)[135]

Asoka afforded these above comforts to the people simply for the reason that the people might strictly follow the path, laid down by Dharma (P. E. 7.) In Jainism too the *Laukika Dharma* is prescribed only to gain the Dharma *Pari-Laukika.*

Philosophy of Asoka.

The belief of Asoka in philosophical dogmas as evident from his edicts is also the same as upheld by Jainism. We shall see it in the following lines :—

1. *Āsrava and actions of people* : - I is clear from the edicts that people attain to happiness or misery in this world and the other by their own good or bad actions. Danger for m: n near Asoka is only the bad inflow (अपास्रव). Certainly a man of world can only be happy in this and the next world when he acquires great merit (Punya) and finishes with the *pāpāsrava* so far as possible. Hence Asoka's bel ef in good and bad *āsrava* according to the actions of people is similar to Jain philosophy.

2, *Immortality of Soul* :—Asoka is almost silence on this point, but since he admits parloka (Next world) it is clear that he understood the immortal nature of soul. Surely if there is endless happiness in heaven, there must be an endless being for enjoying this happiness otherwise that happiness would not be endless. Here too Asoka follows the Jain philosophy.

3 *Eternity of Loka* :—Asoka seems to accept loka, and parloka as eternity, since he speaks of endless happiness to be enjoyed in it. In Jainism too the Loka has been described as eternal, though in consequence of time and space, it has been divided in many parts and periods[136]. Asoka also accepts its parts & periods, since he names

135. While defining *Ahimsā* Umāsvāti has given injuctions for the proper treatment of servants and dependents. (Tattvārthādhigam-sutra, pp. 146-147) For the poor and miserable Jainism has laid down the rule of *Karunādāna* (करुणादान) and we find in the scriptures 'दुहियं दिजय दानं अणुकंपनेन ।'

136. Tattvārthādhigam-Sūtra, III. 6c , IV 14c., V. 12.

para-Loka *i e.* heaven and hell and "*Kalpa-Kāla*" as well.

4. *Non injury, the nucleas of Dharma*:—Asoka put great stress on the non injury of all living beings so much so that it is the very spirit of his Dharma. It is surely just the same thing as found in Jaina philosophy. Jainism teaches that no body can attain to heaven by sacrificing live animals on the alter of Dharma—it is rather its pollution. Asoka proclaims this very philosophical truth in his edict.

5. *Dharma is meant for all*:—Asoka was very very anxious that the observance of Dharma may be practised by one and all—low and high as well as happy and miserable. His propagation of Dharma was for the good of all (सवलोकहित) Asoka was indeed very liberal in his this proclaimation and it seems that here he imitates the Dharma chakravarti (Tirthankara) of the Jainas.[137] This catholicity of Asoka is of course contrary to the dogmas of Brahmanas, who raised walls of restrictions and limits in the realm of religion and Asoka was successful in his this laudable effort.

6. *Celestial beings of Asoka*:—It is evident from the Brahmagiri and other edicts that Asoka tried to get mingled the people with the celestial beings (देव). While intrepreting the dreams seen by Chandragupta the Jain author says, that celestial beings are not to be seen here during the present era of time[138]. Asoka seems to support this very view, when he says that celestial beings who were unmixed got mixed now. But how he caused them to mix with people ? Certainly they could not come from heavens in this world during this era. Asoka must have known this, but as he was very anxious for the propagation of Dharma and knew that people will not bring faith on heavens unless a clear visible knowledge of them

137. Nandisūtra 1, 2, 306.

जहा पुण्णस्स कत्थति, तहा तुच्छस्स कत्थति ।
जहा तुच्छस्स कत्थति, तहा पुण्णस्स कत्थति ॥१॥२॥३०६ - नंदीसूत्र ।

138. Bhadrabāhucharit: ch. II st. 36.

"व्यघुट्यमानं गीर्वाणविमानं वीक्षितं ततः ।
कालेऽस्मिन्नाऽऽगमिष्यन्ति सुरखेचरचारणाः ॥३६॥"

is imparted to them[139], he endeavoured through other means to assure them of the existence of heavens and for this Asoka showed their images to the people. The celestial chariot, and elephant, agniskandha *etc.*, which Asoka showed to the people are traceable in the 16 dreams which the mother of a Tirthankara sees and the carved and painted images of which are shown to Jain laitly in general[140]. Asoka might have taken the idea from the Jainas and brought it into practice. Even to this day in the Rathyātras of the Jainas wooden elephants and *vimāns* are to be seen. By showing *vimāns* and elephant Asoka seems to have indicated *vaimanik* (वैमानिक देव) *devas* (celestial beings) and his display of *Agni-Skandha* likewise indicate to the firelike dazzling bodies of the *Jyotishi and other devas* of Jain philosophy[141].

7. *Heavens: result of meritorious deeds*:—The result of meritorious deeds near Asoka is to attain to heavens. He is silent and speaks nothing about *Nirvāna*; which is the *sumum Bonum* in both the religions Buddhism and Jainism. On this account the belief of Asoka may be doubted as that of Brahmanism But seeing the conformity of other dogmas and teachings of Asoka with Jainism, it is hardly tenable that he went against the Jain view on this point. Rather his silence about *Nirvāṇa* is in agreement to Jain philosophy; for, according to Jainism nobody can attain to *Nirvāṇa* from this part of land during the present era of time[142]. Hence Asoka rightly exhorted the people to observe the ethics of a house holder's Dharma only. With *Nirvāṇa*, Asoka is silent about ascetics and asceticism as well, which mainly aim to *Nirvāṇa*. He seems to teach the people the Dharma of a house holder and a house holder of course can

To be continued.

139, cf. Uttarādhyayana.

'जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडाय गच्छइ। न मे दिट्ठे परे लोए चक्खुदिट्ठा इमारई ॥१३॥
वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इम्मभि लोए अदुवा परत्था *etc.* उत्तराध्ययन ५।५

140. Harivaṃsapurāṇa, and the "Jaina" Silver Jubilee No. p. 78

141. Trilokasāra, g. 332 ff and Uttrādhayayana-Sûtra, 3. 14—15. "महासुकाव दीप्पता"।

142. Ashtapāūḍha, 338 अष्टपाहुड (बम्बई) पृ० ३३८।

The Southern Asmaka

BY

G. N. Saletore, M. A.

The Aśmakas were an ancient community having settlements both in the *Uttarāpatha* and the *Dakṣiṇāpatha.* It is more or less certain that their capitals in both these territories were named Pōdanapura. This conjecture receives some support in the suggestion that the southern townships of Madurā, Pāṇḍya, Pratiṣṭhāṇa and Aśmaka were most likely Āryan colonies christened after their mother cities[1]. The southern Aśmaka was also known in later times as Sapādalakṣa and Barbara.

The Aśmakas of the north are mentioned in the *Mahābhārata*[2]. Aśmaka was the putative son of the ṛṣi Vasiṣtha and Madayantī, the queen of Kalmāṣapāda. Accordingly he is said to have founded the city of Paudanya[3]. The *Vāyu Purāṇa* makes Aśmaka and Mūlaka the scions of the Ikṣvāku race[4]. Aśmaka according to Pāṇini denotes a kṣatriya tribe, a country and a king belonging to that country[5]. Assaka (Aśmaka) was one of the *Sōḍasa Mahājana-*

1. Bhandarkar, *The Carmichael Lectures*, 1919, pp 11-12, 15-16. Cf. Kosamba, Pāṭaliputra, Virāṭa and Ujjeni of southern history On the Aśmakas in general read, *The Cambridge History of India*, I, pp. 141, 172-3, 352-6, 468 ; Bhandarkar. *Ibid*, pp 53-4 ; B C Law, *Ancient Indian Tribes*, pp. 86-92; *Ibid, II*, pp.26-7 *Ibid, Heaven and Hell in Buddhist Perspective*, p. 74 ; *Ibid, Geography of Early Buddhism* pp. 21-22 ; *Ibid, Geographical Essays, I*, p. 32; Raychaudhuri, *Political Hist. of Ancient India*, pp. 76, 121-2, 193, 197-8, 352, 411 (Calcutta, 4th Edn.); Stein, *On Alexander's Track to the Indus*, pp. 42-3, 58-61, 121-4, 135, 153, 157-9 ; Tarn, *The Greeks in Bactria and India*, pp. 151, 169-70.

2. *Mahābhārata*, Jayadrathavadha, VII, 85, 1606.

3. *Ibid*, I, 77, 47 : *Aśmakonāmarājarṣiḥ Paudanyaṃ yonyaveśayat* ; cf. *Viṣṇu-purāṇa*, pp 382-3 (Ed. Wilson)

4. *Vāyu Purāṇa*, ii, 26, 176-177, 149.

padas of Buddha's time[6]. The *Jātakas* distinctly aver that this Aśmaka kingdom had a capital called Pōtali[7], Pōtana[8], or Pōtanagara[9]. A king named Aśmaka reigned in Pōtali which was a city of the kingdom of Kāśi[10]. Its location is established by the fact that it is placed between Śūrasena and Avanti.[11] Much valuable light is thrown by Jaina sources about this capital of Aśmaka[12]. Pautana[13] or Pōdana[14], doubtless the Pōtana of the Buddhists and Paudanya of the Hindus lay to the west of Ayodhyā[15]. The Pāñcālas, Matsyas, Kacchas and Kurus once fought a deadly battle with the Pōdana king and his allies, Sindhupati, Lambakarṇa, etc.[16] The Greek historians have left accounts of the tribe called Assakenos and Alexander's conquest of their city called Massaga[17]. Aristoboulous[18] and Arrian[19], likewise, have characterized their country as "mountainous," "hilly and rugged." Varāhamihira locates Aśmaka in the north-west[20]. Bāṇa evidently refers to this northern Aśmaka in the following passage: "Śarabha, the Aśmaka king, being attached to stringed music, his enemy's emissaries disguised as students of

5. Pāṇini, *Aṣṭādhyāyi*, IV, 1, 173

6. *Aṅguttara Nikāya*, I, 213; *Ibid*, IV, 252, 256, 260; *Mahāvastu*, I, 34

7. Fausböll, *The Jātaka*, II, No. 207, p 155; *Ibid*, No. 301, p. 3

8. Dialogues of the Buddha, III, *Dīgha Nikāya*, Mahā GovindaSuttanta, 236, pp. 270-1

9. *Vimānavatthu Commentary*, (P. T. S.), pp. 259-260

10. Fausböll, *Ibid*, No. 207, p. 155

11. *Ang. Nik*, I, 3, p. 213; *Ibid*, IV, 14, pp. 252, 256, 261-2; Fausböll, *Ibid*. V, No. 532, p 317, Malalasekhara, *A Dictionary of Pali proper Names*, I, p. 222

12. Read K. P. Jain, *Pōdanapura and Takṣaśilā* in the *Jaina Antiquary*, III, pp. 57-66 for an exhaustive account.

13. Vimalasūri, *Paumacariu*, IV, 67-77

14. Puṣpadanta, *Mahāpurāṇa*, I, VII. 21, l. 4, p. 115 (Ed. Vaidya)

15. Jinasena, *Harivaṁśapurāṇa*, XI, 78, p. 212

16. Dhanapāla, *Bhaviṣayattakahā*, Chs. XIII, XIV (G. O. S.)

17. M' Crindle, *The Invasion of India by Alexander the Great*, pp. 66. 68. 69, 176, 200, 201, 272, etc., (1893).

18. *Ibid*, *Ancient India as described in classical literature*, p. 22. (1901)

19. *Ibid*, *The Invasion*, pp. 60-61

20. Varāhamihira, *Bṛhatsamhitā*, XIV, 22, p. 91. Cf. also *Ibid*, IX, 18, p. 60; XI, 55, p. 79 etc. (Ed. Kern)

music, cut off his head with sharp knives hidden in the space between the vīṇā and its gourd "[21].

The southern Aśmaka is mentioned in the Purāṇas[22]. Aśmaka and Kalinga are the subject matter of the *Culla Kālinga Jātaka* thereby showing that this Aśmaka was in the south rather than its northern namesake. It is related that when king Kalinga was reigning in Dantapura in the Kalinga kingdom, Assaka was the king of Potali in the Assaka country. The two kingdoms were contiguous as the following incident bears out : When Kalinga invaded the Aśmaka rāṣṭra, Nandiṣeṇa, the minister of the latter sent a message to him—"Let Kalinga abide within his own marches and not encroach upon ours, and the battle shall be fought on the frontiers of the two countries." Both the rulers then halted within the limits of their respective territories[23].

The Brāhmaṇa Bāvari's hermitage was on the bank of the river Godāvarī in the Assakaviṣaya, in close proximity to Mūḷaka or Aḷaka[24]. The capital of Mūḷaka was Patiṭṭhāṇa (Pratiṣṭhāṇa)[25]. That this Aśmaka was on the Godāvarī is also proved by *Vasudevahiṇḍi* a Jaina work which has been assigned by Dr. Jacobi to " not later than the sixth century "[26] and by Dr. Alsdorff to ' a much earlier date than the sixth century A. D."[27]. This work affirms that Poyaṇapura (Pōdanapura) was situated on the (bank of the) Goyāvarī

21. Bāṇa, *Harṣacarita*, VI, 192. The rulers whose fate is described by Bāṇa. as having met their end on account of mistaken carelessness, hailed from the north. Ibid, pp. 192-4

22. *Vāyu*, 46 127. 65 ; *Brahmāṇḍa*, 16. 58. 27 ; *Mārkaṇḍeya*, 54. 48 60 ; *Vāmana*, 13. 49. 21 ; *Viṣṇudharmottara*, I. 9 5. 7 ; *Viṣṇu*, p. 188 (Ed Wilson)

23. Fausböll, *The Jātaka*, III, No. 301, p. 4. On Kalinga, See Pāṇini, I. 169

24. *Sutta Nipāta*, V. 976-7, p. 190 : *So Assakassa visaye Mūḷakassa samāsane vasi Godhāvarīkūle uñcenaca phalenaca*. Cf Śarabhanga's hermitage was also on the bank of the Godāvarī in the Assaka country. Mahāvastu, III, 363; Law, *Geographical Essays, op. cit.*

25. *Ibid*, V, 1010-1013, *p*. 194

26. Jacobi, *Pariśiṣṭhaparvan of Hemacandra*, p VII (Bibl. Ind. 2nd Edn)

27, Alsdorff, *Bulletin of the School of Oriental Studies*, VIII, p. 320 seq.

(Godāvarī)[28]. All indigenous accounts are positive regarding the fact that Pōdanapura was the capital of the northern Aśmaka. The evidence of the *Sutta Nipāta* and *Vasudēvahiṇḍi* therefore enables us to assert that the capital of the southern Aśmaka was also known as Pōdanapura. Some of the kings of this Pōdanapura were Siri Vijaya (Śrī Vijaya)[29], Puṇṇabhadda (Pūrṇabhadra)[30], Dakkha (Dakṣa)[31], Sōmacanda (Sōmacandra)[32] and his queen Cāriṇīdevī[33] Nothing is known of their historicity.

The antiquity of the southern Aśmaka is also established by epigraphic evidence. The Hāthigumphā inscription of Khāravela the Great relates that regardless of king Śātakarṇi he sent a large army to the west to strike terror into Asaka (or Asika) nagara[34]. The Nāsik *praśasti* of Queen Balaśrī proclaims that her son Gautamīputra Śātakarṇi conquered Asika, Asaka, Mūlaka, Suraṭha, Kukura, Aparānta, Anupa, Vidabha, Akāra-Avanti, Vijha, Acavata, Pārivāta, Sahya, Kaṇhagiri, Maca, Siriṭaṇa, Malaya, Mahida, Setagiri and Cakora[35].

The name of the Aśmaka ruler subverted by Gautamīputra is, nowhere revealed. The Ajanta inscription of Cave No. 17, however,

28 Sanghadāsagaṇin, *Vasudēvahiṇḍi* II, p. 354 (Bhāvnagar, 1930) : *tato tuṭṭho bhaṇai sāmi jai evaṃ vaccāmo nayaraṃ mayā paḍivaṇṇaṃ tato amacca parivāra-saṃparivuḍo uttiṇṇamo Goyāvarīnadiṃ tattha hāyi kayaṇḍigā sīhavāhiṇiṃ turaehiṃ pattāmo Pōyaṇapuraṃ.*

29. *Ibid*, II, p. 316. 30. *Ibid*, II, p. 255. 31. *Ibid*, II, p. 275.

32—33. *Ibid*, I, p. 17

34. *Transactions of the International Oriental Congress*, III, p 135 (Leyden, 1883); Jayaswal, *J. B. O R. S.*, XIII, pts. 3 & 4, pp. 221-24 ; Barua, *Old Brahmi Inscriptions in the Udayagiri and Khaṇḍagiri Caves*, pp. 11, 42 (Calcutta. 1929) : *dutiya ca vase acitayatā Sātakaṁṇiṃ pacimadisaṃ haya-gaja-nara-radha-bahulaṃ pathāpayati Kalimgāgatāyaca senāya vitāseti Asakanagaraṃ.*

35. Burgess, *Arch. Survey of Western India*, IV, Nāsik No. 14, pp. 108-9; *E I.*, VIII, p. 60. Cf. The *Dakṣiṇātya* countries mentioned in the *Harivaṃśa*-Mūlaka, Aśmaka, Daṇḍika. Kalinga, Asiṅka, Kuntala, Navarāṣṭra, Mahiṣaka, etc , Jina-sena, *Harivaṃśapurāṇa*, XI, 7), p.210. The Asika of the Nāsik record is probably the same as the Asiṅka of the *Harivaṃśa* and the Aśika of the *Matsyapurāṇa*, CXIV, p. 309 (S. B. H. Series)

furnishes a regular genealogy of these rulers. Bhagavânlâl Indrâji identified Hariṣena mentioned in the inscription with the Vâkâṭaka monarch of that name[36]. Palaeographically the record has been assigned[37] to about the end of the fifth or the beginning of the sixth century A. D. Burgess suggested, on the basis of the contemporaneity of Rudradâsa ?) and Raviśâmba with Hariṣeṇa (C. A. D. 500–520), that the first king probably began to reign in about A. D. 250.[38] The descent may be set forth as follows :—

Aśmaka king (? Name lost) C. A. D. 250
|
Dhṛtarâṣṭra (C. A. D. 275)
|
Hariśâmba (C. A D. 300)
|
Sauriśâmba (C. A. D. 325)
|
Upendragupta (C. A. D. 350)
|
Kâca (I) (C. A D. 375)
|
Bhikṣudâsa (C. A D. 400)
|
Niladâsa (C. A. D. 425)
|
Kâca (II) (C. A. D. 450)
|
Kṛṣṇadâsa m. Sucandrâ (C. A. D. 475)
|
Rudradâsa — Raviśâmba (C. A. D. 500)
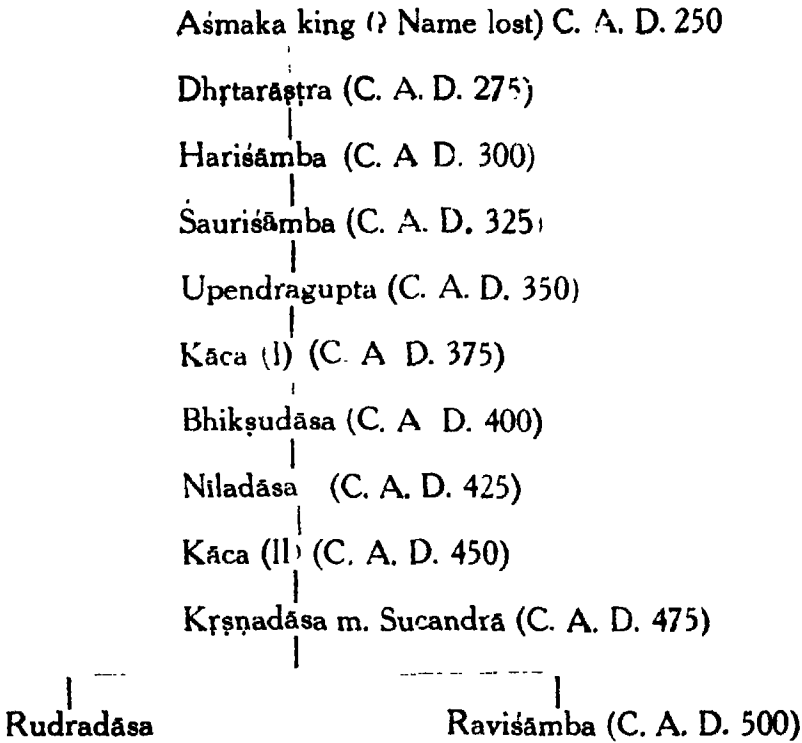
The record states as follows : To the Aśmaka king (name lost) who had obtained existence through.... . and wore a white parasol (over his head), was born Dhṛtarâṣṭra, who likewise, bore a white

36. Burgess and Indraji *A.S.W. I, Inscriptions from the Cave temples of Western India*, p. 73.

37. Burgess, *A. S. W. I*, IV, *Report on the Buddhist Cave temples and their inscriptions*, pp 128-129.

38, *Ibid.*

parasol. The latter's son was Hariśāmba, whose son was Śauriśāmba. The next king was Upendragupta who is called one of widespread fame (*pṛthu kīrttir dyutimān*), but his relation to Śauriśāmba is not clear. Upendragupta's son was Kāca who was the first of that name. Whether Bhikṣudāsa was the son of Kāca is also not clear from the record. But Bhikṣudāsa's son was Nīladāsa who became famous on earth (*pṛthito bhuvi*). His son and successor was Kāca (II), whom the record styles as one of brilliant fame (*prathitaḥ Kāca iti pradīpta kīrttiḥ*.) Nīladāsa, the son of Kāca then became the increaser of the splendour of that king's race and line. Kṛṣṇadāsa's queen was named Sucandrā, and they had two sons, the elder (name lost) and the younger Raviśāmba. Of these brothers the inscription records thus: -" . (with or by) Aśmaka and others . ... having conquered with very great ... .. . they shone like sun and moon ... While those two whose creeper-like friendship and glory had grown very much, were living always in concord and happiness, the thunderbolt of ... .whose decree is not to be evaded even by ... ..and whose dread strength is produced by deeds done in former existences, was hurled on the younger one"[39]. It has been observed that this implies that the younger brother died a premature death[40]. It cannot be made out from the fragmentary inscription who exactly built the great *Caitya* whose construction is mentioned in the record, but it was obviously by the Aśmaka king or his minister Acintya. The expression used in connection with the elder brother that " he was the first born to enjoy the office of the sole ruler" (*ekādhipatyaṃ prathamo babhāra*) implies that he assumed independence

The name of this elder brother of Raviśāmba seems to have been preserved in a copper-plate from Śirpūr in the Khāndesh district The grant is in shell-characters which have been referred to the beginning of the sixth century A. D. This record is one of a

39. Burgess and Indraji. *Op. Cit.* pp 73-76 ; Burgess, *A. S. W. I*, IV, pp. 128-132.

40. Burgess, *Ibid*, p. 131; but Bhagvānlāl (Burgess and Indraji, *Op. Cit*, p.73) is of opinion that the elder murdered Raviśāmba and later repented for it.

Mahārāja Rudradāsa who bore the epithet of 'meditating on the feet of the paramount sovereign' (*Parama Bhaṭṭārakapādānudhyāta*) and made a gift of the field of Ghōṭakatala to the west of the village of Vikaṭṭāṇaka in the Kaśapura sub-division (?). The boundary of the field is mentioned as extending till Kohalaṭṭaka which may be a field or village. The grant was made to a Brāhmaṇa named Drōṇīlaka of the Bhāradvāja gōtra[41]. The extant portion of the plates does not give the genealogy, but from its find-spot and the suffix *dāsa* it has been inferred that Rudradāsa belonged to the family of the rulers of Aśmaka. "... it is possible that Rudradāsa may be the elder son, whose name is now illegible in the record (i e., Ajanta Cave no. 17) of Kṛṣṇadāsa."[42]

A third record found on a pilaster in Nāsik Cave No. 26, and in characters belonging to the latter half of the sixth or beginning of the seventh century A D. contains the details that Bhāvirāja was the minister of the magnanimous Aśmaka king (*mahānubhāvāśmakarāja mantriṇam*)[43]. The son of Bhāvirāja, Dēvarāja, is likewise said to have continued in the same office (after the death of his father) (*itthambhūtasya putrōpi Dēvarāja dhurandharaḥ*)[44]. In honour of Bhāvirāja and that of his father and mother, Bhikṣu Buddhabhadra caused to be built a temple of Buddha[45]. The reference to the Aśmaka king appears to connect this record with that of Cave No. 17[46].

Towards the middle of the fifth century A. D. the Aśmakas fell a prey to the arms of the Rāṣṭrakūṭa ruler Māṇāṅka. The Pāṇḍurangapaḷḷi plates of Avidhēya assigned by Dr. Krishna to A. D. 516 contain the significant details that Māṇāṅka, his grand-father, conquered the countries of Aṅga, Vidarbha, Aśmaka and Sātkuṇṭa[47]. It has been rightly opined that this shows that Māṇāṅka had to struggle against the rulers of the later Gupta, Vākāṭaka and Aśmaka

41. I. A, XVI, pp. 99-100. 42. *Ibid*, p. 99. 43. Burgess, Op. *Cit.* pp. 133-136. 44. *Ibid*, pp. 134-5. 45. *Ibid.*, 46. *Ibid*, p. 58.

47. *Mys. Arch. Rep*, 1929, pp, 197-8, 207 : *Svasti Vasudhādhipatir Anga Vidarbha Aśmaka vijetā Māṇāṅkanṛpatiḥ.*

territories prior to his rise to power[48]. It is evidently to these southern Aśmakas that Varāhamihira refers to in the following order: Among the peoples of the south were the Coḷas, Drāviḍa (Pallava), Videha (? , Āndhra, Aśmaka, Konkaṇa, Kuntala, Keraḷa, Daṇḍaka, Mlēccha etc [49].

The interstate relations in the Dakṣiṇāpatha about this time have been vividly described by Daṇḍin in the *Dāsakumāracarita*: In Vidarbha, Anantavarmā succeeded Puṇyavarmā of the Bhōjavaṁśa. The new king spent his time in dissipation and his minister Vasurakṛita realised that the kingdom might fall into the hands of the neighbouring king, and feudatory, Vasantabhānu, the ruler of Aśmaka. Before long the Aśmaka king took stock of the decadent state of affairs in Vidarbha, and through Indrapālita, son of his minister Candrapālita, and other secret agents, soon reduced the Vidarbha army to sore straits by internal treachery. Vasantabhānu then incited Bhānuvarmā, the king of Vanavāsi, to wage a war with Anantavarmā (*atha Vasanta bhānu Bhānuvarmaṇāṃ nāma Vanavāsyaṃ prōtsāhya Anantavarmaṇāṃ vyagrāhyat*). When the borders of his dominion were invaded Anantavarmā set his army in motion. Outwardly Vasantabhānu maintained a semblance of loyalty and, by forestalling the other feudatories in rendering his services against the Vanavāsya, became a favourite of the Vidarbha king. The royal army then marched out and encamped near the Narmadā. Among the feudatories of Vidarbha was the Kuntala prince (*Kuntalapati*) *Mahāsāmanta* Avantideva. Then in the camp Anantavarmā became enamoured of a female dancer, in the service of Avantideva, named Kṣamātalōrvaśī. Vasantabhānu observed this and acquainting Avantideva of Anantavarmā's dissipation poisoned his mind against the latter. Thereafter with a combined army consisting of 100 elephants of Vasantabhānu and 500 of Avantideva, they allied themselves with other disaffected chiefs like Vīrasena, ruler of Muralā, Ēkavīra, the chief of Ṛṣīka, Kumāragupta, the ruler of Konkaṇa and Nāgapāla,

48. *Ibid*, p. 208 ; also read *the Early Rāṣṭrakūṭas of Mahārāṣṭra*, in *K V. Rangaswami Aiyangar Comm. Volume*, p. 58 (Madras, 1940)

49. *Bṛhastamhitā*. XVI. II, p. 101.

the ruler of Nāsikya, and winning over other feudatories the rebels gave battle to Anantavarmā and completely defeated him. Vasantabhānu whom Daṇḍin calls *nayāvaliptaṃ Aśmakendra* and *Śāṭyaniṣṭura Aśmaka* subsequently brought about a quarrel among the princes, on the pretext of dividing the spoils of war according to power, whereupon he seized their wealth. He then gave a small portion of it to Bhānuvarmā and marching back established himself in Vidarbha for a short time[50].

How far this account can be relied upon for historical purposes cannot be made out. Most of the rulers of this confederacy are unknown from other sources. Of these, however, Bhānuvarmā alone can be identified with a certain degree of precision. It is possible that this Vanavāsya Bhānuvarmā is the same as Kadamba Bhānuvarmā, the younger brother of Ravivarmā. A solitary copper-plate hailing from Halsi, records a grant made by Kadamba Bhānuvarmā and another by a follower or subordinate of his named *Bhōjaka* Paṇḍara, in the reign of his elder brother Ravivarmā. It continues as follows: " ... . and his (Ravivarma's) younger brother is king Bhānuvarmā, who is resplendent, and who effects the welfare of himself and of others[51] . ...Land of the measure of 15 *nivartanas*, in ' the field called) Kardamapaṭi at Palāśikā, free from gleaning tax and all other burdens was assigned in a copper-charter (and so was given) on the 10th lunar day in the 6th fortnight of the winter season in the 11th year of the reign of the pious great king Śrī Ravivarmā, by the *Bhōjaka* Paṇḍara, the worshipper of the supreme *Arhat*, who had acquired the favour of the feet of the glorious king Bhānuvarmā "[52].

In the above record the phrases *Bhūpakanīyaṃ* and *Śrīmad Bhānuvarmarājalabdhapāda prasādena* imply that Bhānuvarmā enjoyed a certain amount of independence. Indeed, Fleet observed

50. Dandin, *Daśakumāracarita*, VIII, pp. 190-203 (Bombay, 1903, Ed. Godbole and Parab).

51. I. A. VI, p. 28 : *tad bhārtā Bhānuvarmā svaparahitakaro bhāti bhūpakanīyaṃa.*
52. *Ibid.*

thus on the latter epithet: "Apparently, then, Ravivarmā and Bhānuvarmā were reigning jointly."[53] The identity of Vanavāsya Bhānuvarmā and Kadamba Bhānuvarmā, if tenable, shows that Kadamba Bhānuvarmā was engaged on his northern frontier in subverting the Vidarbhas, while his elder brother was in Banavāsi, thereby supporting Fleet's suggestion that Bhānuvarmā was an important personage in Kadamba history. It may also be noted that the Kadambas were in some way connected with the Vidarbhas. Thus *Bhōjaka* Paṇḍara, *Bhōjaka* Dāmakīrti[54] and *Bhōjaka* Śrutakīrti[55] appear as officials under the Imperial Kadambas.

Nothing is known about the southern Aśmaka until the 7th century when Cāḷukya Arikēsari I (C. A. D. 686—713) the lord of Sapādalakṣa country is known to have bathed his 500 elephants at Pōdana in tanks filled with oil. This achievement has been mentioned in the records of his successors. Thus Pampa in his *Vikramārjunavijaya*[56], the undated Vemulavāḍa inscription of Arikēsari II[57], and the Parbhaṇi plates of Arikēsari III dated 966 A. D. [58] give an account of this feat.

The Sapādalakṣa country mentioned above was no other than the southern Aśmaka. As we have already seen Pōdana was the capital of Aśmaka. This equates the latter with Sapādalakṣa, and is corroborated by a verse in the *Yaśastilaka* which is as follows:

Garjaṃ jahīhi Bhōjāvanīśa Cēdīśa viśāśmavaśaṃ pradeśaṃ

Aśmantakavēśmavihāya yāhi Pallava laghukēlirasaṃ apaihi[59]

53. *Ibid*, p. 29, note (4 .

54. *Ibid*, pp. 24—25.

55. *Ibid*, pp. 26—27.

56. Pampa, *Vikramārjunavijaya*, I, 16—17, p 4. (1931).

57. *Jl. Andhra H. R. S.* VI, Pts 3—4, p. 185.

58. *Prabuddha Karnāṭaka* for Śrīmukha Samvatsara, *Vināyaka Saṅcike*, p. 78, ff; Q. J. B. I., M. XIII, No. 31. p. 49.

59. Sōmadēva, *Yaśastilaka Campū*, I, i, 207, p. 187, (Bombay, 1916).

The commentator Śrutasāgara observes as follows on the word Aśmantaka : *he Aśmantaka Sapādalakṣaparvatanivāsin tvaṃ veśmagṛhaṃ vihāya tyaktvā yāhi gaccha*[60].

It is interesting to note that Sapādalakṣa was also known as Barbara. This detail is also found in the following eulogistic verse in the *Yaśastilaka*:

Garvaṃ Barbara muñca mā carata re Pāñcālakaccāpalaṃ

keliṃ Keraḷa saṃharapraveśa re Madreśa deśāntaraṃ[61] etc.

The commentator gives the following rendering *re Barbara Sapādalakṣaparvatādhiśa tvaṃ garvaṃ muñca madaṃ parihara mithyābhimānaṃ tyaja*[62].

From this account the following may be deduced :

1. That Sapādalakṣa denoted the region of One lakh and Quarter Mountains -- a meaning which is synonymous with Aśmaka, the rugged or mountainous country.

2. That Aśmaka, Sapādalakṣa and Barbara were different names of Aśmaka.

3. That Pōdana must have been their capital.

The vicissitudes of Aśmaka cannot be traced in the period after Arikēsari I. The city of Pōdana however became the capital of the Rāṣṭrakūṭa monarch Indra III (A. D. 915—922). The Bōdhan inscription of the reign of Trailōkyamalla, Somesvara I, dated A. D. 1056 relates that the Indra-nārāyaṇa temple erected at the capital Bōdhana by the Rāṣṭrakūṭa emperor Indra Vallabha having gone to ruin, Perggaḍe Jogapayya, a servant of Someśvara I, renovated and endowed it with gifts (specified)[63].

60. *Ibid*, p. 188 ; *Jl. Or. Research*, XII, p. 264

61 & 62. Sōmadēva, *Ibid*, I, iii, 113, p. 396.

63. *Hy. Arch. Series*. No. 7, pp. 2, 4.

It is evidently this Pōdana which has been immortalised in the annals of the Jainas of the south. In the 10th century it became associated with Cāmuṇḍarāya about whose patronage to Jainism many accounts bear witness. Thus the Gommaṭeśvara temple inscription dated A. D. 1180 narrates as follows: Who is so honourable as the high-souled Bāhubali, son of Puru, who having generously handed over the kingdom of the earth to his elder brother, who on defeat in a regular hand-to-hand fight unjustly left off speaking and when even the discuss thrown by him proved a failure was seized with shame, went forth and destroyed by his penance the enemy *Karma*? The emperor Bharata conqueror of all kings, son of Purudeva, *caused to be made near Paudanapura* with joy of mind, an image, 525 bows high, resembling the victorious-armed Bāhubali kēvali. After the lapse of a long time, a world terrifying mass of innumerable *kukkuṭasarpas* having sprung up in the region near that Jina, that enemy of sin obtained indeed the name Kukkuṭeśvara. Afterwards that region became invisible to the common people, though seen even now by many skilled in spells and charms (*prākṛtargg āyt agōcaram ant ā mahī mantra-tantra niyatar kkāṇbar ggaḍ innum palar*) ...... On hearing from people of the celebrated supernatural power of that Jina, a desire arose in his mind to see him and when he prepared himself to go, he was told by his preceptors that the region of that city was distant and inaccessible (*dūram durgamam tat-purāvani end-āryajanam prabhūdisidoḍe*) whereupon, saying " in that case I will cause to be made an image of that god," Cāmuṇḍa Rāya had the exquisite image of Gommaṭeśvara made at Śravaṇabeḷgoḷa[64].

This Paudanapura has been identified with Podan, modern Bodhan a village lying in Lat. 18°40 and Long. 77°53′ in the Nizamabad district of H. E.H. the Nizam's Dominions[65].

The Caulukyas of Gūrjara-maṇḍala had also political dealings with Sapādalakṣa. Mērutunga asserts that soon after his accession to the throne, Mūlarāja (A D. 941) was assailed by two armies, first by

64. E. C. II, No. 234 (85), p. 98 ; Saletore, *Mediaeval Jainism*, pp. 109—111.
65. Saletore. *Ibid*. p. 186.

that of the Sapādalakṣīya rāja and then by Bārapa, general of Tailapa the king of Telangadeśa. Unable to withstand these attacks Mūlarāja fled to Kaṇṭhādurga[66].

Jayasiṁha Siddharāja I (1094–1144) is known to have conquered, according to many inscriptions[67], the lord of Avanti, Tribhuvanagaṇḍa and Varvaraka (Barbaraka)[68]. It is related how Hemacandra alone could explain the Samskṛta verse sent by the king of Dahāḷa to king Jayasimha. On another occasion the king of Sapādalakṣa sent for Jayasimha's court poets the first portion of a Prākṛta *dodhaka*, when Hemacandra immediately composed the other half of it[69]. It appears that the name of the Sapādalakṣa ruler was Ānaka[70].

Kumārapāla (1149—1173) upon his accession to the throne decided to subjugate Arṇōrāja, the arrogant king of Sapādalakṣa. But he was successful only in the twelfth attempt when Arṇōrāja was defeated in the battle of Mount Arbuda. Mērutuṅga says that Kumārapāla having restored peace at home led an expedition against Arṇōrāja or Ānaka, king of Sapādalakṣa, and later against (the Śilāhāra) Mallikārjuna[71]. It is also related how when this ruler was converted to Jainism by Hemacandra, he proceeded to Sōmanātha Paṭṭaṇa where he was initiated into Jaina rites like *abhakṣaṇiyama, śrāddha dharma* etc., after which he promulgated a humanitarian decree which forbade killing of animals in Lāṭa, Surāṣṭra, Mālava, Ābhira, Mēdapāṭa, Maru and Sapādalakṣa[72]. The next ruler Ajayapāladeva (1173 - 1176) is again said to have levied tribute from the ruler of Sapādalakṣa (*karadīkṛta Sapādalakṣa kṣamāpāla*)[73]. It is not clear whether the Sapādalakṣa of the Caulukyas was the same as Aśmaka. However, the proximity of Aśmaka to Gūrjara maṇḍala is a fact which cannot be denied.

66. Merutunga, *Prabandha Cintāmaṇi*, I; pp. 24–26, (Bombay, 1932); Forbes, *Rās Mālā*, I, p. 51.
67. I. A. VI, Nos. 3–10; VII, Or. Conf. Proc, p. 644.
68. Merutunga, *Ibid*, III, p. 119.
69. *Ibid*, III, 22, p. 103.
70. *Ibid*, III, 51, p. 123.
71. *Ibid*, IV, pp. 128-30.
72. Jayasimhasūri, *Kumārapāla Carita*, VII, 581-82 (Bombay 1926).
73. I. A. VI, Nos. 3, 5-10; VII, Or. Conf. Proc. *op. cit*

THE SILAPPADIKĀRAM OR THE LAY OF THE ANKLET
TRANSLATED WITH AN INTRODUCTION AND NOTES

By

V. R. Ramachandra Dikshitar.

Speaking about the author's religion Mr Dikshitar says "Far more important is the question of his religious faith. The term 'Kunavayirkottam' is interpreted by Adiyarkkunallar as Aruhankoil, the name generally given to the Jaina temples. From this and from the term Adigal being used as a suffix to his name, the late Mr. Kanakasabhai opined that Ilango was a monk of the Nirgrantha sect of the Jainas. But this question is largely interwoven with the faith adopted and adhered to by his brother Śeṅguṭṭuvan. Adigal is a term of respect and is in use even today among saints, seers and holy men to whatever faith they may belong. Again the term Koṭṭam is a general name for temple, and cannot be said to denote particularly a Jaina temple. While we are examining this question it is necessary to call in the testimony of another datum and that goes to establish his religion beyond doubt. This is the fact of Ilango's attending the Vedic sacrifice elaborately performed by his brother after his return from his northern expedition. A follower of the Jaina cult, with his watchword of ahiṁsā, could not be expected to attend a function like the Vedic sacrifice. This, together with his presence on the occasions of the founding of the Pattini cult, conclusively shows that Ilango was a follower of the orthodox religion like his brother Śeṅguṭṭuvan."

From this quotation it is clear that Mr. Dikshitar is led to erroneous conclusion by ignorance of facts. In Tamil, term *velvi* is always used to denote fire ritual. Whenever it is intended to refer to Vedic sacrifice involving slaughter of animals they always use the term *Veda-Velvi* which means Vedic sacrifice. This is borne out abundantly in Tamil literature. Sambanda in his Thevaram, while condemning the Jains, brings the charge that they reject Vedavelvi or Vedic sacrifice. The author of the Kural also uses the same descriptive phrase to refer to Vedic sacrifice. Whenever the term

Velvi is used alone, it merely means fire ritual without involving animal sacrifice. Such a fire ritual has never been condemend by Jains, while they were staunchly opposed to Vedic sacrifice on the ground of Ahiṁsā. Even now among the Tamil Jainas fire-ritual is a common thing. During their marriages they do have the characteristic marriage-Homam with all its necessary details. Even in temple worship it is a common practice among the south Indian Jainas. Hence it is entirely erroneous to conclude that fire ritual is foreign to Jainas and that it could not be performed or attended by a Jaina.

On this erroneous ground Mr. Dikshitar bases his conclusion that Ilango could not have been a Jaina by faith for he attended the fire-sacrifice performed by the Chera King, his brother, who is assumed, to be a Sanātanist Hindu by faith. He miserably fails to notice that even in the sacrificial hall where distinguished good people were assembled there was an address on the Ahiṁsā doctrine based upon benevolent words of the daughters of the Gods (Kannaki). "Rise above pleasure and pain in accordance with the approved course of conduct. Know God, and serve those who have known him. Fear speaking falsehood. Avoid tale-bearing. *Refrain from meat-eating and abjure injury to any living being.* Give gifts and perform the prescribed penances. Do not give false evidence, and never depart from words of truth. Do not fail to join assemblies of people learned in Dharma. Strive ever to escape the meeting places of the unrighteous. Avoid other people's wives, and give succour to those who are dying. Protect the household virtues, but reject what is bad. Abstain immediately from drinking, theft, lust, falsehood, and useless company. Youth, wealth and the body are impermanent. You cannot escape from the days allotted to you nor can you avoid what will happen. So seek the best help to the land of your final destination (Heaven). Do all this, O dwellers on this wide prosperous earth." To preach the doctrince of Ahiṁsā in the Yāgaśālā after animal sacrifice would be incongruent and absurd. Hence the sacrifice referred to must be one based upon the principle of Ahiṁsā. The term used in *Śilappadikāram* for such a sacrifice is *Arravelvi*, fire sacrifice, according to the doctrine af Ahiṁsā. Chera king Śeṅguṭṭuvan

is praised in the epic for introducing '*Poobali*' flower offering in temple worship which clearly proves that he was the follower of Ahiṁsā Dharma. His brother Ilango who is testified to be the follower of Ahiṁsā by ancient commentator must be accepted as such. It is sheer intellectual perversity to draw any other conclusion based upon ignorance of facts. No doubt the king was tolerant of other faiths; but certainly he was the follower of Ahiṁsā Dharma and his brother certainly the Jaina Sannyāsi by faith.

A. C.

New Studies in South Indian Jainism.

III
Sravana Belgola Culture.
Sec (II)

A religious system that had preached and cheerfully practised *Such Ahiṁsa* was a "religion of strength", a religion of self-effort, possibly coloured by the Kshatriya origin of its earliest expounders, the Thirthankaras, especially Mahā Vira. It was a religion of the spirit, of the spiritual suffusion or spiritualisation of matter by intensive *dikshas* (concentrations) and sikshas (desciplines) which are in no sense emaciations of the body as ununderstanding non-Indians call them. It was indeed a religion of heroism really a *mahā-Viratwa* (महावीरत्व), a grand heroism, a practical culture of "Soham" (सोऽहम्), capable of realisation and realised, indeed, by persons in all stations and grades of life, high and low, men and women, and *lived* in medieval India, from day to day in the presence of the populace, the nation that lives in the Cottages. How it had appealed to the general, common, mind of the vast body of Andhra-Karnatakas will be clear from a few excerpts from the Sravana Belgola Inscriptions :—

Trans: (1) "To the lord of the three worlds, obeisance, the destroyer of birth, by the rays of his speech which establishes the truth overpowering the darkness of ignorance, *Santi* (No. 90 of A. C. 1181)".

(2) "Of unlimited joy and highest knowledge, remover by his power of the fear of others, of a glory manifest to all, the Supreme Intellegence—may he fill my mind (No. 108 of A.C. 1433)"

---

1. The Numbers in brackets refer to those in I. S. B. quoted in Section (i)
   I. S. B.—" Inscriptions of Sravana Belgola " by Lewis Rice (Bangalore 1889).

(3) "Shining with all jewels (sciences), freed from bilge water (ignorant people), the various morals its cabins, painted white with the purity of Syât-kāra (doctrine), the ship of faith, on which taking on board those who are overwhelmed in the ocean of family cares, they carry them over to the inland of immortality,—these Thirthankaras, may they be in the middle of my heart (108 of A.C. 1433)"

(4) "An ignorant man, manifestly corrupting his mind with passion, and enemity, may fail in devotion to the spirit, the form of all wisdom, the ever peaceful, but how can a wise man for a moment strive for any other end?" (54 of A.C. 1128).

From such statements, it is quite clear that what appealed strongest in the Jaina faith was its insistence on *the culture of the spirit, chit* and *ananda*, the spiritualisation or control of the body, the conquest of sex and desire, the dispelling of ignorance, the removal of fear, the cultivation of peace and the assurance of Immortality. The conquest of *Samsâra* or the transcendence of the sea of troubles, is its greatest achievement; neither by running away from it, nor by ending it as Hamlet thought, by suicide, but by "cultivating the spirit that is unaffected by it." The freedom from the cycle of births and deaths is its greatest aspiration. No wonder, then, that the natural *finale* of such a disciplined life is *Sallekhana*, 'the fast unto death' which is the last giving up of all dependence on earth and things earthly on the way to the Mahâprasthan, 'the great pilgrimage' from which there is no coming back as the Andhra popular funeral dirge[2] Sings. This *Sollēkhana* corresponds to *Prāyopavēsana* (प्रायोपवेशन) such as that of Parikshit, a rite of purification of body and the ego, of both the dēha (देह) and dēhi (देहि). It was entered upon most cheerfully by Jaina devotees, monks and

2. 'मललो जन्मानिकि रामु मरिचिपोकंडी' (we don't come again to birth : Please don't forget us.)

laity, men and women, rich and poor, and was celebrated as the "Crowing glory" of a life. Lewis Rice who first edited these epigraphs, however, thought that such a rite was inconsistent with the doctrine of *ahimsa* and therefore said in his Introduction to the volume of ' Inscriptions of Sravana Belgola "[3] :

> "The bitterest satirist of human delutions could hardly depict a scene of sterner Irony than the naked summit of this bare " rock dotted with emaciated devotees, both men and women, in silent torture awaiting the hour of self-imposed death. The irony is complete when we remember that avoidance of the destruction of life in whatever form is a fundamental doctrine of the sect."

European critics may still be of the same opinion as Lewis Rice, but still, it is a significant fact that, from the time of Bhadrabâhu in those early centuries down into the nineteenth century, have continued instances of this rite joyfully, enthusiastically and without any feeling of torture or pain, entered upon by devotees of this great Indian spiritual Sampradaya. Here below are details of *Sallekhana* of women that so entered upon this rite :—

No. (2) Nâgamati-Ganti of Chittur in \deyare-nad .
3 months vow.

No. (5) Jambu Nâyagi ... .. 1 month vow.

No. (10) Ēchal-goravi of Kuttara ....

No. (17) Echal-goravi wife of Santisena Muni..... ......

No. (20) (daughter) Nachchikavve.......... .

No. (28) The great Anantamati-Ganti of Naviher Sangha.. ......

No. (30) Sasirmati-Ganti, of lofty virtue, of firm qualities, of great learning...............

3. . S. B. page
4 I. S. B No. 1.

No. (44) A. C. 1121 Pôchâmbika, mother of Ganga Raja minister and general.. ....

No. (48) A. C. 1122 Dandanayakiti Lakkavve wife of general Ganga Raja··· · ···

No. (49) A. C. 1120 Demiakke wife of Chamunda Setti........

No. (53) A.C. 1131 Mâchikabbe mother of Santala Devi, the first queen of Hoysala Vishnuvardhana . ...
vow of 1 month.

This last mentioned event, the Sallekhana of Machikabbe, the mother-in-law of a reigning king is naturally the most highly celebrated one in these epigraphs and *Lewis Rice's translation* of the passages in the particular[5] epigraph refering to her is quoted here to *disprove his own view* of this rite :—

Trans. "With eyes half-closed. repeating the five words, glorious with meditating on Jinendra, magnanimous in parting from relative, absorbed in the vow of a *Sanyasi*, fasting for one month Māchikabbe herself attained god-head by means of her penance in the presence of all the blessed"

"That Mārasinga's wife, devoted to the feet of Jina, a union of all good qualities, of great attachment to her husband, thus praised by all the world did Machikabbe shine."

"Devoted to the feet of Jina, worshipped by her friends, a Cow of plenty to his dependents, like the wife of Kama, great in good qualities, loving to give, ever devoted to the lotus feet of Munis, a praise to the people, such was Marasinga's wife, thus to praise Machikabbe did the world love."

"Jinanatha being her favourite, Bala Deva her father, the chief of women, Bāchikabbe, the mother who bore her, her youngerbrother Singa ;—possessed of such greatness, the distinguished Machikabbe went to the world of gods amid

5 No. 53 of A. C. 1131. I. S. B.

the continual praises of all the earth; who can describe her (fitly), he alone can describe her."

"Among women, who took the vow of a sannyasi, who was able to endure like this? While all were thus saying, *she chose with joy the glory of fearful severe penance*; while learning shone in her minds, praising the lotus feet of Jina, amid the plaudits of the world, Machikabbe *with exultation* आनन्द attained god-head."

× × ×

"What Pandit in this world by his death obtained such glory as Machikabbe, performing unbroken severe penance?" (No. 53 of A. C. 1131)

Such "heroism" with *Jñan* and *ānand* had, no doubt, been characteristic of many a *Vīrapatni* and *Vīramāta* in ancient and medieval India.

Another characteristic feature of Jainism in its influence of what is generally called 'high life' is to impress on persons in it the idea of the trancience of riches, and the great need, therefore, for their sanctification by utilising them towards acts of social usefulness and exaltation of the faith and commemoration of teachers. We often hear in these epigaphs about this changefulness of fortune. The idea is thus stated :

No 26. (archaic)

'Sura-chāpam bole vidyul-lategala teravol mañjuvol tôṟe bêgam Pirudum Sri rūpa-lila-dhana-vibhava-mahā-rāsigal nillav ârggê Paramārttham-meecha nān idhariniyuliruvān endu Sanyasanage-yd uru Satvan Nandisena Ravara-meni-varan deva lokakke Sandān.'

Trans. Rapidly vanishing like the rain-bow, like clustering flashes of lightning or like heavy cloud, to whom are the treasures of beauty, pleasure, wealth and power secure? Thus saying, having assumed the state of a sanyasi, the great mighty one Nandi Sena, best and most excellent of munis, reached the world of gods.

From this point of view Jainism seems to have centred the whole problem of the spiritualisation of life on the *conquest* of desire, of sense, of sex and it not only recommended it to the ordinary householder, but even to the king, the general and the warrior, even to the most beautiful of them, as such temptations would be strongest to them and turn out to be the most destructive. While many literary works convertionally describe a heroic and handsome person in high life as "*a cupid to women*" (नारीमदन), Jainism recommends to such persons, the fight against cupid or Madana as their best fight and his conquest as the greatest heroism, both in descriptions of famous sages and famous heroes. In these inscriptions, this great principle of life is celebrated thus:—

(1) No. 53 of Ac. 1131 :—Vinayâditya of yādava race has among his titles:—"to other's wives a Hanuman[6] (Paravanitage Anilatanayam.)

(2) No. 108 of A. C. 1433 :—Of Siddhantayogi it is said—"whom, though his lotus feet were ever tinted with the rays from the crowns of bending kings, no substance and no woman and no clothing and no youthful pride, no strength and no wealth could tempt"

And Bhujbali or Gommateswara or Bahubali the brother of the great Emperor Bharata is celebrated as the greatest exemplar of such a *grand renunciation* to become a teacher of humanity,—an exemplar. This great feat was materialised to all time in the Colossal statue of Gommateswara on the Sravana Belgola Hill made in A. C. 1180 and the inscriptions celebrating it thus describe that *central event* in the life of that great Scion of Indian's most ancient royal and ruling family :—

No. 85 of A. C. 1190.

Trans. "Of unequalled beauty, superior to Manmatha, victor over kings, of great bounty, having subdued the whole world, *he gave it away*; of great kindness, engaged in penance, his two feet given to the earth, possessed of

6. Compare No. 56 of A. C. 1123 I. S. B.

perfect wisdom, freed from the bonds of action, how great is Bahubalîsa ! "

* * *

" Younger brothers, all my brothers have gone to penance; if you too go to this penance, I care not for this wealth, go not,"—heeding not thy elder brother who spoke thus, thou didst take *diksha,* Gommata Deva; who is equal to thee in sacrifice?"

" Say not thy feet are in my land, it is both thine and mine, it cannot be divided: the highest merit is *the power of imparting knowledge, thus it is said* in the Divine word " from they elder brother's thus saying " hast thou cast away the desire of self-glory, Gommata Deva."

* * *

" Thou, having fixed they mind unshaken on the indwelling spirit, love and all the desires of sense have fled away; the happiness of perfect spiritual knowledge increases, and by the complete destruction of sin, thou hast attained the state of final beatitude Gommata Deva, and unending happiness."

* * *

" Tho' Manmatha had formerly obtained in him the mastery of the empire of desire, and he was connected with the empire of the world—the discus weapon resembling the sun, discharged from the hand of Bharatā having struck on his powerful long arm, he forsook all, and for the sake of gaining the happiness of the *empire* of *mukti*, he took diksha, Bahubali, how do the worthy abandon all, saying what is it!"

It is under the ever living inspiration of such a *Râjarshi* that many a king, general, minister or warrior lived and described themselves as " Paranârî Sahôdara " (पर नारी सहोदर), brother to other's women. But the living, not for self-glory, but for the good of others, for the imparting to them of spiritualising knowledge, both by teaching

and the *example* of a life, was pursued as the ideal by the followers of this faith. Thus, tho" an ascetic, a stoic, a heroic, a self-perfecting, a self-denying, a desciplining religion, yet, from the sanyasis to the most ordinary desciples of it, *all lived it* as a *religion of social usefulness.* It is when and where it degenerated into a *mere routine*, *shodâsopachara* type of image worship (षोडशोपचार मूर्त्याराधन) and the *merely* traditional forms of respect paid *to gurus or mandalacharyas*, that it has assimilated itself to current types of popular Hinduism and become, like them, a mere formula or uninspiring symbolism. There is no use pretending now a days that it has not also so degenerated. My veneration is, therefore, to Jainism as it was practised in those early ages, tho' I cannot distinguish it from Popular Hinduism to-day, except in its traditional philosophy. But to return to the past;

A few passages will illustrate its *social appeal* in its palmy days :-

(1) No. 47 A C. 1115 Praise of Lakshmimati Dandanayakiti, by disciple of Prabhachandra Sidhanta Deva for her "gifts of food, shelter, medicine and instruction."

(2) No. 105 A. C. 1398. "The ignorant and the wise, the poor and the rich, the lowly and the honourable, evil and the good the sorrowing and the happy, the proud and the happy, the proud and the virtuous, he caused to be Samanta bhadra (fortunate) ....Sri charukirti.

To be contd.

REMNANTS OF THE 12TH JAINA ŚRUTĀṄGA DIṬṬHIVĀDA.*

BY

(Prof. Hiralal Jain, Amraoti)

I

Tradtion about the Aṅgas.

According to the unanimous tradition of both, the Digambara as well as the Svetāmbara Jainas, the teachings of the last Tirthaṃkara Mahāvira were arranged into twelve books called Aṅgas and they were handed down by word of mouth from preceptor to pupil till they began to fall into oblivion. But as to the subsequent history of the Aṅgas, the two accounts differ. The Śvetāmbaras hold that the canon of the Aṅgas was successively settled during the second, the sixth and the tenth century after the Nirvāṇa of Mahāvira, by congregations of monks at Pataliputra, Mathura and Vallabhi, under Sthūlabhadra. Skandilācārya and Devardhigaṇi respectively, and that the forty-five books now current as Āgamas were the result of the labours of the last congregation. The twelfth Aṅga Diṭṭhivāda was, however, irretrievably lost and what had remained of it was only the table of contents found in the various books of the restored canon.

This tradition the Digambaras do not accept. According to them the whole of the original canon was lost and what had remained of it was only fragmentary knowledge of the subject-matter which has been reproduced by subsequent writers in their own language. The only works which may be said to be directly associated with the canon were preserved in what are popularly known as Dhavala, Mahādhavala and Jayadhavala Siddhāntas. Of these works, however, a single manuscript was known to exist in Kanarese script on palm leaves at the Jaina pontifical seat of Mudabidri in South Kanara. For the last several centuries these mss. had been used only for worship and they were not available

---

* A paper read in the Prakrit section of the 10th All India Oriental Conerence met at Tirupathi in March 1940.

for study. It was only during the last twenty years that transcripts of two of them *i.e.*, the first and the third, had become available, and the information given here was the result of the axamination of those transcripts in connection with the edition of the same which the present writer has undertaken.

2
How fragments of Ditthivada were saved from oblivion.

An examination of the Dhavala Siddhānta ms. shows that it consists of Sūtras in Prakrit and a very extensive commentary in Prakrit alternating with Sanskrit in the nature of a Bhāṣya in which are found many verses, mostly Prakrit, quoted from older writers. This commentary has been called Dhavalā by its author Vīrasena who reveals himself in the Praśasti as the disciple of Elācārya and also a pupil of Āryanandi the disciple of Candrasena, belonging to the Pancastūpa line of teachers and completing the commentary on the 13th day of the bright fortnight of Kārtika in Śaka year 738, equivalent to the 8th October 816 A. D., when Jagattuṅga deva's reign had come to an end and Boddaṇaraya was ruling. These kings I identify with Govind III and his successor Amoghavarṣa I of the Rāṣtrakūta dynasty.

This commentary, in its introductory part, gives information about the composition of the original Sūtras as follows :—

The teachings of Lord Mahāvīra were arranged into twelve Aṅgas by his pupil Indrabhūti Gautama, and they were handed down from preceptor to pupil through a line of twenty-eight Ācāryās. But the knowledge was ever decreasing and what the last of the Ācāryās, Lohārya, knew in full was only the first Aṅga. After him only fragments of the Aṅgas were known to Dharasena who practised austerities at Girinagara in Saurāṣtra (modern Kathiawar). He felt the necessity of preserving the knowledge, and so he wrote a letter on the subject to the monks of southern India who had assembled at *Mahima*, probably Mahimanagarh in the Satara district. The latter sent two monks from the banks of the Benna in the Andhra country, and Dharasena, after satisfying himself as to the capacity of the monks to learn, taught to them the grantha. These two monks came to be known as Pupphayanta (Puṣpadanta)

and Bhūdabali (Bhūtabali), and they reduced the knowledge to writing in the form of the Sutras upon which the commentary Dhavalā has been written. The contribution of Puṣpadanta was the first one hundred and seventy-seven Sūtras, while all the rest of them were composed by Bhūtabali.

3
Period of restoration.

As regards the time of the composition of the Sūtras the commentary helps us to this extent only that it gives the list of Ācāryas up to the twenty-eight succession from Mahāvīra, records their period of time which comes to 683 years and declares that Dharasena lived sometime after that. But how long after, is not made clear. Other succession lists also record the same period, but one of them, the Prakrit Paṭṭāvali of Nandi Saṃgha, differs from them all materially in recording the time of each Ācarya separately in extending the list to four more Ācāryas amongst whom are included our Dharasena, Puṣpadanta and Bhūtabali and in showing them to have flourished between 614 and 683 years after Mahāvīra. The times mentioned herein and the account of the gradual disappearance of the Aṅgas appear to be more reasonable. The time given for Dharasena is in agreement with that of another independent authority the *Brihat ṭippaṇikā* which attributes a work by name *Joṇipāhuḍa* to Dharasena and assigns it to 600 years after Vīra Nirvāna. The time of the composition of the Sūtras, thus, falls, according to the traditional reckoning of Vīra Nirvāṇa, betweeen 87 and 156 A. D.

4
Commentaries on the restored texts.

Yet another authority has preserved for us an account of the commentaries that were written from time to time on the Sacred Sūtras. This authority is the *Śrutāvatāra*. The time of its composition is not definitely settled, but one conjecture identifies its author Indranandi with the Indranandi Guru mentioned in the *Gommaṭasāra*. This makes Śrutāvatāra a work not later than the eleventh century A. D. The details preserved in this work about the composition of the Sūtras are substantially the same as those recorded in the commentary of Vīrasena. There is yet another circumstance that shows the work to be reliable. The author, when

he speaks about the place of Dharasena in the succession list of Acāryas boldly confesses that 'he does not know it because he came across no book or teacher declaring the same.' This shows that where the author is informative he relies on some tradition, oral or written, and not merely on his own imagination.

Indranandi gives some details of five commentaries written upon the Sūtras before Vīrasena. The first of these was called *Parikarma*, Its extent was twelve thousand Ślokas and its author *Kundakundā-cārya* the celebrated author of several Prakrit works We find numerous references to Parikarma in the Dhavalā itself and the quotations given from it are all in Prakrit. This shows that the commentary was written in Prakrit. The time of Kundakundācārya is about the second century A. D. There seems to be no reason to doubt the statement of Indranandi. The second commentary mentioned by Indranandi is *Paddhati* by *Sāmakuṇḍa*, also equal to twelve thousand slokas is extent. The third is *Cūḍāmaṇi* by *Tumbulūrācārya* in Kanarese and as extensive as ninety-one thousand ślokas. The fourth is ascribed to *Samantabhadra*, a celebrated name in Jaina literature. This is said to have been written in "very beautiful and tender Sanskrit," to the extent of forty-eight thousand ślokas. The fifth commentary was the *Vyākhyāprajñapti* by *Bappadeva Guru* in Prakrit equal to seventy-three thousand slokas in extent. It was written at *Maganavalli* near *Utkalikā*, a village situated between the rivers *Bhīmarathi* and *Kriṣṇamekha* Indranandi also tells us that Vīrasena had this commentary before him when he wrote the Dhavalā and this is borne out by the fact that we find references to and quotations from it in the commentary of Vīrasena. The details given by Indranandi about the locality where Bappadeva wrote may be taken to indicate that he was more closely acquainted with this work than with the previous ones and that he may not have Leen separated too long from him. Though the time of these commentators is uncertain, we would not be far wrong in separating them from each other by a century and assigning them to the third, fourth, fifth and sixth century respectively.

Unfortunately, however, all these commentaries are at present mere names to us, except so far as we can find traces of some of them in the commentaries of Virasena. But it is not unlikely that some of them are still reposing in some manuscript stores of the Deccan which has proved itself so pregnant with such treasures, awaiting the hand and the eye of the explorer, even as the Dhavalā itself had remained locked up for centuries at Mudabidri.

5
Variations in the texts and dogmas and the language of the Sūtras.

Even a peep into the Dhavalā is enough to give us a glimpse of the wealth and richness of the literature that Virasena had before him. He had to deal with several different readings found in the several Sūtra books (*Sutta potthaesu*) that he had before him and the varying interpretations put upon them by earlier writers and teachers. These he frequently quotes, refutes or supports, or leaves the question open for the verdict of those " who might know better than himself." Of a particular interest are his references to the dogmas of two different schools of thought which he calls the *Northern* and the *Southern*, he himself identifying with the latter. He also mentions and quotes from several authors and works that are otherwise unknown to us, for example, *Sārasaṃgraha* of Pūjyapāda, *Chedasutta*, *Kammapavāda* and *Daśakaraṇi-saṃgraha* and *Joṇipāhuḍa*.

As regards the language of the Sūtras, the technical terminology is almost wholly *Ardhamāgadhi* as also many other forms. For the rest, the phonology and morphology is predominantly *Sauraseni* but exhibiting signs of Mahārāṣtri influence. Thus, we may say that the back ground of the language of the Sūtras is Ardhamāgadhī, the general structure is Śaurasenī and there is a superimposition of Mahārāṣtrī. How Mahārāṣtrism has developed in the language might be illustrated here. There are several verses of Prakrit quoted by Virasena in his commentary from earlier writers. Many of these verses recur in the *Gommaṭasāra* of Nemicandra which was based upon the work of Virasena, and some of those verses appear in the later work in a strikingly Mahārāṣtricised form. Not only this, but the contrary phenomenon is also discernible. Some verses in the

Gommaṭasāra retain the Śauraseni traits while they appear in a Mahārāṣṭricised form in the manuscript of Dhavalā. From this it appears probable that the latter traits may have been imparted by the copyists. It is, however, difficult to say definitely at present how far the Mahārāṣṭri influence was originally in the Sūtras and how far it may have been developed later.

6
Extent of Diṭṭhivāda and relation to it of the Saṭkhaṇḍāgama.

The most interesting part of the commentary is that it gives us details of the extent of the twelfth Aṅga *Diṭṭhivāda* and indicates clearly what part of it has been reproduced in the present Sūtras. Diṭṭhivāda consisted of five parts, the fourth of which was called *Pūrvagata*. Purvagata again, contained fourteen sections, the second of which was known as *Āgrāyaṇīpūrva*. Of the fourteen sub-sections of Āgrāyaṇīpūrva, the fifth was *Cayanalabdhi* which itself contained twenty books called *Pāhuḍas*. Amongst them the fourth was *Kammapayaḍi-pāhuḍa* the twenty-four topics of which form the subject matter of the Sūtras and the commentary we are dealing with. Only one small section of the work is based upon Viyāhapannatti.

The work of Puṣpadanta and Bhūtavalī has been called by Vīrasena, *Chakkhaṇḍa siddhānta* and it acquired subsequently the popular name of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*. The names of the six Khaṇḍas are *Jīvaṭṭhāṇa, Khuddābandha, Bandha-sāmitta-vicaya, vedaṇā,* Vaggaṇā and *Mahābandha*. Their subject-matter is Karma philosophy which is dealt with in the first three khaṇḍas from the point of view of the soul which is the agent of the bondage, and in the last three khaṇḍas from the point of view of the objective karmas, their nature and extent. On this twofold division of the subject-matter of this Āgama were based the two parts of Gommaṭasāra of Nemicandra Siddhāntacakravarti, namely the Jivakāṇḍa and the Karmakāṇḍa. The first five Khaṇḍas are said to contain six thousand Sūtras and these, together with the commentary Dhavala of Virasena which is said to be Seventy-two thousand ślokas in extent, is popularly known as the Dhavala Siddhānta. The extent of the sixth Khaṇḍa is said to be thirty or forty thousand ślokas and it is entirely the work of

Bhūtabali himself. It is this Khaṇḍa, *i.e.*, the Mahābandha that is popularly known as Mahādhavala. The only surviving manuscript of it still reposes in the sanctuary of Mudabidri Jaina temple.

Yet another teacher by name Guṇadharācārya is responsible for the preservation of another portion of the Diṭṭhivāda about the same time as Dharasena. Of the fourteen Pūrvas the fifth was known as *Jñānapravāda* consisting of twelve *vastus* or subjects. Of the twenty Pāhuḍas included in the tenth Vastu, the third was called Pejjadosa-pāhuḍa, and it is this Pāhuḍa that was preserved by Guṇadharācārya in 180 Gāthās under the name of *Kasāya Pāhuḍa*. The commentary written by Vīrasena and his pupil Jinasena on this work is sixty thousand ślokas and is called Jayadhavala. This work is popularly known as *Jayadhavala Siddhānta.*

The information given in these works as to their origin shows the vast extent of the Aṅga literature in general and of the twelfth Aṅga in particular, and they afford us a peep into the subject matter of the lost Diṭṭhivāda. A fuller scrutiny of their contents is yet to be carried out and it is likely to throw considerable light upon the mystery of the name Pūrva or Pūrvagata and the story of their disappearance. In this connection it is noteworthy that the Śvetāmbara Jainas have preserved versions of the first eleven Aṅgas but they take the twelfth Aṅga to be entirely lost. The eleven Aṅgas are disowned by the Digambara school which, however, has scrupulously preserved the above mentioned portions of the twelfth Aṅga unknown to the Śvetāmbaras. The two traditions thus inscrutably seem to complement each other.

Select Contents of Oriental Journals.

1. *Bulletin of the Deccan College Research Institute, Vol. I, Nos. 2—4 (March, 1940)*:—

pp. 157—168. *Jaina Yakṣas And Yakṣiṇīs* by H. D. Sankalia. Different types of Yakṣa images are discussed.

pp. 185—188. *The So-called Buddhist Images from the Baroda State* by H. D. Sankalia

The Archaeological Dept. of the Baroda State found last year four metal images from Mahuḍi in the Vijāpur taluka and declared them as those of Buddha. But Prof. Sankalia proves them to be Jain ones.

2. *Journal of the University of Bombay* Vol. IX, pt 2 (Sept. 1940):—

pp. 147—169. *Iconography of the Jain Goddess Ambikā* by U. P. Shah, M. A.

Different types of the images of Jain goddess Ambica are discussed.

3. *Indian Historical Quarterly*, Vol. XVI, No. 2 (June, 1940):—

pp. 314—317. *The story in Stone of the Great Renunciation of Neminātha* by Dr. H. D. Sankalia.

A ceiling panel in the Tejaḥpāla temple on Mt Abu is described.

4. *Journal of the Royal Asiatic Society*, London, Pt. II June, 1940 :—

pp. 129—178. *Catalogue of the Tod Collection of Indian Mss. in......R. A. Society*, by Prof. L. D. Barnett. Many a Jain mss. are noticed.

5. *Indian Culture*, Vol. VI, No. 2, Oct. 1939 :—

Jaina Images in Bengal by K. K. Ganguli. 'A few Jain images representing the Tīrthankaras and belonging to the Pāla period have been found in Bengal.'

K. P. Jain.

JAIN BIBLIOGRAPHY.

1. *Prākrita, Sanskrit, Apabhraṃsa Etc.*

   1. *A Grammar of the Ardha Māgadhī Prākritā* (Jain-Siddhāntā Kaumudi) by Pt Ratnacandra, pp. XII + 411, The Sanskrit Book Depot, Lahore.

   2. *Samrāicca-Kahā* of Haribhadra Sūri (Book I), Edited by M. C. Modi, pp. 174. Gurjar Grantha Ratna, Ahmedabad.

   3. *Caṭakhanḍāgama* with Dhavalā-Tīkā (Jīvasthāna, Satprarūpaṇā) Vol. II edited by Prof. Hira Lal Jain, King Edward College, Amraoti C. P.

   4. *Sāgāradharmāmrata* of Aśādhara edited by Pt. Devakinandan Shastri, Digamber Jain Pustakālaya, SURAT.

2. *Hindi, Gujarati Etc.*

   1. *Arthaprakāśikā* of Pt. Sadāsukhaji, Digamber Jain Office, Surat

   2. *Bharat—Sāmāyika—Pāṭha*, ed by M. K. Kapadia, Digambar Jain office, Surat. pp. 175

   3. *Panca-Stotra—Saṃgraha* ed. by Pt. Pannalal Jain, Surat, pp. 142.

   4. *Laghu—Jñānāmṛta—Sāra* by Muni Kunthusāgar, Surat, pp. 38

3. *English, Etc.*

   1. *Jaina Iconography*, by Dr. H.D. Sankalia, M A. Ph. D. (Sir E. Denison Ross Presentation Volume) Bombay.

K. P. Jain.

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc, typewritten, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A, D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI VIDYABHUSANA

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ८ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. VII. No. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LLB.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1941.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णत: अथवा अंशत: स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ८ ज्येष्ठ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

विक्रम-सम्वत् १९९८

विषय-सूची

ग्रन्थमाला विभाग

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ८ | जून १९४१। ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४६७ | किरण १

जैन-पुराण

(१)

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

जिस प्रकार हिन्दू-पुराणों में हिन्दू-देवदेवियों की आख्यायिका, माहात्म्य और पालनीय धर्म आदि का विशद उल्लेख मिलता है, उसी प्रकार जैनपुराणों में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण (अर्द्ध चक्रवर्ती), ९ प्रतिनारायण इस प्रकार ६३ महापुरुषों की आख्यायिका, पालनीय धर्म और व्यवस्थादि का विस्तृत उल्लेख उपलब्ध होता है। उपर्युक्त तीर्थंकरों के पुराणों में बहुतसे पुराण स्वतन्त्ररूप में और बहुतसे संग्रहरूप में अन्यान्य मान्य आचार्यों एवं कवियों के द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं में आकर्षकढंग से रचे गये हैं। तीर्थंकरों के नामानुयायी पुराणों के मध्य शेष चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदि शलाकापुरुषों का भी वर्णन आ जाता है। इसलिये कोई कोई चौबीस पुराणों को ही प्रधान मानते हैं। हिन्दुओं के चिरपरिचित ऋषभ, राम, कृष्ण नामक अवतार भरत, सगर चक्रवर्ती आदि का भी जैनपुराणों में यथेष्ट परिचय मिलता है। जैनतीर्थंकरों में महात्मा बुद्ध के समकालीन भगवान् महावीर और आप से १५० वर्ष पूर्व अवतरित भगवान् पार्श्वनाथ ये दो ऐतिहासिक एवं इनसे पहले के शेष २२ तीर्थंकर पौराणिक व्यक्ति माने जाते हैं।

भगवज्जिनसेन पुरातन को ही पुराण मानते हैं।* जिस प्रकार हिन्दुओं में ब्रह्मा अथवा नारायण से आदिपुराण की उत्पत्ति मानी गयी है, उसी प्रकार जैन भी अपने तीर्थंकरों से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। रविषेण-विरचित पद्मपुराण में लिखा है—पहले भगवान् महावीर ने अपने गणधर इन्द्रभूति से यह पुराण कहा था। पीछे इन्द्रभूति से सुधर्म ने, सुधर्म

*—"पुरातनं पुराणं स्यात्तन्महन्महदाश्रयात्।"

से जम्बूस्वामी ने, जम्बस्वामी से प्रभव ने, प्रभव से शिष्यक्रमानुसार कीर्त्ति ने और कीर्त्ति से अनुत्तरगामी ने यह पुराण प्राप्त किया। अनुत्तरगामी के निकट रविषेण ने जो ग्रन्थ पाया था, उसी की सहायता से उन्होंने पद्मपुराण की रचना की। इसी प्रकार अपरापर जैन पौराणिकों ने भी पुराणों की प्राचीनता-संस्थापन के लिये भगवान् महावीर को ही पुराणप्रकाश माना है। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दूसमाज के समान जैनसमाज में भी अति प्राचीनकाल से पुराणाख्यान प्रचलित था। इसके लिये अशक, अग्गल, आचरण, कर्णपार्य, कमलभव, कृष्णदास, केशवसेन, गुणभद्र, गुणवर्म, चन्द्रकीर्त्ति, चन्द्रसागर, जन्न, जिनसेन (प्रथम), जिनसेन (द्वितीय), जिनदास, जिनेन्द्रभूषण, दामोदर, देवप्रभ, दोड्डय्य, दोड्डणांक, धर्मकीर्त्ति, नरसेन, नागदेव, नागचन्द्र, नेमिदत्त, नेमिचन्द्र, पंप, पोन्न, पुष्पदन्त, पार्श्व पण्डित, मल्लिषेण, महाबल, मंगरस, मधुर, यशःकीर्त्ति, रविषेण, रन्न, विश्वभूषण शान्तिकीर्त्ति, शुभचन्द्र, श्रीविजय, श्रीभूषण, श्रीधर, श्रुतकीर्त्ति, सकलकीर्त्ति, सुरेन्द्रभूषण, स्वयंभू, हरिषेण, हस्तिमल्ल आदि सैकड़ों महान् आचार्यों एवं कवियों के द्वारा प्राकृत, संस्कृत तथा कन्नड आदि भाषाओं में रचे गये पुराणग्रन्थ ही उज्ज्वल प्रमाण हैं।*

दिगम्बर-जैनसम्प्रदाय के उपलब्ध पुराणों में पद्मपुराण या पद्मचरित सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। अब तक इसके पहले का कोई भी कथाग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। भावनगर की जैनधर्मप्रसारक सभा ने जो 'पउमचरिय' नाम का प्राकृत ग्रन्थ प्रकाशित किया है, वह इससे अवश्य बहुत पहले का है। किन्तु अभी तक यह बात विवादग्रस्त ही है कि उसके कर्त्ता दिगम्बर-सम्प्रदाय के थे या श्वेताम्बर के। पद्मचरित भगवान् महावीर के निर्वाण के १२०३ वर्ष बाद (ई० स० ६७८) रचा गया था।† पुन्नाटसंघी आचार्य जिनसेन का हरिवंशपुराण शक संवत् ७०५ (ई० स० ७८३) में अर्थात् पद्मचरित से लगभग ५ वर्ष पीछे समाप्त हुआ है।‡ इस हिसाब से ६ठीं शताब्दी में दिगम्बरों के मध्य पुराण प्रचलित था, इसमें सन्देह नहीं है। रविषेण का पद्म (राम) पुराण, भगवज्जिनसेन का आदिपुराण, पुन्नाट-जिनसेन का हरिवंश या अरिष्टनेमिपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण और शुभचन्द्र का

*—यहां पौराणिकों के जो नाम दिये गये हैं, वे कालक्रम से नहीं; किन्तु अकारादिक्रम से।

†—द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्॥

‡—शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां,
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां,
सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति॥

पाण्डवपुराण प्रधानतः इन पांच पुराणों का पाठ करने से ही दिगम्बर जैनियों का पौराणिक-तत्त्व जाना जा सकता है।

भवावलियों को अलग कर देने पर चौवीसों तीर्थंकरों की जीवनी एकसी मालूम पड़ेगी। ऋषभ तीर्थंकर की जीवनी पढ़ने के पश्चात् शेष २३ तीर्थंकरों के मातापिता, वंश, जन्मस्थान, नाम, शरीर की ऊंचाई, शरीर का वर्ण, आयु, चिह्न, जन्मादिनक्षत्र, गणधरसंख्या और निर्वाणस्थान आदि छोटी मोटी बातों को सम्बद्ध कर देने से उन तीर्थंकरों की जीवनी उपलब्ध हो जाती है। जैसे—तीर्थंकर का जीव अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ पुण्यकर्म के परिपाक से तीर्थंकर नामक एक विशिष्ट 'नामकर्म' को पाकर स्वर्ग में जन्म लेता है। वह जीव जहां जिस महारानी के गर्भ में जन्म लेने वाला है, उस राज्य में छः मास के पहले से ही तीनों काल छः मास तक कुबेर इन्द्र की आज्ञा से रत्नों की वर्षा करता है। छः मास के बाद तीर्थंकर की भावी माता के गर्भशोधनार्थ इन्द्र श्री, ह्री, धृति, कीर्त्ति आदि देवियों को भेजता है। तीर्थंकर की माता गज, वृषभ आदि सोलह शुभ स्वप्न देखती हैं। उनके गर्भ में तीर्थंकर का अवतार होता है। इन्द्र समस्त देवनिकाय के साथ आकर तीर्थंकर के अवतार या गर्भकल्याण को समारोह से संपन्न करता है। ९ महीने के अनन्तर तीर्थंकर मति, श्रुति, अवधि नामक त्रिविध-ज्ञान के साथ जन्म लेते हैं। इन्द्र इन्द्राणी से जिनबालक को मंगाकर अन्य इन्द्र एवं देवनिकाय के साथ बड़े सम्भ्रम से मेरुशिखर पर जन्मकल्याण को पूर्ण करता है। जिनबालक यौवन को पार कर विरक्ति से गृहत्याग करते समय उन्हें पूर्ववत् इन्द्र उत्साह से परिनिष्क्रमणकल्याण पूरा करता है। तीर्थंकर कुछ समय तक तपस्या कर 'मनःपर्यय' नामक चतुर्थ विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करते हैं। उनके प्रथम आहार के समय 'पञ्चाश्चर्य' होते हैं। तीव्र तपस्या के द्वारा कर्मों को भस्म कर वह केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व को पा लेते हैं। इन्द्र ठाट से केवलज्ञानकल्याण को मनाता है। कुबेर इन्द्र की आज्ञा से समवसरण सभा की रचना करता है। तीर्थंकर धर्मोपदेशार्थ विहार करते हुये अन्त में मुक्ति प्राप्त करते हैं। इन्द्र उनके निर्वाणकल्याण को सानन्द सम्पन्न करता है।

इस प्रकार जैसे तीर्थङ्करों के चरित्र एक टाइप के हैं, वैसे ही चक्रवर्तियों के चरित्र एक मेल के हैं। प्रायः नारायण, वासुदेव और प्रतिवासुदेवों के चरित्र भी इसी तरह के हैं। पुराणों के हृदय को कथा और वर्णन के भेद से हम दो भागों में बांट सकते है। कथा में तीर्थंकरों की भवावली, उनके पञ्चकल्याण और तत्कालीन चक्रवर्त्ती, नारायण आदिक की कथा गर्भित करना इष्ट है। इन तीनों में भवावली और पञ्चकल्याण पुराणों के खास अङ्ग हैं। हां, तीसरा वैकल्पिक है। वर्णन में पुराण के अष्ट अङ्ग एवं अष्टादश वर्णन ये दो ही शामिल

हैं। कवि केवल वर्णन में अपनी स्वतन्त्रता दिखा सकता है, कथा में नहीं। इसलिये ग्रन्थवृद्धि में कवि को सिर्फ वर्णन ही सहायक हैं।*

जैनपुराणों की जन्मान्तर-कथायें पाठकों के मन में कुछ अरुचि पैदा करतीं हैं अवश्य। परन्तु पुराणों का सार भाग ये ही जन्मान्तरकथायें हैं। क्योंकि तीर्थंकरों के आदर्श चरित्र को जानने के लिये उनके पुराण ही एकमात्र साधन हैं। इनमें पञ्चकल्याणों का वर्णन सभी तीर्थंकरों का सभी पुराणों में एकसा मिलेगा। किन्तु उनके पूर्वजन्म की कथायें मात्र प्रत्येक की भिन्न भिन्न हैं। वास्तव में ये कथायें तीर्थंकरों के जीवनचरित्र नहीं हैं। बल्कि साधारण जनता को जैनधर्म के रहस्य को समझाने वाले सुन्दर दृष्टान्त हैं। इन पुराणों का सार अंश निम्न प्रकार है—

कर्म के संबंध से जीव अनादिकाल से नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव इन चतुर्गतियों में भ्रमण करता रहता है। इन गतियों में अपने संचित कर्म के अनुसार सुख या दुःख को भोगना ही इसका एकमात्र काम है। हां, उक्त इन मनुष्यादि गतियों में सुख दुःखों की मात्रा में तरतम-भाव है अवश्य। अर्थात् जीव को अल्प पाप से तिर्यग्गति, अधिक पाप से नरकगति, अल्प पुण्य से मनुष्यगति अधिक पुण्य से देवगति नसीब होती है। यही जीव जब सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है, तब अपने को उज्वल तथा उन्नत बनाता हुआ अपनी स्वाभाविक गति की ओर कदम बढ़ाता है। अन्त में मनुष्यगति को पाकर वहां पर अनादि से अपने को सताने वाले ज्ञानावरणादि उन आठों कर्मों को समूल नष्ट कर अनश्वर कैवल्यसुख को पा लेता है। वह लौट कर दुःखमय इस संसार में फिर कभी नहीं आता। जैनपुराणों का यही सार है। इन्हीं बातों को भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों के द्वारा सुन्दर ढंग से आकर्षक शैली में जैनपुराण सर्वसाधारण जनता को समझाते हैं। जैन पौराणिकों ने विशेषतः अपने जीवन में प्रतिदिन अनुभव में आने वाली बातों को ही चित्रित करने का प्रयास किया है। इसलिये उनमें सत्य और सौन्दर्य दोनों हैं। सफेद बाल या मेघ आदि को देखकर विरक्ति को प्राप्त होना साधारण जनता के लिये एक अनोखी बात मालूम हो सकती है। परन्तु जैनियों के लिये यह एक स्वाभाविक बात है। धार्मिक भावना की प्रचुरता ही इसका प्रधान हेतु है।†

कन्नड-कवि-सार्वभौम पंप के मत से (१) लोकाकारकथन (२) देशनिवेशोपदेश (३) नगरसम्पत्परिवर्णन (४) राज्यरमणीयकाख्यान (५) तीर्थमहिमासमर्थन (६) चतुर्गति-

* देखें—जी० पी० राजरत्नम् एम० ए० का 'कन्नड जैन पुराणगलु' शीर्षक कन्नड लेख।

† देखें—'जयकर्नाटक' वर्ष १९, अंक १ में प्रकाशित प्रो० के० जी० कुन्दणगार का 'जैन साहित्यद वैशिष्ट्य' शीर्षक कन्नड लेख।

स्वरूपनिरूपण (७) तपोदानविधानवर्णन (८) तत्फलप्राप्तिप्रकटन ये ही आठ जैनपुराणों के अष्टांग हैं। समुद्र, पर्वत, नगरादि वर्णनरूप पुराणों के अष्टादश वर्णनों का यहां पर उल्लेख करना व्यर्थ जान पड़ता है। क्योंकि ये वर्णन प्रसिद्ध हैं ही।

अब जैनपुराणों के संबंध में श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल जी जैन एम० ए० एल० एल० बी० का मत नीचे उद्धृत किया जाता है—

"जैनधर्म का सर्वमान्य इतिहास महावीरस्वामी के समय से व उससे कुछ पूर्व से प्रारंभ होता है। इसके पूर्व के इतिहास के लिये एकमात्र सामग्री जैनधर्म के पुराण ग्रन्थ हैं। इन पुराण ग्रन्थों के रचनाकाल और उनमें वर्णित घटनाओं के काल में हजारों, लाखों, करोड़ों नहीं अरबों खर्वों वर्षों का अन्तर है। अतएव उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता इस बात पर अवलंबित है कि वे कहां तक प्राकृतिक नियमों के अनुकूल, मानवीय विवेक के अविरुद्ध व अन्य प्रमाणों के अप्रतिकूल घटनाओं का उल्लेख करते हैं। यदि ये घटनायें प्रकृति-विरुद्ध हों, मानवीय बुद्धि के प्रतिकूल हों व अन्य प्रमाणों से बाधित हों, तो वे धार्मिक श्रद्धा के सिवाय अन्य किसी आधार पर विश्वसनीय नहीं मानी जा सकतीं पर यदि वे उक्त नियमों और प्रमाणों से बाधित न होती हुई पूर्वकाल का युक्ति-सगत दर्शन कराती हों तो उनकी ऐतिहासिकता में भारी संशय करने का कोई कारण नहीं हो सकता।

जिन इतिहास-विशारदों ने जैनपुराणों का अध्ययन किया है उनका विश्वास उन पुराणों की निम्नलिखित तीन बातों पर प्रायः नहीं जमता :—१ पुराणों के अत्यन्त लम्बे चौड़े समय विभागों पर। २ पुराणों में वर्णित महापुरुषों के भारी भारी शरीर-मापों पर व उनकी दीर्घातिदीर्घ आयु पर। ३ काल के परिवर्तन से भोगभूमि व कर्मभूमि की रचनाओं के विपरिवर्तन पर।

जैनपुराणों में अरबों खर्वों ही नहीं पल्य और सागरों (आधुनिक संख्यातीत) वर्षों के माप दिये गये हैं। इनको पढ़कर पाठकों की बुद्धि थकित हो जाती है और वे झट इसे असंभव कहकर अपने मन के बोझ को हल्का कर डालते हैं। किन्तु विषय पर निष्पक्षतः, बुद्धिपूर्वक विचार करने से इन मापों में कुछ असम्भवनीयता नहीं रह जाती। यह सभी जानते हैं कि समय का न आदि है और न अन्त। वैज्ञानिक शोध और खोज ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि इस सृष्टि के आरम्भ का कोई पता नहीं है और न उसमें मनुष्य-जीवन के इतिहास-प्रारम्भ का ही कुछ काल-निर्देश किया जा सकता है। सन १८५८ ईस्वी के पूर्व पाश्चात्य विद्वानों का मत था कि इस पृथ्वी पर मनुष्य का इतिहास आदि से लेकर अब तक का पूरा पूरा ज्ञात है, क्योंकि 'बाइबिल' के अनुसार सर्वप्रथम मनुष्य 'आदम' की उत्पत्ति ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व सिद्ध होती है। पर सन् १८५८ ईस्वी के पश्चात् जो भूगर्भ-

विद्यादि विषयों की खोज हुई उससे मनुष्य की उक्त समय से बहुत अधिक पूर्व तक प्राचीनता सिद्ध होती है। अब इतिहासकार ४००४ ईस्वी पूर्व से भी पूर्वकी मानवीय घटनाओं का उल्लेख करते हैं। मिश्रदेश की प्रसिद्ध गुम्मटों (pyramids) का निर्माण-काल ईस्वी से पांच हजार वर्ष पूर्व अनुमान किया जाता है। खाल्दिया (chaldea) देश में ईसा से छह सात हजार वर्ष पूर्व की मानवीय सभ्यता के प्रमाण मिले हैं। चीन देश को, सभ्यता भी इतनी ही व इससे अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। अमेरिका देश में पुरातत्त्व शोध के संबंध में जो खुदाई का काम हुआ है उसका भी यही फल निकला है। हाल ही में भारतवर्ष के पंजाब और सिन्ध प्रदेशों के 'हरप्पा' और 'मोयनजोडेरो' नामक स्थानों पर खुदाई से जो प्राचीन ध्वंसावशेष मिले है वे भी ईसा से आठ दस हजार वर्ष पूर्व के अनुमान किये जाते हैं। ये सब प्रमाण भी हमें मनुष्य के प्रारम्भिक इतिहास के कुछ भी समीप नहीं पहुंचाते। वे केवल यही सिद्ध करते हैं कि उतने प्राचीन-काल में भी मनुष्य ने अपार उन्नति कर ली थी, ऐसी उन्नति जिसके लिये उन्हें हजारों लाखों वर्षों का समय लगा होगा। अब चीन, मिश्र, खाल्दिया, इण्डिया, अमेरिका, किसी ओर भी देखिये, इतिहासकार ईसा से आठ आठ दस दस हजार वर्ष पूर्व की मानवीय सभ्यता का उल्लेख विश्वास के साथ करते हैं। जो समय कुछ काल पहले मनुष्य की गर्भावस्था का समझा जाता था, वह अब उसके गर्भ का नहीं, प्रौढ़ काल का सिद्ध होता है। जितनी खोज होती जाती है उतनी ही अधिक मानवीय सभ्यता की प्राचीनता सिद्ध होती जाती है। कहां है अब मानवीय सभ्यता का प्रातःकाल ? इससे तो प्राचीन रोमन हमारे समसामयिकसे प्रतीत होते हैं, यूनान का सुवर्ण-काल कल का ही समझ पड़ता है। मिश्र के गुम्मटकारों और हम में केवल थोड़े से दिनों का ही अन्तर पड़ा प्रतीत होता है। मनुष्य की प्रथमोत्पत्ति का अध्याय आधुनिक इतिहास ही से उड़ गया है। ऐसी अवस्था में जैनपुराणकार मानवीय इतिहास के विषय में यदि संख्यातीत वर्षों का उल्लेख करें तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? इसमें कौन सी असम्भाव्यता है ? पुरातत्त्वज्ञों का अनुभव भी यही है कि मानवीय इतिहास संख्यातीत वर्षों का पुराना है।

दूसरा संशय महापुरुषों के शरीर माप और उनकी दीर्घातिदीर्घ आयु के विषय का है। जो कुछ आजकल देखा सुना जाता है उसके अनुसार सैकड़ों हजारों धनुष ऊंचे शरीर व कोड़ाकोड़ी वर्षों की आयु पर एकाएकी विश्वास नहीं जमता। इस विषय में मैं पाठकों का ध्यान उन भूगर्भ शास्त्र की गवेषणाओं की ओर आकर्षित करता हूं जिनमें प्राचीन काल के बड़े बड़े शरीरधारी जन्तुओं का अस्तित्व सिद्ध हुआ है। उक्त खोजों से पचास पचास साठ साठ फुट लम्बे प्राणियों के पाषाणावशेष (fossils) पाये गये हैं। इतने लम्बे कुछ

अस्थिपञ्जर भी मिले हैं।* जितने अधिक दीर्घकाय ये अस्थिपञ्जर व पाषाणावशेष होते हैं वे उतने ही अधिक प्राचीन अनुमान किये जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में प्राणी दीर्घकाय हुआ करते थे। धीरे धीरे उनके शरीर का ह्रास होता गया। यह ह्रास-क्रम अभी भी प्रचलित है। इस नियम के अनुसार जितना अधिक प्राचीनकाल का मनुष्य होगा उसे उतना ही अधिक दीर्घकाय मानना न केवल युक्तिसंगत ही है, किन्तु आवश्यक है। प्राणीशास्त्र का यह नियम है कि जिस जीव का भारी शारिरिक परिमाण होगा उतनी ही दीर्घ उसकी आयु होगी। प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं कि सूक्ष्म जीवों की आयु बहुत अल्पकाल की होती है। जन्म के थोड़े ही समय पश्चात् उनका शरीर अपने उत्कृष्ट परिमाण को पहुंच जाता है और वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। ज्यों ज्यों प्राणी का शरीर बढ़ता है उसकी आयु भी उसी के अनुसार बढ़ती जाती है। हाथी सब जीवों में बड़ा है इससे उसकी आयु भी सब जीवों में बड़ी है। वनस्पतियों में भी यही नियम है। जो वृक्ष जितना अधिक विशालकाय होता है उतने ही अधिक समय तक वह फूलता फलता है। वट-वृक्ष सब वनस्पतियों में भारी होता है, अतएव उसका अस्तित्व भी अन्य सब वृक्षों की अपेक्षा अधिक काल तक रहता है। अतः यह प्रकृति के नियमानुकूल व मानवीय ज्ञान और अनुभव के अविरुद्ध ही है जो जैनपुराण यह प्रतिपादित करते हैं कि प्राचीन काल के अति दीर्घकाय पुरुषों की आयु अति दीर्घ हुआ करती थी। इसके विरुद्ध यदि जैनपुराण यह कहते कि प्राचीनकाल के मनुष्य दीर्घकाय होते हुए अल्पायु हुआ करते थे, या अल्प-काय होते हुए दीर्घायु हुआ करते थे तो यह प्रकृति-विरुद्ध और अनुभव प्रतिकूल बात होने के कारण अविश्वसनीय कही जा सकती थी।

तीसरा शंकास्पद विषय भोगभूमि और कर्मभूमि के विपरिवर्त्तन का है। जैनपुराणों में कथन है कि पूर्वकाल में इसी क्षेत्र के निवासी सुख से बिना श्रम के काल-यापन करते थे। उनकी सब प्रकार की आवश्यकतायें कल्पवृक्षों से ही पूरी हो जाया करती थीं। अच्छे और बुरे का कोई भेद नहीं था। पुण्य और पाप दोनों की भिन्न प्रवृत्तियां नहीं थीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई भाव नहीं था 'मेरा' और 'तेरा' ऐसा भेदभाव नहीं था। यह अवस्था

* देखें—अभी हाल ही में ता० ६-११-३१ के प्रयाग से निकलने वाले 'भारत' में अमेरिका का एक समाचार है कि वहां पर एक आदमी के पैर का चिन्ह मिला है जिसकी एक अंगुली से दूसरी अंगुली की दूरी २० फीट है। यह आदमी पांच करोड़ वर्ष का पुराना माना जाता है। जैनमत में जो शरीरों की बड़ी बड़ी अवगाहनायें बतायी हैं क्या यह उसकी सत्यता का प्रत्यक्ष नमूना नहीं है? ('जैनमित्र' वर्ष ३३, अं० ५, पृष्ठ ३५)

इस प्रकरण में यह भी जानना आवश्यक है कि सुप्राचीन काल में ७॥ से ८ मील का १ योजन माना जाता था।

(देखो—'हिन्दी विश्वकोष' भाग १३, पृष्ठ ६४ में 'परिमाण' शब्द) —लेखक

भोगभूमि की थी। क्रमशः यह अवस्था बदली। कल्पवृक्षों का लोप हो गया। मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये श्रम करना पड़ा। व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव जागृत हुआ। कृषि आदि उद्यम प्रारम्भ हुए। लेखन आदि कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ, इत्यादि। इस प्रकार कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस भोगभूमि के परिवर्तन में कोई अस्वाभाविकता नहीं है। बल्कि यह आधुनिक सभ्यता का अच्छा प्रारम्भिक इतिहास है। जिन्होंने सुवर्णकाल (Golden age) के प्राकृतिक जीवन (Life according to Nature) का कुछ वर्णन पढ़ा होगा वे समझ सकते हैं कि उक्त कथन का क्या तात्पर्य हो सकता है। आधुनिक सभ्यता के प्रारम्भ-काल में मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं को स्वच्छन्द वनजात वृक्षों की उपज से ही पूर्ण कर लिया करते थे। वस्त्रों के स्थान में वल्कल और भोजन के लिये फलादि से तृप्त रहने वाले प्राणियों को धन-सम्पत्ति से क्या तात्पर्य? सब में समानता का व्यवहार था। मेरे और तेरे का भेदभाव नहीं था। क्रमशः आधुनिक सभ्यता के आदि धुरंधरों ने नाना प्रकार के उद्यम और कलाओं का आविष्कार कर मनुष्यों को सिखाया। जैनपुराणों के अनुसार इस सभ्यता का प्रचार चौदह कुलकरों द्वारा हुआ। सब से पहले कुलकर प्रतिश्रुति ने सूर्य चन्द्र का ज्ञान मनुष्यों को कराया। इस प्रकार वे ज्योतिष शास्त्र के आदि आविष्कर्ता ठहरते हैं। उनके पीछे सम्मति, क्षेमंधरादि हुए जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान बढ़ाया, अन्य कलाओं का आविष्कार किया व सामाजिक नियम दण्ड-विधानादि नियत किये। जैन पुराणों ने इस इतिहास को यदि विचार किया जाय तो, सचमुच बहुत अच्छे प्रकार से सुरक्षित रक्खा है।"*

इस सम्बन्ध में और एक इतिहासज्ञ विद्वान् का मन्तव्य लीजिये—"इतिहास के महत्व को भुलाकर कोई भी राष्ट्र या जाति जीवित नहीं रह सकती। जैनाचार्य इतिहास के महत्व से अवज्ञात रहे हैं। जैन वाङ्मय में 'प्रथमानुयोग' का अस्तित्व इसी बात का द्योतक है। किंतु कहा जा सकता है कि कथाओं और जनश्रुतियों को वास्तविक इतिहास कैसे माना जाय? यह शङ्का तथ्यहीन नहीं है; किंतु किसी राष्ट्र या जाति के इतिहास को प्रकट करनेवाली कथाओं और जनश्रुतियों को यदि एकदम ठुकरा दिया जाय, तो फिर उस राष्ट्र या जाति का इतिहास किस आधार से लिखा जाय? अतएव श्रेयोमार्ग यह है कि इतिहास-विषयक कथाओं और जनश्रुतियों को तबतक अस्वीकार न करना चाहिये जबतक कि वह अन्य स्वाधीन-साक्षी—शिलालेख आदि से असत्य सिद्ध न हो जाय! बस जैन कथाओं जनश्रुतियों या अन्य परम्परीण मान्यताओं को जैन जाति के इतिहास लिखने में भुलाया नहीं जा सकता!" †

* देखें—'जैन इतिहासकी पूर्वपीठिका'।
† देखें—'संक्षिप्त जैन इतिहास' द्वितीय भाग, द्वितीय खण्ड का प्राक्कथन।

विज्ञ इतिहास-निर्माता को किसी भी राष्ट्र-संबंधी शृङ्खलाबद्ध प्रामाणिक अविकल इतिहास-निर्माण के लिये भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न प्रान्त के भिन्न-भिन्न लेखकों के द्वारा रचे गये पुराण अथवा कथा-साहित्य का आश्रय लेना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य्य है। उन पुराणों से तत्कालीन शील-स्वभाव रहन-सहन, रीति-रस्म, उपज, नीति और आचार, आहार, सामाजिक सङ्गठन, धर्मरुचि, शासन-पद्धति, दण्ड, आर्थिक स्थिति, व्यापार और उनके मार्ग, सिक्के, शिल्प और चित्रकला, सभ्यता, साहित्य-प्रगति, दिनचर्या, उच्च-नीच जातियों की अवस्था आदि बातों का अच्छा पता चल जाता है। इस अनिवार्य्य नियमानुसार एक सच्चे जैन इतिहासज्ञ के लिये भी जैनपुराणों का अध्ययन करना बहुत ही आवश्यक हो जाता है। तभी वह एक सर्वांगीण प्रामाणिक जैन इतिहास तैयार कर सकता है। दृष्टांत के लिये भगवज्जिनसेनकृत आदि या पूर्वपुराण को ही लीजिये। जब कोई विचारशील विद्वान् सूक्ष्मदृष्टि से उस पुराण का स्वाध्याय करता है तब तत्कालीन शील-स्वभाव, रहन-सहन, आचार-व्यवहार रीति-रस्म आदि सभी बातें उनके नेत्रों के सामने नाचने लगती हैं।

कुछ व्यक्तियों का ख़याल है कि प्रथमानुयोग अर्थात् कथासाहित्य में वर्णित कथाओं की रूप-रेखा प्रायः एक-सी है। परंतु इस संबंध में उन लोगों को समझना चाहिये कि हिंसा, असत्य, चोरी आदि महापापों से होनेवाली महती हानियों को दिखाकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि नियमों की ओर झुकाकर दश धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा आदि के मूलक आत्मोन्नति की शिक्षा देना ही उन कथाओं का एकमात्र उद्देश है और उन कथाओं ने इस आदर्श उद्देश का भली भाँति निर्वाह भी किया है। कथा-साहित्य पर किया जानेवाला एक आक्षेप और है। वह यह है कि समुद्र, पर्वतादि का वर्णन, प्रचुर-मात्रा में शृङ्गारादि रसों का कथन आदि। इसका उत्तर यह दिया जाना अनुचित नहीं होगा कि जिस समय जैसा राष्ट्र का वातावरण रहता है, उसी वातावरण के अनुसार तत्कालीन साहित्य का निर्माण होता है। अन्यथा वह साहित्य लोकप्रिय नहीं हो सकता। जैसे आजकल राष्ट्रीय भावनोत्पादक क्रान्तिमय साहित्य को उच्च स्थान मिल रहा है, उसी प्रकार उस जमाने में पूर्वोक्त साहित्य का ही बोलबाला था। इसीलिये वीतरागी, परिग्रहरहित मुनियों को भी विवश हो ऐसे ही साहित्य का निर्माण करना अनिवार्य्य हुआ।

अस्तु, अब प्रस्तुत लेख यहीं पर समाप्त किया जाता है। दूसरे लेख में इस विषय में कुछ और प्रकाश डाला जायगा।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[लेखक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

(क्रमागत)

गङ्गवाडि—गङ्गमण्डल ४५, ५३, १४४ आदि। गङ्गवंश के राजाओं द्वारा शासित प्रदेश। वर्तमान मैसूर राज्य का बहुभाग इसके अन्तर्गत था। इसकी सीमायें उत्तर में संभवतः कृष्णा एवं तुङ्गभद्रा नदियाँ, उत्तर-पूर्व में नोलम्बवाडि, दक्षिण में कोंगुदेश और पश्चिम में बनवासि एवं पुन्नाडदेश (दक्षिण पश्चिमी मैसूर) तक विस्तृत थीं। इसी प्रदेश में श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने संघ-सहित विचरे थे। श्रवणबेल्गोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति भी इसी प्रदेश में अवस्थित है। गङ्ग और होय्सलवंश के राजाओं के शासनकाल में इस प्रदेश में जैनधर्म उन्नति की चरम सीमा पर था।

गङ्गवती १०६, कर्णाटक देश में एक अच्छा नगर था। (श्रीमत्कर्णाटदेशे जयति पुरवरं गङ्गवत्याख्यमेतत् ..) यहां के माणिक्यदेव के पुत्र मायण्ण ने बेल्गोल के लिए दान दिया था।

गङ्गसमुद्र सरोवर ५६, ९२, १०६, १२४। यह सरोवर श्रवणबेल्गोल में था और शायद वहीं अबतक मौजूद है।

गङ्गसमुद्रग्राम ५३, ८८, ८९, १४४, ४८६। गङ्गवाडि का एक ग्राम, जो गोम्मटेश्वर के लिये दान किया गया था।

गुडघट्टिपुर ४०४, संभवतः मैसूरदेश में था।

गुर्जरदेश ३८, १२४, १३०, ४९१। गंगवंशी राजा मारसिंह ने राष्ट्रकूट-नरेश कृष्णराज (तृतीय) के लिये गुर्जरदेश को विजय किया था। उपरान्त होय्सल नरेश वीर बल्लाल ने भी गुर्जरदेश पर अपना अधिकार जमाया था। यह देश वर्तमान गुजरात प्रतीत होता है। कहते हैं कि गुर्जर नाम की एक जाति पहले पंजाब में रहती थी। वही काठियावाड़ के उस भाग में आ बसी, जो आजकल गुजरात कहलाता है। ह्युन्त्सांग नामक चीनी यात्री ने गुर्जरदेश को सुराष्ट्र से १८०० ली दूर उत्तर पूर्व में और उज्जैन से २८०० ली की दूरी पर उत्तर-पश्चिम में स्थित बतलाया था। ९वीं शताब्दि के शिलालेखों में गुर्जरराष्ट्र अजमेर और सांभर से उत्तर में कहा गया है। (कनिंघम, एन्शियेंट जॉगरफी ऑव इंडिया, नोट, पृ० ६९७) यह उत्तरीय गुर्जरदेश का द्योतक है, क्योंकि इस समय गुर्जरदेश दो भागों में

विभक्त हो गया था। उत्तरीय प्रदेश की राजधानी भीनमाल थी और दक्षिण गुजरात की राजधानी नांदीपुरी (नांदोद) थी। (बम्बई प्रांत के प्रा० जैन स्मारक पृ० १७४)

गेरुसोप्पे ९७, ९९, १००, १०२, १३४, १३५, ३३४। बम्बई प्रान्त के उत्तर कन्नड जिले में होन्नावर तालुका है। उसी में गेरुसोप्पे ग्राम है। सन १४०९ से १६१० ई० तक यहाँ पर जैनी राजाओं ने राज्य किया था। तब गेरुसोप्पे जैनधर्म का केन्द्र था। लोग कहते हैं कि उन दिनों यहाँ एक लाख घर और ८४ जिनमंदिर थे। अब भी कई मंदिर अवशेष हैं, जिनमें 'चौमुखा जिनमंदिर', 'महावीर स्वामी का मंदिर' और 'नेमिनाथ स्वामी का मंदिर' उल्लेखनीय हैं। (बं० प्रा० जै० स्मा० १३६) गेरुसोप्पे के राजा और प्रजा—सभी जैनधर्म्म के अनन्य भक्त थे। चौदहवीं श० के मध्यकाल में यहाँ के धनिक सेठों ने अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग दान-धर्म में देकर किया था। तभी से गेरुसोप्पे का नाम धर्मक्षेत्र में चमक गया। तब यह नगर तुलुवदेश में गिना जाता था। इसके शासक भी तुलुवदेश के निवासी थे। 'वर्द्धमानवसदि' के शिलालेख में गेरुसोप्पे को नगरीदेश का मुखवेसर कहा है। यहाँ के प्रख्यात प्रमुख जैन नेता रामण थे। वह सोमण दंडनायक के पुत्र थे। उनके भाई कामण दंडनायक थे। तुलुवदेशान्तर्गत चंदावुर में एक बसवदेव राजा राज्य करते थे। सोमण उन्हीं के सेनापतियों में से एक थे। सोमण एवं उनके पुत्र रामण क्षत्रियकुलोत्पन्न थे। इस लेख में यहाँ के अधिवासियों को 'जैनमार्ग-जलनिधि-सम्वर्द्धित पूर्ण-चंद्र' बताया है। इन्हीं में एक होन्नपसेट्टि भी थे, जो रामण के रिश्तेदार थे। होन्नपसेट्टि ने वर्द्धमानवसदि के लिए दान किया था। गेरुसोप्पे में योजनसेट्टि भी प्रसिद्ध थे। इनकी पत्नी रामक्क ने अनन्त-तीर्थ चैत्यालय निर्मापित कराया था। अपने सद्गुणों के लिये यह महिला प्रसिद्ध थीं और निरन्तर चतुर्विध दान दिया करती थीं। सन् १३९२ में उनकी मृत्यु होने पर उनकी निषधि वर्द्धमानवसदि के पास बनाई गई थी। चौदहवीं शताब्दि के अंतिम पाद में गेरुसोप्पे के दो श्रेष्ठिपुत्र (१) अजण और (२) कल्लपश्रेष्ठी प्रसिद्ध थे। अजण कल्लपश्रेष्ठी के पुत्र थे। उनकी माता का नाम मामाम्बा था और कल्लपश्रेष्ठी के पिता ओजण थे। घनशोकवलि देशीगण के म० ललितकीर्ति के शिष्य देवेन्द्र सूरि इनके गुरु थे। इन श्रेष्ठियों ने नगरकेरिबसदि में मूडेजिन (!) की प्रतिमा निर्मित करा कर स्थापित की थी। १५ वीं श० के आरंभ में गेरुसोप्पे की रानी शान्तलदेवी थीं। वह बोम्मणसेट्टि की पुत्री थीं। उनके पति का नाम हैवण्णरस था। हैवण्णरस के पिता मंगराज नरेश थे। शान्तलदेवी जैनधर्म की परम श्रद्धालु रमणी-रत्न थीं। उन्होंने सन् १४०५ के लगभग समाधिमरण किया था। मंगराज के बहनोई पद्मण्णरस थे, जिन्होंने पार्श्वनाथ भगवान् की पूजा और मंदिर के जीर्णोद्धार के लिये दान दिया था। यह दान उन्होंने अपनी स्वर्गवासी रानी तनालदेवी के शांतिलाभ के लिए

दिया था। सन् १५२३ ई० में गेरुसोप्पे के उल्लेखनीय शासक इम्मडि देवराय ओडेयर थे। वह भैरवाम्बा के पुत्र थे। उनके पिता पाण्ड्यराज थे। यह राजा जनप्रिय देवभूप नाम से प्रसिद्ध थे। शिलालेख में इन्हें नगरी (अर्थात् गेरुसोप्पे), हैव. तुलु कोङ्कण आदि राज्यों का शासक लिखा है। इन्होंने सन १५२३ में लक्ष्मणेश्वर की शंख जिनबस्ति के लिए भूमिदान दिया था। एक शिलालेख में देवराय को क्षेमपुर पर राज्य करते हुए बताया गया है, जिससे प्रकट है कि गेरुसोप्पे का अपर नाम क्षेमपुर भी था। गोवर्द्धनगिरि के शिलालेख में गेरुसोप्पे और उसके निवासियों का विशेष वर्णन मिलता है। जैनधर्मपरायण वहाँ के अधिवासियों ने गेरुसोप्पे को समृद्धिशाली और सुन्दर बना दिया था। उस शिलालेख में लिखा है कि "महापद्मरूप जम्बूद्वीप के दक्षिणपार्श्व में भरतक्षेत्र है। उस भरतक्षेत्र में पश्चिमीय समुद्र के पूर्वीय तट पर विशाल तौलवदेश है। उस देश की अम्बूनदी के दक्षिण किनारे पर श्रीपुंड्र की तरह चमकता हुआ क्षेमपुर है। यह क्षेमपुर मानो इन्द्र का दूसरा नगर है। उसमें चमचमाते गोपुर, सुन्दर जिनालय, योगिजनों के आवास, राजाओं के महल और वणिकों की गृहपंक्तियाँ अतीव शोभा पाती हैं। उस क्षेमपुर में जनसमूह निरन्तर दान और धर्म की आराधना में लीन रहता है। वहाँ गुरु और यतियों के संघ विराजमान हैं—कविगणों, विद्वानों और असंख्य भव्योत्तमों से वह नगर भरपूर है। भला बताओ तो गेरुसोप्पे के समान संसार में कौन-सा नगर भुवन-विख्यात है?" निस्सन्देह आज भी हम कह सकते हैं कि गेरुसोप्पे की समता करना प्रत्येक नगर के लिये सुगम नहीं है। राजा इम्मडि देवराय ने यहाँ पर शान्तिनाथ भगवान् की वह प्रतिमा निर्मित कराई थी, जो आजकल मद्रास-म्युज़ियम में रक्खी हुई है। इस मूर्तिलेख से प्रकट है कि राजा देवराय एक महान् साहित्य-रसिक भी थे। इन राजा को अपने राजश्रेष्ठी अम्बवन पर बड़ा गर्व था। अम्बवन के पूर्वज कामेय दंडनायक चंदावुरु के राजा, कामदेव के सेनापति थे; उन्हीं दंडनायक की सन्तति में अम्बवन से पहले योजनश्रेष्ठी, नरसन नायक, मावु गौड़ और योजनश्रेष्ठी (द्वितीय) उल्लेखनीय हुए हैं। गेरुसोप्पे में योजनश्रेष्ठी ने अनन्तनाथ जिनालय बनवाया था; नरसन ने मागोडु में पार्श्वनाथेश्वरबस्ति निर्माण कराई थी; मावु ने बन्कन-वलिलु में एक चैत्यालय बनवाया था और योजनश्रेष्ठी (द्वि० ने गेरुसोप्पे में नेमीश्वर का दो-मंजिला चैत्यालय निर्मित कराया था। इन्हीं के एक रिश्तेदार भट्टकल के सेट्टियों में सिरमौर प्रसिद्ध कष्णाधिकारी (?) थे, जिन्होंने भी एक चैत्यालय बनवा कर पुण्य-संचय किया था। अम्बवन सेट्टि के पिता नागप्पश्रेष्ठी द्वि० थे। इनका ननिहाल योजनश्रेष्ठी के यहाँ थी। अम्बवन की पत्नी देवरसि भी उन्हीं की तरह धर्मात्मा थीं। एक दिन यह दम्पत्ति जिनवंदना के लिये गेरुसोप्पे के नेमिजिनचैत्यालय में गए। वहाँ उन्होंने अभिनव समन्तभद्र मुनि से धर्म का स्वरूप सुना। उसी समय उन्होंने यह निश्चित किया कि वे अपने पितामह, योजनश्रेष्ठी,

द्वारा निर्मित नेमीश्वरबस्ति के समक्ष एक मानस्तंभ बनवा कर पुण्योपार्जन करेंगे। वे घर गये और अपने भाइयों, कोटणसेट्टि और मल्लिसेट्टि, एवं अन्य संबंधियों से परामर्श किया। तब उन्होंने अपनी इच्छा देवराय भूप पर प्रकट की। देवभूप ने उनकी इच्छा को सराहा और संघसहित आज्ञा दी। एक शुभ दिन को उस पुण्यकार्य का मुहूर्त हुआ और नियतकाल में धातु का मानस्तंभ बनवा कर अम्बवनसेट्टि ने अपनी अभिलाषा पूर्ण की। देवरसि से उनके दो पुत्रियाँ हुईं। एक का नाम पद्मरसि व दूसरी का देवरसि रक्खा गया। जिस दिन यह युगल कन्यायें पैदा हुईं, उसी दिन शुभ योग जान कर वह धातुमय मानस्तंभ चैत्यालय के सम्मुख स्थापित किया गया। मानस्तंभ पर उन्होंने कन्याओं के कद के बराबर ऊँचे सुवर्णकलश भी चढ़ाये। लेख में इस मानस्तंभ को धर्मनौका के लिये पतवार बताया है और धर्मरूपी छत्र का दंड कहा है। अभिनव समन्तभद्रमुनि के उपदेश से वह बनाया गया था। अम्बवनश्रेष्ठी प्रभृति जैनी श्रावकों द्वारा उस समय जिनधर्म की महत्ता सर्वोपरि स्थापित की गई थी। मालूम होता है, वैष्णवमत के श्रेष्ठियों में इनकी स्पर्द्धा चलती थी। परंतु १६ वीं शताब्दि के मध्य में जैन धनिकवर्ग गेरुसोप्पे में अत्यधिक प्रभावशाली मिलता है। श्रवणबेल्गोल का गेरुसोप्पे से पुराना सम्बन्ध रहा है। वहाँ के शिलालेख भी गेरुसोप्पे में जैनधर्म की प्रभावना को स्पष्ट करते हैं। सन १४१२ ई० में गेरुसोप्पे के गुम्मटण श्रावक श्रवणबेल्गोल को श्री गुम्मटनाथ के दर्शन करने के लिये गये थे। वहाँ उन्होंने कई मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था और आहारदान की व्यवस्था की थी। सन् १५३९ ई० में ऐसे ही चार उदाहरण मिलते हैं। इनमें विशेषता यह है कि गेरुसोप्पे के चवुडि आदि श्रेष्ठियों का रुपया कम्मय्य प्रभृति लोगों पर चाहिये था: वह इतने धर्मात्मा थे कि उन्होंने अपना कर्ज माफ करके उनसे कहा कि वह उस रुपये को धर्म-कार्य में व्यय कर दें। इन क़र्ज़दारों में एक माली भी था, उसने भी दान दिया था। यह दान संभवतः उस हर्षोपलक्ष में कराये गये होंगे, जिसका अनुभव गेरुसोप्पे के जैनियों को उस समय हुआ होगा, जब उनके राजा इम्मडि देवराय ने श्रवणबेल्गोलस्थ गोम्मटेश्वर का महामस्तकाभिषेकोत्सव कराया था। यह अभिषेक संभवतः सन् १५३९ ई० में कभी सम्पन्न हुआ था। अपने हर्ष को प्रकट करने के लिये ही गेरुसोप्पे के चवुडिश्रेष्ठि ने श्रवणबेल्गोल के अपने क़र्ज़दारों पर रुपया माफ करके उसे धर्म में लगवाया था। गरज यह कि गेरुसोप्पे के श्रावक—राजा और सेठ—सभी जैनधर्म प्रभावना के लिये उद्यमशील रहते थे। वह धर्मवीर और दानवीर थे। उनमें और सामन्त क्षत्रिय थे और श्रेष्ठी लोग वणिक् थे: परंतु फिर भी उनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध होते थे। वे सब ही गेरुसोप्पे को जैनधर्म का सुदृढ़ 'गढ़' बनाने में रस लेते थे। वहाँ की महिलायें उनके इस उत्साह को खूब ही बढ़ाती थीं! श्रावकों के समान ही गेरुसोप्पे

के जैनगुरु की प्रख्याति और प्रभावशाली थे। जनसाधारण में वह धर्म-द्रव्य में अधिक सम्पत्तिशाली होने के लिए भी प्रसिद्ध थे। गेरुसोप्पे के श्रीगुणभद्रदेव के शिष्य श्रीवीरसेनदेव ने सन् १५८३ ई० में रानिवास के सरदार चेन्नवीर ओडेयर से ३२ वराह मूल्य का एक खेत खरीदा था। उन्होंने ही सन् १५८५ ई० में भी दो खेत और इन्हीं सरदार से खरीदे थे। यह खेत क्यों खरीदे गये, यद्यपि इसका उत्तर स्पष्ट नहीं है, परंतु अनुमान यही है कि जिनमन्दिरों की पूजा और दानशाला के खर्च की पूर्ति के लिये यह खेत खरीदे गये थे। उस समय मन्दिरों की व्यवस्था का भार जैनाचार्यों पर आ पड़ा था—वे ही मन्दिरों के सर्वेसर्वा प्रकट होते हैं। इन आचार्यों के अपने गण होते थे और उनमें दिगम्बर साधुओं के साथ धर्मचर्चा हुआ करती थी। गेरुसोप्पे के मुनिगण योगागम की चर्चा करते एक लेख में बताये गये हैं। वादीभकेसरी विद्यानन्द स्वामी ने उन मुनियों के समूह में जाकर धर्मचर्चा में विशेष भाग लिया था, मानों वह उनके गुरु ही थे। विजयनगर साम्राज्य-काल में वादी विद्यानन्द अपने सानी के एक ही गुरु थे। गरज यह कि गेरुसोप्पे अपने समय में हर तरह से एक जैनकेन्द्र था। आज भी वहाँ पर चार दर्शनीय जैनमन्दिर अपने पूर्व वैभव को बतलाने के लिए शेष हैं। (देखो—मेडियावेल जैनिज्म, पृ० ३३९—३५० और ३७२)।

गोणूर ३८; मारसिंह ने यह नगर जीता था।

गोदावरी नदी ५९; दक्षिणभारत की नदी।

गोम्मटपुर या गोम्मटतीर्थ ९,२, १२८, १३७, १३८, ४८६, २२६; श्रवणबेल्गोल का अपर नाम।

गोल्लदेश ४०, ४७, ५०; इस देश के राजा गोल्लाचार्य्य नामक दि० मुनिराज हुए थे। (गोल्लाचार्य इति प्रसिद्ध-मुनिर्पोऽभूद्गोल्लदेशाधिपः।)

गोविन्दवाडि २४, ५३. ४८९; श्रवणबेल्गोल के पास था।

गौड या गौल देश, १२४, १३०, १३८, ४९१; होय्सल वंश के राजाओं ने इस देश को जीता था।

घट्टरुबाड, १३८; विष्णुवर्द्धन होय्सलनरेश ने इस नगर को नष्ट किया था।

चक्रगोट्ट दुर्ग ५३, ५६, १३८; होय्सलनरेश विष्णु व नरसिंह ने इसे भस्म किया था।

चामगट्ट १२४; चंद्रमौलि मंत्रिवर ने जो ग्राम दान दिया था, उसकी सीमा में यह भी एक ग्राम था।

चिक्कूर १६२, यहां के सर्वनन्दी व वसुदेव मुनि प्रसिद्ध थे।

चिक्कबेट्ट ४११, श्रवणबेल्गोल को चन्द्रगिरि पर्वत का कन्नड नाम है।

चिक्कदेवराजकल्याणिकुण्ड, ८३ श्रवणबेल्गोल का कुंड है।

चित्तूर २ अदेयरनाडु (राष्ट्र) में था, जहाँ मौनिगुरु की शिष्या नागमति ने समाधिमरण किया था।

चेङ्गिरिदुर्ग ५३, १३८, १४४, ४९३ ; होयसल राजाओं ने इस पर अधिकार किया था।

चेरदेश ३८, १३८ ; होयसलनरेश नरसिंह ने यह देश जीता था। चेरवंश के राजाओं द्वारा अधिकृत देश 'चेरदेश' था। अशोक के लेखों में इस वंश के राजों का उल्लेख 'केरलपुत्र' के नाम से हुआ है। यह पांड्यदेश के उत्तर में था। यूनानी लेखकों ने इसका उल्लेख 'चेरेबोथ्र' नाम से किया है। यह देश पालघाट के आरपार सेलम व कोयम्बुत्तूर ज़िलों में फैला हुआ था। दूसरी शताब्दि में इसके चार भाग थे ; (१) अरयम् (२) परम्बुनाडु (३) अन्जो (४) कोल्लिमलय। मदुरा (पांण्डदेश) से एक बड़ी सड़क चेरदेश को आई थी। ह्युन्त्सांग के समय में चेरदेश पर पांड्यनरेश का अधिकार था।

चोलदेश ३८, ८१, ९०, १२४, २३०, ३६०, ४८६, ४९१, ४ ९, ५०० ; होयसलनरेशों ने इस देश पर कई दफे अधिकार किया था। लेख नं० ८१ में होयसल नरेश वीरनरसिंहदेव "चोलराज्य-प्रतिष्ठाचार्य्य" कहे गए हैं। इसी देश के राजवंशज 'कोङ्गाल्व' नरेश जैन-धर्मानुयायी थे। अशोक के लेखों में चोलदेश का उल्लेख हुआ है। कृष्णानदी के मुहाने से पूर्वीतट के आगे दक्षिण होलिदेश (रामनद जिमींदारी) तक यह देश फैला हुआ था। उरगपुर उसकी राजधानी थी, जो वर्तमान की त्रिचनापल्लि है। पुहर (कावेरीपट्टण) और कांचि भी इस देश के प्रमुख नगर थे।

चोलेनहल्लि ग्राम, १०७: गोम्मटनाथ की पूजा के लिए जो बेक्क नामक ग्राम मंत्रिवर चंद्रमौलि की पत्नी आचलदेवी ने दान किया था: उसकी सीमा में यह ग्राम था।

जम्बुर ग्राम १३७, १३८: मंत्री हुल्लराज ने सवणेरु नामक ग्राम दान किया था। उसी की सीमा में यह ग्राम था।

जिननाथपुर ४०, ८३, १३१, ४६७, ४७८ ; यह श्रवणबेल्गोल से एक मील उत्तर की ओर है। इसे होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन के सेनापति गंगराज ने शक सं० १०४० के लग-भग बसाया था। यहाँ शान्तिनाथबस्ति शिल्पकारी का बड़ा ही सुंदर नमूना है। मैसूर भर में यह मंदिर दर्शनीय है। इसके जीर्णोद्धार की आवश्यकता है।

जिन्नहल्लि ग्राम, ८३ ; कृष्णराज ओडेयर ने इस ग्राम का दान किया था।

जीवापेट ४०४ ; कोई स्थान था।

ठक्कदेश ५४ ; समन्तभद्रस्वामी ने जिन देशों में वाद भेरी बजाई थी, उनमें यह भी एक था। पंजाब को पहले ठक्क या ढक्क कहते थे।

तच्चूर ग्राम ४४० ; बेल्गोल के मठ से सम्बन्धित था।

तञ्जनगरम्—तञ्जापुरी, ४३६, ४३७, ४४१ ; यह वर्तमान का तञ्जोर (Tanjore) है। शक सं० १७८० के उपर्युक्त तीनों लेखों से प्रकट है कि यहाँ के श्रावकगण श्रवणबेल्गोल की वन्दना के लिये जाते थे और वहाँ के भट्टारक म० की विनय करते थे। वहाँ उन्होंने तीर्थङ्करों की प्रतिमायें भी प्रतिष्ठित की थीं। यहाँ के श्रावक अनन्त चतुर्दशी आदि व्रत भी किय करते थे। अनन्तव्रत के उद्यापन में श्रावक शत्तिर ने वृषभादि पहले के चौदह तीर्थंकरों की प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराई थीं।

तट्टगेर, २४ : यह स्थान गंगवाड़ि में था।

तरिहल्लि ग्राम, १३८ ; हुल्लराज ने जो एक ग्राम दान किया था, उसकी सीमा का ग्राम था।

तलकाडु वा तलवनपुर ४५, ५३, ५९, ९०, १२४ आदि। गंगराजाओं की राजधानी कावेरी-तट पर थी, परन्तु ११वीं श० के प्रारंभ में चौल नरेशों के अधिकार में आ जाने से गंग-राजधानी नहीं रही थी। राष्ट्रकूट-राजकुमार केम्बय्य जब यहाँ पर थे, तब उन्होंने जैनाचार्य को एक ग्राम भेंट किया था। महासामन्त श्रीविजय ने यहाँ पर एक भव्य मंदिर निर्मित कराया था—उक्त दान इसी मंदिर के लिये दिया गया था। गङ्गराजाओं के अतिरिक्त होयसल वंश के राजाओं का सम्पर्क भी तलकाड से रहा है—दोनों वंशों के राजाओं ने जैनधर्म के लिये अनेक दान दिये और धर्मकार्य किये थे। होयसलराज के सेनापति, सम्यक्त्वचूड़ामणि श्रीगङ्गराज ने सन् १११७ ई० में चोलों को तलकाड से मार भगाया था। चोलराज से होयसल नरेश ऐसे रुष्ट हुए कि उन्होंने तलकाड को जला कर चोलों का नाम-निशान मिटा दिया।

(क्रमशः)

तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य की रचनाएँ

[लेखक—श्रीयुत सुमेरचंद्र दिवाकर जैन, न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी०ए०, एल्-एल्०बी०]

प्राचीन संस्कृत-साहित्य की शोभा बढ़ानेवाले विद्वानों में आचार्य प्रभाचन्द्र का नाम, उनके बनाये ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र के कारण विशेष मान्य है। इस नाम के धारक और भी विद्वान हुए हैं, अतः प्रभाचन्द्र नाममात्र देख कर सहसा किसी रचना को प्रमेयकमलकार की मानना विद्वानों को तबतक अभीष्ट नहीं होता, जबतक कि वे उस रचना में प्रमेयकमलकार के पांडित्य की झलक का दर्शन न कर लें।

समाधितंत्र और रत्नकरंडश्रावकाचार की संस्कृत में टीका किन्हीं प्रभाचन्द्राचार्य्य ने की है। इन दोनों टीकाओं में समान शैली आदि को देखकर पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्त्यार इस सही नतीजे पर पहुँचे हैं कि दोनों के टीकाकार जुदे-जुदे नहीं हैं। इसीलिये वे लिखते हैं—"मुझे इस विषय में कोई संदेह नहीं मालूम होता कि यह (समाधितंत्र) टीका उन्हीं प्रभाचन्द्राचार्य की बनाई हुई है, जो कि रत्नकरंडश्रावकाचार की टीका के कर्ता हैं; दोनों की प्रतिपादनशैली, कथन करने का ढंग और साहित्य की दशा एक जैसी मालूम होती है।" किन्तु यह बात स्वीकार करने में लोगों को संकोच होता है कि उन दोनों टीकाओं के रचयिता प्रमेयकमलकार हैं। हम ग्रंथों के कुछ अवतरण नीचे देते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि दोनों टीकाएँ प्रमेयकमलकार की ही हैं।

समाधितंत्र पेज १ में लिखा है :

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षस्वरूपंचोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।

न्यायकुमुद पेज २ देखिये :

तत्र शास्त्रस्यादौ शास्त्रकारो निर्विघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्करोति।

प्रमेयकमल पेज २ :

अविघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं हि फलमुद्दिश्येष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणाः शास्त्रकृतः शास्त्रस्यादौ प्रतीयन्ते ॥

समाधितंत्र पेज ३ :

यो हि यत्प्राप्त्यर्थी स तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्वेदविदं नमस्करोति। सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थी च समाधिशतकशास्त्रस्य कर्ता ······।

न्यायकुमुदचन्द्र पेज ४ :

यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्कुर्वाणो दृष्टः, यथा कश्चित् धनुर्वेद-परिज्ञानार्थी तत्परिज्ञानगुणोपेतं, धर्मतीर्थकरत्वस्याद्यादित्वगुणार्थी चायं शास्त्रकार इति ।

समाधितंत्र पेज १५ में लिखा है—"यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः ।"

रत्नकरंडश्रावकाचार-संस्कृत-टीका (पे० ६)—

तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमल-मार्तण्डे न्यायकुमुदचंद्रे प्रपंचतः प्ररूपणात् ।

यदि प्रमेयकमल और न्यायकुमुद इन रत्नकरंड और समाधितंत्र के टीकाकार, प्रभाचंद्र, की कृति न होते, तो ये प्रभाचंद्र यह नहीं लिखते कि प्रमेयकमल और न्यायकुमुदचंद्र में इन बातों का खंडन किया गया है, या निरूपण हुआ है । एक-आध जगह प्रयोग होने से यह भी संभावना उचित थी कि टीकाकार ने अन्य प्रख्यात प्रभाचंद्र की कृति की ओर इशारा किया है। किन्तु रत्नकरंड और समाधिशतक की टीका में उन दोनों न्याय-ग्रन्थों का ही उल्लेख किया जाना इस संभावना को उत्पन्न करता है कि टीकाकार प्रभाचंद्र की ही रचना ये न्यायग्रंथ हैं, अतः अपने ग्रन्थों के अध्ययन की ओर इशारा मात्र करके विशेष प्रतिपादन के लिए उन्होंने मौनवृत्ति अंगीकार की: कारण वे छोटी-सी टीका लिखना चाहते थे, जो कि बालव्युत्पत्ति कराने में समर्थ हो ।

एक रचना विशेष पांडित्यपूर्ण हो और दूसरी बिल्कुल सरल हो, इतने से ही दोनों को भिन्न कर्तृक मानना पड़ेगा, ऐसी कुछ व्याप्ति नहीं मालूम पड़ती; कारण प्रकांड पांडित्य और भावों तथा भाषा पर अधिकार होने से यह साधारण बात है कि विद्वान् आचार्य मेधावी तार्किकों के लिये जटिल और दुरूह रचना कर दें, और साधारण शिष्यों के प्रवेशार्थ सरल भाषा में सामान्य ढंग से समझाते हुए प्रतिपादन करें । इस तरह प्रतिपाद्य के अनुरूप रचना बनाने की क्षमता महान् पांडित्य और भाषाधिकार को द्योतित करती है, जो सौभाग्य कम व्यक्तियों में पाया जाता है । अतः उक्त अवतरणों में जो प्रमेयकमल और न्यायकुमुद का उल्लेख किया गया है, उससे टीकाकार प्रभाचन्द्र की तार्किक प्रभाचन्द्र से भिन्नता नहीं प्रतीत होती।

इसके सिवाय इन टीकाओं में प्रभाचन्द्र की तार्किकता का प्रकाश अपनी छटा दिखाता ही है। रत्नकरंड के श्लोक ६ की टीका का तर्कपूर्ण विवेचन प्रमेयकमल की स्मृति ही नहीं कराता है, किन्तु उसमें और प्रमेयकमल के शब्दों और शैली में भी समानता की स्पष्ट आभा का दर्शन कराता है; अंतर केवल इतना है कि प्रमेयकमल एक सरोवर के समान दीखता है और रत्नकरंड का वर्णन जलघट के समान, यथा :—

'भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनेनोच्यते—अत्र किमाहारमात्रं साध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता। आसयोग केवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् ॥'

(रत्नकरंड-टीका, पेज ५)

'भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। नन्वनेनाऽस्याहारमात्रं कवलाहारो वा साध्यते ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता—आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिणा इत्यभ्युपगमात्।'

(प्रमेयकमल, पेज ८५)

'भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात् ? अन्यथा रिरंसा अपि तत्र प्रसंगात्, कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्या विशेषाद्वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धे वीतरागतासंभवे भोजनाभाव परमप्रकर्षोपि तत्र किं न स्यात् तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्।

(रत्नकरंड—टीका, पे० ६)

'भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा। सा कथं वेदनीयस्यैव कार्य ? इतरथा गोन्यादिषु रन्तुमिच्छा रिरंसा तत्कार्यं स्यात्। तथा च कवलाहारवत् स्त्र्यादावपि तत्प्रवृत्तिप्रसंगान्नेश्वरादस्य विशेषः। यथा च रिरंसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्तते तथा बुभुक्षापि'। इत्यादि।

(प्रमेयकमल, पे० ८६)

अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नहि भुंजानोपीति महच्चित्रं'।

(रत्नकरंड, पे० ६)

आहारकथामात्रेऽपि ह्यप्रमत्तोपि सन् साधुः प्रमत्तो भवति नहि भुंजानोपीति श्रद्धामात्रम।

(प्रमेयकमल, पे० ८७)

इस प्रकार शब्द-सादृश्य और भाव-सादृश्य को देखने से यह प्रतीत होता है कि जिनकी लेखनी ने प्रमेयकमल-जैसे उच्च तर्कग्रंथ का निर्माण किया है, उन्हीं की लेखनी ने समाधितंत्र और रत्नकरंड की टीका की भी रचना की है। यह संभव है कि उक्त दोनों टीकाओं का निर्माण उन्होंने अपने जीवन की संध्या में किया हो, जब कि अधिक लम्बी रचना करने में शरीर साथ न देता हो, अथवा किन्हीं शिष्य-विशेष के अनुग्रह के लिये वे टीकाएँ लिखी हों।

अन्य विद्वानों से अनुरोध है कि वे इस विषय पर विचार करके पूर्ण निर्णय करें। हमें तो यही प्रतीत होता है कि तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य ने ही समाधितंत्र और रत्नकरंड की भी टीकाएँ की हैं।

जैन-अनेकार्थसाहित्य

[लेखक—श्रीयुत बा० अगरचन्द नाहटा]

भारतीय भाषाओं में संस्कृत-भाषा सबसे अधिक गौरवपूर्ण है। इस भाषा का शब्द-कोष अत्यन्त महान् एवं साहित्य अपरिमित है। व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई एवं क्लिष्ट होने के कारण यह भाषा बहुत प्राचीन काल से ही विद्वद्भोग्य अर्थात् साहित्यिक भाषा रही है। सबसे प्राचीन माने जानेवाले वेदों की भाषा भी यही है। वैदिक साहित्य तो इस भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का अत्यन्त नगण्य-सा है। जैन-विद्वानों ने भी अपनी सुंदर एवं ललित रचनाओं द्वारा इस भाषा का भाण्डार भरा है।

संस्कृत-भाषा में एक ही वस्तु के जितने अधिक पर्यायवाची शब्द हैं एवं एक ही शब्द के जितने अधिक अर्थ हो सकते हैं, उतने अधिक पर्यायवाची शब्द तथा एक शब्द के अनेक अर्थ संसार-भर की किसी भी भाषा में नहीं पाये जाते। यह इस भाषा की विशेषता है। इस विशिष्टता से लाभ उठाकर जैन-विद्वानों ने द्विसंधान, चतुःसंधान, सप्तसंधान यावत् चतुर्विंशतिसंधान काव्य, तथा एक ही शब्द के हजारों, लाखों अर्थ एवं एक वाक्य के १० लाख से भी अधिक अर्थ करके अपनी अद्वितीय मेधा का परिचय दिया है।

यद्यपि जैनेतर विद्वानों ने भी द्विसंधान, त्रिसंधान एवं पंचसंधान-रूप कई काव्यों* की

---

* ऐसे काव्यों की यथाज्ञात सूची इस प्रकार है :

१ दंडिकृत द्विसंधान (अनुपलब्ध, उल्लेख-भोजकृत शृङ्गार-प्रकाश) २ राघवपांडवीय कविराज (वि० १२३०) कृत, ३ विद्यामाधव-कृत पार्वतीरुक्मिणीय (११८३ वि०), ४ सोमेश्वर-कृत राघवयादवीय, ५ वेंकटाध्वरीकृत यादवराघवीय (१७वीं शताब्दी), ६-७-८ रघुनाथाचार्य, श्रीनिवासाचार्य और वासुदेवकृत राघवयादवीय, ९ रामचंद्रकृत रसिकरंजन (शृङ्गारवैराग्य द्व्यर्थमय, ई० १५२४), १० चिदंबरकृत राघवयादवपाण्डवीय (ई० १५८६), ११ चिदंबरकृत पंचकल्याणचम्पू (राम, कृष्ण, विष्णु, शिव और सुब्रह्मण्यीय के श्लेषमय चरित्र), १२ अनंताचार्यकृत राघवयादवीय, १३ घनश्याम-कृत अशोधआकर (कृष्ण, नल, हरिश्चन्द्र), १४ हरदत्तकृत राघवनैषधीय (१८वीं शताब्दी), १५ अनंतराम-पुत्रिकृत हरिश्चन्द्रोदय (प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चन्द्र और अन्य हरिश्चन्द्र का चरित्र), १६ सूर्य कवि-कृत कृष्ण-विलोम काव्य (ई० १५४२), १७ निर्नामक—नलहरिश्चन्द्रीय।—History of Classical Sanskrit Literature by कृष्णमाचार्य। १८ बिल्हण या सुंदरकवि-रचित चौरपंचाशिका (शशिकला और दुर्गा का चरित्र) रचना सन् १०६० के लगभग। —(जैनस्तोत्र-संदोह भाग २ प्रस्तावना पृ० २१-२२)

रचना की है, फिर भी जैन-विद्वान् उससे भी अधिक महत्त्व के सप्तसंधान और चतुर्विंशति-संधान काव्यों तथा एक-एक वाक्य के दस लाख बाईस हजार चार सौ सात (१०२२४०७) अर्थ करके बाजी लगा गये हैं ! इस प्रकार इस क्षेत्र में जैनेतर विद्वानों की रचनाओं से जैन-विद्वानों की रचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण एवं गौरवशालिनी हैं। उनका विशाल अनेकार्थ-साहित्य सचमुच जैन-साहित्य एवं समाज के लिये गौरव की वस्तु है। इस लेख में उसी जैन अनेकार्थ-साहित्य का परिचय कराना अभीष्ट है।

प्राचीनता

जहाँ तक हमें मालूम हो सका है, द्विसंधान आदि काव्यों में सर्वप्रथम दंडि के होने का उल्लेख मिलता है; पर वह उपलब्ध नहीं होने से निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः उपलब्ध अनेकार्थ साहित्य में स प्रथम रचना जैनों की ही है। दि० धनंजय का समय अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है, फिर भी ईस्वी ९वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। श्वे० सुराचार्य की रचना का समय ई० १०३३ निश्चित है और इसके पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र के काव्य का समय तो ई० सन् ११५० के करीब है। तब जैनेतर उपलब्ध काव्यों में सबसे प्राचीन कविराजकृत राघवपाण्डवीय है, जिसका समय ई० ११८२ से ९७ माना गया है।

एक श्लोक के विविध अर्थ करने का प्राचीन प्रमाण उ० विनयविजयजी के कथनानुसार संघदासगणी की रचित वसुदेव हिंडी है, जिसका समय ई० ५वीं या ६ठी शताब्दी है। इस ग्रन्थ में "चत्तारिअट्ठ" वाली गाथा के १४ अर्थ किये गये हैं—ऐसा विनयविजयजी ने अपने "परिपाटीचतुर्दशकम्" में सूचित किया है। अतः सबसे प्राचीन रचना वही प्रतीत होती है।

अनेकार्थसाहित्य का प्रारंभकाल यद्यपि ६ठी शताब्दी है, पर इस परिपाटी का प्रौढ़त्व (विकाश) तेरहवीं शताब्दी से हुआ है, एवं १८वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् मेघविजय उपाध्याय के साथ ही इसका विच्छेद-सा हो गया नजर आता है।

एक शब्द, वाक्य या श्लोक के एक से अधिक अर्थमय रचना को हम अनेकार्थसाहित्य में गणना करते हैं और अनेक ग्रन्थों की टीकाओं में टीकाकारों ने ऐसे-ऐसे शब्दादि के अनेक अर्थ किये हैं; पर हम इस लेख में इस सम्बन्ध के मौलिक साहित्य की ही चर्चा करेंगे।

साधारणतया अनेकार्थसाहित्य को हम तीन भागों में विभक्त कर देते हैं। (१) श्लेषमय काव्य, (२) फुटकर शब्द, वाक्य एवं श्लोकादि के विविध अर्थ और (३) पादपूर्तिसाहित्य। इनमें से पादपूर्ति-साहित्य के सम्बन्ध में हमारा लेख इसी भास्कर के भाग ३, किरण ३ में प्रकाशित हो चुका है; अवशेष दोनों भेदों पर ही इस लेख में विचार करते हैं।

श्लेषमय काव्य

द्वयाश्रय

१-२ चौलुक्यवंशोत्कीर्त्तन द्वयाश्रय※—हेमचन्द्र सूरि-कृत।

यह काव्य अपने ढंग का निराला ही है। इसके प्राकृत और संस्कृत—दो विभाग हैं, जिनमें से संस्कृत विभाग के २० सर्गों में अणहिलनपुर पाटण के वर्णन के साथ मूलराज से लेकर कुमारपाल के विजयी जीवन तक का ऐतिहासिक वृतांत है, एवं दूसरे भाग में प्राकृतादि ६ भाषा के उदाहरण ८ सर्गों में कुमारपाल के राजकीय तथा धार्मिक जीवन का वर्णन है। इसमें सिद्धहेम शब्दानुशासन के समग्र सूत्रों के उदाहरण क्रमशः आनुपूर्वी रूप से निकलते हैं। अतः इस काव्य-रचना का उद्देश्य व्याकरण सिखाना और ऐतिहासिक वृत्तांत लिखना उभय रूप से होने के कारण इसे द्वयाश्रय कहा जाता है। यह काव्य टीका के साथ छप चुका है।

३ श्रेणिकचरित्र द्वयाश्रय—जिनप्रभसूरि-रचित सं० १३५६।

इसमें कातन्त्र व्याकरण के सूत्र एवं श्रेणिक नृपति का चरित्र उपर्युक्त रूप से बड़ी खूबी के साथ योजित है। इसका अभी तक कुछ भाग ही मुद्रित हो पाया है। श्रीजिनप्रभसूरि जी ने 'उवसग्गहरवृत्ति' आदि में भी एक-एक गाथा के कई अर्थ कर अपना असाधारण पांडित्य व्यक्त किया है, तथा नवग्रह श्लेषमय पार्श्वस्तवन के प्रत्येक पद्य में एक-एक विशेषण ग्रहों और पार्श्वनाथजी से घटाया है।

द्विसंधान

४ राघवपाण्डवीय-द्विसंधान—दि० धनंजय† रचित।

इसमें रामायण और महाभारत की कथा प्रत्येक श्लोक में श्लेषरूप से वर्णित है। श्लिष्ट काव्य होने पर भी इसमें माधुर्य एवं प्रसाद-गुण प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। इसकी रीति वैदर्भी है। काव्य बड़ा रोचक एवं प्रशंसनीय है। अभङ्ग तथा सभंग श्लेषों से युक्त इस काव्य की टीका विनयचन्द्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने विस्तारपूर्वक लिखी है। इस टीका

---

† संस्कृत द्वयाश्रय सूत्र २८२१, वृत्ति ख० अभय तलक (ग्र० १७५७४) सं० १३१२. प्राकृत-द्वयाश्रय-सूत्र ४५०, वृत्ति ख० पूर्णकलश (ग्र० ४२३०, सं० १३०७। (वृ० टिप्पणिका)

※ धनंजय का समय 'संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' पृ० १७३ में के० बी० पाठक के मतानुसार ई० ११२३ से ११४० के मध्य का लिखा है, पर श्री नाथूराम प्रेमी ने बनारसी-विलास की उत्थानिका में लिखा है कि ध्वन्यालोक के कर्ता आनंदवर्द्धन, हरचरित्र के कर्ता रत्नाकर और जल्हण (सूक्ति मुक्तावलीकर्ता) ने धनंजय की स्तुति की है। इनमें आनन्दवर्द्धन का समय ८४०-७०, एवं रत्नाकर का समय ई० ८१३-५० का संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास में लिखा है; अतः धनंजय का समय ई० ८१३ से पहले का ही निश्चित होता है।

का संक्षेप करके बद्रीनाथ ने सुधा नामक टीका बनाकर निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित की है। "दि० जैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ" में १धर्मकीर्ति, २ पुष्पसेन (श्लोक ४०००), ३ माधवानंद ४ मुद्दापंडित, ५ विनयचन्द्र की इस पाँच टीकाओं का उल्लेख किया है। इनमें नं० ५ का उल्लेख गलत प्रतीत होता है।

५ नाभेयनेमि द्विसंधान—सुराचार्य सं० १०८० (बृ० टिप्पणिका)।

इस काव्य में भगवान् ऋषभदेव और नेमिनाथ का श्लेषमय जीवनचरित्र वर्णित है। इस का उल्लेख प्रभाव-चरित्र में पाया जाता है।

६ नाभेयनेमि द्विसंधान—बृहद्गच्छीय हेमचन्द्रसूरि।

नं० ४ की तरह इसमें भी ऋषभ और नेमि का संयुक्त चरित्र है। इसका संशोधन कविचक्रवर्ती श्रीपाल ने किया है। इस काव्य की प्रतियाँ बड़ौदा और पाटण में हैं।

चतुःसंधान

७ मनोहर-कृत चतुःसंधान काव्य—उ० 'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ'

८ शोभन-रचित चतुःसंधान „ „

सप्तसंधान

९ सप्तसंधान काव्य कर्त्ता उ० मेघविजय सं० १७६०

श्लेषमय काव्यों में यह अनुपम कृति है। इसके प्रत्येक श्लोक में भगवान् ऋषभ, शांति नेमि, पार्श्व, वीर इन पाँच तीर्थंकरों एवं राम और कृष्ण—इन ७ महापुरुषों का चरित्र श्लेषरूप से वर्णित है। अर्थात् प्रत्येक श्लोक के ७ ७ अर्थ होते हैं और सातों महापुरुषों की जीवनी पर वे घटते हैं। यह मूल काव्य ९ सर्गों में यशोविजय ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है। स्वोपज्ञ टीका भी उपलब्ध है, पर वह अद्यावधि अप्रकाशित है। इन्होंने अपने काव्य के अंत में हेमचन्द्र सूरि-रचित सप्त-संधान का उल्लेख किया है, पर इसका अन्य कोई भी उल्लेख प्राचीन सूची आदि में नहीं मिलने से मुझे तो उनका कथन प्रामाणिक नहीं जँचता।

१० सप्तसंधान काव्य—जगन्नाथ-रचित, उ० 'दि० जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ'।

इस काव्य पर पुष्पसेन-रचित टीका का उल्लेख उक्त ग्रन्थ में है, पर वह नं० ६, ७, ८ भी) कहाँ तक सही है, कहा नहीं जा सकता।

चतुर्विंशति संधान

१ चतुर्विंशति संधान—दि० पं० जगन्नाथ-रचित*।

* पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने 'दि० जैनग्रंथों की एक बृहत् सूची' नामक लेख में इन जगन्नाथ को रसगंगाधर का रचयिता ब्राह्मण विद्वान होने की संभावना की है, पर अभी तक जगन्नाथ कौन थे, और कब हुए—निर्णय करने की आवश्यकता है एवं इनके रचित सप्तसंधान, मनोहर तथा शोभनकृत चतुःसंधान की प्रतियाँ कहाँ हैं, इस बात का भी अनुसन्धान आवश्यक है।

इसके प्रत्येक श्लोक के २४ तीर्थंकरों से संबंधित २४ अर्थ होते हैं। हिन्दी-अनुवाद सहित यह काव्य प्रकाशित हो चुका है।

अनेकार्थमय स्तोत्र-साहित्य

१ देवेन्द्रसूरि-रचित "चत्तारि अट्ठदोस" गाथा-विवरण-सूचकस्तव गा० १५।

२ विनयविजय-विरचित „ „ „ परिपाटी गा० २७ अर्थ १४

३ समयसुंदरोपाध्याय-रचित „ „ „ स्तवन गा० १७ अर्थ १३

४ विवेक-सागर-रचित 'हरि' शब्दार्थ (३० अर्थ) गर्भित वीतरागस्तव

५ नयचन्द्र सूरिरचित „ „ (१४ अर्थ) „ स्तम्भपार्श्वस्तव (सं १२५७)

६ गुणविजय-रचित 'सारङ्ग' शब्दार्थ-गर्भित महावीरस्तव

७ निर्नामक „ „ „ ऋषभस्तुतिः

८ लक्ष्मीकल्लोल-रचित 'पराग' शब्दार्थ (अष्टोत्तरशत) निबद्ध साधारण जिनस्तव

९ चारित्ररत्न शि० जिनमाणिक्य-गणिकृत नानार्थ-'सरस्वती' शब्दगुम्फित युगादिस्तव गा० ३८

१० ज्ञानसागर सूरिरचित „ "नवखंड" शब्दगुम्फित नवखंडपार्श्वस्तव

११ निर्नामक 'शर्म' „ „ पार्श्वस्तोत्र

१२ „ 'महावीर' „ „ वीरस्तोत्र गा० ८

१३ „ 'गो' „ „ (४ अर्थ) १ श्लोक

१४ सोमतिलकसूरि-रचित विविधार्थमयसर्वज्ञस्तोत्र

१५ „ श्लेषमय साधारण जिनस्तुति } एक ही श्लोक के
(तीर्थाधिराज „) } चार-चार अर्थ

१६ „ सिद्धार्थनरेन्द्रादि वीरजिनस्तव गा० १२
(२४ तीर्थंकर और गुरु-इन २५ की स्तुति है)

१७ रत्नशेखरसूरि-रचित नवग्रह-गर्भित पार्श्वस्तवन

१८ „ „ वामेयजिनस्तवन

१९ „ „ पार्श्वस्तव (आबू के ऋषभ, नेमि, पार्श्व, तीनों से सम्बधित अर्थमय)

२० मेघविजय-रचित पंचतीर्थी स्तुति (ऋषभ, नेमि, शांति, पार्श्व, वीर पाँच तीर्थंकरों के पंचार्थरूप, शि० मेरुविजय के लिये रचित

२१ समयसुंदर-रचित नाना कवि-प्रणीत काव्य द्व्यर्थकरण पार्श्वस्तव। इस स्तोत्र की ७ गाथाएँ हैं, जिनमें से प्रथम की ६ गाथाओं में क्रमशः १ कुमारसंभव, २ मेघदूत,

३ शिशुपालवध, ४ तर्कशास्त्र, ५ सप्तपदार्थी एवं ५ वृत्तरत्नाकर इन ६ ग्रन्थों के मंगलाचरण श्लोकों को दिया है और इनके अर्थ अमीझरा पार्श्वनाथ की स्तुति रूप में घटाया है।

२२ पंचार्थकाव्य :—"यो गङ्गा" आद्यपदवाले एक श्लोक के ब्रह्मा, विष्णु, हर, सूर्य, चन्द्र एवं पार्श्वजिनपक्ष में अर्थ, प्र० अनेकार्थ-साहित्य-संग्रह पृ० ६५।

२३ जिनप्रभसूरि-कृत नवग्रह श्लेषमय पार्श्वस्तवन।

२४ समयसुंदर-रचित २४ जिनगुरुनामगर्भित स्तवन।

२५ ख० कीर्तिरत्न सूरि-रचित 'चत्तारिअट्ठ' गाथा के ६ अर्थ (प्रति हमारे संग्रह में)।

टीकारूप अनेकार्थसाहित्य

अष्टलक्षी

१ अर्थरत्नावली—महोपाध्याय समयसुंदर-रचित सं० १६४९ लाहौर।

कहा जाता है कि एकबार सम्राट् अकबर की विद्वत्सभा में जैनों के "एगस्स सुत्तस्स अनन्तो अत्थो" वाक्य का किसी जैनेतर विद्वान ने उपहास किया। यह बात उ० समयसुंदर जी को अखरी और जैनों के इस वाक्य की सार्थकता बतलाने के लिये "राजा नो ददते सौख्यम्" इन ८ शब्दवाले वाक्य के १०२२४०६ अर्थ कर डाले। सं० १६४९ के श्रावण शुक्ला १३ को जब समाट् ने काश्मीर का प्रथम प्रयाण राजा श्रीरामदास की वाटिका में किया, तो वहाँ संध्या के समय विद्वत्-सभा एकत्र हुई, जिसमें सम्राट् अकबर, शाहजादा सलीम, बड़े बड़े सामन्त-मंडलि के राजा महाराजा एवं अनेक वैयाकरण, तार्किक, उद्भट विद्वान् सम्मिलित थे। कविवर ने अपना यह ग्रन्थ (कुछ अंश) सम्राट् को पढ़कर सुनाया। इसमें सम्राट् ने अत्यन्त चमत्कृत एवं विस्मृत होकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं 'इस ग्रन्थरत्न का पठन-पाठनादि के द्वारा सर्वत्र प्रचार हो'-कहते हुए ग्रन्थ अपने हाथ में लेकर कविवर को समर्पण किया। उन्होंने सम्राट् अकबर संबंधी एक और नया अर्थ कर के १०२२४०७ अर्थ वाले इस ग्रन्थकी समाप्ति की। इन अर्थों में से कोई अर्थ संभवपर न हो या अर्थ योजना में न बैठे उसकी स्थान-पूर्ति के लिये २ लाख, २२ हजार, ४ सौ ७ अर्थ को छोड़कर इस ग्रन्थ का नाम अष्टलक्षी रखा। प्रस्तुत ग्रंथ भारतीय-साहित्य का ही नहीं, विश्व-साहित्य का अद्वितीयरत्न है। भारतीय विद्वानों-विशेषकर जैन-विद्वानों के बुद्धिवैभव का जीता-जागता उदाहरण, अनेक अनेकार्थ जैनकृतियों के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड ग्रन्थांक ८१ के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

पंचशतार्थी

२ पंचशतार्थी—लाभविजय-रचित, तपागच्छ की पट्टावलियां में योगशास्त्र के निम्नोक्त

श्लोक के ५०० अर्थ करने का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध है।

श्लोक—नमो दुर्वाररागादिवैरिवारनिवारणे ।
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने ।१।

शतार्थी

३ आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्य वर्द्धमानगणि-रचित "कुमारविहारप्रशस्ति" के ८७वें श्लोक (गम्भीरश्रुतिभिः) के, रचयिता ने ही ११६ अर्थ किये हैं, जिनमें से १ कुमारपाल २ हेमचन्द्र, ३ वाग्भट्ट ये तीन अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्व के हैं।

४ आचार्य हेमचन्द्र सूरि के समकालीन विद्वान् सोमप्रभसूरि ने अपने रचित "कल्याण-सारसहितान्" श्लोक के १०६ अर्थ किये हैं, जिनमें से नं० ९१ से १०२ तक के अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्व के हैं।

उपर्युक्त दोनों शतार्थियें अनेकार्थ साहित्य-संग्रह भाग १ में मुनिचतुर विजयजी-सम्पादित कवियों के जीवनवृत्त के साथ प्रकाशित हो चुकी हैं।

५ तपागच्छीय उदयधर्मगणि ने उपदेशमाला की ("दोससयजालमूलं" वाली) ५१वीं गाथा के १०१ अर्थ किये हैं। इसकी प्रेस-कॉपी मुनिचतुर विजयजी ने तैयार की है, मूलप्रति प्र० कांतिविजय भांडार, बड़ौदे में है। ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १६०५ है।

६ तपागच्छीय पं० मानसागर जी को परीक्षा के लिये हीरविजय सूरिजी ने योगशास्त्र के द्वितीय प्रकाश के १०वें श्लोक "परिग्रहारंभमग्ना" श्लोक देकर विविधार्थ करने को कहा, तब आपने शतार्थी (१०६ अर्थमय) बनाई। इसकी प्रति भी प्र० कांतिविजय भांडार, बड़ोदा तथा लींबडी भांडार में विद्यमान है।

७ तपागच्छीय पं० हर्षकुल ने नमस्कारसूत्र के प्रथमपद के ११० अर्थमय शतार्थी* बनाई। इसका उल्लेख विजय विमल ने हेतुदय विभंगी टीका में किया है।

८ जयसुन्दरसूरिकृत योगशास्त्र-प्रकाश २ श्लोक ८५ वें ("प्राप्तुपरमपारस्य") पर शतार्थी बनाई। उ० अनेकार्थरत्नमंजूषा, पृ० १०।

९ बप्पभट्टसूरि-निर्मित "सत्तीसियादि" गाथा क "अष्टोत्तरशतार्थीवृत्ति।" उ० अनेकार्थ रत्नमंजूषा, पृ० १०।

१० रत्नाकरावतारिका के प्रथम पद्य पर शतार्थीवृत्ति। उ० जैनग्रन्थावली।

११ खरतरगच्छीय उ० गुणविनयजी-रचित "सत्त्रथ" शब्द के ११७ अर्थ, प्र० अनेकार्थ मंजूषा।

---

* मंत्रराजगुणकल्प महोदधि एवं अनेकार्थ रत्नमंजूषा में इसका कर्त्ता गुणरत्न लिखा है, पर वे तो प्रति-लेखक हैं। रचयिता हर्षकुल अनेकार्थरत्नमंजूषा में प्रस्तुत कृति के अंत में स्पष्ट लिखा है।

१२ खरतरगच्छीय हंसप्रमोदगणी के सं० १६६२ में रचित "सारंगसार" आद्यपदवाले १ श्लोक पर १ अर्थ, इसकी एकमात्र प्रति जेसलमेर भांडार में है। इसके अर्थों में भी कई ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व के हैं। अभी हमने इसकी प्रति को श्रीहरिसागरसूरि जी को भेजकर उनके संग्रह के लिये नकल करवाई है।

१३ रतनगढ़ के बींजराज हुक्मचंद वैद के पुस्तकालय में १ शतार्थी वृति की पत्र ४० की प्रति है जिनमें १ श्लोक के १०० अर्थ किये हैं, पर ग्रन्थकार का नाम नहीं है।

फुटकर रचनायें

१४ हमारे संग्रह में अंचल गच्छीय माणिक्यसुंदरसूरि-रचित "राजा नो ददते सौख्यम्" वाक्य के ६४ अर्थ हैं।

१५ जैनेतरगायत्री के विविधार्थमय विवरण, शुभतिलक-रचित। अनेकार्थ रत्नमंजूषा में छपा है।

१६ रत्नशेखरसूरि-रचित "परवाया" शब्द के ५६ अर्थ, प्र० अनेकार्थरत्नमंजूषा।

१७ जिनप्रभसूरि-रचित अनुयोग चतुष्टय व्याख्या प्र० ,,

१८ भावप्रभसूरि-रचित "गहूंलिका" शब्द के ५१ अर्थ, प्र० भावप्रभसूरि-विरचित कृतित्रय में।

१९ महो० समयसुंदररचित मेघदूत के आद्यश्लोक के ३ नवीन (ऋषभ, जिनचंद्रसूरि, सूर्य) अर्थ। इसकी प्रति हमारे संग्रह में है।

२० महो० समयसुंदर-रचित जयसागर-रचित विमलयमल स्तुति की दूसरी गाथा के ६ अर्थ। इसकी प्रेस-कॉपी हमारे संग्रह में है।

२१ नवकार तथा उवसग्गहरं आदि की वृत्तियाँ।

इस प्रकार जैन अनेकार्थसाहित्य का यथाज्ञात संक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया गया है। इसके लिखने में अनेकार्थरत्नमंजूषा, अनेकार्थसाहित्यसंग्रह, मुनिचतुर विजय जी-लिखित जैनोनुं अनेकार्थ साहित्य, संस्कृत-साहित्य का इतिहास आदि ग्रन्थों की सहायता ली गई है। दिगम्बर-साहित्य का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिये कई विद्वानों को पत्र लिखे, पर कोई उत्तर नहीं मिला। अतः 'दि० जैनग्रंथ और उनके ग्रन्थ' से जितना ज्ञात हो सका, इस लेख में उसका उपयोग कर के ही सन्तोष करना पड़ा। दि० साहित्य के विशाल इतिहास का अभाव मुझे बहुत अखर रहा है, इसके लिये पहले भी कई बार लिख चुका हूँ फिर भी दि० समाज और उनके विद्वानों से सादर आग्रहपूर्वक निवेदन करता हूं कि वे शीघ्रातिशीघ्र अपने भांडारों की पूरी तरह छानबीन कर एक महद् इतिवृत्त के प्रकाशन करने की कृपा करें।

प्रकाशित श्वे० साहित्य तथा ऐतिहासिक ग्रंथों के सामने जब-जब दि० साहित्य की तुलना करने का अवसर सामने आता है, तबतब मुझे परम हार्दिक दुःख होता है कि दि० समाज में पंडितों की संख्या इतनी अधिक एवं धनी मानी व्यक्तियों की कमी न होते हुए भी वे इतने पिछड़े हुए क्यों हैं ? उनका साहित्य भी बहुत महत्त्व का एवं उच्चकोटि का है, फिर भी वे इतने उदासीन क्यों ? उस समाज का एक भी पट्टावलीसंग्रह, जातीय इतिहास-संग्रह, जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-संग्रह या साहित्य का इतिहास देखने में नहीं आता। शिलालेख-संग्रह भी अपेक्षाकृत बहुत कम है। दि० विद्वानों एवं आचार्यों के जीवन-चरित्र भी स्वतन्त्र एवं सुचारुरूप से बहुत ही कम प्रकाशित हुए हैं। जैनसमाज का करीब आधा भाग जिस सम्प्रदाय का अनुयायी है, उसके साहित्य के विषय में खोजने पर भी जानकारी का कोई महत्वपूर्ण साधन नहीं मिलता।

सत्यता के नाते मुझे कहना पड़ेगा कि किसी किसी बात में श्वे० साहित्य से भी दि० साहित्य अपेक्षाकृत अधिक महत्व का है जैसे अध्यात्मिक साहित्य हिन्दी, कन्नड तामिलादि भाषा का साहित्य आदि में दि० साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। आशा है, श्वे० समाज के एक नगण्य साहित्यसेवी के, ये नाते दि० समाज एवं उनके विद्वानों को इस कार्य में शीघ्र प्रवृत्त करने में सहायक होंगे।

आचार्य अमितगति

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

मालवेके विद्याप्रेमी और विद्वान् परमार-वंशके राजाओंके कालमें जो अनेक जैन विद्वान् हो गये हैं, उनमें आचार्य अमितगतिका एक विशेष स्थान है। इस वंशके राजा यद्यपि जैनधर्मानुयायी नहीं थे, परन्तु जैनधर्मके प्रति उनका आदरभाव अवश्य था। अमितगतिके गुरु माधवसेन 'मुंजराजार्चित:' मुंजराजा-द्वारा पूजित थे और प्रद्युम्नचरित काव्यके कर्त्ता आचार्य महासेन महाराजा सिन्धुलके महामहत्तम (महामात्य) श्रीपर्पटके गुरु थे। न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डके कर्ता प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजदेव-द्वारा सम्मानित थे।* महाकवि धनपालने अपने प्रसिद्ध गद्यकाव्य 'तिलकमंजरी'की रचना राजा भोजके कहनेसे की थी और राजा भोजने उन्हें अपनी सभामें 'सरस्वती'की पदवीसे सम्मानित किया था। दुबकुण्डके वि० सं० ११४५ के लेखके अनुसार जैनाचार्य शान्तिषेणने भोजदेवकी सभामें अम्बरसेन आदि जैन विद्वानोंका अपमान करनेवाले पण्डितोंको हराया था। इसी तरह भोजके वंशज अर्जुनदेवके सान्धिविग्रहिक मंत्री सलखण संभवत: पण्डित आशाधरके मित्र थे× और गुरु बालसरस्वती मदनोपाध्याय शिष्य थे। इससे पता लगता है कि उक्त सब राजाओंके कालमें जैन विद्वानोंकी काफी प्रतिष्ठा थी और उनका जैनधर्मके प्रति सद्भाव था। साहित्याचार्य विश्वेश्वरनाथ रेउके कथनानुसार अमितगति वाक्पतिराज मुंजकी सभाके एक रत्न थे। ये बहुश्रुत विद्वान थे और उन्होंने विविध विषयों पर ग्रन्थ लिखे थे। उनके तमाम उपलब्ध ग्रन्थ संस्कृतमें हैं, अब तक प्राकृत या अपभ्रंशका उनका कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

अमितगति माथुरसंघके आचार्य थे। देवसेनसूरिने अपने 'दर्शनसार' में जो पांच जैनाभास बतलाये हैं, उनमें एक माथुरसंघ भी है। इसे नि:पिच्छिक भी कहते हैं। क्योंकि इस संघके अनुयायी मुनि मोर-पिच्छि या गो-पिच्छि नहीं रखते थे।

जैसा कि मैंने लेखान्तरोंमें बतलाया है, प्राय: सभी संघों, गणों और गच्छोंके नाम

* देखो जैनशिलालेखसंग्रहका लेख नं० ५५—श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा .. श्रीमान्प्रभाचन्द्रमा।

× देखो, मेरा लिखा 'पण्डितप्रवर आशाधर' शीर्षक लेख, अनेकान्त भाग ३, अंक ११-१२

स्थानों या देशोंके नामसे पड़े हैं, माथुरसंघ नाम भी स्थान के कारण पड़ा है—मथुरा नगर या प्रान्तका जो मुनिसंघ वह माथुर संघ।

दर्शनसारमें काष्ठासंघकी उत्पत्ति आचार्य जिनसेनके सतीर्थ वीरसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा वि० सं० ७५३ में हुई बतलाई गई है, जो नन्दी तटमें रहते थे और कहा है कि उन्होंने कर्कश केश, अर्थात् गौकी पूछकी पिच्छि, ग्रहण करके सारे बागड़ देशमें उन्मार्ग चलाया।* फिर इसके दो सौ वर्ष बाद, अर्थात् वि० सं० ९५३ के लगभग मथुरामें माथुरोंके गुरु, रामसेनने, निःपिच्छिक रहनेका उपदेश दिया;† कहा कि न मयूरपिच्छि रखनेकी जरूरत है और न गोपुच्छकी पिच्छि। इससे जान पड़ता है कि काष्ठासंघकी ही एक शाखा माथुरसंघ है।

इस बातकी पुष्टि सुरेन्द्रकीर्ति आचार्यकी बनाई हुई पट्टावलीके निम्नलिखित पद्योंसे भी होती है—

> काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
> तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ॥
> श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागडाभिधः।
> लाड-बागड इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले॥

अर्थात् काष्ठासंघमें नन्दितट, माथुर, बागड़ और लाड-बागड ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुए। यह स्पष्ट है कि ये चारों नाम स्थानों और प्रान्तोंके नामों पर रक्खे गये हैं। कुमारसेन नन्दितटके थे, उससे नन्दितट गच्छ, रामसेन मथुराके थे, उससे माथुरगच्छ और बागड़से (सागवाड़ेके आसपासके प्रदेशको अब भी बागड़ कहते हैं) बागड़गच्छ और लाट (गुजरात) और बागड़से लाड-बागड़ गच्छ। लाट और बागड़ बहुत समय तक एक ही राजवंशके अधीन रह चुके हैं।

गण, गच्छ और संघ कहीं-कहीं पर्यायवाची रूपमें भी व्यवहृत हुए हैं।

माथुरसंघको जीव-रक्षाके लिए किसी तरहकी पिच्छि न रखनेके कारण ही जैनाभास कहा है, या और किसी कारणसे; यह समझमें नहीं आता। अन्यथा उस संघके आचार्य अमितगतिके ग्रन्थोंमें तो उनका कोई ऐसा सिद्धान्त-भेद नहीं मालूम होता, जिससे उन्हें जैनाभास कहा जाय। उनके ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी हमारे यहाँ बराबर होता है।

---

* पं० बुलाकीचन्द्रकृत वचनकोशमें जो वि० सं० १७३७ का बना हुआ है, काष्ठासंघकी उत्पत्ति लोहाचार्य-द्वारा जो उमास्वामीके पट्टाधिकारी थे, अगरोहा नगरमें हुई बतलाई है और काठकी प्रतिमा-पूजाका विधान करनेसे काष्ठासंघ नाम पड़ा कहा है; परन्तु उक्त कथा सर्वथा अविश्वसनीय है।

† देखो दर्शनसारकी ३१ से ४१ नम्बर तककी गाथायें।

बहुत संभव है कि मयूरपुच्छ और गोपुच्छकी पिच्छि रखनेका विवाद उस समय इतना बढ़ गया हो कि माथुरसंघके आचार्योंने चिढ़कर किसी भी तरहकी पिच्छि न रखना ज्यादा पसन्द किया हो। संघ-भेद अकसर ऐसे छोटे-छोटे कारणोंसे भी मतसहिष्णुताके अभाव-में होते रहे हैं।

एक अनुमान यह भी होता है कि काष्ठासंघके मुनि चैत्यवासी या मठवासी हो गये थे, मन्दिरोंके लिए भूमि-ग्रामादि ग्रहण करने लगे थे। इस कारण शायद उन्हें जैनाभास कहा गया होगा।[1]

दर्शनसारकी रचना वि० सं ९९०में हुई है। हमें इस विषयमें बहुत सन्देह है कि इसमें जो काष्ठासंघ और माथुरसंघकी उत्पत्तिका समय वि० सं० ७५३ बतलाया है, वह बिलकुल ठीक है। इस विषयमें हमने दर्शनसार-विवेचनामें विस्तारके साथ लिखा है। सन्देह होने-का सबसे बड़ा कारण यह है कि दर्शनसारके अनुसार गुणभद्रकी मृत्युके पश्चात् विनयसेन-के शिष्य कुमारसेनने काष्ठासंघकी[2] स्थापना की और गुणभद्र स्वामीने अपना उत्तरपुराण श० सं० ८२०, अर्थात् वि० सं० ९५५ में समाप्त किया है। यदि इस ९५५ संवत् को ही उनका मृत्यु-काल मान लिया जाय, तो काष्ठासंघकी उत्पत्ति ७५५ से लगभग दो सौ वर्ष पीछे जा पड़ती है।

इसी तरह अमितगतिने अपना सुभाषितरत्नसंदोह वि० सं० १०५०में समाप्त किया है और उन्होंने अपनी गुरुपरम्पराके पाँच पूर्वजोंका उल्लेख किया है जिनमें पहले वीरसेन हैं। यदि प्रत्येक पूर्वजका समय २० वर्षका भी माना जाय, तो सौ वर्ष हो जाता है, अर्थात् वीरसेन का समय वि० सं० ९५० के लगभग होगा और उक्त वीरसेन ही माथुरसंघके स्थापक नहीं थे, रामसेन थे[3] और यदि वे वीरसेनसे दो-तीन पीढ़ी ही पहले हुए हों, तो उनका समय भी दर्शनसारमें बतलाये हुए माथुरसंघकी स्थापनाके समय वि० सं० ९५३ से पहले चला जाता है।

लाड-बागड़ संघ भी जो काष्ठासंघकी एक शाखा है, काफी प्राचीन मालूम होता है। दुबकुण्डके जैन[4] मन्दिरके प्रशस्ति-लेखके रचयिता, विजयकीर्ति मुनि, लाड-बागड़ संघ के हैं।

---

१ इस विषयपर मैंने अपने 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' शीर्षक लेखमें अधिक विस्तार-से लिखा है।

२ दर्शनसार गाथा ३०-३२।

३ दर्शनसार गाथा ४०

४ ग्वालियरसे ७६ मील नैऋतमें कुनू नदीको बाईं ओर 'दुबकुंड' नामक स्थानमें यह जैनमन्दिर है। एपिग्राफिआ इंडिका जिल्द २, पृष्ठ ३७-४० में उक्त लेख छपा है।

वे शान्तिषेणके शिष्य थे। इन शान्तिषेणके पहलेके देवसेन, कुलभूषण और दुर्लभसेन नामक गुरुओंका भी उसमें उल्लेख है। शान्तिषेण दुर्लभसेनके शिष्य थे। अर्थात् विजयकीर्तिसे कमसे कम सौ वर्ष पहले देवसेन गुरु हुए होंगे। उक्त लेख भाद्रसुदी ३ वि० सं० ११४५का लिखा हुआ है। अर्थात् वि० सं० १०४५ से भी पहले तक इस संघकी परम्परा जा पहुँचती है।

इसी तरह प्रद्युम्नचरित काव्यके कर्त्ता महासेन परमार-राजा मुंजके समयमें वि० सं० १०५० के लगभग हुए हैं। ये भी लाड़-बागड़ संघके थे। इन्होंने अपने गुरु गुणाकरसेन और दादा गुरु जयसेनका उल्लेख किया है, जो वि० सं० १००० के लगभग या कुछ पहले हुए होंगे।*

अमितगतिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—

सिद्धान्तपारगामी वीरसेन उनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति (प्रथम), उनके नेमिषेण, नेमिषेणके माधवसेन और उनके शिष्य अमितगति।†

अमितगतिकी और एक शिष्य परम्पराका पता अमरकीर्तिके ‡ छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश) से लगता है, जो इस प्रकार है—

अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति।

अमरकीर्तिने अपना यह अपभ्रंश भाषाका ग्रन्थ भादों सुदी १४ वि० सं० १२४७ को समाप्त किया था।

अमितगतिसूरिके अबतक नीचे लिखे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। —

१ सुभाषितरत्नसन्दोह—यह एक स्वोपज्ञ सुभाषित ग्रन्थ है। इसमें सांसारिक विषय-निराकरण, मायाहंकार-निराकरण, इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोषविचार, देवनिरूपण आदि बत्तीस प्रकरण है और प्रत्येकमें बीस-बीस पच्चीस-पच्चीस पद्य हैं। सुगम संस्कृतमें प्रत्येक विषयका बड़ी सुन्दरतासे निरूपण किया गया है। सभी पद्य कण्ठ करने लायक हैं। ग्रन्थके उपान्तमें ११७ श्लोकोंमें श्रावक-धर्मनिरूपण है, जिसे एक छोटा-सा श्रावकाचार समझना चाहिए। पूरे ग्रन्थमें ९२२ पद्य हैं।

---

* प्रद्युम्नचरित माणिकचन्द्र जैन-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। जिस प्रतिके आधारसे वह छपा था, उसमें प्रशस्ति नहीं थी। परन्तु कारंजाके भंडारमें जो प्रति है, उसमें प्रशस्ति है, जिसे मैंने अपने अन्य 'महासेनाचार्य' शीर्षक लेखमें उद्धृत किया है।

† आगे दी हुई प्रशस्तियाँ देखिए।

‡ इस ग्रन्थका विस्तृत परिचय प्रो० हीरालालजी जैनने जैन-सिद्धान्तभास्कर भाग २ अंक ३ में दिया है।

निर्णयसागरकी काव्यमालामें यह बहुत समय पहले प्रकाशित हो चुका है। कलकत्ते-को सिद्धान्त-प्रचारिणी सभा इसे हिन्दी अनुवादसहित भी प्रकाशित कर चुकी है।

यह ग्रन्थ विक्रमसंवत् १०५० पौष सुदी पंचमीको समाप्त हुआ है, जब कि राजा मुंज पृथिवीका पालन करते थे।

२ धर्मपरीक्षा—संस्कृत साहित्यमें अपने ढंगका एक निराला ही काव्य-ग्रन्थ है। हिन्दू पुराणोंकी ऊटपटांग कथाओं और मान्यताओंको बड़े ही मनोरंजक रूपमें मजाक करते हुए अविश्वसनीय ठहरा देनेवाला शायद ही कोई ग्रन्थ इस श्रेणीका हो। सारा ग्रन्थ एक सुन्दर कथाके रूपमें श्लोकबद्ध है। श्लोकोंकी संख्या १९४५ है। इसके पढ़नेसे मालूम होता है, ग्रन्थकर्त्ता पुराण-साहित्यकी काफी जानकारी रखते थे।

हमारा खयाल है कि यह ग्रन्थ हरिभद्रसूरिके धूर्ताख्यान नामक प्राकृत ग्रन्थकी छाया लेकर बनाया गया है। कमसे कम धूर्ताख्यान उन्होंने पढ़ा अवश्य होगा। ढंग दोनोंका एक है, यद्यपि धर्मपरीक्षा उससे भी अधिक मनोरंजक बन गई है। यह बात ग्रन्थ-कर्त्ताका आशुकवि होना प्रकट करती है कि केवल दो महीनेमें ही उन्होंने इस ग्रन्थको समाप्त कर दिया था।+

यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १०७० में समाप्त हुआ था। अबसे लगभग ४० वर्ष पहले इसे स्व० गुरुजी पं० पन्नालालजीने हिन्दी-अनुवाद सहित बम्बईसे प्रकाशित किया था।

३ पंचसंग्रह इसे संस्कृत श्लोकबद्ध गोम्मटसार कहना चाहिए। गोम्मटसारका भी एक नाम पंचसंग्रह है। प्रायः गोम्मटसारके ही विषयको सुगम संस्कृतमें श्लोकबद्ध करके यह रचा गया है।

यह ग्रन्थ विक्रम-संवत १०७३में मसूतिकापुर नामक स्थानमें बनकर समाप्त हुआ था। इसकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि इनके गुरु माधवसेनके समयमें सिन्धुपति या सिन्धुल पृथ्वीकी रक्षा करते थे।

माणिकचन्द्-जैनग्रन्थमालामें यह ग्रन्थ सन् १९२७में प्रकाशित हो चुका है।

४ उपासकाचार—अमितगति श्रावकाचार नामसे इसकी प्रसिद्धि है। उपलब्ध श्रावका-चारोंमें यह बहुत विशद, सुगम और विस्तृत है। रचना बहुत ही सुन्दर और काव्यमयी है। इसकी श्लोक संख्या १३५२ है। इस ग्रन्थ के अन्तमें कर्त्ताने अपनी गुरु-परम्परा तो दी है, परन्तु रचनाका समय, स्थान आदि नहीं दिया है। संभव है, प्रशस्तिके एक दो पद्य लिपि-कर्त्ताओंकी कृपासे छूट गये हों।

+ अमितगतिरिवेदं स्वस्य मासद्वयेन।
प्रथितविशदकीर्तिः काव्यमुद्भूतदोषम्॥

यह ग्रन्थ अनन्तकीर्ति ग्रन्थमालामें स्व० पं० भागचन्दजीकी भाषावचनिका सहित वि० सं० १८७९में प्रकाशित हो चुका है।

५ भगवती-आराधना – यह शिवार्यकी प्राकृत आराधनाका पद्यबद्ध संस्कृत अनुवाद है। यह अनुवाद केवल चार महीनेमें पूर्ण किया गया था। इसमें ग्रन्थकर्त्ताने देवसेनसे लेकर अपने तककी गुरुपरम्परा दी है; परन्तु समय और स्थान नहीं दिया है। यह ग्रन्थ शोलापुर-से प्रकाशित हो चुका है।

६ सामयिक पाठ – यह एकसौ बीस पद्योंका ग्रन्थ है। इसके अन्तमें लिखा है—

वृत्तवंशशतेनेति कुर्वता तत्त्वभावनां।
सद्योऽमितगतेरिष्टा निर्वृतिः क्रियते करे।

इति द्वितीय भावना समाप्ता।

इससे मालूम होता है कि इस ग्रन्थका नाम सामयिक पाठ तो नहीं है, या तो तत्त्व-भावना होगा या कुछ और। 'इति द्वितीय भावना' से यह भी अनुमान होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ बड़ा है और उसकी यह दूसरी भावना या दूसरा अध्याय है। माणिकचन्द-ग्रन्थमाला-के सिद्धान्तसारादि संग्रहमें यह एक ही कापी परसे प्रकाशित हुआ है जिसे ब्रह्मचारी शीतल सादजी किसी पुस्तक-भंडारसे नकल करके लाये थे।

७ भावना-द्वात्रिंशतिका। यह ३२ पद्योंका एक प्रकरण है, जो सामायिक पाठ नामसे कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुका है। पाठ करने योग्य बहुत ही सुन्दर रचना है। संभव है, यह भी पूर्वोक्त तत्त्वभावना या ऐसे ही किसी नामवाले ग्रन्थका एक अंश हो।

८ योगसार प्राभृत–इस ग्रन्थके कर्त्ताका नाम भी अमितगति है, परन्तु सन्देह होता है कि इसके कर्त्ता शायद इन अमितगतिके दादा गुरुके गुरु अमितगति हों। क्योंकि ये अमितगति अपने प्रत्येक ग्रन्थके प्रायः प्रत्येक प्रकरण या अध्यायके अन्तमें अपना अमितगति नाम श्लिष्ट रूपसे देते हैं। उनकी यह विशेषता योगसारमें नहीं है। इस ग्रन्थके अन्तमें कोई गुरु-परम्परा भी नहीं दी है, सिर्फ इतना परिचय है—

दृष्ट्वा सर्वं गगननगरस्वप्नमायोपमानं
निःसंगात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारं
ब्रह्मप्राप्त्या परममकृतं स्वेषु चात्मप्रतिष्ठम्
नित्यानन्दं गलितकलितं सूक्ष्ममत्यन्तलक्ष्यम्।
योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानतः
स्वस्वरूपमुपलक्ष्य सोऽचितः (चिरः) सम्प्रयाति भवदोषवंचितम्।
इति श्री अमितगतिवीतरागविरचितायामध्यात्मतरंगिण्यां नवमोधिकारः।

अपने नामके साथ दिया हुआ 'वीतराग' विशेषण भी इनके प्रथम अमितगति होनेके अनुमानको सहारा देता है।

यह ग्रन्थ जैनसिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था द्वारा हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित हो चुका है।

कुछ ग्रन्थसूचियोंमें जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इन चार ग्रन्थोंको और भी अमितगति-कृत बतलाया है। परन्तु अभी तक ये कहीं उपलब्ध नहीं हुए।

उपलब्ध ग्रन्थोंमें सुभाषितरत्नसन्दोह वि० सं० १०५० की रचना है। इसके पहलेकी किसी रचनाका हमें पता नहीं। यह ग्रन्थ काफी प्रौढ़ है। अधिक नहीं तो उस समय ग्रन्थकर्त्ताकी अवस्था २५-३० वर्षकी अवश्य होनी चाहिए। इस दृष्टिसे हम श्रीअमितगतिका जन्मकाल वि० सं० १०२० के लगभग मान सकते हैं। पंच-संग्रह वि० संवत् १०७३ में समाप्त हुआ है, अतएव उस समय वे ५० वर्षसे ऊपर होंगे।

अपने ग्रन्थोंमें उन्होंने मुंज और सिन्धुलका उल्लेख किया है। ये दोनों मालवेके परमार राजा थे और उनकी राजधानी धारा थी। ये मुंज वही हैं, जिनके विषयमें कहा गया है कि

लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुंजे यशःपुंजे निरालम्बा सरस्वती॥ *

अर्थात् यशःपुंज मुंजराजके चले जाने पर लक्ष्मी तो विष्णुके पास चली जायगी और वीरश्री वीरोंके घर, परन्तु सरस्वती बिल्कुल निरावलम्ब हो जायगी, उसका कोई आश्रयदाता न रहेगा।

मुंज सरस्वती और सरस्वती-सेवकोंके ऐसे ही आश्रयदाता थे। उनका दूसरा नाम वाक्पतिराज था †। वे स्वयं भी विद्वान् और कवि थे। उनका बनाया हुआ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ तो अब तक नहीं मिला है, परन्तु कुछ ग्रन्थोंमें उनके कुछ पद्य मिलते हैं ‡। उनकी राजधानी उज्जयिनीमें थी ×। वे राजा सीयक, श्रीहर्ष या सिंहभटके पुत्र थे, बड़े ही पराक्रमी।

* मेरुतुङ्गकृत प्रबन्धचिन्तामणि।

† प्रोत्था यस्य इति प्रतापवसतिः ख्यातेन मुंजाख्यया
यः स्वे वाक्पतिराजभूमिपतिना राज्येऽभिषिक्तः स्वयम्॥—तिलक-मंजरी।

‡ मालवनरेश अर्जुनवर्मदेवने अमरुशतकको रसिक-संजीविनी टीकामें २२वें श्लोककी टीकामें यह कहकर एक पद्य उद्धृत किया है कि यह हमारे पूर्वज वाक्पतिराज अपरनाम मुंजका है।

× वाक्पतिराजके एक दान-पत्र (इं० एण्टिक्वेरी, जिल्द ६, पृ० ५१-५२) और परिमलके नवसाहसांक-चरितसे मालूम होता है कि मुंजके समय राजधानी उज्जयिनी थी। धाराको भोजदेवने अपनी राजधानी बनाया था।

कर्णाटक, लाट, केरल, चोलके राजाओंको उन्होंने जीता। कलचुरिनरेश युवराज देव (द्वितीय) को हराकर उसकी राजधानी त्रिपुरीको लूटा, मेवाड़पर चढ़ाई करके आहाडको नष्ट किया और चित्तौरगढ़ और उसके पासके प्रदेशको अपने राज्यमें मिला लिया। उन्होंने सोलंकी राजा तैलप द्वितीयको छह बार हराया, पर सातवीं बार गोदावरीके पासके युद्धमें वे कैद कर लिये गये और वि० सं० १०५० और १०५४ के बीच मार डाले गये। सुभाषितरत्नसंदोहकी रचनाके समय वे जीते थे। तिलकमंजरीके कर्त्ता धनपाल, नवसाहसांकचरितके कर्त्ता पद्मगुप्त या परिमल, दशरूपावलोक टीकाके कर्त्ता धनिक, पिंगल छन्द सूत्रके टीकाकार हलायुध और अमितगति इस राजाकी ही सभाके रत्न थे।

सिन्धुल, सिन्धुराज, कुमारनारायण या नवसाहसांक मुंजके छोटे भाई और प्रसिद्ध राजा भोजके पिता थे। पद्मगुप्तने इन्हींकी आज्ञासे 'नवसाहसांक-चरित' नामका ऐतिहासिक काव्य लिखा था। मुंजने अपने जीते जी ही भोजको गोद ले लिया था। परन्तु भोज नाबालिग थे, इसलिए मुंजकी मृत्युके समय सिन्धुल ही राजगद्दीपर बैठ गये थे। इन्होंने हूणोंको तथा दक्षिण कोशल, बागड़ लाट और मुरलवालोंको युद्धमें हराया था। ये गुजरात-नरेश सोलंकी चामुण्डराजके साथकी लड़ाईमें मारे गये।

इतिहासज्ञोंने वि० सं० १०५४ और १०६६ के बीच किसी समय इनके मारे जानेका अनुमान किया है।

भक्तामर-चरित, प्रबन्धचिन्तामणि, भोजप्रबन्ध आदि ग्रन्थोंमें राजा मुंजके द्वारा सिन्धुल के अन्धे किये जाने और भोजको वध करनेके लिए भेजनेकी जो कथायें लिखी हैं, वे सभी कपोलकल्पित मालूम होती हैं। इतिहाससे उनकी कोई पुष्टि नहीं होती।

आगे अमितगतिके ग्रन्थोंकी कुछ प्रशस्तियाँ उद्धृत कर दी गई हैं।

[अबसे लगभग ३० वर्ष पहले मैंने जैनहितैषीमें 'श्रीअमितगतिसूरि' शीर्षक लेख लिखा था, जो सन् १९१२ में 'विद्वद्रत्नमाला' में भी प्रकाशित किया गया था। उसी लेखको एक तरहसे आमूल संशोधन-परिवर्तन करके यह लेख लिखा गया है।]

ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ

सुभाषितरत्नसन्दोह——

आशीर्विध्वस्तकन्तोर्विपुलशमभृतः श्रीमतः कान्तकीर्तेः
सूरेर्यातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः।
विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभृतामग्रणीरस्तकोपः
श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिःशेषसंगः ॥९१५

अलंघ्यमहिमालयो विमलसत्ववाग्रलाधि-
र्दरस्थिरगभीरतो गुणमणिः पयोवारिधिः
समस्तजनता सतां श्रियमनश्वरीं देहिनां
सदाऽमृतजलच्युतो विबुधसेवितो वृत्तवान् ॥९१६

तस्य ज्ञातसमस्तशास्त्रसमयः शिष्यः सतामग्रणीः
श्रीमान्माथुरसंघसाधुतिलकः श्रीनेमिषेणोऽभवत् ।
शिष्यस्तस्य महात्मनः शमयुतो निर्धूतमोहद्विषः
श्रीमन्माधवसेनसूरिरभवत्क्षोणीतले पूजितः ॥९१७

कोपारातिविघातकोऽपि सकृपः सोमोऽप्यदोषाकरो
जैनोऽप्युग्रतरस्तपो गतभयो भीतोऽपि संसारतः ।
निष्कामोऽपि समिष्टमुक्तिवनितायुक्तोऽपि यः संयतः
सत्यारोपितमानसो धृतवृषोऽप्यचर्च्यः प्रियोऽप्यप्रियः ॥९१८

दलितमदनशत्रोर्भव्यनिर्व्याजबन्धोः
शमदमयममूर्तिश्चन्द्रशुभ्रोरुकीर्तिः ।
अमितगतिरभूद्यस्तस्य शिष्यो विपश्चिद्
विरचितमिदमर्घ्यं तेन शास्त्रं पवित्रम् ॥९१९

× × ×

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके
समाप्ते पंचम्यामवति धरणीं मुंजनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥९२२

धर्मपरीक्षा—

सिद्धान्तपाथोनिधिपारगामी श्रीवीरसेनोऽजनि सूरिवर्यः
श्रीमाथुराणां यमिनां वरिष्ठः कषायविध्वंसविधौ पटिष्ठः ॥१

ध्वस्ताशेषध्वान्तवृत्तिर्मनस्वी तस्मात्सूरिर्देवसेनोऽजनिष्ट
लोकोद्योती पूर्वशैलादिवार्कः शिष्टाभीष्टः स्थेयसोऽपास्तदोषः ॥२

भासिताखिलपदार्थसमूहो निर्मलोऽमितगतिर्गणनाथः
वासरो दिनमणेरिव तस्माज्जायते स्म कमलाकरबोधी ॥३

नेमिषेणगणनायकस्ततः पावनं वृषमधिष्ठितो विभुः ।
पार्वतीपतिरिवास्तमन्मथो योगगोपनपरो गणार्चितः ॥४

कोपनिवारी शमदमधारी माधवसेनः प्रणतरसेनः ।
सोऽभवदस्माद्दलितमदोस्म यो यतिसारः प्रशमितसारः ॥

धर्मपरीक्षामकृतवरेण्यां धर्मपरीक्षामखिलशरण्याम्
शिष्यवरिष्ठोऽमितगतिनामा तस्य पटिष्ठोऽनघगतिधामा ॥

पंचसंग्रह—

श्रीमाथुराणामनघद्युतीनां संघोऽभवद्वृत्तविभूषितानाम्
हारो मणीनामिव तापहारी सूत्रानुसारी शशिरश्मिशुभ्रः ॥१

माधवसेनगणी गणनीयः शुद्धतमोऽजनि तत्र जनीयः ।
भूयसि सत्यवतीव शशांकः श्रीमति सिन्धुपतावकलंकः ॥२

शिष्यस्तस्य महात्मनोऽमितगतिर्मोक्षार्थिनामग्रणी-
रेतच्छास्त्रमशेषकर्मसमितिप्रख्यापनायाकृत ।
वीरस्येव जिनेश्वरस्य गणभृद्भव्योपकारोद्यतो
दुर्वारस्मरदन्तिदारणहरिः श्रीगौतमोऽनुत्तमः ॥३

× × × ×

त्रिसप्तत्याधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः
मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥६

उपासकाचार, भगवती आराधनाकी प्रशस्तियाँ कोई विशेषता न होने से नहीं दी गईं ।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में कतिपय जैनाचार्य

[लेखक—श्रीयुत वी० आर० रामचन्द्र दीक्षित, एम.ए०]

श्रवणबेल्गोल के कुछ शिलालेख[1] ऐसे हैं, जिनमें दक्षिण भारत के जैनाचार्यों की परम्परा का उल्लेख पाया जाता है, जो इस प्रकार है: कुन्दकुन्द (कोण्डकुन्द), गृद्ध्रपिच्छ (उमास्वाति), बलाकपिच्छ, समन्तभद्र, शिवकोटि, देवनन्दी अथवा पूज्यपाद, अकलंक आदि।

दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रसार करनेवालों में सबसे पहला स्थान पञ्चास्तिकायसार आदि के रचयिता कुन्दकुन्द का है। उपर्युक्त शिलालेखों में कुन्दकुन्द की जगह कोण्डकुन्द का नाम आया है। पञ्चास्तिकायसार[2] की भूमिका में प्रोफेसर चक्रवर्ती ने कुन्दकुन्द को ही तमिल ग्रन्थ तिरुक्कुरल का कर्त्ता ठहराया है। कुन्दकुन्दाचार्य का असल नाम पद्मनन्दी था। तिरुक्कुरल के कर्त्ता के सम्बन्ध में अब भी बहुत मतभेद है और तिरुवल्लुवर और कुन्दकुन्द को एक ठहराना बहुत कठिन है। एक अनुश्रुति से ऐसा पता चलता है कि एलालसिंह की संरक्षता में तिरुवल्लुवर ने कुरल की रचना की। यह कहा जाता है कि एलालसिंह का एलाचार्य होना संभव है[3] और एलाचार्य कुन्दकुन्द का दूसरा नाम है—यद्यपि इस सम्बन्ध में सन्देह भी उपस्थित किया जाता है। यदि नाम-सम्बन्धी यह एकता संभव भी हो, तो भी इस तर्क में कोई ज़ोर नहीं है, विशेषकर उस दशा में जब कि वह अनुश्रुति के कमज़ोर धागे के सहारे लटकी हुई है और सन्देहपूर्ण एकता पर ही अवलंबित है। कुरल में उच्चतम जैन-दर्शन और धर्म का उल्लेख है, फिर भी कुल्लवेगात्र इसका प्रतिपादन करता है कि कुरल का रचयिता उस देश के प्रचलित धर्म का अनुयायी था, अर्थात् दूसरे शब्दों में ब्राह्मण-धर्म का माननेवाला था। लेकिन कुरल का कर्त्ता कुन्दकुन्द को ठहराने की बात छोड़कर यह निश्चित है कि ईसा की पहली सदी में दक्षिण भारत में कुन्दकुन्द नाम के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य हो गये हैं।[4] यदि यह ठहरायाजाय कि वे गुप्तिगुप्त के बाद ही हुए हैं, तो यह विशेष असंगत नहीं कहा जा

---

१ उदाहरण के लिए १११५ का शिलालेख न० ६७ देखिए।

२ ए० चक्रवर्ती-द्वारा अनुवादित एवं सम्पादित, १९२०।

३ इन्हीं आचार्य के दूसरे नाम हैं—वक्रग्रीव, गृद्ध्रपिच्छ। S. H. L. P. 152 एक दूसरा मत है कि वक्रग्रीव और गृद्ध्रपिच्छ कुन्दकुन्द से भिन्न थे।

४ मेरी पुस्तक Studies in Tamil Literature and History का तिरुवल्लुवर प्रकरण देखिए।

सकता और यह अनुश्रुति से बहुत कुछ मेल भी खाता है। अनुश्रुति के अनुसार इनके आचार्यत्व प्राप्त करने का समय ईसा से ८ वर्ष पूर्व है। इस समय इनकी अवस्था ४४ वर्ष की थी।*

इस प्रकार आचार्य की तिथि निश्चित हो जाती है। विद्वानों ने जो इनका समय ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा के बाद छठी सदी के बीच ठहराया है, यह किसी पुष्ट प्रमाण के आधार पर नहीं है। राजा शिवकुमार को, जिनके लिये कुन्दकुन्द ने ग्रन्थ-रचना की, पल्लवराजा शिवस्कन्द अथवा कदम्बराजा शिवमृगेश वर्मन बतलाना बिलकुल तथ्यहीन है। शिवकुमार अवश्यमेव एक छोटे-से जागीरदार रहे होंगे, जिनके बारे में पूरी-पूरी बातें मालूम नहीं हैं। खैर, कुछ भी हो, इतना अवश्य माना जा सकता है कि कुन्दकुन्द ईसा के पूर्व पहली सदी के पूर्वार्ध में हुए।

यह तो निर्विवाद है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बहुत बड़े आचार्य थे। दक्षिण भारत के चार दिगम्बर संघों में से तीन अपना सम्बन्ध इस आचार्य के साथ बतलाते हैं। वे तीन संघ ये हैं: नन्दिसंघ, सिंहसंघ तथा श्री यापनीयसंघ। चौथा संघ, जिसका नाम मूलसंघ है, अपना सम्बन्ध वृषभसेन से बतलाता है।

पंचास्तिकायसार के अलावा इनके और दो ग्रन्थ हैं, जो प्राकृत में हैं और जिनका नाम है प्रवचनसार और समयसार। प्रवचनसार का सम्पादन प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने किया (१९३५ बम्बई) है। अनुश्रुति इन्हें कुछ और भी छोटेमोटे ग्रन्थों का रचयिता बतलाता है। उनके प्रधान-प्रधान ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ बतला देना आवश्यक है। पंचास्तिकायसार का विषय है समय या समवाय और उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—इन पाँच अस्तिकायों का विवेचन किया गया है। प्रवचनसार शिक्षा-सम्बन्धी ग्रंथ है तथा जैन-साधु-सम्प्रदाय में प्रवेश करनेवालों के लिए व्यावहारिक रीति-नीति बतलानेवाला ग्रन्थ है। उसमें तपश्चर्या पूर्ण जीवन का प्रारंभ करने के पहले अध्यात्म-चिन्तन पर जोर दिया गया है। समयसार में काम से आत्मा की मुक्ति और आत्मज्ञान के सम्बन्ध में विचार किया गया है। जो इन अनुभूतियों को प्राप्त कर लेता है, उसे ही ज्ञानी माना गया है। इन तीनों ग्रन्थों की विशद टीकाएँ लिखी गई हैं। टीकाकारों ने जो इन तीनों ग्रन्थों को 'नाटकत्रयी' के नाम से पुकारा है, यह उचित ही है। इनमें से प्रत्येक ग्रन्थ 'नाटक' कहलाने के योग्य है।

आचार्यों की सूची में दूसरा नाम उमास्वाति का आता है। सम्भवतः कुन्दकुन्द के बाद उमास्वाति ही आचार्यपद के उत्तराधिकारी हुए। श्रवणबेल्गोल के शिलालेख के अनुसार उमास्वाति का अपर नाम गृध्रपिच्छ (गृद्ध्रपिंच्छ) था। इससे यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि कुन्दकुन्द का अपर नाम गृद्ध्रपिच्छ नहीं था। हमारा अनुमान है, एक अस्पष्ट जनश्रुति के

* देखिये : Intro. P, VII; Sravana Bel, Ins. 105 (Ec. II 154 dated 1938.)

आधार पर ही कुन्दकुन्द को गृद्धपिच्छ मान लिया गया है। उमास्वाति का यह नाम कैसे पड़ा, इस सम्बन्ध में एक कहानी प्रचलित है, जो इस प्रकार है : उमास्वाति ने एक बार जैन सिद्धांत-सम्बन्धी शंका हल करने के लिये तीर्थंकर श्रीमन्धर के पास जाने की इच्छा की। तीर्थंकर विदेह में थे। उमास्वाति मयूरपिच्छ लेकर अपने स्थान से विदेह के लिये आकाशमार्ग से चले। मयूरपिच्छ बीच में गिर गया। उन्होंने उसके स्थान पर गृद्धपिच्छ[1] धारण कर लिया। तभी से उनका नाम गृद्धपिच्छ पड़ गया। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र नामक एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। इस में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब कि कुन्दकुन्द ने अपनी रचना के लिये प्राकृत का आश्रय लिया, उमास्वाति ने अपने ग्रन्थ संस्कृत में लिखे।[2] वास्तव में उमास्वाति संस्कृत को प्रश्रय देनेवाले पहले जैन गुरु थे। सर्वज्ञता आदि सिद्धान्तों के वर्णन में उन्होंने कुन्दकुन्द का अनुसरण किया है।[3] दोनों ने 'नय' का उल्लेख किया है। 'नय' एक दृष्टिकोण है, जो साधारणतः श्वेताम्बरों के भी अर्द्धमागधी धर्मग्रन्थों[4] में भी प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रन्थ का अन्तिम पद्य उमास्वाति और गृद्धपिच्छ के सम्बन्ध में प्रकाश डालता है। वह इस प्रकार है :

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारम् गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वातिमुनीश्वरम्॥

उमास्वाति का समय निर्धारित करने के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित आधार नहीं मिल सका है। अनुश्रुति उन्हें कुन्दकुन्द का समसामयिक भी बतलाती है और उनका उत्तराधिकारी भी। फिर भी कुन्दकुन्द के समय के हिसाब से उमास्वाति का समय ईसा के बाद पहली सदी का पूर्वार्ध बतलाया जा सकता है।

बलाकपिच्छ उमास्वाति के पट्टशिष्य थे, जिनका समय ईसा के बाद पहली सदी का अंतिम भाग बतलाया जाता है।[5] सचमुच यह बड़े खेद की बात है कि इन बड़े जैन आचार्य की जीवनी और उनके ग्रन्थों के बारे में हमें कुछ भी मालूम नहीं है।

५४वें शिलालेख से मालूम होता है कि समन्तभद्र के हाथों जैनधर्म के प्रसार में बहुत सहायता मिली। शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि समन्तभद्र एक गण के, जो देवी पद्मावती का भक्त था, मुखिया तथा आचार्य थे।

---

१ Ec. II. 6916 Ibid. देखो Intro pp. 26 ff.

२ देखो भूमिका तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्त्तिकम्, बम्बई।

३ B. देखो उपाध्ये, op. cit. P. l× × ×.

४ Ibid. lXXXVi.

५ Ec : ii ६४, ६६ आदि।

उन्होंने स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ किए और जैनधर्म का प्रचार किया। शास्त्रार्थ करने के लिए वे कितने उत्सुक रहते थे, यह करहाटक (कोल्हापुर) के उनके वक्तव्य से मालूम होता है : "सर्वप्रथम मैंने पाटलिपुत्र में विजय की डंका बजाई, इसके बाद मालव, सिन्धु, ठक्क, कांचीपुर और वैदिशा में। इस समय मैं करहाटक में पहुंचा हुआ हूँ, जो योद्धाओं और विद्वानों का केन्द्रस्थान है तथा घनी आबादीवाला है। मैं शास्त्रार्थ के लिए उत्सुक हूँ। हे नरेन्द्र, मैं सिंह के समान अपने प्रतिद्वन्द्वियों से खेल करता हूँ। जब शास्त्रार्थी सामन्तभद्र राजसभा में खड़ा होता है, हे नृपेन्द्र, तब धूर्जटि (शिव) की जिह्वा भी, जो स्पष्ट तथा निपुणतापूर्वक बोलने में कुशल है, शीघ्र ही गले में पीछे की ओर मुड़ जाती है। दूसरों से क्या आशा की जा सकती है ?"

समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा की रचना की, जिसमें स्याद्वाद-सिद्धान्त की विवेचना है। इनके दूसरे ग्रन्थ का नाम रत्नकरण्डकश्रावकाचार है। इन्होंने सर्वज्ञता-सिद्धांत का प्रचार किया, जो जैन-दर्शन का बहुत मुख्य अंग है। समन्तभद्र के बाद कई शताब्दियों तक विद्वानों के लिए यह केवल एक विशेष विवेचना का विषय था, लेकिन कुछ काल बाद यह एक बहुत महत्त्व का विषय हो गया और इसके मनोवैज्ञानिक पहलू पर अधिक जोर दिया जाने लगा। उपनिषदों की इस उक्ति को कि ईश्वर 'स्वयंभू' है, (जैनों के अनुसार ईश्वर आत्मा का ही विकसित रूप है) हमारे आचार्य ने अपने स्वयंभू-स्तोत्र' में इसका विशद रूप दिया है यहाँ यह कहना व्यर्थ है कि समन्तभद्र दिगम्बर-सम्प्रदाय के थे तथा इनका समय राष्ट्रकूटों के काल का पूर्वार्ध बतलाया जाता है। यद्यपि कोई उपयुक्त प्रमाण नहीं मिलता फिर भी मि० ए० बी० कीथ साहब ने इनका समय ईसा के बाद ७वीं शताब्दी निश्चित किया है, पर उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है।[२] लेकिन जैन अनुश्रुति के अनुसार इनका समय ईसा के १३८ वर्ष बाद निश्चित किया गया है।[३]

श्रवणबेल्गोल के ५४वें शिलालेख से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र ने पाटलिपुत्र से सिन्धु तक की तथा सिन्धु से काञ्ची तक की यात्रा की। समन्तभद्र के बाद जैनधर्म का प्रचारकार्य और भी अधिक व्यापक रूप से होने लगा।

इन लोगों के बाद महत्त्व के व्यक्ति शिवकोटि हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'भगवती-आराधना' है। परन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इनके सम्बन्ध में हमें

१ **देखो उपाध्ये,** op. cit. P. Xcii n.

२ A History of Sanskrit Literature, P. 497.

३ देखो १८८३ और १८८४ की संस्कृत की हस्तलिखित प्रतियों की खोज के सम्बन्ध में डॉ० भंडारकर की रिपोर्ट, पृ० ३२०।

अधिक ज्ञान नहीं है। दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति पूज्यपाद हैं, जो वनदेवताओं के भी पूज्य हैं। इनकी विदेह की यात्रा बहुत प्रसिद्ध है और इसके सम्बन्ध में अनुश्रुतियों और शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। 'राजावलिकथे' में इनकी विचित्र शक्ति,[१] विशेष कर वैद्य के रूप में, वर्णित है। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि वे ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रहे होंगे।[२] संस्कृत-रचना की दश भक्तियाँ इन्हींकी बतलाई जाती हैं। इनके एक विशेष प्रचलित ग्रन्थ का नाम 'समाधिशतक' है।[३]

परन्तु समन्तभद्र के बाद आचार्यों की श्रेणी में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति जो आते हैं, वे हैं अकलंक। श्रवणबेल्गोल के ५४वें शिलालेख से मालूम होता है कि अकलंक का एक दूसरा नाम देवाकलंग पंडित था। उसी अभिलेख में यह भी बतलाया गया है कि उन्होंने ईसा के बाद ८वीं सदी में काञ्ची में बौद्ध विद्वानों को हराया था। कहा जाता है कि उन्होंने तारा को हराया था, और वे धर्म के ढोंगी आचार्यों के लिए दुःखप्रद थे, तथा अपने धर्म के अनन्यभक्त थे। उन्होंने राजा साहसतुङ्ग (कदाचित् एक राष्ट्रकूट राजा) को यह सूचित किया था कि हिमशीतल की राज-सभा में जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें उन्होंने विजय प्राप्त की थी। हिमशीतल कांची का अन्तिम बौद्ध राजा था। इस पराजय के फलस्वरूप बौद्धों का निर्वासन कर दिया गया, और वे लंका को चले गए। मैकंजी-संग्रह (Mackenzie Collection P. 40) की भूमिका में मि० विल्सन ने बतलाया है कि अकलंक की विद्वत्ता का कायल होकर कांची का अन्तिम बौद्ध शासक, हिमशीतल, जैनधर्मावलंबी हो गया था।

उपर्युक्त कथनों से एक बात स्पष्ट मालूम होती है कि दक्षिण भारत में ईसा के बाद ६ठीं सदी से लेकर ८वीं सदी तक का काल जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों और साथ-साथ शैव और वैष्णवों के बीच विद्वत्तापूर्ण धार्मिक वाद-विवाद का काल था। सभी सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिये उत्सुक तथा उन्हें जनसाधारण में पहुँचाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहते थे। यद्यपि जैन विद्वानों ने बौद्ध विद्वानों को विजित करने में सदा सफलता पाई, तथापि प्रचलित प्राचीन धर्म के अनुयायियों से वे हारते गए (?) जिनमें अधिकतर तमिल 'तेवारम्' और 'पिरबन्धम्' के रचयिता थे‡।

१ Ec. ii ६४, २५४, २५८।

२ IA. vol. X P P. ७५-६ और vol. XII P P. १६—२१।

३ सनातन जैन-ग्रंथमाला सिरीज vol I (बम्बई १९०५)

‡ Indian Culture, Vol. VIII, No. I में प्रकाशित लेख का अनुवाद।

अनुवादक—जयदेव

तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ४)†

[लेखक—श्रीयुत प्रोफेसर जगदीशचन्द्र, एम० ए०]

अनेकांत (४—१) में "प्रो० जगदीशचन्द्र के उत्तर-लेख पर सयुक्तिक सम्मति" नाम से एक सम्मति प्रकाशित हुई है। सम्मति में पं० जुगलकिशोर जी के मत का समर्थन करते हुए यह बताया गया है कि अकलंक के समक्ष श्वेताम्बरीय स्वोपज्ञ-भाष्य किसी हालत में मौजूद नहीं हो सकता। आश्चर्य है कि अपने विरुद्ध, सयुक्तिक लेखों को तो अनेकांत में छापने के लिये भरसक टालमटोल की जाती है, और पत्रों का उत्तर तक नहीं दिया जाता, तथा इस तरह के युक्तिविहीन भ्रमोत्पादक लेखों को सयुक्तिक बताकर अपनी 'वाह वाह' की घोषणा की जाती है। सम्मति में मेरी युक्तियों का खण्डन करनेवाली कोई भी नई दलील नहीं है। इनमें प्रायः सब बातों का उत्तर लेखांक (३) में दिया जा चुका है। सम्मति-लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने इससे पहले के दो लेखों को नहीं पढ़ा है। लेकिन मालूम होता है कि उन्होंने मेरे लेखांक (३) को भी अच्छी तरह नहीं पढ़ा और जल्दी में आकर वे सम्मति देने बैठ गये हैं। इस सम्मति में जो एक-दो नई सूझवाली दलीलें पेश की हैं, वे कितनी हास्यास्पद हैं, यह बात निम्न लेख में स्पष्ट होगी।

(१) अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय

आक्षेप—जिस ग्रन्थ पर राजवार्तिक टीका लिखी जा रही है, उसी ग्रन्थ के ऊपर किये गये आक्षेप का उत्तर उसी ग्रन्थ द्वारा नहीं किया जाता, उसके लिये उस ग्रन्थ के पूर्ववर्ती ग्रन्थ के प्रमाण की आवश्यकता होती है। अतः राजवार्तिकगत "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" उल्लेख में अर्हत्प्रवचन का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र नहीं हो सकता।

उत्तर—इसका विस्तृत उत्तर लेखांक (३) में दिया जा चुका है। वहाँ बतलाया गया है कि 'उक्तं हि अर्हत्प्रवचने' आदि राजवार्तिकगत वाक्य "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" सूत्र की टीका में आया है। तथा "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" सूत्र तक तत्त्वार्थसूत्र में 'गुण' के विषय में कोई चर्चा नहीं की गई। इसके अतिरिक्त 'गुण' (गुणार्थिकनय) के विषय में कुछ श्वेताम्बर जैन आचार्यों का मतभेद भी है। ऐसी हालत में जिस सूत्र-ग्रन्थ पर अकलंक वार्तिक लिख रहे हैं, उस सूत्र-ग्रन्थ का प्रमाण देना उनके लिये आवश्यक हो जाता है। तथा साथ ही यह न

---

† इससे पहले तीन लेख क्रम से अनेकांत ३-४, ३-११; तथा जैन सत्यप्रकाश, अहमदाबाद ६—४ में निकल चुके हैं।

भूल जाना चाहिये कि अकलंक ने "अन्यत्र चोक्तं" कह कर अपने कथन के समर्थन में किसी पूर्ववर्त्ती ग्रंथ की गाथा भी उद्धृत की है।

स्वयं सम्मति-लेखक ने "तद्भावाव्ययं नित्यं", "भेदादणुः" आदि सूत्रों के उल्लेखपूर्वक राजवार्त्तिकगत ऐसे बहुत से स्थलों को स्वीकार किया है जहाँ "पूर्व कथित सिद्धि में आगे के सूत्र उपन्यस्त हैं।" आगे चलकर तो इन महोदय ने "वृत्तौ पंचत्ववचनात्" आदि राजवार्त्तिक-गत वार्त्तिकवाक्य का मनोनीत भाष्य करते हुए, यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि अकलंक ने अपने उक्त वाक्यद्वारा उमास्वाति की सौत्रीरचना पर शंका उठा कर, उसका समाधान "इति चेन्न" वाक्य से करते हुए, तत्त्वार्थगत 'कालश्च" सूत्र से अपने कथन की पुष्टि की है। इससे, ऊपर जो आक्षेपरूप में प्रतिज्ञावाक्य दिया गया है उसका स्वतः ही खण्डन हो जाता है। अन्यथा "कालश्च" सूत्र को भी किसी अनुपलब्ध 'अर्हत्प्रवचनहृदय' आदि भाष्य का सूत्र स्वीकार करना पड़ेगा। वास्तव में देखा जाय तो यह तर्क ही ठीक नहीं कि जिस ग्रंथ पर टीका लिखी जा रही है, उस ग्रंथ पर उठाई गई शंका का परिहार उसी ग्रंथ द्वारा नहीं किया जा सकता। यह बात कदाचित् मौलिक ग्रंथों के विषय में ठीक हो सकती है। सूत्र-ग्रन्थों पर टीका आदि लिख कर जो ग्रन्थ बनाये जाते हैं उनके विषय में नहीं। इसीलिये सर्वार्थसिद्धि, राजवार्त्तिक, श्लोकवार्त्तिक, सिद्धसेनीय तत्त्वार्थ-भाष्यवृत्ति, ब्रह्मसूत्रशांकर-भाष्य आदि ग्रन्थों में अनेक जगह कोई शंका आदि उपस्थित होने पर सूत्रकार के सूत्रों को उद्धृत करके शंका का परिहार किया गया है।

'अर्हत्प्रवचन' का अर्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' ही हो सकता है, भाष्य नहीं, इसका उत्तर भी लेखांक (३) में शास्त्रों के उद्धरणपूर्वक दिया जा चुका है। यह बात तो मैं भी नहीं कहता हूँ कि "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" सूत्र तत्त्वार्थभाष्य का कोई अंश या पाठ है देवगुप्तसूरि और सिद्धसेनगणि के उल्लेखों द्वारा मैं बतला चुका हूँ कि तत्त्वार्थ और तत्त्वार्थ-भाष्य दोनों ही 'शास्त्र', 'तत्त्वार्थशास्त्र' अथवा तत्त्वार्थाधिगम' के नाम से कहे गये हैं; तथा तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, अर्हत्प्रवचन अर्हत्प्रवचनाधिगम, अर्हत्प्रवचनसंग्रह और तत्त्वार्थाधिगम-संग्रह ये नाम एक ही ग्रन्थ के सूचक हैं। अतएव (यदि अ, ब = क; प, फ = क; इसलिये अ, ब = प, फ—इस बीज गणित के अनुसार) 'अर्हत्प्रवचन' का वाचक केवल मूल तत्त्वार्थसूत्र न मानकर सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र मानना होगा।

(२) अर्हत्प्रवचन और तत्त्वार्थाधिगम

आक्षेप—पं० जुगलकिशोर जी ने "इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः" इस टीका वाक्य में जो 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' यह पद समस्यन्त

माना है सो ठीक नहीं। यह पद वास्तव में प्रथमा का द्विवचन है। क्योंकि भाष्य शब्द नित्य नपुंसक है। इसलिये इस वाक्य का यह अर्थ होता है कि—'अर्हत्प्रवचन तत्त्वार्थाधिगम में उमास्वातिप्रतिपादित सूत्र और भाष्य हैं उसमें सिद्धसेनगणिविरचित भाष्यानुसारी टीका है', आदि। यदि ग्रन्थकर्त्ता को सप्तम्यन्त पद ही देना था तो सप्तमी का द्विवचनांत देना ही ठीक प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि सूत्र और भाष्य का एकत्व दिखाने के लिये सप्तमी का एकवचन है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि एकता एककर्तृत्व की दिखलाई जा सकती है। टीकाकार को यदि भाष्य को 'स्वोपज्ञ' ही बतलाना था तो स्पष्ट भाष्य के साथ भी 'स्वोपज्ञ' या 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' ऐसा कोई विशेषण लगाना था।

उत्तर—कहने की आवश्यकता नहीं ऊपर जो व्याकरण का पांडित्य बताया गया है, वह व्याकरणशून्यता है। शास्त्री जी को शायद मालूम नहीं कि उक्त वाक्य श्वेताम्बर विद्वान सिद्धसेनगणि के हैं, जो भाष्य को स्वोपज्ञ मानकर उसपर टीका लिख रहे हैं। शास्त्री जी की विद्वत्ता का यह एक नमूना है कि स्पष्टरूप से तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता के सूचक सिद्धसेन के "इति श्रीमदर्हत्प्रवचने" आदि वाक्यों से ही, वे भाष्य की अस्वोपज्ञता सिद्ध करने को तुले हुए हैं। यह एक बिलकुल मोटी सी बात है कि कम से कम उक्त संधिवाक्यों से तो त्रिकाल में भी भाष्य की अस्वोपज्ञता का अर्थ नहीं निकल सकता, उसके लिये तो अन्य प्रमाणों की ही आवश्यकता होगी। सिद्धसेन ने साफ शब्दों में "सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारः" कह कर भाष्यकार और सूत्रकार का अभेद सूचित किया है। समझ में नहीं आता फिर भी ये विद्वद्वय सिद्धसेन के वाक्यों को तोड़मरोड़ कर उनसे दूषित अर्थ निकालने का क्यों प्रयत्न करते हैं! उक्त संधि वाक्य में भी सूत्र और भाष्य का एककर्तृत्व बताने के लिये ही 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' यह समासांत सप्तम्यंत अखंड पद दिया गया है। जिसका स्पष्टार्थ है 'उमास्वातिकृत सूत्र और भाष्य में।' सूत्र और भाष्य का एक कर्त्ता होने की हालत में न तो यहाँ सप्तमी के द्विवचन की ज़रूरत है और न सूत्र और भाष्य के लिये अलग अलग 'स्वोपज्ञ' अथवा 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' विशेषणों की आवश्यकता। थोड़ी देर के लिये यदि उक्त पद को प्रथमा का द्विवचन मान भी लिया जाय तो उससे यह कैसे फलित होगा कि सूत्र और भाष्य एककर्तृक नहीं हैं। 'अर्हत्प्रवचन तत्त्वार्थाधिगम में उमास्वातिप्रतिपादित सूत्र और भाष्य हैं, उसमें सिद्धसेनगणिविरचित भाष्यानुसारी टीका है'—इस अर्थ से पं० जुगलकिशोर जी के मत का कैसे समर्थन होता है, सो समझ नहीं पड़ता। तथा यहाँ 'उसमें' यह अर्थ कहाँ से आ गया? यदि थोड़ी देर के लिये समझ भी लिया जाय कि सिद्धसेन के अनुसार सूत्र और भाष्य के बनानेवाले भिन्न भिन्न हैं (यद्यपि सूत्र और भाष्य को एककर्तृक मान कर ही उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य पर टीका लिखी है) तो शास्त्री

जी द्वारा प्रतिपादित उक्त अर्थ में 'भाष्य' शब्द कहाँ से कूद पड़ा ? तथा उस भाष्य का कर्त्ता कौन है जिस पर ग्रंथकार टीका लिख रहे हैं ? यदि यहाँ 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रे' जैसा कोई पद होता तो कदाचित् उक्त कथन का समर्थन हो सकता था। तथा 'अर्हत्प्रवचन' शब्द भी नपुंसकलिंग है, फिर उसे भी प्रथमा का द्विवचन क्यों न माना जाय ? तथा "इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायां प्रथमोऽध्यायः" इत्यादि संधिवाक्यों का क्या अर्थ होगा ? 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पद में जो 'उमास्वाति-वाचकोपज्ञ' उद्देश्य है, वह अपने विधेय 'भाष्य' पद के साथ तो अवश्य ही जायगा, चाहे थोड़ी देर के लिये, वह सूत्र' के साथ न भी जाय। अतएव मैंने अपने पूर्व लेख में 'अर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' इन पदों को समानाधिकरण बताकर जो अर्थ किया है वही अर्थ ठीक है। सिद्धसेन, सूत्र और भाष्य को एक मानकर उस पर टीका लिख रहे हैं। ऐसी हालत में उन्हीं के वाक्यों से भाष्य की अस्वोपज्ञता कभी भी सिद्ध नहीं की जा सकती। वे तो स्पष्टरूप से भाष्य को स्वोपज्ञ ही मानते हैं। तथा इसी सूचना को लिये हुए उनके उक्त संधिवाक्य है।

(३) वृत्ति

आक्षेप—"वृत्तौ पंचत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेन्न अभिप्रायापरिज्ञानात्", इस वार्त्तिक का यह अभिप्राय होता है कि 'वृत्तौ'—रचनायां (सूत्ररचनायां)-सूत्ररचना में, 'पंच'—पाँच द्रव्य हैं, 'तु'—पुनः या अर्थात्, 'अवचनात्'—छह का कथन न होने से, 'षड्द्रव्योपदेशव्याघातः'—षट्द्रव्य का उपदेश नहीं बन सकता। ऐसी शंका का समाधान 'इति चेन्न' शब्द से किया गया है, सो स्पष्ट ही है। इस वार्त्तिक का जो भाष्य है उसका अभिप्राय भी यही होता है—'वृत्ति'—सूत्ररचना में धर्मादिक द्रव्य अवस्थित हैं, वे कभी पंचत्व से व्यभिचरित नहीं हो सकते। इसलिये षटद्रव्य का उपदेश नहीं बनता। उसका उत्तर अकलंकदेव ने 'कालश्च' सूत्र से देकर अपने कथन की पुष्टि की है। यह चर्चा "नित्यावस्थि-तान्यरूपाणि" सूत्र की व्याख्या में की गई है। यहाँ तक सौत्रीय पद्धति में काल का कोई भी उल्लेख नहीं आया है। इसलिये पंचत्वविषयक शंका करना बिल्कुल जायज है। इस प्रसंग पर यदि राजवार्त्तिक को भाष्य पर की गई शंका का ही निरसन करना अभीष्ट था, तो भाष्यगतसूत्र के उल्लेख से ही उसका निरसन करते। यह एक बड़ी विचित्र बात है कि भाष्यगत शंका का समाधान, अकलंक-सरीखे विद्वान् भाष्यगत सूत्र से न करके दिगम्बरगत सूत्र से करें। खण्डन-मंडन के शास्त्रों में 'न हि कदाचित्' आदि शब्द प्रायः आ ही जाते हैं, इसलिए ये शब्द भाष्य में हैं और यही शब्द राजवार्त्तिक में भी हैं। इसलिए राजवार्त्तिक के सामने भाष्य था, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

उत्तर—शास्त्री जी के पांडित्य का यह दूसरा नमूना है। ऊपर आपने सिद्धसेनगणि के वाक्यों को तोड़ मरोड़कर जो दूषित अर्थ निकालना चाहा है, वैसा ही अर्थ आप अकलंकदेव के वाक्यों का निकालना चाहते हैं। उक्त वार्त्तिकवाक्य पर स्वयं अकलंकदेव का भाष्य है, जिसमें उक्त वार्त्तिक का स्पष्टार्थ दिया गया है। फिर भी शास्त्रीजी को अपना भाष्य अलग बनाने की क्या ज़रूरत हुई, सो समझ में नहीं आता। क्या अकलंकदेव का भाष्य आपको मान्य नहीं? अथवा उससे अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं होता? 'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्र-रचना' करके तो सचमुच शास्त्री महोदय ने क़लम तोड़ दी है। क्या आप कृपा करके बतायेंगे कि किस कोष के अनुसार उक्त अर्थ किया जा रहा है? क्या कोई ऐसा एकाक्षरी कोष आपके पास मौजूद है जिसमें वृत्ति का अर्थ सूत्ररचना दिया है? अकलंक ने 'पंचत्ववचनात्' का अर्थ भी 'पंच तु अवचनात्' कहीं नहीं किया है। न मालूम 'अवचनात्' पद से 'छह का कथन न न होने से' यह अर्थ ज़बर्दस्ती कैसे निकाला जा रहा है। उक्त वार्त्तिक वाक्य पर अकलंक का भाष्य निम्न प्रकार से है—' स्यान्मतं वृत्तौ उक्तम् ' अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति, ततः षड्द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति।" अर्थात् वृत्ति में कहा है—"अवस्थितानि, धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति"; अतएव षड्द्रव्यके कथन का व्याघात होगा। पंचत्ववचनान्' का अर्थ खींचतान कर यदि 'पंच तु अवचनात्' किया भी जाय, तो उसका केवल इतना ही अर्थ हो सकता है कि 'पाँच का तो कथन नहीं किया', जो कथन अकलंक के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि वे कहना चाहते हैं कि 'पाँच का कथन किया है।' फिर भी कदाचित् शास्त्रीजी के उक्त अर्थ को स्वीकार किया जाय, तो प्रश्न होता है कि उमास्वाति की वह कौन-सी सूत्ररचना है जिसमें "अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति" ये वाक्य सूत्ररूप से पाये जाते हैं। यहाँ फिर से बताने की आवश्यकता नहीं कि उमास्वातिकृतवृत्ति (भाष्य) में उक्त वाक्य निम्नप्रकार से उपलब्ध होते हैं—"अवस्थितानि च। न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरंति।" इससे निश्चित है कि राजवार्त्तिक में 'वृत्तौ उक्तं' कहकर जो वाक्य उद्धृत हैं, वे वाक्य न किसी 'सूत्ररचना' के हैं और न अनुलब्ध शिवकोटिकृत वृत्ति के, बल्कि उक्त वाक्य श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थभाष्य के हैं।*

* 'आकाशग्रहणमादौ' इत्यादि वार्त्तिकगत (राजवार्त्तिक पृ० १९१) 'धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां' आदि वाक्योल्लेखपूर्वक 'वृत्ति' शब्द का वाच्य जो स्वयं राजवार्त्तिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, वह भी भ्रममूलक है। राजवार्त्तिकगत 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि उल्लेख का प्रस्तुत उल्लेख के साथ कोई संबंध नहीं। प्रस्तुत उल्लेख में ग्रंथकार कहना चाहते हैं कि धर्मादि पाँच द्रव्यों का आधार आकाश है, अतएव ' अजीवकाया'' आदि सूत्र में आकाश का ग्रहण प्रथम होना चाहिये; जब कि 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' वाले उल्लेख में अकलंक का आशय दूसरा ही है। इसके अतिरिक्त राजवार्त्तिक का 'वृत्ति' के नाम से कहीं उल्लेख नहीं मिलता; वृत्ति को लेकर ही वार्त्तिक लिखा जाती है (वृत्तिः प्रयोजनमस्य वार्त्तिकम्—हेमचन्द्र)।

राजवार्त्तिक और तत्त्वार्थभाष्य के उक्त वाक्यों के प्रायः अक्षरशः समानरूप से उपलब्ध होने पर भी यह कहना कि खंडन-मंडन के शास्त्रों में "न हि कदाचित्' आदि शब्द प्रायः आ ही जाते हैं," आग्रह की चरम सीमा है। प्रस्तुत प्रकरण में खंडन-मंडन का कोई भी विषय नहीं है। एक बात और है कि अकलंक ने 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्र में ही द्रव्यपंचत्व-विषयक शंका क्यों उठाई ? यदि प्रस्तुत प्रसंग में वृत्ति का लक्ष्य कोई ग्रन्थविशेष न होकर 'सूत्ररचना' ही है, तो उक्त सूत्र के पूर्व भी अनेक स्थलों पर षड्द्रव्य चर्चाका प्रसंग आया†, परन्तु उन स्थलों पर सौत्री-रचना की संगति क्यों न बैठाई गई ? खास करके 'द्रव्याणि' और 'जीवाश्च' सूत्र तो इसके लिए और भी उपयुक्त थे। अतएव 'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्ररचना' किसी भी हालत में नहीं हो सकता। इसका वाच्य कोई ग्रन्थ-विशेष है, और वह ग्रन्थ उमास्वातिकृत भाष्य है, जहाँ 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्र के भाष्य में ही उक्त वाक्य आया है। इसी भाष्य से उठाकर अकलंक ने अपने ग्रन्थ में 'उक्तं' कह कर इस वाक्य को दिया है। इसलिए मानना होगा कि अकलंक की उक्त शंका उक्त भाष्य को लेकर है। अब यदि इस शंका का समाधान अकलंक स्वयं भाष्यगत 'कालश्चेत्येके' सूत्र से करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि अकलंक, दिगम्बराम्नाय के प्रतिकूल होने पर भी, भाष्य को सूत्ररूप से स्वीकार कर लेते हैं; तथा सर्वार्थसिद्धिगत दिगंबरीय सूत्र 'कालश्च' ही है, जिसको सामने रखकर वे अपना वार्त्तिक लिख रहे हैं। ऐसी हालत में 'कालश्च' सूत्र ही प्रमाणरूप से देकर शंका का परिहार किया जाना उचित था, जो अकलंक ने किया है। पूर्वलेख में बताया जा चुका है कि द्रव्यपंचत्व की शंका दिगम्बरों के यहाँ इसलिए नहीं उठ सकती कि उनके यहाँ तो निश्चित रूप से छः द्रव्य ही माने गये हैं, जब कि श्वेताम्बरीय उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी 'पंचद्रव्य' और 'षड्द्रव्य' की आगमगत दोनों मान्यतायें मौजूद हैं।

(४) भाष्य

आक्षेप—(क) राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' पद का वाच्य सर्वार्थसिद्धि या स्वयं राजवार्त्तिक ही हो सकता है। सर्वार्थसिद्धि भाष्य क्यों है ? इसका उत्तर—स्वमत और परमतनिराकरण-रूप भाष्य का अर्थ होता है, तथा वृत्ति और भाष्य एकार्थ वाचक भी होते हैं; दूसरे सर्वार्थ-सिद्धि की लेखनशैली पातञ्जल भाष्य-सरीखी भी है, तथा सर्वार्थसिद्धि में 'षड्द्रव्याणि' के उल्लेख दो-तीन जगह दीख ही रहे हैं। इसी तरह राजवार्त्तिक में भी कई जगह उल्लेख हैं।

(ख) 'बहुकृत्वः' शब्द का अर्थ 'बहुत बार' होता है। बहुत कोशिश करने पर भी 'षड्

† उदाहरण के लिये देखो —श्रुतं मतिपूर्वं आदि सूत्र का १२वीं वार्त्तिक, पृ० ५२; मतिश्रुत-योर्निबन्धो आदि सूत्र की २१ वार्त्तिक, पृ० ६०; तथा तत्कृतः कालविभागः सूत्र की १ली वार्त्तिक, पृ० १२६।

द्रव्याणि' इस प्रकार के शब्दों को श्वे० भाष्य में नहीं बताया जा सका, केवल 'षट्त्वं', 'षडविधं' आदि वाक्य ही सिद्ध हो सके।

(ग) 'पूर्वत्र' शब्द देने से संदेह हो सकता था कि वार्त्तिक में या भाष्य में, अतः अकलंक ने, 'भाष्ये' शब्द लिखा।

उत्तर--(क) पाठक देख सकते हैं कि स्वमतसमर्थन के लिये क्या क्या युक्तियाँ दी जा रही हैं। स्वयं पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि को 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम से सूचित किया है। यदि सर्वार्थसिद्धि भाष्य होता, तो वे उसे भाष्य लिखते। स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरण मात्र से कोई ग्रन्थ भाष्य नहीं कहा जा सकता। तथा अन्य ग्रन्थों की शैली भी पातँजलभाष्य-सरीखी हो सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन सबको भाष्य कहा जायगा। यदि अकलंक को स्वार्थसिद्धि का कोई उल्लेख देना था, तो वे ग्रन्थ के नामोल्लेखपूर्वक दे सकते थे, अथवा तत्त्वार्थवृत्ति या वृत्ति नाम से देते, उन्हें उसे भाष्य कह कर देने की क्या आवश्यकता थी ? इसके अलावा, यदि षड्द्रव्याणि' इस पद का ही खास आग्रह है, तो 'षड्द्रव्याणि' पद सर्वार्थसिद्धि में भी एक ही बार आया है। (दूसरी जगह 'षडपि द्रव्याणि' है)। ऐसी हालत में सर्वार्थसिद्धि को भाष्य बताना भ्रम है। वास्तव में सर्वार्थसिद्धि वृत्ति है और राजवार्त्तिक भाष्य है। जैसे राजवार्त्तिक को वृत्ति नहीं कहा जा सकता, वैसे ही सर्वार्थसिद्धि को भाष्य नहीं कहा जा सकता। हेमचन्द्राचार्य ने वृत्ति और भाष्य का अलग अलग लक्षण बताते हुए लिखा है कि "वर्तते अर्थावगमोऽत्रेति वृत्तिः" तथा 'भाष्यं सूत्रोक्तार्थप्रपंचकम्—भाष्यते इति भाष्यं। सूत्रे उक्तं अर्थं प्रपंचयति।" अर्थात् वृत्ति में साधारणरूप से मूल-ग्रंथ का अर्थ होता है, जब कि वह अर्थ भाष्य में विस्तार से किया जाता है। भाष्य और वृत्ति क्वचित् समानार्थक भी होते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि 'वृत्ति' 'भाष्य' हो जाय और 'भाष्य' 'वृत्ति' हो जाय।*

(ख) यह शंका पहले लेखों को न पढ़ने का परिणाम है। सम्पादक-'अनेकांत' ने अपने पूर्वलेख में "वाचकमुख्यस्य तु पंचैव" वाले उल्लेख द्वारा बहुत ज़ोरदार शब्दों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि भाष्यकार के मत से 'काल' कोई द्रव्य ही नहीं।

* तिलक जी ने टीका और भाष्य का भेद बतलाते हुए अपने गीतारहस्य में लिखा है—"भाष्य और टीका का बहुधा समानार्थी उपयोग होता है, परन्तु सामान्यतः टीका मूल ग्रंथ के सरल अन्वय और इसके सुगम अर्थ करने को ही कहते हैं। भाष्यकार इतनी ही बातों पर सन्तुष्ट नहीं रहता, वह उस ग्रंथ की न्याययुक्त समालोचना करता है और अपने मतानुसार उसका तात्पर्य बताता है, और उसी के अनुसार वह यह भी बतलाता है कि ग्रंथ का अर्थ कैसे लगाना चाहिये"—विषय-प्रवेश पृ० ११।

उनके मत में तो पाँच ही द्रव्य हैं; अतएव राजवार्त्तिकगत 'षड्द्रव्याणि' वाला उल्लेख तत्त्वार्थभाष्य का सूचक नहीं हो सकता। सम्पादक जी की इस मान्यता का शास्त्रोल्लेख-पूर्वक खण्डन पूर्व लेख में किया जा चुका है। इस लेख में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि भाष्यकार छह द्रव्यों को मानते हैं, फिर भी न मालूम भाष्य में 'षड्द्रव्याणि' ऐसा पद प्रदर्शित करने का ही इन वयोवृद्ध पंडितों का क्यों आग्रह है? यदि यह सिद्ध हो जाता है कि भाष्यकार छह द्रव्यों को स्वीकार करते हैं, तो इतना बस है। षड्द्रव्य का उल्लेख भाष्य में कई जगह (बहुकृत्वः) आता ही है, भले हो वह 'षड्द्रव्यावरोधात्' रूप में हो अथवा 'कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च' रूप में हो, अथवा अन्य किसी रूप में। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि राजवार्त्तिक में यदि 'यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं' न होकर 'यद्भाष्ये बहुकृत्व उक्तं "षड्द्रव्याणि" इत्यादि वाक्य होता तो कदाचित् तत्त्वार्थभाष्य में 'षड्द्रव्याणि' यह पद प्रदर्शित करने का आग्रह ठीक था। लेकिन यहाँ तो अकलंक सामान्यरूप से कह रहे हैं कि 'भाष्य में जो बहुत बार छह द्रव्यों का उल्लेख है, उसके विषय में क्या रहा?' यहाँ अकलंक ग्रन्थ का कोई खास उद्धरण नहीं दे रहे हैं, जैसा उन्होंने "स्यान्मतं वृत्तौ उक्तं "अवस्थितानि धर्मादीनि" आदि, तथा "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने" आदि वाक्यों में 'उक्तं' रूप से दिया है।

(ग) "यद्भाष्ये बहुकृत्वः" आदि उल्लेख राजवार्त्तिक का भी नहीं हो सकता। यदि यहाँ 'भाष्य' पद से अकलंक को स्वकृत भाष्य इष्ट होता तो उन्हें स्पष्ट 'अस्मिन भाष्ये' अथवा 'पूर्वत्र' आदि लिखना चाहिये था। "ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं" (पृ० २६४) आदि राजवार्त्तिक-गत वाक्य में भी उन्होंने 'पूर्वत्र' लिखकर पूर्वगत व्याख्यान का सूचन किया है। अतएव यह कहना ठीक नहीं कि 'पूर्वत्र' शब्द से संदेह हो सकता था कि वार्त्तिक में या भाष्य में। यदि यह संदेह होना ठीक है, तो फिर वह संदेह यहाँ क्यों नहीं हुआ? किसी वृत्तिकार या भाष्यकार ने 'अस्याम्' अथवा 'अस्मिन्' आदि पदों के बिना केवल 'वृत्तौ' अथवा भाष्ये' लिखकर स्वग्रन्थ का सूचन किया हो, ऐसा इतर साहित्य में भी देखने में नहीं आता। शङ्कराचार्य आदि विद्वानों ने 'अस्माभिः प्रोक्तं' अथवा 'पूर्वत्र प्रोक्तं' आदि शब्दों द्वारा ही स्वग्रन्थकृत उल्लेख का सूचन किया है। तथा राजवार्त्तिकभाष्य में तो षट्द्रव्यों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है; राजवार्त्तिककार उसका कथन पहले कई बार कर ही चुके हैं, फिर उसके सिद्ध करने की यहाँ क्या आवश्यकता थी? जब कि उमास्वातीय तत्त्वार्थभाष्य में कालश्चेत्येके' सूत्र होने के कारण कुछ लोगों की दृष्टि में काल की मान्यता सन्देहास्पद थी। अतएव भाष्य का वाच्य स्वयं राजवार्त्तिक भाष्य नहीं हो सकता।

(५) तत्वार्थभाष्य और राजवार्त्तिक में शब्दादिगत साम्य

आक्षेप—शब्दसाम्य, सूत्रसाम्य और विषयसाम्य तो बहुत शास्त्रों के बहुत शास्त्रों से मिल सकते हैं, तथा मिलते हैं, अतः इस कथन की कोई क़ीमत नहीं।

उत्तर—बड़ा आश्चर्य है कि तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्त्तिक भाष्य में शब्दादि की समानता स्वीकार कर लेने पर भी उसकी कोई क़ीमत नहीं बताई जाती। क्या सम्पादक-अनेकांत भी इससे सहमत हैं? हमारा तो कहना है कि थोड़ी देर के लिये यदि राजवार्त्तिक में वृत्ति, भाष्य आदि का उल्लेख न भी हो, तो दोनों ग्रन्थों में जो शब्द के शब्द, वाक्य के वाक्य यहाँ तक कि पृष्ठ के पृष्ठ समानरूप से पाये जाते हैं, वे यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि एक पर दूसरे का प्रभाव अवश्य है। राजवार्तिक में सर्वार्थसिद्ध या उसके कर्त्ता का नामोल्लेख न होने पर भी माना जाता है कि सर्वार्थसिद्धि सामने रखकर राजवार्त्तिक लिखी गई है, फिर तत्त्वार्थभाष्य का स्पष्ट नामोल्लेख होने पर भी राजवार्तिककार ने भाष्य का उपयोग किया है, यह मानने में क्या आपत्ति है? यदि फिर भी अकलंक से पूर्व तत्त्वार्थभाष्य का अस्तित्व नहीं माना जाय तो यह साफ़ साफ़ कह देना चाहिये कि भाष्यकार ने राजवार्तिक को अपना लिया है। यदि कहा जाय कि किसी अनुपलब्ध ग्रन्थ का दोनों ग्रन्थकारों ने उपयोग किया है, तो उस ग्रन्थ का अस्तित्व सप्रमाण सिद्ध करना चाहिए। राजवार्त्तिकगत अन्तिम कारिकाओं को बरसों से प्रक्षिप्त कहकर उनका लोप किया जा रहा है, लेकिन उनके प्रक्षिप्त होने में अबतक किसी ने कोई प्रमाण दिया हो, यह देखने में नहीं आया।

हमारी समझ में नहीं आता कि यदि अकलंक ने राजवार्तिक जैसा महाभाष्य लिखते हुए लघुतत्त्वार्थभाष्य का उपयोग कर लिया, तो क्या हानि हो गई? वार्तिक ग्रन्थों में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त अर्थ की विचारणा हुआ करती है। वार्तिक के इस लक्षण के अनुसार, अकलंक ने तत्त्वार्थभाष्य में से अपने अनुकूल बातों को ग्रहण कर लिया और प्रतिकूल को छोड़ दिया। पहले जैन आचार्य आजकल की तरह संकुचित वृत्ति के न होते थे। उन्हें जहाँ जो बात अच्छी लगती थी, वहाँ से उसे ले लेते थे। स्वयं अकलंक ने भागवद्गीता तक के श्लोक को राजवार्तिक में ले लिया है। सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर सुमति नामक दिगम्बराचार्य-द्वारा वृत्ति लिखे जाने का उल्लेख मिलता है। यशोविजयजीकृत अष्टसहस्री-टिप्पण तो छप भी गई है। इसी तरह समंतभद्र आदि विद्वानों का हरिभद्र आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने बहुसम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। स्वयं धवला में सन्मतितर्क के उल्लेखपूर्वक उसकी गाथायें उद्धृत की गई हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि तत्त्वार्थभाष्य के स्वोपज्ञ माने जाने की परंपरा अकलंक से पुरानी है। अकलक के समकालीन सिद्धसेन, हरिभद्र

आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने उसे स्वोपज्ञ मानकर उस पर टीकाएँ लिखी हैं। अतः मानना होगा कि अकलङ्क के सामने श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थभाष्य अवश्य मौजूद था।

(२)

पं० जुगलकिशोरजी ने प्रस्तुत चर्चा पर विद्वानों की सम्मति छापने का श्रीगणेश किया है। अतएव, यदि मैं भी यहाँ कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ प्रकाशित कर दूँ तो अप्रासंगिक न होगा। जिन विद्वानों ने कृपा करके अपनी अमूल्य सम्मतियाँ भेजी हैं, उनका मैं अनुगृहीत हूं।

१—पं० नाथूराम जी प्रेमी, बंबई

मैं मानता हूं कि अकलंकदेव के सामने तत्त्वार्थभाष्य अवश्य रहा होगा और उसके रहने में जो लोग साम्प्रदायिक हैं, उन्हें भी क्यों एतराज होना चाहिए, मैं नहीं समझ पाता। एतराज का मौक़ा तो तब आयगा जब उस भाष्य को कोई दिगम्बर विद्वान् स्वोपज्ञ सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा। आपने जो प्रमाण दिये हैं, वे इस बात को सिद्ध करने के लिये काफ़ी हैं कि 'अर्हत्प्रवचन' कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

२—पं० महेन्द्रकुमार जी शास्त्री, बनारस—

मेरा भी विश्वास है कि यह भाष्य अकलङ्कदेव के सामने अवश्य था। मैं न्यायकुमुद-चन्द्र, द्वितीय भाग की प्रस्तावना में इन शब्दों को लिख रहा हूं। इसके स्वकर्तृत्व की बात दिगम्बर परम्परा में पूज्यपाद से ही विच्छिन्न है। इस विषय में मेरा खास अन्वेषण कार्य नहीं हुआ है। पर इतना सुनिश्चित है कि यह भाष्य अकलंकदेव से तो पुराना है। स्वकर्तृत्व की श्वे० परम्परा भी बहुत पुरानी है। अतः उसपर सहसा विना किसी पुष्ट प्रमाण के अविश्वास नहीं किया जा सकता। आपने अपने लेख में जो प्रकृत विषय के सिवा अन्य बातों की उपेक्षा की है, वह प्रशस्य है।

३—पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, बनारस—

पं० जुगलकिशोरजी का लेख 'नेगेटिव' है, पोज़िटिव' नहीं। भाष्य की स्वोपज्ञता में मुझे भी विश्वास नहीं है। किन्तु अकलङ्क के सामने वह भाष्य था, ऐसा लगता ज़रूर है।

४—पं० दरबारीलाल जी, सत्यभक्त, वर्धा -

मैं भाष्य को उमास्वातिकृत होने में कोई बाधा नहीं देखता। यह भी मेरा मत है कि अकलङ्कदेव के सामने वह भाष्य था। आपका पक्ष मुझे ठीक मालूम होता है।

५-प्रोफेसर ए० एस० गोपाणी, एम ए०, भारतीय विद्याभवन, बम्बई—

I went through your article with quite a good amount of interest The general impression which it has left on my mind is one in your favour You have stated the counter-case fully and fairly

and along with stating it you have advanced a host of arguments which sufficiently and surely succeed in bringing your conviction home Your article has much strengthened the position of Pandit Sukhlal ji, who has, in his Tattvarth Sustra Parichaya, P. 23), uncontroversially established Vachake Umaswati's authorship of the Bhashya. The identity of the Arhat-Pravachana with the Tattvarth-bhashya, so ably fixed by you, is ingenious and interesting. In short, I take this opportunity of congratulating you on bringing out this illuminating and informative pamphlet.

अर्थात्—मैंने आपके लेख को बहुत दिलचस्पी के साथ पढ़ा। इस लेख के पढ़ने से मेरे दिल पर यही छाप पड़ी कि आपका पक्ष ठीक है। आपने अपनी प्रतिपक्षी दलीलों का पूर्ण और निष्पक्षरूप से उल्लेख किया है। इन दलीलों को पूर्वपक्ष में रखकर आपने इनके विरुद्ध बहुत-सी युक्तियाँ दी है, जिससे अपने कथन का निश्चितरूप से पर्याप्त समर्थन होता है। आपके लेख से पंडित सुखलाल जी ने जो मत अपने तत्त्वार्थसूत्र (परिचय पृ० ८३) में अबाधित रूप में स्थिर किया है कि भाष्य के कर्त्ता वाचक उमास्वाति हैं, काफी पुष्ट हो जाता है। तत्वार्थभाष्य और अर्हत्प्रवचन का जो अपने अभिन्नत्व सिद्ध किया है, वह एक नई वस्तु है और मनोरंजक है। संक्षेप में, मैं आपको नई बातों पर प्रकाश डालनेवाले इस लेख के लिये बधाई देता हूँ।

६—पं० बेचरदास जी, प्रोफेसर एल० डी० आर्ट्स कालेज, अहमदाबाद—

मैं तो भाष्य को स्वोपज्ञ ही मानता हूँ और आपके लेख के विषय को ठीक युक्तियुक्त समझता हूँ। राजवार्तिक के ऊपर भाष्य का असर होने में कोई आश्चर्य नहीं। शुद्ध इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो श्वेतांबराम्नाय व दिगंबराम्नाय के ग्रन्थों में एक दूसरे की असर है, ऐसा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। अभी जो धवलागम छप रहे हैं, उनमें 'आर्यमंखु' का उल्लेख मिलता है, वह 'आर्यमंखु' श्वेताम्बराम्नाय प्रसिद्ध कल्पसूत्र की स्थविरावलि में, जिसका नाम 'आर्यमंगु' लिखा है, वही हैं। साहित्य की दृष्टि से दोनों परंपरा की परस्पर घनिष्ठ मित्रता थी। परन्तु पीछे से विच्छेद की कल्पना करके विघ्न किया है।

७—मुनि श्री पुण्यविजय जी, पाटण—

आपके परिश्रम के लिये धन्यवाद। इस लेख के विषय में पं० सुखलाल जी की सम्मति आई होगी। मैं उनकी सम्मति से सम्मत हूँ।

८—पं० सुखलालजी, प्रोफेसर जैनचेयर, बनारस हिन्दू-युनिवर्सिटी, बनारस—

लेख की शैली सौम्य है और वस्तु ठोस है।

विविध

(१)
भुजबलिचरिते

विज्ञ पाठकों को जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग ५, किरण २ में, सांगत्य छंद में रचित 'गोम्मटेश्वरचरिते' नामक एक कन्नड ग्रन्थ का परिचय कराया जा चुका है; जिसमें गोम्मटेश्वर अर्थात् बाहुबली की जीवनी और शक, १३५३, ई० सन् १४३२ में राजा वीरपांड्य के द्वारा कारकल (South Kanara) में स्थापित गोम्मटेश्वर या बाहुबली की विशाल-काय मनोज्ञ प्रतिमा का इतिवृत्त अङ्कित किया गया है। उक्त गोम्मटेश्वरचरिते के रचयिता दाक्षिण इम्मडि भैरवराय के आश्रित, ललितकीर्ति के शिष्य और तौलवदेश-(वर्तमान South-Kanara निवासी कवि चन्द्रम है। भास्कर में प्रकाशित उस लेख में मैंने यह लिख दिया था कि उक्त ग्रन्थ में वीरपाण्ड्य के द्वारा मूर्ति-स्थापित होने का समय शक १३५३, ई० सन् १४३२ और कवि चन्द्रम के द्वारा ग्रन्थ रचे जाने का समय शक १५६८, ई० सन् १६४६, स्पष्ट अङ्कित है। जब इन दोनों समयों में इस प्रकार २१४ वर्षों का अन्तर पड़ता है, तब वीरपाण्ड्य के द्वारा स्थापित बाहुबली की बिंब-प्रतिष्ठा का वर्णन कवि के द्वारा केवल श्रुति-गोचर किया हुआ सिद्ध होता है। हाँ, अपने आश्रयदाता वीरपाण्ड्य के ही वंशज भैरवराय के द्वारा पीछे शक १५६८ ई० सन् १६४६ में सम्पन्न की गई उसी मूर्ति की द्वितीय प्रतिष्ठा का वर्णन कवि की देखी हुई घटना है। मालूम होता है कि बाहुबली की प्रथम एवं द्वितीय दोनों प्रतिष्ठाओं की घटनाओं को सुरक्षित रखने के लिए गुरु ललितकीर्ति जी की प्रेरणा से कवि चन्द्रम ने इस गोम्मटेश्वरचरिते की रचना की है।

अभी हाल में मुझे 'भुजबलिचरिते' नामक सांगत्य छन्द में ही रचित एक और कन्नड ग्रन्थ मिला है। इसमें वेणूर में चतुर्थ वीरतिम्मण्णाजिल के द्वारा शक १५२५, ई० सन् १६०४ में स्थापित बाहुबली* या गोम्मटेश्वर की विशाल-काय मनोज्ञ मूर्ति की बिंब-प्रतिष्ठा का वर्णन अङ्कित है। इसके रचयिता प्राग्वेणुपुर†-(मूडबिद्री) निवासी पद्मसेट्टि एवं पद्मावती के पुत्र कवि पद्मनाभ हैं। पद्मनाभ ने अपनी इस रचना में तो अपने को चारुकीर्ति का शिष्य एवं तिम्मण्णाजिल का आस्थान-कवि मात्र घोषित किया है। हाँ, इनकी एक रचना और उपलब्ध है, वह है 'रामचन्द्रचरित्र' का उत्तर भाग।‡ उसमें उन्होंने पण्डितार्य अर्थात्

---

* भुजबली बाहुबली का ही नामान्तर है।

† पडुबिद्री के नाम से पश्चिम वेणुपुर एक दूसरा है।

‡ इसका पूर्व-भाग चन्द्रशेखर अथवा शंकर कवि के द्वारा रचा गया था। बीच में ही कवि के देहावसान होने से यह ग्रंथ अधूरा रह गया था।

चारुकीर्ति+ को अपना व्रतगुरु, प्रभाचन्द्र को शिक्षा-गुरु एवं मूलिके के शासक चेन्नराजेन्द्र को रक्षक बताया है। रामचन्द्र-चरित्र का उत्तर भाग (१७वें अध्याय से ३७वें अध्याय तक अर्थात् ३०५७ पद्य) शक १६७४, ई० सन् १७५० में समाप्त हुआ था। इधर कवि पद्मनाभ ने अपने भुजबलिचरिते में जिन तिम्मण्णाजिल को अपना आश्रयदाता बताया है, वह तिम्मण अजिलवंशी, द्वितीय पदुमला देवी के उत्तराधिकारी, वेणूर में शासन करनेवाले पञ्चम तिम्मण्णाजिल ही होना चाहिये। इनका समय ई० सन् १७२१-१७६५ है। मालूम होता है कि कवि पद्मनाभ का मूलिके और वेणूर दोनों स्थानों के राजदरबारों से समान सम्बन्ध रहा। अन्यथा वह भुजबलिचरिते में वेणूर के तिम्मण्णाजिल को अपना आश्रयदाता और रामचन्द्र-चरित्र में मूलिके के चेन्नराजेन्द्र को रक्षक कैसे लिखते। क्या स्थानीय (मूडबिद्री) चौटराज-वंश से कवि पद्मनाभ का कोई सम्बन्ध नहीं रहा ?

पद्मनाभ के भुजबलिचरिते में ४ संधियाँ (अध्याय) एवं ५५१ पद्य हैं। यह पूर्वोक्त कवि चन्द्रम के गोम्मटेश्वरचरिते का ही अनुकरण है। जिस प्रकार इम्मडि भैरवराय ने अपने वंशज वीरपाण्ड्य के द्वारा कारकल में स्थापित सुप्रसिद्ध विशाल-काय बाहुबलिमूर्ति की धूमधाम से मस्तकाभिषेक-पूर्वक प्रतिष्ठा कराकर कवि चन्द्रम के द्वारा गोम्मटेश्वरचरिते की रचना कराई थी, उसी प्रकार पञ्चम तिम्मण्णाजिल ने अपने वंशज चतुर्थ वीरतिम्मण्णाजिल के द्वारा वेणूर में स्थापित सुविख्यात विशाल-काय बाहुबलि-मूर्ति की धूमधाम से मस्तकाभिषेकपूर्वक प्रतिष्ठा कराकर कवि पद्मनाभ के द्वारा भुजबलिचरिते की रचना कराई है। भुजबलिचरिते में भी गोम्मटेश्वरचरिते के समान मूल-बिंब-प्रतिष्ठा एवं द्वितीय साधारण प्रतिष्ठा दोनों का विशद वर्णन अङ्कित है। यहाँ पर एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। वह यह है कि गोम्मटेश्वरचरिते की अपेक्षा भुजबलिचरिते का निर्माण बिंब-स्थापना-काल से कुछ कम अन्तर में हुआ है।

कारकल में जिस दाक्षाणी इम्मडि भैरवराय ने कवि चन्द्रम के द्वारा गोम्मटेश्वरचरिते की रचना कराई है, उन्होंने ही वेणूर में वीरतिम्मण्णाजिल के द्वारा स्थापित होनेवाली बाहुबलि-मूर्ति की स्थापना को रोक दिया था। बल्कि इसी विषय को लेकर उक्त दोनों शासकों में भारी युद्ध हुआ था और उस युद्ध में तिम्मण्णाजिल ही विजयी हुए थे।× भुजबलिचरिते में इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वेणूर में बाहुबलि-मूर्ति-स्थापित होने से अपनी राजधानी कारकल का महत्व घट जायगा, सिर्फ इसी ख्याल से इम्मडि भैरवराय ने वेणूर की

+ यह चारुकीर्ति मूडबिद्री-मठ के तत्कालीन मठाधीश हैं।

× देखें—'दक्षिणकन्नडजिल्लेय प्राचीन इतिहास' पृ० ३४० ।

बिंब-प्रतिष्ठा का विरोध किया था। यों तो इम्मडि भैरवराय भी धर्मात्मा व्यक्ति थे। खैर, अंत में धर्म की ही विजय हुई और बाहुबली की मूर्ति कारकल के समान वेणूर में भी समारोह के साथ स्थापित हुई।

अब विज्ञ पाठकों का ध्यान प्रस्तुत विषय पर आकर्षित करता हूं। भुजबलिचरिते में कवि पद्मनाभ ने तिम्मण्णाजिल को चामुण्डराय का वंशज बताया है। पर श्रीयुत गोविन्द पै के मत से यह चामुण्डराय श्रवणबेल्गोल में श्रीगोम्मटेश्वर की लोकविख्यात विशालकाय मूर्तिके संस्थापक, वीरमार्त्तण्डादि अनेकोपाधिविशिष्ट चामुण्डराय या चावुण्डराय नहीं है।×

इस भुजबलिचरिते में एक स्थान पर लिखा है कि 'तिम्मण्णाजिल ने बाहुबलि-मूर्ति का मस्तकाभिषेक कराने की तीव्र इच्छा से हस्तिनापुर से अपने यहाँ आये हुए विजयकीर्ति जी को आज्ञा-प्राप्ति के लिये केलदिय राजाओं के पास भेजा।' इससे मालूम होता है कि उस समय पञ्चम तिम्मण्णाजिल केलदिय राजाओं की ही अधीनता में वेणूर में शासन कर रहा था। इस भुजबलिचरिते से यह भी ज्ञात होता है कि वादीभसिंह ने चन्द्रप्रभपुराण की भी रचना की थी।

इसमें एक और नई बात दृष्टिगोचर होती है। वह यह है—वेणूर की गोम्मटेश्वर-मूर्त्ति के दक्षिण पार्श्व में स्थित संस्कृत शिलालेख में उत्कीर्ण है कि चामुण्डवंशज तिम्मराज ने श्रवणबेल्गोल के मठाधीश गुरु चारुकीर्ति के आज्ञानुसार शक १५२५ (ई० सन् १६०४) में इसे स्थापित किया।‡ किन्तु इस भुजबलिचरिते में प्रतिपादित है कि शक

× देखें—Antiquary Vol II, No. 2-3 में प्रकाशित लेख।

‡ श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादमोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥१॥
शकवर्षेष्वतीतेषु विषयाब्धिशरेन्दुषु।
वर्तमाने शोभकृति वत्सरे फाल्गुनाख्यके॥२॥
मासेऽथ शुक्लपक्षे द्वादश्यां गुरुपुष्यके।
सुलग्ने मिथुने देशिगणाग्रदिनेशतुः॥३॥
बेल्गुलाख्यपुरीपट्टवीराम्बुधिनिशापतेः।
चारुकीर्तिमुनेर्दिव्यवाक्याद्वेनूरपत्तने॥४॥
श्रीरायकुंवरस्याथ जामाता तत्सहोदरी।
पाण्ड्यकाख्यमहादेव्याः सुपुत्रः पाण्ड्यभूपतेः॥५॥
अनुजस्तिम्मराजाख्यश्चामुण्डान्वयभूषकः।
अस्थापयत् प्रतिष्ठाप्य भुजबल्याख्यकं जिनम्॥६॥

१५२४* में यहाँ मूर्ति स्थापित हुई। शिलालेख एवं चरिते दोनों में संवत्सर एक ही शोभकृत अङ्कित है। मास के स्थान में शिलालेख में फाल्गुन और चरिते में ज्येष्ठ उपलब्ध है। इसी प्रकार पक्ष आदि में भी दोनों में अन्तर पड़ता है। पता नहीं लगता है कि इन दोनों में ऐसा अन्तर क्यों पड़ा ?

इस चरिते में दो चार संस्कृत पद्य भी मिलते हैं। इनसे मालूम होता है कि कवि पद्मनाभ संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। उदाहरणार्थ यहाँ पर स्रग्धराछन्दबद्ध एक पद्य नीचे उद्धृत किया जाता है—

श्रीमान्नाभेयपुत्रं हरिततनुरुचिं पूर्वकामं सुनन्दा-
रामागर्भाब्धिचन्द्रं विमलगुणनिधिं किंपुरावासिनश्च।
श्रीमत्तिम्मावनीशप्रणतपदयुगं सर्वदुःखापहारं
भीमाघध्वान्तभानुं परमसुखमयं गोम्मटेशं भजेऽहं॥

अस्तु, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उपर्युक्त कवि चन्द्रम का गोम्मटेश्वर-चरिते एवं कवि पद्मनाभ का भुजबलिचरिते ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशनीय हैं। देखें, इस साहित्यिक-यज्ञ का यजमान कौन बनता है।

—के० भुजबली शास्त्री

(२)

काशिकाविवरणपञ्जिका का कर्त्ता कौन है ?

श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी ने 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' नामक अपने लेख में प्रकट किया है कि 'इस न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के नाम के साथ 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नाम की बौद्ध-पदवी लगी हुई है, इससे यह ग्रन्थ बौद्धभिक्षु का बनाया हुआ है। आश्चर्य नहीं जो वृत्तविलास कवि को पूज्यपाद के 'जिनेन्द्रबुद्धि' इस नाम-साम्य के कारण भ्रम हुआ हो और इसी से उसने उसे पूज्यपाद का समझ कर उल्लेख कर दिया हो।'

इसके उत्तर में आचार्य पूज्यपाद विरचित 'समाधितंत्र' की प्रस्तावना में श्रीयुत पं० जुगल किशोर जी मुख्तार यों लिखते हैं—

'परन्तु ऊपरके शिलालेखमें न्यासका स्पष्ट नाम 'शब्दावतार' दिया है और उसे काशिकावृत्तिका नहीं बल्कि पाणिनीयका न्यास बतलाया है, ऐसी हालतमें जब तक यह

* शरधिद्विबाणेन्दुसंख्येय शककालदुल्शुभकृतुसंवत्सरदोलु ॥
वरजेष्ठबहुलदशमिकशुक्रवारबन्धुरेवतितारेयलि ॥
स्थापिसिदनु भुजबलिस्वामियनु कीर्तिस्थापिसे वृषभदेवोगत्ति ॥

सिद्ध न हो कि काशिकापर लिखे हुए न्यासका नाम 'शब्दावतार' है और उसके कर्ताके नामके साथ यदि उक्त बौद्धविशेषण लगा हुआ है तो वह किसी की बादकी कृति नहीं है तब तक धर्मपरीक्षाके कर्ता वृत्तविलासको भ्रमका होना नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूज्यपाद-स्वामी गंगराजा दुर्विनीतके शिक्षागुरु (Preceptor) थे, जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है और उन्हें हेब्बूर आदिके अनेक शिलालेखों (ताम्रपत्रादिकों) में 'शब्दावतार' के कर्तारूपसे दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लेखित किया है।'

हाल ही में मुझे मूडबिद्री में 'महाधवल' का पता लगाते समय गुरुबसदि में इस पञ्जिका की ताड़पत्राङ्कित एक पुरानी प्रति देखने को मिली है। इस प्रति में यह तृतीय अध्याय के प्रथमपाद का प्रारंभिक अंश तक ही है। इसमें प्रत्येक पाद के अन्त में 'इत्याचार्यजिनेन्द्र बुद्धिविरचितायां काशिकाविवरणपञ्जिकायां......' मात्र है। कहीं भी 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नाम की बौद्ध-पदवी इसमें नहीं लगी है। इससे मेरे मन मेंयह विचार उठ खड़ा होता है कि बहुत कुछ संभव है इसके कर्ता आचार्य पूज्यपाद ही हों। इसमें निम्नलिखित तीन कारण हैं—

(१) अनेक प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्र आदि में पूज्यपाद का पाणिनीय-न्यास के कर्ता के रूप में उल्लेख किया गया है।

(२) कई प्रसिद्ध प्राचीन दि० जैन भाण्डारों में इस पञ्जिका की प्रतियाँ उपलब्ध हैं; जब कि प्रायः अन्य किसी बौद्ध ग्रन्थ की प्रति इनमें नहीं पायी जाती है।

(३) इस पञ्जिका के मंगल श्लोकों में एकत्र 'तरन्ति काशिकाम्भोधिं स जिनेन्द्रो जयत्ययम्' यह अङ्कित है।*

मुझे बौद्ध-साहित्य में अनेकत्र गौतमबुद्ध के पर्याय-नामों में 'जिन' शब्द देखने को मिला है अवश्य; परंतु 'जिनेन्द्र' शब्द कहीं भी नहीं मिला है। इसीलिये मैंने इस संबंध में बौद्ध-साहित्य के अधिकारी विद्वान् श्रीयुत आनन्द कौसल्यायन जी के पास सारनाथ को लिखा था। उत्तर में आप ता० १-२-४१ के अपने पत्र में यों लिखते हैं—'ऐसे स्थल तो मेरे ध्यान में नहीं आ रहे हैं जहाँ बौद्ध-साहित्य में कहीं जिनेन्द्र शब्द का प्रयोग आया हो। हाँ, जिन शब्द का प्रयोग अवश्य है।'

इसलिये अन्वेषक विद्वानों से मेरा सप्रेम अनुरोध है कि वे पञ्जिका के कर्ता के बारे में विशेष अनुसन्धान करने का अवश्य कष्ट करें। —के० भुजबली शास्त्री

* जयन्ति ते सदा सन्तः सर्वथा यैरुपार्जितम्।
गुणानां सुमहद्वृन्दं दोषाणाञ्च विमार्जनम्॥
अन्यतः सारमादाय कृतैषा काशिका यथा
वृत्तिस्तस्या यथाशक्ति क्रियते पञ्जिका तथा॥
यत्पञ्जिकानावमिमामासाद्य सुधियः सुखम्।
तरन्ति काशिकाम्भोधिं स जिनेन्द्रो जयत्ययम्॥

(३)

लेखकों से निवेदन

किसी भी हिन्दी पत्र में प्रकाशित किसी हिन्दी लेख को विना विशिष्ट हेतु के 'भास्कर' में उसी रूप में प्रकाशित करना हमें अभीष्ट नहीं है। इसलिये 'भास्कर' के माननीय लेखकों से सादर निवेदन है कि आप का लेख जब तक 'भास्कर' में प्रकाशित नहीं होता है, तब तक आप उसे अन्य किसी हिन्दी पत्र में न भेजें।

'भास्कर' एक पुरातत्व-संबंधी उच्चकोटि का पत्र है। अतः इसमें यथासंभव अप्रकाशित साहित्य को ही स्थान दिया जाता है।

आशा है, 'भास्कर' के इस आदर्श-सिद्धान्त से आप लोग भी सहमत होंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

समीक्षा

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)– मराठी-अनुवाद-सहित ; सम्पादक एवं प्रकाशक –नेमचन्द बालचन्द गांधी, वकील, धाराशिव : रॉयल पृ० ८४+५२२, मूल्य ५) रुपये ; शोलापुर १९३९ ।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तिकृत गोम्मटसार जैन-साहित्य-क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। अभी-अभी प्रकाश में आयी हुई धवला इत्यादि के विषयों का भी इस पुस्तक में समावेश है। प्रत्येक दृष्टि से ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण है। कर्मकाण्ड में प्रधानतया जैन-कर्म-सिद्धान्त की विशेषताओं की अत्यन्त मार्मिक ढंग या सूक्ष्मता से विवेचना की गयी है। उस मुमुक्षु के लिये, जो कर्म-सिद्धान्त का विशद अध्ययन करना चाहता हो अथवा मोक्ष के मार्ग को अधिक प्रशस्त एवं उन्नत बनाना चाहता हो, यह पुस्तक अनिवार्य है।

गोम्मटसार पर अनेक टीकायें निकल चुकी हैं। कर्मकाण्ड गाथा नं० ९७२ से पता चलता है कि चामुण्डराय ने, जिनके निमित्त गोम्मटसार संकलित किया गया था, इस पुस्तक पर एक देशी या कन्नड टीका तैयार की थी जिसका नाम 'वीरमार्तण्डी' है ; परन्तु इसकी कोई हस्तलिपि जहाँतक मुझे मालूम है, अब तक नहीं मिली है। एक दूसरी कन्नड टीका केशववर्णि-लिखित 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' है जो १३५९ ई० में समाप्त हुई थी। इसके उपरांत अभयचन्द्र की लिखी हुई 'मन्दप्रबोधिनी' नामक टीका हमारे सामने आती है जो संस्कृत में है। अभी तक केशववर्णी और अभयचन्द्र को परस्पर सम्बन्धित तिथियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया गया है। दूसरी 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीका नेमिचन्द्र जी की है जिनका जीवनकाल केशववर्णी के बाद आता है। अनेक विद्वानों का मत है कि यह टीका केशववर्णी की ही है परन्तु उनके इस कथन का मुझे कोई उचित प्रमाण नहीं मिलता। उपर्युक्त संस्कृत टीकाओं के आधार पर पं० टोडरमल-लिखित 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' हिन्दी में है। यह टीका-पुस्तक, 'रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला' द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवादों के लिये तथा जे० एल० जैनी एवं उनके अन्य सहकर्मियों द्वारा तैयार किये हुए अंग्रेज़ी अनुवाद के लिये, मुख्य पथ-प्रदर्शक रही है।

यह सर्वविदित है कि जैन समाज भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में अपनी भिन्न-भिन्न भाषाओं के साथ फैला हुआ है। ऐसे अनेक जैनी हैं जिनकी मातृ-भाषा मराठी है। प्रस्तुत समालोच्य पुस्तक धाराशिव-निवासी श्रीमान नेमचंद बालचंद गांधी-लिखित कर्मकाण्ड का मराठी संस्करण है जिसमें विषय का बड़ी सावधानी से अनुशीलन किया गया है। अपने ग्रन्थ में लेखक महोदय ने यह लिखा है कि किस प्रकार उन्होंने ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के

नेतृत्व में इस विषय का अध्ययन किया तथा फिर उसको मराठी में प्रकाशित कराया। विषय के प्रतिपादन में लेखक-प्रकाशक महोदय की विनय और सरलता विशेष प्रशंसनीय है। भाषा सरल है तथा विषय को सुबोध बनाने के लिये आवश्यक सूचीपत्र (Tables) भी दे दिये गये हैं। स्वाध्याय की सुविधा के लिये पूर्ण गाथायें अन्त में दे दी गयी हैं। विषयानुक्रमणिका एवं पारिभाषिक शब्दों की सूची दे देने से पुस्तक की उपादेयता विशेष बढ़ गयी है।

सेठ नेमचंद जी को इस प्रशंसनीय कार्य के लिये अनेकानेक धन्यवाद हैं। मराठी भाषा-भाषी जनता इस स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित शैली में लिखित मराठी-संस्करण के लिये उनकी चिर-आभारी रहेगी।

—ए० एन० उपाध्ये

प्रशस्ति-संग्रह

पं. के. भुजबली शास्त्री

इत्युक्तम्। इदं तु सूत्रं परमतनिराकरणचिकीर्षया पृथिव्यादीनां सर्वेषां पुद्गलादिजातिविशेषाणां प्रत्येकं रूपादिचतुष्टयं साधारणं स्वरूपमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं कृतम्। परमते हि स्पर्शरसगन्धवर्णवती पृथिवी। स्पर्शरसवर्णवत्यः आपः। स्पर्शवर्णवत्तेजः। स्पर्शवानेव वायुरिति चत्वारश्चैक्यगुणाः आत्यन्तरेण स्थिताः पृथिव्यादय इत्युक्तम्। तच्च युक्त्यानुपपन्नमिति स्वपक्षसाधनद्वारेण निराक्रियते। तथा ह्यापो गन्धवत्यः। तेजोगन्धरसवत्। वायुर्गन्धरसवर्णवान् स्पर्शनत्वात्पृथिवीपर्यायवदिति। एवमुक्तं तावद् युक्तिबलात्पृथिव्यादीनां पुद्गलपर्यायत्वं पुद्गलानां च स्पर्शादिसाधारणगुणत्वमिदानीमसाधारणपर्याययोगिनः पुद्गलानाह।

× × × × × ×

अन्तिम भाग—

इति यः सुखबोधाख्यां वृत्तिं तत्त्वार्थसङ्गिनीम्।
षट्सहस्रां सहस्रोनां विद्यात्संमोक्षमार्गवित् ॥१॥
यदत्र स्खलितं वात्र विद्वांसो देशशास्त्रयोः।
तद्विचार्यैव धीमन्तश्शोधयन्तु विमत्सराः ॥२॥
नो निष्ठीव्येन्न शेते वदति च न परं ह्येहि याहि तु याहि
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न नाशिनोद्ध ह्यैद्वानले (?)
नावष्टभ्नाति रेणुं निर्धिरिति ·······यो बद्धपर्यंकयोगः।
कृत्वा संन्यासमन्ते शुभगतिरभवत् सर्वसाधुप्रपूज्यः ॥३॥
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभवः सिद्धान्तपारङ्गतः।
शिष्यः श्रीजिनचन्द्रनामकलितश्चारित्रभूषान्वितः ॥
शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्याभवत्तत्त्ववित्।
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्तिः स्फुटम् ॥४॥

शशधरकरनिकरतारनिस्तलतरतलमुक्ताफलहारस्फुरत्तारानिकुरम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदारशरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघाति घनसंघातसकलविमलकेवलावलोकितसकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभावभावाभिधानसाधितस्वभावपरमतमहासैद्धान्तजिनचन्द्रभट्टारकस्तच्छिष्यपण्डितश्रीभास्करनन्दिविरचितमहाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां दशमोऽध्यायः समाप्तः।

वृत्तिगत प्रशस्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वृत्तिकार, पण्डितवर भास्करनन्दी के श्रद्धेय गुरु श्रीजिनचन्द्र भट्टारक हैं। परन्तु इस नाम के कई आचार्य और भट्टारक हो

गये हैं; इसलिये निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि भास्करनन्दी के गुरु जिनचन्द्र कौन हैं। श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी का अनुमान है कि सम्भवतः श्रवणबेलगोल के ५५वें शिलालेख में अंकित जिनचन्द्र भास्करनन्दी के गुरु हैं।* किन्तु यह केवल अनुमानमात्र है। इस बात को प्रेमी जी ने २२-१-४१ के अपने हाल के पत्र में भी स्पष्ट कर दिया है।

जिनचन्द्र नाम के एक और आचार्य हो गये हैं, जो 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के कर्ता पं० मेधावी के गुरु और शुभचन्द्राचार्य के शिष्य थे। यह शुभचन्द्राचार्य पद्मनन्दी आचार्य के पट्टधर थे और पाण्डवपुराण आदि ग्रन्थों के रचयिता शुभचन्द्र से पहले हो गये हैं। पं० मेधावी ने 'त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति' ग्रन्थ की दानप्रशस्ति में उनका विशेष परिचय दिया है।† इसी प्रकार एक भास्करनन्दी और हुए हैं, जिनका उल्लेख 'न्यायकुमुदचन्द्र' की वृत्ति में उपलब्ध होता है। यह नन्दिसंघ के आचार्य देवनन्दी के शिष्य एवं सौख्यनन्दी के प्रशिष्य हैं।‡ इस समय मेरे सामने और कोई सामग्री न होने के कारण तत्त्वार्थवृत्ति के रचयिता भास्करनन्दी के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने में मैं विवश हूँ। अस्तु, इसमें शक नहीं है कि प्रस्तुत तत्त्वार्थवृत्ति की प्रतिपादनशैली सुन्दर और सुगम है। भाषा की दृष्टि से भी यह वृत्ति प्रौढ़ है। वास्तव में इसका सुखबोध नाम अन्वर्थ है। वृत्ति लगभग पाँच हजार श्लोकों में है। इसकी प्रतिपादनशैली प्रायः राजवार्तिक से मिलती-जुलती है। राजवार्तिक से यह ग्रन्थ छोटा है अवश्य, फिर भी उसमें अनुपलब्ध कुछ वाक्य इसमें मिलते हैं।

बड़े हर्ष की बात है, ज्ञात हुआ है कि मैसूर-गवर्नमेन्ट-ओरियन्टल-लायब्रेरी की ओर से यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। इसके सम्पादक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रीमान् पं० शान्तिराज जी शास्त्री, मैसूर हैं। यों तो उक्त लायब्रेरी की ओर से अभी तक भट्टाकलंक का 'कर्णाटकशब्दानुशासन,' कविसार्वभौम पंप का 'आदिपुराण', नयसेन का 'धर्मामृत', जन्न का 'अनंतनाथपुराण' आदि कई महत्वपूर्ण कन्नड जैन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, परंतु संस्कृत ग्रन्थों में यह तत्त्वार्थवृत्ति ही सर्वप्रथम ग्रन्थ है। जैनसाहित्य-प्रकाशन के संबंध में मैसूर-सरकार जो उदारता दिखला रही है, उसके लिये जैन-समाज मैसूर-सरकार का अवश्य ऋणी रहेगा। मैं आशा करता हूँ कि उपर्युक्त मान्य शास्त्री जी के सहयोग से अब यह प्रकाशन-कार्य और द्रुत गति से चलेगा। अब मेरे मन में आशा

* देखें—'सिद्धांतसारादिसंग्रह' में 'ग्रंथकर्ताओंका परिचय'।

† यह 'प्रशस्ति' भवन में मौजूद है।

‡ देखें—'अनेकांत' वर्ष १, पृ० १३३।

का संचार हो रहा है कि, मैसूर-ओरियन्टल-लायब्रेरी को उदार एवं गुणग्राहिणी कमेटी तत्त्वार्थसूत्र की अन्य अप्रकाशित टीकायें (प्रभाचन्द्रकृत आदि), शाकटायनन्यास, शाकटायनमहावृत्ति, विद्यानुशासन, एकसंधिसंहिता, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्यायविनिश्चय-विवरण, सत्यशासनपरीक्षा, लोकविभाग, सिद्धान्तसारदीपक, द्विसंधानकाव्य की द्वि० जैन टीका, वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ, सटीक प्रायश्चित्तसमुच्चय आदि महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर भी अवश्य ध्यान देगी।

---

(४६) ग्रन्थ नं० $\frac{६३}{क}$

हरिवंशपुराण

कर्त्ता—यशःकीर्ति

विषय—पुराण

भाषा—अपभ्रंश

लम्बाई १२॥ इञ्च   चौड़ाई ८॥ इञ्च   पत्रसंख्या १२१

प्रारम्भिक भाग—

पयडियजयहंसहो कुणयविहंसहो।
भवियकमलसरहंसहो पणविविजयहंसहो॥
गुणगयणहंसहो कह पयडमि हरिवंसहो॥
जय विसह विसंकियविसयथाम।
जय अजिय अजिय हयकम्मपयाम॥
जय संभव भवतरुवरकुठार।
जय लोकनंदन परिसेसियकुणारि॥
सुमई सुमयपयडियपयत्थ।
जय पउमहिप्पहि णासियकुतित्थ॥
जय जय सुपास हयकम्मपास।
जय चंदप्पह ससितास तास॥
जय सुविहि सुविहिपयडणपवीण।
जय सीयल जिणवाणिपवीण॥

जय सेय सेयंकिय विगयसेय।
जय वासुपुज्ज तवजलहिसेय॥
जय विमल विमलगुणगण महंत।
जय संत दंत जिणवर अनंत॥
जय धम्म धम्मविसहरित ताव।
जय संति समियसंसारताव॥
जय कुंथु सुरकियमहुमयाणि।
जय अरि जिणचक्की सयलणाणि॥
जय मल्लि णिहयतिलोकमल्ल।
जय मुणिसुव्वय चूरिय तिमल्ल॥
जय णमि जिण विम्हहवकणोमि।
जय जहियराय रायमइणोमि॥
जय पास पापरजअयरबाल।
कुल गयणि दिणेसरा सुरणिम्महियमाण॥
जय वीर विहाम्मियणयपमाण।

× × ×

मध्य भाग (पृष्ठ ५४, पंक्ति ४)—

मर्व्वज्ञस्य पदांभोजे सर्व्वदा भ्रमरायते।
भातृ पुर्ममं माधु (?) धोटाख्यो नंदतां चिरं॥
स अगाहे वासरे उग्गइणो सरे।
पंडु महाउववि‌ट्ठउ ता पक्के दूणं सविणयभूयं॥
करमउलेप्पुण दिट्ठउ विणवय सो जि भो णिसुणि देव।
मंडलिणार णाहहि विहिय सेव माय दिणयरि
पहु दुमहु राउ पिय सुन्दरि।
देवहि वद्धराउ हं पेम्मिउ तुम्हहं पासु तेण॥
णिसुणहुं आयउ कज्जो ण जेण।
दुमयहो सुय दीवइ अय विणीय
कवेण पीइ मीलेण सीय पाणहं वल्लहं जणमणहं इट्ठ
सिंगारु करंति णवेण दिट्ठि
जोवणवंति य जाणो विराउ

परिणावमि यहेह बहु भाउ
णोमितिय वयणो णउ चलेइ
ओपहावे हूय तासु देह
अमंतिय णारवइ सव्व आय
तुम्हह आएसिय आम्हि राय
णिय णंदणु लेप्पिणु वेइ चलहु
पहु अणुमतु मा किंपि करहु
वणाहरणहि पुज्जियउ दूउ
दुमयहे सहाए जो सारभूउ
पुणु पंडवियरु सरसुह विचारु
चल्लिय कुंतियणो सिय सपरकु
पंडय कुमारयंत्रि पाई संपता सम्माणियइ ताइं

× × ×

अन्तिम भाग—

दिवढा जसमुणि पत्थय विणुवि ।
फाणविउ हरिवंस चरित्तु वि ॥
जामहिणहु सायरु चंदु दिवायरु।
ताणंदउ दिवढाहु कुलु जे विणाहु हि चरियउ कुरुवं सहंसहियउ
काराविउ हयपावमालु ॥२२॥

इय हरिवंस पुराणे कुरुवंसाहिट्ठिए बिवुहचित्ताणुरंजणे ।
सिरि गुणकित्तिसीसमुणिजसकित्तिविरइये ॥
साहु दिवढा णाम किए णेम णांह जुधिष्ठिर भीमज्जुण णिव्वाण गमणं ।
णिकुल सहदेव सव्वट्ठ सिद्धिगमणवण्णोते रह सो सग्गो

समत्तो ॥ संधि ॥

इस हरिवंशपुराण के रचयिता, गुणकीर्ति के शिष्य यशःकीर्ति हैं। श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में गुणकीर्ति नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख उपलब्ध है अवश्य, परन्तु उन लेखों में इनका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। इस नाम के और भी कई व्यक्ति हो गये हैं, किन्तु हरिवंश-पुराण के कर्त्ता इन यश.कीर्ति से उनका सम्बन्ध देखने में नहीं आता। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक गुणकीर्ति ही हरिवंश-

पुराण के प्रणेता यशःकीर्त्ति के गुरु हैं। इसी प्रकार यशःकीर्त्ति नाम के भी अनेक व्यक्ति हो गये हैं; जैसे—एक गोपनन्दी के शिष्य,* दूसरे धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार ललितकीर्त्ति के शिष्य। सारांश यह है कि इस हरिवंश-पुराण के रचयिता यशःकीर्ति का या उनके गुरु गुणकीर्त्ति का विशेष परिचय मुझे प्राप्त नहीं हो सका, इसलिये उनके सम्बन्ध में यहाँ पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सका।

---

(५०) ग्रन्थ नं० ६६/क

नेमिपुराण

कर्त्ता—ब्रह्मचारी नेमिदत्त

विषय—उपदेश

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२ इञ्च *चौड़ाई ६॥ इञ्च* *पत्रसंख्या १६७*

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमन्नेमिजिनं नत्वा लोकालोकप्रकाशकम्।
तत्पुराणमहं वक्ष्ये भव्यानां सौख्यदायकम् ॥१॥
नमद्देवेन्द्रमौलीनां लसत्कान्तिसरोजले।
यस्य पादद्वयं प्राप प्रोल्लसत्कमलश्रियम् ॥२॥
सर्वसौभाग्यसन्दोहः सर्वशक्रसमर्चितः।
योऽभवत्सर्वसौख्यानां कारणं भव्यदेहिनाम् ॥३॥
यस्य नामस्मृतिश्चापि करोति परमं सुखम्।
प्रभा वा भास्करस्योच्चैर्विकाशं कमलाकरे ॥४॥
तं नमामि जगत्सारं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्।
नेमिनाथं महाभक्त्या तत्पुराणप्रसिद्धये ॥५॥
वन्दे श्रीवृषभाधीशं सुराधीशार्चितक्रमम्।
येनाभ्यधायि सद्धर्मो विनेयानां विनाश्रमम् ॥६॥

* देखो—'जैनशिलालेखसंग्रह'।

अजितं जितकन्दर्पं तं नमामि जगद्धितम् ।
यो जितो नैव पूतात्मा रागद्वेषादिशत्रुभिः ॥७॥
सम्भवं भवसन्तापसन्दोहक्षयकारकम् ।
वन्देऽभिनन्दनं देवं देवदेवाधिनायकम् ॥८॥
संस्तुवे सुमतिं देवं भव्यानां सुमतिप्रदम् ।
पद्मप्रभं प्रभाधीशं प्रसिद्धमहिमास्पदम् ॥९॥
श्रीसुपार्श्वं जगत्सारं सम्पदां शर्मसाधनम् ।
चन्द्रप्रभं प्रभासारं सर्वसंक्लेशनाशनम् ॥१०॥
पुष्पदन्तं लसत्कुन्दपुष्पसत्कान्तिसुन्दरम् ।
वन्देऽहं शीतलं देवं शीतलोत्तमवाग्भरम् ॥११॥
श्रेयोजिनं नमाम्युच्चैः सारश्रेयोनिबन्धनम् ।
वासुपूज्यं जगत्पूज्यं प्रबुद्धकमलाननम् ॥१२॥
नमामि विमलाधीशं केवलज्ञानभास्करम् ।
वन्देऽनन्तजिनं भक्त्यानन्तानन्तसुखाकरम् ॥१३॥
धर्मं सद्धर्मतीर्थेशं सुरासुरसमर्चितम् ।
शान्तिनाथं भजाम्येतं सर्वभव्यैकसम्मतम् ॥१४॥
वन्दे कुन्थुजिनाधीशं कुंथ्वादौ च दयास्पदम् ।
अरं देवं सदा वन्दे सारं मारत्मापदम् ॥१५॥
मल्लिं मोहारिमन्मल्लं वन्दे निःशल्यधामकम् ।
सुव्रतं तं नमाम्येतं मुनिसुव्रतनायकम् ॥१६॥
श्रीनेमिं संस्तुवे देवं नमद्देवेन्द्रसंस्तुतम् ।
नेमिनाथं जगन्नाथं वन्दे सर्वामरार्चितम् ॥१७॥
प्रसिद्धमहिमासारं पार्श्वनाथं जिनेश्वरम् ।
वन्दे श्रीवीरतीर्थेशं वीरवीरं सुखाकरम् ॥१८॥
एते तीर्थकराधीशाः सर्वदेवेन्द्रवन्दिताः ।
सन्तु मे शान्तिकर्त्तारश्चान्ये कालत्रयोद्भवाः ॥१९॥
त्रैलोक्यशिखरारूढाः सिद्धाः संसारपारगाः ।
ते मे नित्यं समाराध्याः सन्तु सत्कार्यसिद्धिदाः ॥२०॥
वन्देऽहं भारतीं जैनीं जगद्ध्वान्तविनाशिनीम् ।
भासिनीं सर्वतत्त्वानां भानुभामिव निर्मलाम् ॥२१॥

रत्नत्रयपवित्राणां मुनीनां शर्मकारिणाम् ।
पादाम्भोजद्वयं वन्दे संसाराम्बुधितारणम् ॥२२॥
शुद्धश्रीमूलसङ्घाख्ये प्रोत्तुङ्गोदयभूधरे ।
भानुर्भट्टारकः स्वामी जीयान्मे मल्लिभूषणः ॥२३॥
× × × ×

मध्यभाग—(पूर्व पृष्ठ ७१, पंक्ति ११)*

गारुडोपलपत्रौघैः प्रसूनैः पद्मरागजैः ।
बभौ चैत्यद्रुमो नित्यं भव्यानां चित्तरञ्जकः ॥
तत्पुष्पप्रचुरामोदसंसक्तभ्रमरारवैः ।
सन्तोषाच्चैत्यवृक्षोऽसौ चक्रे वा संस्तुतिं प्रभोः ॥
महाघंटानिनादेन घोषयन्निव निर्मलम् ।
मोहारातिजयाज्जातं यशो नेमिजिनेशिनः ॥
ध्वजांशुकैरशोकोऽसौ पवनान्दोलितैर्मुदा ।
स्फेटयन् वा बभौ गाढं जनानां पापसञ्चयम् ॥
× × × ×

अन्तिम भाग—

गच्छे श्रीमतिमूलसंघतिलके सारस्वतीये शुभे
विद्यानन्दिप्रपट्टशुभ्रकमलोल्लासप्रदो भास्करः ।
ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा चारित्रचूडामणिः
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्जीयात् सतां भूतले ॥
प्रोद्यत्सम्यक्त्वरत्नो जिनकथितमहासप्तभंगीतरंगै-
र्निर्धूतैकान्तमिथ्यामतमलनिकरक्रोधनक्राद्विदूरः ।
श्रीमज्जैनेन्द्रवाक्यामृतविशदरसः श्रीजिनेन्द्रप्रवृद्धिः
जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥
मिथ्यावादांधकारक्षयकरणरविः श्रीजिनेन्द्राङ्घ्रिपद्म-
द्वन्द्वे निर्द्वन्द्वभक्तिर्जिनगदितमहाज्ञानविज्ञानसिन्धुः ।
चारित्रोत्कृष्टभारो भवभयहरणो भव्यलोकैकबन्धुः
जीयादाचार्यवर्यो विशदगुणनिधिः सिंहनन्दी मुनीन्द्रः ॥

* मध्य भाग और अन्तिम भाग भवन की १११/ख नं० वाली प्रति से ली गई है, क्योंकि प्रस्तुत प्रति बहुत अशुद्ध है ।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ७—वि० सं० १९९७, वीर० सं० २४६७

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४०

विषय-सूची

ग्रन्थमाला-विभाग

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VII JUNE, 1941. No. I.

Edited by
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt
Babu Kamta Prasad Jain, M. R. A S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA

Annual Subscription
Inland Rs. 3. Foreign 4 s. 8 p. Single Copy Rs. 1-8.

CONTENTS.

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

Vol. VII No. I | ARRAH (INDIA) | June 1941

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A Chakravarti, M A., I.E.S.

Continued from Vol VI, No. II, page 42,

The 4th chapter Mokkalavādacarukkam is devoted to Neelakēśi's challenge to this Buddhistic teacher Mokkala. Mokkala in his turn is defated and made to acknowledge the rival faith. This is one of the biggest chapters in the book because of the important Buddhistic doctrines which are discussed in detail in this chapter. Hence Mokkala himself sends Neelakēśi to the very founder of Buddhism. Hence the fifth chapter Buddhavādacarukkam represents the meeting of Neelakēśi and Buddha for the purpose of discussion. Buddha himself is made to realise that his doctrine of Ahiṁsā is not observed in spirit by his followers. He is made to realise that mere lip service to Ahiṁsā is not a satisfactory doctrine of religion, where finally he himself is made to acknowledge the unsatisfactory nature of his religion which must be recast to keep the spirit of Ahiṁsā. Thus, next to the introductory chapter, 4 chapters are devoted to this discussion of Buddhism. Then the other Darśanas are introduced in succession.

The 6th chapter is devoted to Ājīvaka religion. The chapter is called Ājīvakavādacarukkam. The founder of Ajīvaka religion was a contemporary of Mahāvīra and Gautama Buddha. In outward

appearance Ājivakas resembled Jaina Nirgranthas. But in the matter of religion they differed very much from both the Jainas and the Buddhists. Though the contemporary Buddhistic writers made no mistake about the identity of Ājivakas, later Indian writers very often made the mistake of confounding them with the Digambara sect of Jainas. In this chapter on Ājivakas the author of Neelakēśi distinctly warns the reader against any such confusion and emphasises the fundamental doctrinal differences between the two sects.

The 7th chapter is devoted to an examination of the Sāṅkhya schools. Hence it is called Sānkhyavādacarukkam.

The 8th chapter is devoted to the examination of Vaiśeṣika Darśana. The author carefully brings out the points of resemblance between the Jaina and non-Jaina Darśanas in philosophical matters always keeping before his mind's eye his own fundamental concept of Ahiṁsā.

The 9th chapter is devoted to the cxamination of Vedic ritualism, hence called Vedavādacarukkam In this section there is not only a criticism of Vedic ritualism involving animal sacrifice but also a critical examination of Varṇāśrama Dharma based upon Vedic ritualism. The author tries to argue that the social differences based upon birth, have no significance in the spiritual field, and hence are altogether without any importance to religion. From the point of view of religion the only difference to be noted among the human beings is the difference based upon character, culture and spiritual discipline.

The last or the 10th chapter is devoted to the examination of the materialistic school usually called Bhūtavāda. Hence the chapter is called Bhūtavādacarukkam. Here the discussion is mainly devoted to the establishing the reality of a spiritual principle beyond materialistic conglomoration of the world. The author tries to emphasise that consciousness or Cetanā is an independent spiritual principle and not a mere secondary by-product of the combination of material things, an independent spiritual principle which is recognised as an entity surviving the disintegration

of the material element with which it is associated in the life of the individual. Thus the main theme of this chapter is the survival of human personality after death. This Neelakēśi demonstrates to the leader of the materialism who readily accepts his mistake and acknowledges that there are more things not dreamt of in his philosophy. Thus ends the work after vindicating first the reality of the spiritual principle, the human personality, and secondly the supremacy of the religious doctrine based upon Ahiṁsā. Thus Neelakēśi completes her life-task which she is intended to be a thanks-offering to her Guru from whom she learnt the fundamental principles of religion and philosophy which she adopted as her own, though she as a Goddess had been revelling in animal sacrifice. Thus we see that Neelakēśi is mainly a controversial work intended to vindicate the reality of the soul against materialism, the nobility of Ahiṁsā against Vedic ritualism, and the dietetic purity of vegetarianism against the Buddhists who preached Ahiṁsā and practised Hiṁsā.

We know absolutely nothing about the author of the text though we know that the commentary is written by Vāmana Muni. Since there are references to Kuraḷ and Nālaḍiyār in this work, it must be later than the age of Kuraḷ. Since it is intended as an answer to Kuṇḍalakēśi it must certainly be later than Kuṇḍalakēśi.

Since we know nothing about Kuṇḍalakēśi itself we cannot build much on this information. All that we can say is that it is one of the very early classics in Tamil literature. It contains 894 stanzas on the whole. This text is certainly very useful to students of Tamil leterature in exhibiting several rare grammatical and idiomatic usages, and archaic terms in which the work abounds.

Two other minor Kāvyas which are still lying in obscurity in palm-leaf manuscripts are (4) Udayana Kāvya and (5) Nāgakumāra Kāvya. The former, as its name suggests, relates to the life of Udayana, the works of Vatsa prince of Kauśāmbī. Since they are not published, we cannot say much about them.

There is another Tamil classic dealing with story of Udayana. Probably this is not one of the minor Kāvyas. Judging by the

volume of matter and the metre employed in this work it is probably an independent work not included in any of the traditional lists. It is made available to the Tamil reader by that indefatigable worker in the cause of Tamil, Dr. Swaminatha Ayyar, whom we have already referred to. This work Perunkathai probably was named after Bṛhat Kathā of Guṇāḍhya written in what is known as Piśācabhāṣā, a Prākrit dialect. The author is known as Koṅguvēḷ, a prince of Koṅgu Dēśa. He lived in Vijayamānagar, a place in Coimbatore District where there were a number of Jainas in former days. This work is quoted by several famous commentators in Tamil, to illustrate the grammatical and idiomatical usages in Tamil literature. The book now published unfortunately is incomplete. The editor with all his attempts was not able to obtain the missing portions in the beginning as well as at the end of the work. Instead of waiting indefinitely, it is good that the work is published though incomplete. From Guṇāḍhya's Bṛhat Kathā which contains a lot of other stories the author of Tamil Perunkathai has taken only the portions relating to the life af prince Udayana. The story consists of 6 main chapters. Uñjaik-Kāṇḍam, Lāvāṇak-Kāṇḍam, Maghadak-Kāṇḍam, Vattava Kāṇḍam, Naravāṇa Kāṇḍam and Thuravu Kāṇḍam, all relating to the rich life of Udayana. Udayana was the son of Śatānīka of the Kuru dynasty who ruled over Kauśāṁbī. Śatānīka's queen was one Mṛgāvatī. When she was in an advanced state of pregnancy she with her attendants was playing in the upstairs of her palace. She had herself and her attendants and the whole background adorned with plenty of red flowers and red silk clothes. After play she fell asleep on her cot. The most powerful bird of Hindu mythology 'Śarabha' mistaking the place to be strewn with raw flesh on account of the red flowers strewn across carried away the cot with Mṛgāvatī sleeping on it to Vipulācala. When Mṛgāvatī woke up she was surprised to find herself in strange surroundings. The bird which carried her there realising that what she carried was not a mass of flesh but a live human being, went away leaving her there. Just at that moment she gave birth to a son, the future Udayna. To her welcome surprise there was her father Cēṭaka, who, after renouncing his kingdom, was spending his time there as a Jaina

Yogin. When he heard the cries of the baby he went there and found his daughter Mṛigāvatī. Since the child was born about sunrise he was named Udayana. On the same hill Vipulācala there was living one Brāhmaṇa Ṛiṣi Brahmasundara with his wife Brahmasundarī. Ceṭaka Muni, the father of Mṛigāvatī, placed his daughter and her child in the care of Brāhmaṇa Muni where they were looked after as members of his own family. This Brāhmaṇa Ṛṣi had a son by name Yūgi; and Yūgi and Udayaṇa became very intimate friends from the childhood which friendship lasted through their life. After some time Ceṭaka Muni's son who was ruling over his kingdom after his father's abdication, himself wanted to renounce it and wanted to become a Tāpasa. He went to his father to appraise of his intention, met there the beautiful youth Udayana whose identity was revealed by the grandfather. When Udayana was known to be his sister's son he was gladly taken back to the city to rule over his grandfather's kingdom. He took with him his playmate and friend Yūgi who was always of great help to him throughout his career. While he was living with his foster-father Brahmasundara Muni he was taught by that Brāhmana Ṛṣi a valuable Mantra with the help of which even the most violent mad elephant could be made as quiet and harmless as a sheep. He also had as a gift from the same Brāhmaṇa Ṛṣi a divine musical instrument whose notes would subdue and tame even the wildest of elephants. With the help of this Mantra and the musical instrument, while living in the forest Āśrama, he once subdued a famous elephant which afterwards was known to him to be a divine one and capable of immense service to him for several years. When Udayan went to Vaiśāli, his grandfather's place, he took with him not only Yūgi, his playmate and friend, but also this elephant who was willing to serve the prince Udayana. While Udayana was thus ruling at Vaiśāli his father Śatānīka who was in great sorrow because of the loss of Mṛgāvatī, after searching for her in various lands went to Vipulācala where he discoverd his queen under the protection of her father. With the permission of her father she was taken back to Kauśāmbī by Śatānīka. After some time Udayana inherited his father's kingdom also and thus he was the lord of both Kauśāmbī and Vaiśāli. Then begin the real adventures of Udayana. By carelessness he loses the divine elephant. He roams about in the forest with

his Veeṇā in hand in search of his elephant. Just then the emperor of Ujjain, Prachchodana by name sends messengers to collect tribute from the kings of Vatsa and Kauśāmbi. His minister Śālankāyana advises him to desist from such an adventure and asks him to wait for a better opportunity. When Udayana is roaming about in the forest, which is the best time to capture Udayana as a prisoner, Prachchodana sends a machine in the form of an elephant within which are hidden soldiers with weapons. This mechanical elephant, like the Trojan horse, is taken to the forest in which Udayana is searching for his lost elephant. Imagining that it is some wild elephant Udayana approaches this machine elephant and suddenly soldiers jump out of its body and capture Udayana a prisoner. He is taken as a captive to Ujjain. While he is kept as a prisoner for some time, his friend and minister Yūgi learning that prince Udayana is kept as a prisoner by the king of Ujjain makes up his mind to somehow release him from imprisonment and to punish the king of Ujjain for his impertinence. So he goes there in disguise with other friends and lives in the outskirts of Ujjain, waiting for his better time. While in disguise he informs Udayana secretly his presence in Ujjain and promises him that very soon he would be released. To create an opportunity he with the help of his friends used the Mantra to make the royal elephant mad and uncontrollable. The elephant breaks loose the chains and rushes into the streets of the city causing tremendous damage on its way. No one is able to control him. Then the king Prachchodana learns from his minister Śālankāyana that the only person who is able to control such a wild elephant is Udayana who is kept in prison. The king sends for him immediately, and promises him freedom if he will only control the wild mad elephant. Udayana with his musical instrument makes the mad elephant as tame as a cow and thus pleases the king very much. Udayana obtains his freedom and is kept by the king of Ujjain as a musical instructor to his daughter Vāsavadattā. With the help of his minister Yūgi, Udayana who wins the heart of Vāsavadattā manages to run away from the capital carrying Vāsavadattā with him on the back of the elephant Nalagiri. Thus ends the first chapter called Uñjaik-Kāṇḍam narrating the adventures of Udayana in the city of Ujjain.

The next chapter is called Lāvāṇa Kāṇḍam because it pertains to the incident in Udayana's life in the city of Lāvāṇa. After his escape from Ujjain Udayana reaches Lāvāṇa, one of the cities in his own kingdom. Here he marries Vāsavadattā and makes her his queen. In his attachment to his beautiful wife, he forgets and completely neglects his duties as a king. This is not liked by his friends who realise there is much to do yet; because during the absence of Udayana as a prisoner in Ujjain, his kingdom was captured by the ruler of Pañcāla who was not friendly disposed towards the kingdom of Kauśāmbi. Hence Yūgi arranges to separate Vāsavadattā from her husband Udayana. By a clever trick he makes Udayana believe that his whole palace is burnt to ashes and the queen Vāsavadattā is also burnt to death. Before setting fire to the palace Vāsavadattā with her attendant is taken away through an underground passage to a safe place where they are kept in concealment These are some of the important items of Udayana's life narrated in the second chapter.

The third chapter Magadha Kāṇḍa deals with Udayana's adventures in Magadha Deśa. Udayana was very much dejected because of the loss of the queen Vāsavadattā and goes to Rājagṛha, the capital of Magadha, for the purpose of winning back the supposed dead wife Vāsavadattā through the help of a great Yogin who is reputed to be able to revive even dead persons with the help of Mantra. There he happens to meet the Magadha king's daughter Princess Padmāvatī. At the first sight they fall in love with each other. Udayana who is living in disguise as a Brāhmaṇa youth manages to win princess Padmāvatī completely and thus has a Gāndharva Vivāha with her without the knowledge of the king. While so living in disguise Rājagṛha was surrounded by enemies. Udayana manages to defend the city against the enemies with the help of his friends and thus manages to win the confidence and gratitude of the Magadha emperor. Finally Padmāvatī, the king's daughter, is given in marriage to Udayana; and he was living happily in Rājagṛha with this queen Padmāvatī.

Then begins the fourth chapter called Vattava Kāṇḍam. This refers to Udayana's reconquest of his own Vatsa kingdom with the help of his father-in-law, the king of Magadha. There he is welcomed by his old people who had the bitter taste of the tyranny of the Pāñcāla king. Thus securing the confidence of his subjects he settles down in his own kingdom Vatsa Dēśa, living happily with his queen Padmāvatī. One day he dreams of meeting Vāsavadattā and this dream revived his attraction to his former queen Vāsavadattā. In the meanwhile, his friend Yūgi who always comes to his rescue in difficulties appears before the gates of Rājagṛha with Udayana's former queen Vāsavadattā. Udayana was delighted to meet his wife whom he supposed to be dead and takes her to his palace with the consent of Padmāvatī and is living happily in Rājagṛha with his two wives.

While he was spending his life happily with his two queens, Vāsavadattā and Padmāvatī, he happens to meet Mānanīkā, the beautiful young playmate of the queens. He falls in love with this stranger and arranges with her secretly to meet at an appointed place in the night. Vāsavadattā comes to know of this, and imprisons Mānanīkā and herself dressed in disguise as Mānanīkā waits for the appearance of Udayana according to the appointment Udayana is received coldly by Vāsavadattā in disguise when Udayana imagining her to Mānanikā, her lady-love, begs her in various ways to accept him. Then Vāsavadattā discovers herself to the chagrin of Udayana who escapes back to the palace just about the time of dawn. Early morning Vāsavadattā sends for Mānanikā in order to punish her for her impudence in aspiring for the king's hand. In this excitement a messenger from the king of Kośala brings a letter to Vāsavadattā In this letter the king of Kośala narrates the story of his sister who was carried away as a captive by the Pāñcāla king, of how she was released with a number of attendants by Udayana when he reconquered the country by defeating the king of Pāñcāla and how she was got as an attendant to Vāsavadattā herself with an assumed name Mānanīkā and finally requesting Vāsavadattā to treat this Kosala princess with kindness and consideration becoming her status. When

Vāsavadattā reads this letter, she apologises to Mānanikā for her conduct and restores her to the status and position fitting the princess. Finally Vāsavadattā herself arranges for her marriage with Udayana who is found to be in love with this Kośala princess.

The fifth chapter deals with the birth of a son and heir to Udayana. After some time the queen Vāsavadattā gives birth to a son called Naravāṇadatta. Even before his birth astrologers predicted of his greatness and that he would become an emperor of Vidyādhara kingdom though born in an ordinary Kshatriya family. In course of time this Naravāhana inherited from his father Kauśāmbi and Vatsa kingdoms and from his grandfather Vidyādhara kingdom of Ujjain. In due course his father Udayana renounces the world and becomes an ascetic devoting his time in meditation and Yoga. This Udayana's renunciation forms the subject-matter of the 6th and the last chapter of this Tamil classic Peruṅkathai.

Merumandira Purāṇam: --This Merumandira Purāṇam is an important Tamil classic though it is not included in the category of Kāvyas. It resembles in excellence of literary diction the best of Kāvya literature in Tamil. It is based upon a Purāṇic story relating to Meru and Mandira. The story is narrated in Mahāpurāṇa as having taken place during the time of Vimala Tīrthaṅkara. The author of this Merumandira Purāṇam is one Vāmana Muni who is the same as the Vāmana Muni the commentator of Neelakēśi. This Vāmana Muni lived about the time of Bukkarāya about the 14th century. In this also the story is used as a framework for expounding important philosophical doctrines relating to Jainism.

The story is connected with the city of Vītaśoka, the capital of Gandhamālinī in Videha Kshetra. The name of the king who ruled over this country was Vaijayanta, his queen Sarvaśrī. He had by this queen two sons Sañjayanta and Jayanta. The eldest Sañjayanta, heir to the throne, was married to a princess by whom a son was born to him called Vaijayanta after the grand-father. The old king

who now had his namesake grandson thought it better to abdicate the kingdom in favour of his son, himself desiring to enter Tāpasa Āśrama as a Yogin. But his two sons did not care much about the royal splendour and hence expressed their desire to renounce the kingdom and follow their father. Thus the grandson Vaijayanta was made the king and the three, father and two sons, adopted asceticism and went to spend their life in Yoga. While the three were engaged in penance the father Vaijayanta because of his success in Yoga soon managed to get rid of his Karmas and became a Sarvajña. As it is usual at such times all Devas assembled there to offer worship at the feet of this Jīvan-Mukta. Among those assembled there was a beautiful Deva, Dharaṇendra by name, who appeared with all his divine paraphernalia. The younger brother Jayanta who was also engaged in penance noticed this beautiful Deva and desired to become one like him in his next birth As a result of this desire and also as the fruit of his incomplete Yoga he soon became a Dharaṇendra himself. But the elder brother Sañjayanta continued his Tapas without any wavering even after his father's attainment of Mukti. While he was thus engaged in Tapas, a Vidyādhara who was going in his own Vimāna in the sky noticed this Yogin beneath. He also noticed that his Vimāna would not cross beyond the region where this Yogin was standing. This roused his anger. He picked up this Yogin, Sañjayanta Bhaṭṭāraka, and carried him to his own land. Dropping him in the outskirts of his country he told his people that Sañjayanta was their enemy and instigated all his countrymen, the Vidyādharas, to treat this Yogin in all possible forms of cruelty. These Vidyādharas in ignorance ill-treated this Mahāmuni as bid by the wicked Vidyādhara, Vidyuddanta. In spite of these cruelties the Yogin did not lose his meditation. Nor did he get angry at the enemies who did all this in ignorance. As a result of this supreme spiritual isolation and peace in the midst of sufferings caused by his enemies he attained Samādhi. On account of this spiritual victory he was in his turn surrounded by Devas for offering him adoration and worship. In the midst of these Devas was found his own brother the new Dharaṇendra. This young Deva Dharaṇendra noticed that his elder brother was cruelly

treated by the Vidyādharas who were still there staying in dismay at the wonderful sight of the Devas gathered there to offer service and worship to their former victim Sañjayanta Bhaṭṭāraka, and he was in a rage. He wanted to bundle up all these Vidyādharas and cast them in a body into the ocean as a reward for their mischief. But all the Vidyādharas openly confessed their mistake and appealed to him for mercy, for it was all due to the mischevous instigation of their leader Vidyuddanta and not of their own free will. Hence Dharaṇendra forgave them all. He would not let go this wicked Vidyuddanta without proper punishment. Hence he went to bind this one wicked fellow at least for the purpose of ducking him to the sea. Just then one of the Devas assembled there, Ādityāpadeva, advised this young Dharaṇendra not to do any such thing. Dharaṇendra in reply said 'How could I brook the suffering inflicted on my brother by this wicked fellow, and how could I accept your advice even in the presence of inexcusable evil?" To which Ādityāpadeva replied: 'In this spiritual realm evil is not to be requited with evil. You attach so much importance to your relationship, to your brother. But if you would only know the inter-relationship that you had in your previous births you would clearly realise the silliness in emphasising one particular relation in a long chain of multifarious relations that one has in series of births. Further hatred and love are important factors in determining the future births; the former gives a bad turn and the latter a good turn to one's future. Hence I would advise you not to worry yourself about this wicked Vidyādhara Vidyuddanta Even the Yogin Sañjayanta who had to suffer so much pain at the hands of this wicked person had forgiven him because all this was done in ignorance. Hence why should you bind yourself with Karma created of hatred by attempting to punish this wicked Vidyādhara?" Hearing this advice from his friend Ādityāpadeva, Dharaṇendra, requested him to give more details about his previous births. Ādityāpadeva narrated the following story for the edification of Dharaṇendra. There was a king named Siṁhasena ruling over Siṁhapura. He had a queen named Rāmadattā Devi. His minister was one Śrībhūti who was also called Satyaghoṣa because of his honesty and truth-speaking. Just about that time there was

a merchant, by the name Bhadramitra, belonging to another land. He went out to Ratnapura with his ship-load of goods, returned with an enormous quantity of wealth in the form of jewels and precious stones. This Bhadramitra visited Siṁhapura on his way. Seeing the prosperity and the beauty of the town, hearing the good nature of the king and his minister, he made up his mind to settle down in that city Siṁhapura Hence he wanted to go to his native place to bring all his people to this city. In the meanwhile, he thought of leaving all his wealth obtained by the sea-borne trade in the safe custody of some one in the city. He could not think of anybody except the minister Satyaghoṣa. He went and told him of his resolution to settle down in this beautiful city of Siṁhapura and requested him to keep in his safe custody the several jewels and precious stones which he had with him. The minister Satyaghoṣa consented to this. A box containing jewels was deposited with the minister and the merchant-prince went to his native place for the purpose of returning with his relations and friends. In the meanwhile, even the honest minister Śrībhūti, at the sight of valuable precious stones deposited with him by the merchant, became covetous. He wanted to misappropriate the whole thing for himself. Hence when the merchant returned to Siṁhapurī, he bought for himself a palatial building for his residence. Leaving his people there, he went to the minister to get back his jewels. But Bhadramitra found the minister Satyaghoṣa completely changed. Instead of gladly returning the casket containing the jewels, Satyaghoṣa treated the merchant as an utter stranger as if he had not heard anything of him before and denied all knowledge of the casket of the jewels. This completely upset the poor merchant, and he went about the streets crying of this injustice and begging for help. Nobody in the town would believe anything against the minister, Satyaghoṣa, because he was famous for his integrity and honesty. Naturally people thought that this foreign merchant was a mad fellow falsely accusing the minister of misappropriation. But this merchant Bhadramitra even in his ravings was quite consistent, which consistency could not be associated with any mad man. Hence the queen was attracted by this merchant's cries. She made inquiries and found to her surprise that the minister was really a culprit.

But as there was no evidence for the deposit of the casket with him: nobody would come forward as a witness in favour of the merchant. But the queen Rāmadattā Devi being sure about the casket requested the king to intervene on behalf of the merchant. The king would not listen to this. As an alternative the queen wanted permission to deal with the case herself. This was readily granted. Then the queen Rāmadattā Devī invited the minister Satyaghoṣa for a game of chess. In the first game she won the minister's Yajñopavīta and the signet ring as stakes. Having won these two important things, insignia of the minister, she secretly sent these two things through her attendant to the treasurer. She instructed the attendant to show these two things to the treasurer and to get from him the casket of jewels beloning to the merchant deposited in the royal treasury in secret by the minister When the attendant brought the casket it was an eye-opener to the king. Then he realised the crime of the minister. The minister himself now knew that he was discovered by the queen. Still the king wanted to test the honesty of the merchant. Therefore he had this casket placed in the midst of several others belonging to the royal treasury and asked the merchant Bhadramitra to take all these He would not touch the others except his own. Even within the casket there were other precious stones put together with those belonging to the merchant. The merchant took up his own things and rejected the others as not belonging to him. This behaviour of the merchant impressed the king and others assembled there. They all praised the honesty of this merchant and condemned the minister for his avarice. The king dismissed the minister from service aud banished him from the city after disgracing him. The minister went out nourishing hatred towards the king and the queen. As a result of this hatred, he was born as a serpent in the royal treasury room ; and when the king entered the treasury, he was bitten by this snake and killed. As a result of this animosity these two were born as enemies in several successive births. This wicked Vidyādhara whom you want to punish at present was that Satyaghoṣa, the minister, who was disgraced on account of his dishonesty. The king Siṁhasena after series of births and deaths appeared as Sañjayanta who just

attained Mukti. We are all assembled here to offer Pūjā to this Sañjayanta who was in his former birth the Siṁhasena Mahārāja. The queen Rāmadattā Devī is myself, I, born at present as Ādityāpadeva, and you are the younger brother of this Sañjayanta or you because of your longing for Deva-glory became Dharaṇendra. Hence it would be advisable on your part to give up this hatred and pursue the path of righteousness. The Dharaṇendra accepted this advice given by his brother Deva, got rid of this hatred, and began to medidate upon Dharma. The wicked Vidyādhara Vidyuddanta who was listening to this story was also ashamed of his past and resolved to lead a better life thereafter. Then the two Devas, Ādityāpadeva and Dharaṇendra, who were formerly the queen Rāmadattā Devī and her son respectively, after a period of Devahood, were born as sons to the kings Anantavīrya who ruled Uttara Madurā. This king had two queens Merumālinī and Anantamatī. Ādityāpa was born as a son to Merumālinī and was named Meru. Dharaṇendra was born to the second queen Amṛtamatī and was named Mandara Just about that time Vimala Tīrthaṅkara appeared in an Udayāna adjoining to Uttara-Madurā with the object of teaching the Dharma. These two princes, Meru and Mandara, went on their royal elephant to offer Pūjā to this Tīrthaṅkara and listen to his preachings Listening to this Dharma Upadeśa these two princes became his disciples and were accepted as Gaṇadharas, chief disciples, of the Lord They, in their turn, spent their life in propounding Dharma and finally by the performance of Yoga attained Mukti The classic is named after these two princes Meru and Mandara, hence is called Merumandirapurāṇam. It consists of 30 chapters of 1405 stanzas on the whole Some ten years ago the present writer published this work with introduction and notes, and it is available to the reading public.

Śrīpurāṇa :—This Śrīpurāṇa is a very popular work among the Tamil Jainas. I do not think there is anybody who has not heard the name Śrīpurāṇa. It is written in an enchanting prose style in the Maṇipravāḷa, mixed Tamil and Sanskrit. It is based on Jinasena's Mahāpurāṇa and is also further called 'Triṣaṣṭiśalākapuruṣa-purāṇa' dealing with 63 heroes. It is by an unknown author. Most probably

it is a corresponding work to the Kannaḍa Triṣaṣṭiśalākāpuruṣa Purāṇam by Cāmuṇḍa Rāya : Hence it must be later than the Jinasena Mahāpurāṇa and Cāmuṇḍarāya's Kannaḍa Purāṇa. The 63 heroes whose history is narrated in this work are the 24 Tīrthaṅkaras, the 12 Cakravartins, 9 Vāsudevas, 9 Baladevas and 9 Prativāsudevas. In the case of Cūlamaṇi story we already noted Tiviṭṭan the Vasudeva, Vijaya and Baladeva and Aśvagrīva the Prativāsudeva. Similarly Rāma, Lakṣmaṇa and Rāvaṇa of Rāmāyaṇa fame are included in this nine groups as Keśava, Baladeva and Prativāsudeva Similarly Śrī Kriṣṇa of Bhārata fame is one of the nine Vāsudevas, his brothers Balarāma is one of the Baladevas and Jarāsandha of Magadha one of the nine Prativāsudevas. While narrating the life of each Tīrthaṅkara, stories of the royal dynasties are also given Thus this work Śrīpurāṇa, since it contains the stories of these 63 heroes, is considered to be the Purānic treasure-house from which isolated stories are taken by independent authors. Unfortunately it is not yet published. It still lies buried in palmleaves manuscript, and it is hoped that some day in the near future it will be made available to the students of Tamil literature.

Next we have to notice some works on prosody and grammar contributed by Jaina authors

Yāpparuṅgalakkārikai :—This work on Tamil prosody is by one Amṛtasāgara. Though it is not definitely known at what period he lived, it may be safely asserted that the work is old by 1000 years. Since the invocatory verse is addressed to Arhatparamēṣṭhi, it is obvious that the work is by a Jaina author. The author himself suggests that the work is based on a Sanskrit work on the same topic. Probably it is a translation of that Sanskrit work. There is a commentary on this work by one Guṇasāgara who was probably a contemporary of this Amṛtasāgara. Probably they both belong to the same Jaina Saṅgha. That it is an important work on prosody, that it is considered as an authority on metres and poetic composition, and that it is used as such by later writers are evident from the references to it found in Tamil literature.

Yāpparuṅgala Virutti :—This is also a work on Tamil prosody written by the same author, Amṛtasāgara. There is an excellent edition of this Yāpparuṅgala Virutti by late S Bhavnandam Pillai.

Neminātham : A work on Tamil grammar by Guṇavīrapaṇḍita. It is called Neminātham because it was composed at Mylapore the seat of the Jaina temple of Neminātha The author Guṇavīrapaṇḍita was disciple of Vachchananda Muni of Kalandai. The object of this work is to give a short and concise account of Tamil grammar, because the earlier Tamil works were huge and elaborate From the introductory verses it is clear that this was composed before the destruction of the Jaina temple at Mylapore by a tidal wave. Hence it must be placed in the early century of the Christian era. It consists of 2 main chapters Eluttadhikāram and Śol Adhikāram. It is composed in the well-known Veṇbā metre It is printed together with a well-known old commentary in the Tamil journal Śentamil issued by the authorities of the Tamil Sangam at Madura.

The next work on Tamil grammar we have to notice is Nannool 'the good book.' It is the most popular grammar in Tamil language. It is held only next to Tolkāppiyam in esteem. It is by one Bavanandi Muni who wrote this grammar at the request of a chief called Śiya Gaṅga The author was well-versed not only in Tamil grammatical works, Tolkāppiyam, Agattiyam and Avinayam, but also with the Sanskrit grammar, Jainendra, being a great scholar both in Tamil and Sanskrit. This grammar, Nannool, he wrote for the benefit of the later Tamil scholars. It is prescribed as a textbook for schools and colleges; hence we may say without exaggeration that no Tamil student passes out of school or college without some knowledge of this Tamil grammar. There are a number of commentaries on this work. The most important of these commentaries is the one by the Jaina grammarian Mailaināthar. Mailaināthar is another name for Neminathan who was the God at the Mylapore Jinālaya. We have an excellent edition of this Nannool with this Mailainātha's commentary made available to the public by Dr. V. Swaminatha Ayyar. The work consists of two parts

Eluttadhikāram and Śol Adhikāram which are sub-divided into five minor chapters.

In this section on grammar we may also notice the work called Agapporuḷviḷakkam, by one Nār-Kavirāja Nambi. His proper name is 'ambi or Nambi Nainār; because he was expert in 4 different kinds of poetic composition he was given the title of Nār-Kavirāya. He was the native of Puḷiyanguḍi on the banks of the river Porunai Pāṇḍimaṇḍala This work Agapporuḷviḷakkam is based upon the chapter on Porul Ilakkanam in Tolkāppyiam. It is an exposition of the psychological emotion of love and allied experiences.

The contribution by Jainas to the Tamil Lexicography is also worthy of note. There are three important works on Tamil Lexicography; the three Nighaṇṭus are Divākara Nighaṇṭu, Piṅgaḷa Nighaṇṭu and Cūḍāmaṇi Nighaṇṭu All the three are dictionaries in verse which traditional scholars got by heart in order to understand the more intimate classics in the language. The first is by Divākara Muni, the second by Piṅgaḷa Muni and the third by Maṇḍala Puruṣa. Tamil scholars are of opinion that all the three were Jainas. The first Divākara Nighaṇṭu is probably lost to the world; but the other two are available. Of these the last is the most popular. From the introductory verses written by the author of the third work Cūḍāmaṇi Nighaṇṭu it may be learnt that he was a native of the Jain village Perumandur which is a few miles distant from Tindivanam, the headquarters of the Taluk of the same name, in South Arcot District. The author further refers to Guṇabhadrācārya, a disciple of Jinasenācārya. This Guṇabhadra is the author of Uttara Purāṇa which is the continuation volume to Jinasena's Mahāpurāṇa. Hence it is clear that this Maṇḍala Puruṣa must be later than Guṇabhadra He also refers to the other two Nighaṇṭus which ought to be therefore earlier to Cūḍāmaṇi Nighaṇṭu. The work is written in Viruttam metre and contains 12 chapters The first section deals with the names of Devas, the second with the names of human beings, the third with lower animals, the fourth with the names of trees and plants, the fifth with place-names, the sixth

dealing with the names of several objects, the seventh deals with the several artificial objects made by man out of natural objects such as metals and timber, the eighth chapter deals with names relating to attributes of things in general, the ninth deals with names relating to sounds articulate and inarticulate, the eleventh section deals with words which are rhyming with one another; and hence relating to a certain aspect of prosody, the twelfth section is a miscellaneous section dealing with the groups of related words. We have a very useful edition of this Cūḍāmaṇi Nighaṇṭu with an old commentary by late Arumukha Nāvalar of Jaffna. Similarly there is an edition of Pingaḷa Nighaṇṭu by a Tamil pandit by name Śivan Piḷḷai

Having disposed of grammar and Lexicography, let us turn our attention to one or two miscellaneous works: Tirunūṟṟantadi by Avirodhi Aḷvār. The 'Antadi' is a peculiar form of composition where the last word in the previous stanza becomes the first and the leading word in the next stanza. 'Antadi' literally means the "end and beginning." This constitutes a string of verses connected with one another by a catch-word which is the last in the previous stanza and the first in succeeding stanza. Tirunūṟṟantādi is such a composition containing 100 verses. It is a devotional work addressed to God Nemināthа of Mylapore. The author Avirodhi Ālvār was a convert to Jaina faith. It is said that one day while he was passing by the side of Jinālaya he heard the Jaina Ācārya within the temple expounding to his disciples the nature of Mokṣa and Mokṣa Mārga. Attracted by this exposition he entered the temple and listened to the teacher's discourse. Desiring to learn more about this he requested the Ācārya to permit him to attend the lectures, which permission was readily granted Finally he became a convert to the faith and in recognition of this change in his life, he composed this Tirunūṟṟantādi dedicated to the God Nēminātha of Mylapore. It is a very beautiful devotional work containing a few facts relating to the author himself. It is published with notes in Śen Tamil Journal conducted by the Tamil Sangam, Madura.

Tirukkalambagam is another devotional work by the Jaina author by name Udīci Deva. He belongs to the country of Thoṇḍamaṇḍalam. He was a native of Arpagai, a place near Ārni in Vellore District. The term 'Kalambagam' implies a short of poetic mixture where the verses are composed in diverse metres. This Tirukkalambagam by Udīci, besides being devotional, is also philosophical in which the author tries to discuss the doctrines of the rival faiths such as Buddhism. It probably belongs to a period later than that of Akaḷaṅka the great Jaina philosoher who was responsible for undermining the supremacy of Buddhism in the south, and who was probably a contemporary of Kumārilabhaṭṭa the Hindu reformer.

Jainas were also responsible for contributions to Mathematics, Astronomy and Astrology. Probably several works relating to these topics have been lost We have at present one representative in each. Encuvadi a popular work on Arithmetic, and Jinendramālai equally popular work on Astrology. Traders who are accustomed to keep accounts in the traditional form get their early training by studying this mathematical work called Encuvadi and the Tamil astrologers similarly get their grounding in Jinendramālai which forms their main-stay for their predictions popularly known as 'Ārūḍha'

This completes our cursory survey of Tamil literature with special references to Jaina contributions thereto. The prevalence of Jainism in ancient Tamil land and its usefulness to the Tamil people are not merely vouchsafed for by the Tamil litarature but are also evidenced by the customs and manners prevalent among the upper classes of the Tamil society. Even after the Śaivaite revival when several Jainas were made under penalty to embrace Hinduism for political reasons, these converts to Hinduism who went back to their own respective castes in the Hindu fold zealously preserved their customs and manners acquired while they were Jainas. Though they changed their religion, still they did not change their Āchāras It is curious that the Tamil term Śaivam which primarily means the follower of Śiva faith, means in popular parlance a strict vegetarian

A strict vegetarian among the Hindu Veḷāḷas is said to observe Śaivam in the matter of food. Similarly the Brāhmaṇas in the Tamil land are 'Śaivam' strict vegetarians. In this respect the Tamil Brāhamaṇa is distinguished as the Drāviḍa Brahman from the Brahmins in other parts of India who are brought under the category of 'Gauḍa Brāhmaṇas'. The Drāviḍa Brahmins wherever they be are strict vegetarians, whereas the Gauḍa Brahmins all eat fish and some meat also. Bengal Brāhmaṇas who belong to the Pañca Gauḍa group eat fish and meat. It is normal with Bengal Brāhmaṇas to offer goat or buffalo as sacrifice to Kāli temple and carry home meat as a Kālī Prasāda. Such a thing is unthinkable in any of the Hindu temples in the south, whether dedicated to Viṣṇu or Śiva. Hence it may not be altogether an exaggeration to state that in the matter of purity of food and the purity of temple worship the Jaina doctrine of Ahiṁsā has been accepted and preserved by the Upper classes of the Hindus in the Tamil land even up to the present day. Of course there are scattered places where animal sacrifice is offered to the Village Gods. But it must be said to the credit of the upper classes among the Tamil Hindus that they have nothing to do with this grosser form of Kāli worship. With the growth of education and culture, it may be hoped that even these lower orders in Tamil society will give up this gross and ignorant form of religious worship and elevate themselves to a higher religious status actuated by purer and nobler ideals.

END.

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M R. A. S,

Continued from Vol. VI. No. II, page 50.

attain to *Svarga* only[143]. Therefore the belief of Asoka that the result of meritorious deeds is attainment of happiness in heavens is quite in a line with Jainism.

8. *Forgiveness of Sins*:—Asoka puts great stress on this dogma and was ready to forgive even criminals in no time if they were ready to repent for their bad works and to undergo fasts with distribution of gifts. Here too Asoka is behaving according to Jaina method of प्रायश्चित (annullation of sins)

Asoka's missions to Foreign Countries:—Asoka sent his Mahāmātras of Dharma to foreign countries to propogate the Dharma; as his grandson Samprati did sometime after him.[144] These countries named in the edicts are Syria, Egypt, Macedonia, Cyrene, Carynth and Ceylon and Afghanistan. Now if Asoka would have preached Buddhism in these countries surely some evidence of it should have come from there, but it is a striking fact that, "No Buddhist records are kept in the history of Egypt, Mecodonia, Corynth and Cyrene, which countries were supposed to be converted to Buddhism by

---

143. Uttaradhayayana, 24—5

'एवं सिक्खसमावएणे, गिहिवासे वि सुव्वए ।
मुचई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥२४॥५॥' उत्तराध्ययन ।

× × ×

'गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए ;
समता सव्वत्थ सुव्वते देवाणं गच्छे सलोगयं ॥
सू० प्र० अ० २-१३ ।

144 'येन संप्रतिना ..साधुवेष धारिनिजकिंकरजन प्रेषणेन अनार्य देशेऽपि साधुविहारं कारितवान्' ।

Kharataragachchha Pattāvali Sangraha खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह पृ० १७

the zeal of Asoka."[145] On the other hand it can be said about Jainism that the influence of that religion is tracable in the above countries in one or other form The Egyptian and Greek philosophy do betray Jain influence [146] Ancient Greek found the Sramanas, who should be Jains, traversing the countries of Euthopia and Abyssinia.[147] The Greek philosopher Pyrrho studied near the Jain *Śramaṇas* and preached his doctrine in Greece.[148] A naked *Śramṇāchārya* (Jain preacher) went to Greece as his *Samadhi* spot was found marked at Athens.[149] The Gymnophists, whom Alexander the great encountered near Taxilla were no doubt Jain *Śramaṇas.*[150] It is thus clear that some traces of Jain preaching in Greece are of course available.

Likewise Ceylon seems to had been a great resort of *Nirgranthas* (Jains) till the beginning of christian era ; for it is evident from the Buddhist chronicles themselves that Nirgranthas predominated at Anuradhpura in Ceylon, and were influential enough to attract the attention of the ruling monarch, who built a vihāra and a monastry for them in 3rd century B C.[151] These continued to flourish till 80 B. C. It means that Jainism remained in Ceylon long after Asoka.

The traces of the existence of Jainism in the countries of Arabia, Persia [152] and Afghanistan [153] are also available Therefore it also supports our view that Asoka formed his Dharma on the basis of Jainism and preached it abroad as well.

145 J.M.S. XVII. p. 272

146. See Confluence of Opposites.

147. Asiatic Researches, Vol. III p. 6.

148. Historical cleanings p. 42.

149 Indian Historical Quarterly, Vol. II p. 293.

150. JBBRAS IV 401 ff and Saṃkshiptā Jain Itihāsa, Vol. II pt. I pp. 195—198.

151. On the Indian Sect of the Jainas, p. 15.

152. *Ibid.*

153 Cunningham, Ancient Geography of India (new ed.) p. 671.

Asoka's belief in Jainism and his last edict :—Thus it is clear from the aforesaid evidence of inscriptions that Jainism had a claim on Asoka. I think, he was a Jain layman, sometime in the beginning of his life and professed Jainism. But as he advanced in age, his spiritual vision got also elevated. He became quite liberal and catholic in religious matters. He formed his own religious code comprising the gist (Sāra) of all religions, and mainly based on Jainism. He endeavoured to preach it successfully The seventh pillar edict is the last of all inscriptions of Asoka and it also proves that belief of Asoka in Jainism remained till then ; for it points to a distinction between ethics of Dharma and Dhyana (meditation) in accordance to Jainism. Asoka said emphatically that, "This advance in Dharma of the people has been promoted only by two ways, by regulation of Dharma, and by inner meditation. But of these (two) regulation of Dharma is of little effect, but by inner meditation (Dharma may be promoted) greatly" (मुनिसानं चुया इयं धंमढि वटि दुवेहि येर आकावेहि धंम निममेन चनिभतिया च। तत च लहुसे धंम नियमे, निभतियावभुय) In Jainism a great importance is given to meditation. Knowledge (Jñāna) and meditation (dhyāna) are the chief factor of the asceticism of a Jain Śramana.[154] Jain Scriptures exhort a layman to practise meditation.[155] According to Jainism meditation is of four kinds and it is different from the *Satya*, *Saucha* and other factors of Dharma.[156] Out of the four, *Dharma Dhyana* is one, which is the cause for gaining happiness in heavens.[157]

---

154. 'ज्ञान ध्यान तपोरक्त तपस्वी स प्रशस्यते'—रत्नकरण्डकः। Ratnakarandakah.

155. 'गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंप। तं जाणे झाइज्जइ सावय। दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥ —अष्टपाहुड़। Ashtapāhuḍa.

156. धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि।'—मूलाचार Mulachara
'मावं तिविह पमारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दंसुह धम्मं जिणपरिदेहिं ॥अष्टपाहुड़, पृ० २२४

157. धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोग जुदो।

पावदि णिव्वाण सुहं, सुहोवजुत्तो व सग्ग सुहं ॥११॥प्रवचनसार

Dharma Dhyana again is of four kinds.[158] Now in अपाय विचय धर्मध्यान the votary meditates on the means of the good of soul or rather he contemplates that how the people get emancipated from their good and bad actions and progress in Dharma.[159] Asoka's *Dharma vriddhi* is indeed due to this kind of *Dharma Dhyāna*. Thus we may be allowed to say that at any rate the spirit of Jainism was near and dear to the heart of Asoka up to the time of inscribing the last pillar edict.

The successors of Asoka :—Asoka exhorted his successors more than once to continue the sacred work of promoting Dharma and they too accordingly seem to have carried out his wishes. Dasaratha constructed caves for Ājivikas and Samprati who is also called Priyadarśana in the Jain texts, endeavoured his best to follow in the footsteps of his grandfather. There is an opinion prevalent that Samprati also got engraved religious edicts like Asoka and a certain scholar point a few among those of Asoka's inscriptions to belong to Samprati. Likewise Sālisuka, the last eminent Maurya King made a Dharma-Vijaya धर्मविजय in Saurāṣtra and that was indeed the propogation of Jainism in that part of India.[160] Thus the successors of Asoka also preached out Jainism.

Conclusion :—Under the circumstances and the evidence deduced above it is obvious that Asoka certainly professed Jainism at a certain stage of his life and when he set himself to the preaching of Dharma, though he became libral as to honour all the sects, yet he composed his religious code mainly based on Jain dogmas and betraying Jain spirit from beginning to end. No doubt he seems to be Jain at heart when he got inscribed his last pillar edict

158. 'सयगेण मणं णिरुमिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि ।
आणापाय विवाय विलओ संठाण विचयं च ॥३९८॥ मूलाचार

159. 'कल्लाण पावगाओ पाओ विचिणादि जिण मद सुविच ।
विचिणादि वा अपाये जोवाण सुहे य असुहेय ॥४००॥

160.

and it seems as if the following teaching of Jainism was ever before the eyes and close to the heart of Asoka :—

"Religion is the vital principle of the world (धर्म्मो जगतस्सार: सर्वसुखानां प्रधान हेतुत्वात्) since it is the first cause of all felicity. It proceed from man, and it is by it also that man attains chief good. From religion, birth in a good family is obtained, bodily health good fortune, long life, and prowess. From religion also spring pure renown, a thirst for knowledge and increase of wealth. For the darkest gloom, and every dreaded ill, religion will ever prove a saviour. Religion when duly practised bestows heaven, and final emancipation-Svargāpavarga pada (Kalapsutra p. 2.)

सर्व मङ्गल माङ्गल्यम् , सर्वं कल्याण कारकम् ।
प्रधानं सर्व धर्माणां, जैनं जयतु शासनम् !!

END.

New Studies in South Indian Jainism.

III

Sravana Belgola Culture.

Sec (II)

Continued from Vol. VI. No. II, page 74.

(3) No. 46 A. C. 1133. Praise of Bûchi Raja son of Dandanayakiti Lakkala Deviti :—

" To describe the son of that lady Be it well—of a countenance which brought happiness like the sun to the lotuses of faces of fair ones in the most illustrious abodes of all the worlds ; of a body like that of the lord of love himself; delighting, in the bestowal of gifts of food, shelter, medicine and learning ; a balm for the sorrows of all the world, adorned with the jewels of all good qualities, his refuge the feet of Jina, such was Bùchana × × × " As of modesty the country, of virtue the birth place, of purity the native land ; thus do people ever praise him : a moon in unfolding the water lilies of the wise, the famous Buchi in genersity to others was a Dadhichi; in valour which carried terror into the stoutest warriors, an Arjuna."

(4) No. 45 A. C. 1117. Praise of Ganga Raja Dandanayaka :—

" Having gained supreme favour, he asked, not at all for kingdom or wealth, but his mind fixed on the worship of Arhad, he asked for Parma[1] (lit. the highest.) And having so asked—He presented it for the worship of the Jinalaya which his wife Lakshmi Devi has made."

Of " the grand remuneration," similar to that of Bhujbali, in the matter of love, coming from the society of war-

1. Name of a village. See I. S. B. No. 45.

lords, here is an immortal example, at once great and intensely human. It is the conquest of sex not by a sanyasi but by a ruling king of Jaina Sampradaya,— not by any sex control methods of the modern type, but by mental and spiritual culture:—

No. 57 of A. C. 982. Praise of Ratta-Kandarpa, *Indrarâja*, Râjamârtânda:—

"The people in the world knew not his power, for, when 'girige' having fallen in love with him and he was attracted to her, on finding she was the wife of Kallâra, he *repelled her* and defeated the conspirators who, in consequence, fell upon him."

× × ×

"When still, not losing courage, she, desplaying her charms, drew near to him in such guise that all people were spell-bound in the snare of her beauty, he gave one glance to bring her into his power—And ruling over many lands subject to "girige" and himself, above and below the ghats, he without effort escaped the net of the Chakravyûham and gained great fame for his *purity* in all the world (having brought her, the wife of another, into his power *without falling into Sin*)—This miracle of generosity. Erega his cousin, seeing her youth, and beauty, and the endeavours she made to gain the affection of Indra Raja which were in so many ways rejected, burned with passion for her. But altho', he fell at her feet, and she spoke to him kindly, Indra Raja knowing his mind deadened his desires."

Such was Jainism, even in medieval India; such the influence, the cultural influence of Jainism in all ranks of society, over men & women, in its best days. And, Śravana Belgola was the centre, the Karma-Kshetra (कर्मक्षेत्र) and Prasamsâ-kshêtra (प्रशंसाक्षेत्र) of this heroic faith. In disputation and subtility of dialectic, with which the great sages of Belgola and their forbears upheld it in the assemblies of scholars and Royal courts against scholars of other faiths, we find few equals

to them among their contemporaries. Like the *knights errant* of medieval chivalry, in quest of tourneys to prove their valour, some of these great sages had gone up and down the Bharata Khanda, and described their achievements in the language of war and held titles[2] similar to those of ministers and generals of the time. But side by side with such praise, they are also described as possessing great gentility, humility and generosity. Some of them became famous for miraculous powers, siddhis (सिद्धि), which they acquired by their progressive spiritualisation of body and mind. A few such instances are worth recording for modern sceptical times :—

(1) In No. 105 of 1398-A. C., it is said of *kundakunda* that "It was in order to show that both within and without, he could not be assailed by *rajas* (passion, *dust*), methinks, that the yati moved about leaving a space of four inches between himself and the earth under his feet."

(2) In No. 108 of A. C. 1433 it is said "From him sprang a light to the race of yogis, *Balaka-Pincha*, great in penance, the wind which but touched whose body caused poison to be converted to nectar." In the same inscription further on it is said—

(3) "Sri *Pûjya-Pâda* muni, unrivalled as a dispenser of medicine, may he prevail, his body purified by the Jaina Doctrine, worthy to be obeyed ; through the virtue of sprinkling with the water purified by his feet was not iron turned to Gold ?" ; and still further on

(4) in the same, we hear of "*charukirti Muni* that from the contact of air which had but touched his body were cured diseases ; was it much, then, that, by his treatment

2. Titles of sages :—No. 50, Vadıbha-pahchanana (वादीभपंचानन), Vadi-vajrañkusa (वादिवज्रांकुश) ; No. 55 Mallikamoda (मल्लिकामोद) which is a well known chivalric title in Andhra Inscriptions) ; No. 54 Prativādimalla (प्रतिवादिमल्ल).

he removed the complaint from which king Bhallala was suffering."

Such a composite culture, materiospiritual or spirituo-material as quibblers may call it, developed on these hills, and celebrated in literature both Sanskritic and dêsi and also recorded in it as Sāstra (शास्त्र), by the sages of the Hill or "Hill Fathers" from Bhadrabahu following, naturally acquired great celebrity and *patronage*, both from the people of the country and the successive dynasties of the rulers of the land both Jainas and Non-Jainas. Thus, from being munis or silent gurus and Sanyasis of *Tirthas*, some of them rose to being *Rajagurus*, *Mandalacharyas* and Mahamandala-Samasthanadhipatis (महामण्डलाचार्य-समस्थानाधिपति) Comparable to Popes, Papal Legates or Lords Spiritual of Medieval Europe. Such a development in India is observable in the history of what we call *Vaidika* or *Sanatana Dharma* Sampradayas also. Of such may be mentioned:—

Mahâmandalacharya Devi Kirti Pandita Deva (No. 49 of 1163 A. C.), *Raya Raja-guru* Gummata, *ruler* of Belukare (No. 41 of 1313 A. C.), *Mahamandalacharya* Chandra Prabha Deva (No. 88 of 1256 A. C.), Mahamandalcharya Nayakirti Deva mentioned as guru of Chandra Prabha Deva (No. 96 of 1273 A. C.), Magha Nandi Sidhanta-Chakravarti, *Rajaguru* of Hoysala King (No 129 of A. C. 1283), Mahamandalachaiya Nayakriti-Vrati Deva (No. 130 of 1196 A. C.) *Jagadguru* Kukkutasana Maladhari Deva (No. 137 of 1160 A. C.) and Charu Kirti Pandita, occupant of the *throne* of Delhi, *Hemadri, Sudha, Sangita, Swetapura*, Kshamavenu and Belgula *Samasthanas* (No 41 of 1830 A. C.). Such a transformation indicates *administrative status*, as in the case of Madhwa Pîthams of *Udipi* or *Sanka Pitham* of Sringeri. Hence, these Jaina gurus of medieval India, like contemporary Indian rulers, developed *Birudavalis*, "garlands of titles", in the descriptions of their guru paramparas or *Pattavalis*. As a curiosity and for comparison with those of the *Trimata* '*Jugadgurus*' of the Vaidika Sampradya, I give here-below,

in the original, one such Birudavali, from these Sravana Belgola Inscriptions:—

No. 113 of about 1117 A. C.

"Svasti Samadhigata-pancha-mahāsabda-mahāmandalāchar-yādi prāsastya-virāgita-chihnālamkritarum | Visambō-dhāvabōdhitarum | sakala-vimala-kēvala-jñana-nētra-trayarum | ananta-jñana-darsana-vîrya-sukhātmakarum | Vidita ddhārakarum | ekatwa-bhāvanābhāvitātmarum | ubha-naya samartthi-sakarum | tridanda-rahitarum | tri-salya nirākritarum | chatu-kashā-Vināsakarum | chatur-vidhāv-upasarga-giri-kandarādi-daireya samanvitarum | pancha-dasa pramāda-Vināsakartugalum | panchāchāra-virya-sāra-pravînarum | samadarusanādi-bhedabhādiga-lum | Saṭu-karma-sārarum | Saptanayaniratarum | ash-tānganimitta kusalarum | ashta-vidha-jñanāchāra sam-pannarum | navavidhabrahma-chariya vinirmuktarum | dasa-dharma-sarma-sāntarum | Ekādasa sravakā-chārav-upadēsa-bratāchārachāritrarum | dvādasa tapô niratarum | dvadasānga-sruta-pravidhāna-sudhākararum | trayo-dasāchara-sîla-guna-dhairya .... Sampannarum | embata-nālku-laksha-jivabheda-marganarum | (Sarva-jîvi-dayā-pararum) Srimat | kondakundānvaya gagana mārthan-darum | viditōtandakūshmānda......gana gajendra simhākramada dhārāva bhāsurarum."

I shall, now, close this bird's eye-view of Śravana Belgola Culture with brief references to a few points of sociological interest to modern times echoing from these *silakṣharas* or stone scripts:

One interesting fact further emerges from a consideration of these inscriptions *viz.*, that *not all* these sages were *sanyasis.* Some of them who call themselves munis, even *silentgurus,* seem to have been householders, somewhat like the ancient munis of the forest asramas of Ramayana or Mahabharata times. How they could be '*digambaras*' in fact, tho' by descent and tradition from Bhadrabahu they are such, it is not possible to say. Of some

such the following are instances: No. 15 (archaic) mentions Baladevi Muni born to Kanakasēna No; 17 refers to Echalgorāvi *wife* of Santi Sena Munisa; No. 19 mentions Singa Nandi *son* of *mountain guru* as against No. 25 which mentions a *desciple* of Ariṭṭo Nēmi. The original Canarese words which suggest these specifications are No. 19 Mānarkar (माणार्कर) beside No. 25 Sishyam (शिष्यम्) Similarly in No. 41 Sri Dhara is distinguished as 'eldest son' (अमतनूमव) from the sishyar (शिष्यर) Maladhari Deva and Sree Dhara Deva of sage Dāmanandimunipa. The differentiation became necessary because there were two Sree Dharas of the same name, one sishya and the other the eldest son. I am not unaware of the Karakamalasamjāta nyāya by which descent is claimed among *sanyasis*, but I do not think that such 'descendants' are ever called "*Tanūbhavas*.' This fact and the mention of 'wives' of 'mūnis' makes me think that as in the old Vēdic System preserved in the Puranas and the Epics and in some of the modern Indian *pitha* Sampradyas, in Jainism also, there were some munis or gurus who were either *girhasthas* or *Vānaprasthas* and who "*assumed sanyasa*" merely at the time of Sullekhana or the time for it approached.

Another feature was the religious catholicity of medieval times which made real *reapproachment* and even assimilation or absorption, possible, between Jainism and Puranic Hinduism of the *Maṭatraya* variety, notwithstanding learned disputations at Royal Courts. Such catholicity prevailed especially among *laukyas* or families of high administrative classes, that tho' their special or traditional religious bent was towards the *Vaidika* Sampradaya, that did not prevent them from venerating Jainachāryas or making grants for their basadis or allowing the ladies of their households to show even exclusive devotion to Jaina faith. Such catholicity prevailed here in our Andhra country also, as much as in the Karnata Country, both towards Buddhism and Jainism. I shall just mention one instance in passing. No. 53 of 1131 A. C. describes Santala Devi,

the celebrated queen of Sree Vira-ganga Vishnuvardhana Poysala Deva as follows :—

> "Her guru being Prabhachandra Sidhanta Deva ; the mother who bore her, the mine of good qualities, Machikabbe ; the senior Perggada Marasingayya her father ; her uncle the pergada singimaiya ; her king Vishnuvardhana ; *her favourite Jinanadha* ; *Vishnu her God*,—to describe the greatness of Santala Devi is it possible in the world ?"

Of the celebrated Sallekhana of Machikabbe, mother of queen Santala Devi mention has already been made. I infer therefore that the queen having come from such a devoted Jaina family, kept up her preference to Jainism, tho' having married a king of a different persuation, she *formally* adopted *Vishnu* as her God Here is a principle of religious reconciliation between *Kula Devatas* and *Ishta Devatas* still active among some Vedic Sampradayas in India making for religious unity. Similarly, in this same inscription, it is said further on as follows about the queen's father Marasinga Deva : --

> "Who in this age is superior to the pergada the Lord Marasinga... . ...in objects of human desire, in great liberality, in pleasure in religious works, in devotion to the lotus feet of *Hara* (*Siva*), in uprightness, in virtue :— thus esteemed."

The history of this interesting family of administrators and generals gives us an idea of how in the first-half of the 12th century A.C , the then keenly contested schools of religion were harmonised. This is an object lesson to modern India, from the history of the Karnata Country, at a time when religious diversity is being taken as an excuse for retarding unity and progress and freedom in politics. Small wonder, then, that, with the spiritual impulses to action of his subjects thus harmonised, that great king *Poysala Vishnuvardhana* had triumphed over his enemies and maintained the integrity and independence of his kingdom.

Another interesting fact emerging from a study of these inscriptions is *the elasticity of caste* in the matter of marriages which the Jaina sampradaya promoted in the Karnata Country even among the dwijas taking to *laukya* occupations. Notwithstading the fact that Poysala Vishnuvardhana Deva was a Yadava Kshatriya and a devotee of *Vishnu*, the senior Pergada Marasinganja Deva, a *brahmin* and a devotee of *Hara* (Siva) gave his daughter in marriage as senior queen to that king ; and the wonder of it was, the king accepted her tho' she was a Jaina devotee. Here is an instance of a marriage, not only between persons of two different faiths regarded as mutually antagonistic, but one between members of two different Hindu Dwija castes The Hindu Smritis may not look with favour on such a *Pratiloma marriage*, but that did not stand in the way of its having been enthusiastically approved bv the contemporaries and celebrated in an inscription. Similarly, from No 184 of 1182 A. C., we get the account of the family of a Brahmin minister, *Chandramauli*, of Poysala king Vira Bhallala. "His wife was Achiyakke' whose descent is thus given: -"In masavadinad there was a perfect Sravaka (Jaina desciple) Siveya Nayaka Deva ; his wife was Chandavve ; They had a son Vija Bamma Dava hegadde ; his brother was Vaveya Nayaka, whose sister was Kalavve ; Her sister, wife of Hemmadi deva, king of Masavadi, was Achala Devi. Her brother was sovana Nayaka, whose wife was Bachavve ; They had a son desiya danda-Nayaka Bammeya Nayaka, whose wife was Dobavve, daughter of *Mallisetti* and Mabhave Settikavve." Here is an account of intermarriages between Brahmin, Kshatriya and *Vaysya* castes under the liberating influence of Jainism in the Karnata Country. The term '*nayaka*' like 'pergade' or 'heggade,' was an official title. Even in Vedic times all *dwijas* were one and it was only *karma lopa* and consequent differences of achara that devoloped them into *strictly endogamous* castes in later times.

The view that even *sanyasa* was practised in ancient or medieval India merely as a means of running away from the duties and responsibilities of life is wholly incorrect in regard to the development of *muni* or *parivrajaka* sanghas of India, among different Sampradayas, tho' bad men existed even then among sanyasis as

among householders. That this was so is amply borne out by these Sravana Belgola Epigraphs. In the view of the sanyasis of Belgola, the "*bettada guravadigal,*" even teaching, *adhyyana* and adhyāpana, the chief occupation of their lives had a "*social goal.*" For instance, in No. 108 of 1433 A. C. it is said—" He having gone, Siddhanta yōgi arose in the world, by his eloquence unfolding the *siddha sastra,* as the sun in a cloudless sky by his rays causes the groups of lotus to awake from sleep.........'whom' then his lotus feet were tinted with the rays from the crowns of bending kings, no substance and no woman, no clothing and no youthful pride, no strength and no wealth could tempt" .. .." That learned muni, of great acumen obtained many celebrated desciples, whom he taught *in order to purify the world and diffuse merit in all parts* ."Among his desciples, noted for his learning, distinguished by his many qualities, was the one named *Srutamuni* .. .. ' In descent, character, good qualities, wisdom, learning and form was he worthy, and *having examined him,* he placed him in the *rank of a suri,* considering him proficient. And once on a time, reflecting that of his own life but little remained, and thinking him to be able, he *placed him over his own Gana* saying " I will retire to do penance "...... ..." This gana which has descended in my line, do thou maintain its authority as I have done'—thus saying, he *delivered to him his gana.*" This account reminds me of the medieval history of *Sree Sringeri Pitham* of the Sankaracharyas in the time of the celebrated Sage Vidyaranya, the famous commentator of the Vedas; but it is even more significant as showing how the sages of India, of all sampradayas and ganas down to the 15th century had regarded themselves as the custodians, developers and distributors of knowledge freely among all classes of people and how their habitats, the great *thirthas* or places of pilgrimage were famous, not because they were 'bathing ghats' or places of worship of 'sacred images,' but primarily because they were *places of instruction, Colleges and Universities of research in Arts and Science and creative learning.* Their location and cultural work in the Karnata Country had not only given the world immortal and authoritative works expounding the Jaina doctrine, but enriched Indian and Vernacular languages with several works

in *non-religious sastras* and *kalas* useful in the ordinary daily concerns of life. Most interesting and energiging of all, through example, is the contribution of Sravana Belgola Jaina culture to Karnata Literature and Karnata Polity. But these are aspects of South Indian Jainism which require separate and more detailed consideration. I believe, however, enough has been said in this paper to dispell the delusion that Jainism was either merely otherworldly or fantastically stoic and unsocial, deserving the commisseration of satirists old or new.

APPENDIX I.

SRAVANA BELGOLA CULTURE.

Authors and Works.

As we take leave of these sages and the memorial Kavyas about them, it would be well to remember some of the sages that by their great gifts of mind and soul developed this great spiritual Culture. Some of these prasastis are realistically descritive of the disputational knight-errantries of the more celebrated of them. In this view Ins. No. 42. 54 & 105 deserve special mention. Herebelow is a list of some of these sages references to whose scholarship and literary work occur in the poems :—

A. C. 1115 (1) No. 47—Meghachandra equal to Jina Vira Sena in Siddhanta; to Akalanka in six systems of logic and Pujya Pada in Grammar.

(2) No. 55—Gopanandi a great philosophical disputant.

A. C. 1117 No. 42 (1) Gunanandi Pandita skilled in Logic, Grammar & Poetry.

(2) Sampurnachandra Siddhanta Muni proficient in Solar and Lunar Astronomy.

(3) Maghachandra promoter of Bharata Sastra.

(4) Sri Dhara Deva skilled in Mantras and Medicine.

A. C. 1128 No. 54 (1) Vajra Nandi Muni author of *Nava Stotra*

(2) Sumati Deva author of *Sumathi Suptakam*

(3) Chintamani Muni author of *Chintamani (Poem)*.

(4) Sri Vardhana Deva author of *Chudamani (Poem)*.

(5) Deva Kalanka Pandita : a great scholar ; author of *Sabdanusasana*.

(6) Arya Deva, founder of the *Siddhanta* (astronomy ?)

(7) Mahamuni Hema Sena proficient in grammar and Logic.

(8) Santinādha a poetical author known as *Kavitākānta*

(9) Padmanabha a great disputant known as *Vadikolahala*.

A. C. 1163 No. 40 (1) Gridhra-Pinchācharya. discerner of "*Padartha*."

(2) Pujyapada author of *Jainendra* (grammer), *Sarvarthasidhi* in *Siddhanta* and *Samadhisatak* (Poetry).

(3) Prabhachandra celebrated author on Logic.

A. C. 1313, No. 41 Maladhari Ramachandra yati author of *Gurupanchaka Smriti*.

A. C. 1398, No. 105 (1) Umasvati author of Tatwartha Sutra.

(2) Ṡvakoti Suri author of Tatwartha Sutra-Alankara.

(3) Charukirti a great disputant skilled in medical science.

(4) Abhaya Suri " an ocean mine of science without shore."

(5) Charukirti (Sinhanarya) a great disputant in Siddhanta.

A. C. 1433 Siddhanta yogi expounder of Siddhanta Sastra, a great disputant of vast learning, gentility and humility.

APPENDIX II.

Here below are given the names of some of the *Poets* who composed the Śravana Belgola Inscriptions with *specimens* under each, of their *Commemorative Compositions* :—

It is worthy of note that many of these poets are either officers of states or members of families of heriditary officials, ministers and generals :—

No. 43. *Mardimaiya A. C. 1123.*

(१) परमाप्ताखिलशास्त्र-तत्वनिलयं शिद्धान्तचूडामणि
स्फुरिताचारपरं विनेयजनतानंदं गुणानीकसु- ।
न्दरनंबुन्नतियिं समस्तभुवनप्रस्तुत्यनाद दिवा ।
करनन्दिव्रतिनाथनुज्वलयशोविभ्राजिताशातटम् ॥

(२) विदितव्याकरणद ।
तर्कद शिद्धांतद विशेषदिं त्रैविद्या- ।
स्पदरेंदी धरे बणिणपुदु ।
दिवाकरनन्दिदेवसिद्धांतिगरम् ॥

(३) वरराद्धांतिकचक्रवर्त्ति दुरितप्रध्वंसि कंदर्पसिं-
धुरसिंहं वरशोलसद्गुणमहांभोराशि पंकेजपु-
ष्करदेवेभशशांकसन्निवयश श्रीरूपनो हो दिवा ।
करनन्दि व्रतिनिमंद निरुपमं भूपेंद्रवृंदार्चितम् ॥

No 44 & 47 *Bhavaraja Preggada A. C. 1121 & 1115.*

(१) समदोद्यन्मारगंधद्विरददलनकंठीरवं क्रोधलोभ- ।
द्रुममूलच्छेदनं दुर्धरविषयशिलोच्छेदवज्रप्रतापम् ।
कमनीयं श्रीजिनेन्द्रागमजलनिधिपारं प्रमाचंद्रसिद्धां- ।
तमुनींद्रमोहविध्वंसकरनेसेदं धात्रियोल् योगिनाथ ॥

---

(२) विश्वस्तमलं बुधजनमित्रं ।
द्विजकुलपवित्र नेचं जगदोल् ।
पात्रं रिपुकुलकंदलमित्रं ।
कौंडिन्यगोत्रनमलचरित्रम ॥

No. 50. Ganganna who has as titles "Likhita Manohara" and "Paranarisahodara" (1146 A. C)

(१) यन्मूर्त्तिर्जगतां जनस्य नयने कर्पूरपूरायते ।
यत्कीर्तिः ककुभां श्रियः कचभरे मल्लीलतांतायते ।
जेजीयाद्भुवि वीरनन्दिमुनिपो राद्धान्तचक्राधिपः ॥

(२) सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्त्राब्जभाभास्करः ।
षट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधो साक्षादयं भूतले ।
सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम् ।
त्रैविद्योत्तममेघचंद्रमुनिपो वादीभपंचाननः ॥

No. 53. Bokimāiya A. C 1131 :—

(१) जिनपदभक्ते बन्धुजनपूजितेयाश्रितकामधेनुका- ।
मन सतिगं महासति गुणागृणि दानविनोदे संततं ।
मुनिजनपादपंकरुहभक्ते जनस्तुते मारसिंगम- ।
य्यन सति पाचिकब्बे येने कीर्त्तिसुगुं धरे मेच्चिनिच्चलुम् ॥

(२) सकलकलाश्रयं गुणगणाभरणं प्रभु पंडिताश्रयं ।
सुकविजनस्तुतं जिनपदाब्जभृंगननूनदानिलौ ।
क्किकपरमार्थमेंबेरडुमंन्नेरे बल्लेनुत्ते दंडना- ।
यक बलदेवनं पोगलवुदं बुधिवेष्टितभूरिभूतलम ।

No. 85. *Bappana Pandita* 1180 A. C :—

(१) श्रीगोम्मटजिननं नर- ।
नागामरदितिजखचरपतिपूजितनं ।
योगाग्निहतस्मरनं ।
योगिध्येयननमेयनं स्तुतियिसुवेम् ॥

(२) पोडविगे संद गोम्मटजिनेंद्रगुणस्तवशासनक्के क- ।
न्नडगविबप्पनेन्देनिप बोप्पनपंडितनोल्दु पेल्दिवं ॥

No. 105. Arhaddasa Kavi 1938 A. C :—

इत्यात्मशक्त्या निजमुक्त्येर्हद्दासोदितं शासनमेतदुर्व्याम् ।
शास्त्रौघकर्तृत्रयशंसनांगमाचंद्रतारा-रविमेरु जीयात ।

(२) आस्यं वाणीनिवास्यं हृदयमुरुदयं स्वं चरित्रं पवित्रम् ।

देहं शान्त्यैकगेहं सकलसुजनता गण्यमुद्भूतपुण्यम् ।
श्राव्या मव्या गुणालिर्न्निखिलबुधततेर्यस्य सोऽयं जगत्याम् ।
अत्यारूढप्रसादो जयतु चिरमयं चारुकीर्त्तिव्रतींद्रः ॥

No. 108. Mangaraja Kavi A. C 1433:—

(१) प्रबंधध्वनिसंबंधात् सद्रागोत्पादनक्षमा ।
मंगराजकवेर्वाणी वाणी वीणायते तराम् ॥

(२) वाग्देवताहृदयरंजनमंडनानि मंदारपुष्पमकरंदरसोपमानि ।
आनन्दिताखिलजनान्यमृतं वमन्ति कर्णेषु यस्य वचनानि कवीश्वराणाम् ।

B. SESHAGIRI RAO,

Sree Bharatitirtha.
Vijianagram,
6th January, 1940.

JAINA TRADITIONS IN RĀJĀVAḶI KATHE.

By

S. Śrīkaṇṭha Śastrī, M.A.

Rājāvaḷi Kathe of Dēvachandra is a work completed in 1841 A.D. and its value lies in the traditions about Jainism, its history in Karṇāṭaka, the Literature in Samskṛit and Kannaḍa, incidental references to ruling dynasties and contemporary religions. Its historical value is extremely open to doubt, but it furnishes a starting point for further research and hence can not be dismissed as entirely fanciful.

Dēvachandra and his elder brothers Chandayya and Padmarāja were the descendants of a Jaina Brāhmaṇa Bommaṇṇa, an accountant of Giripura.
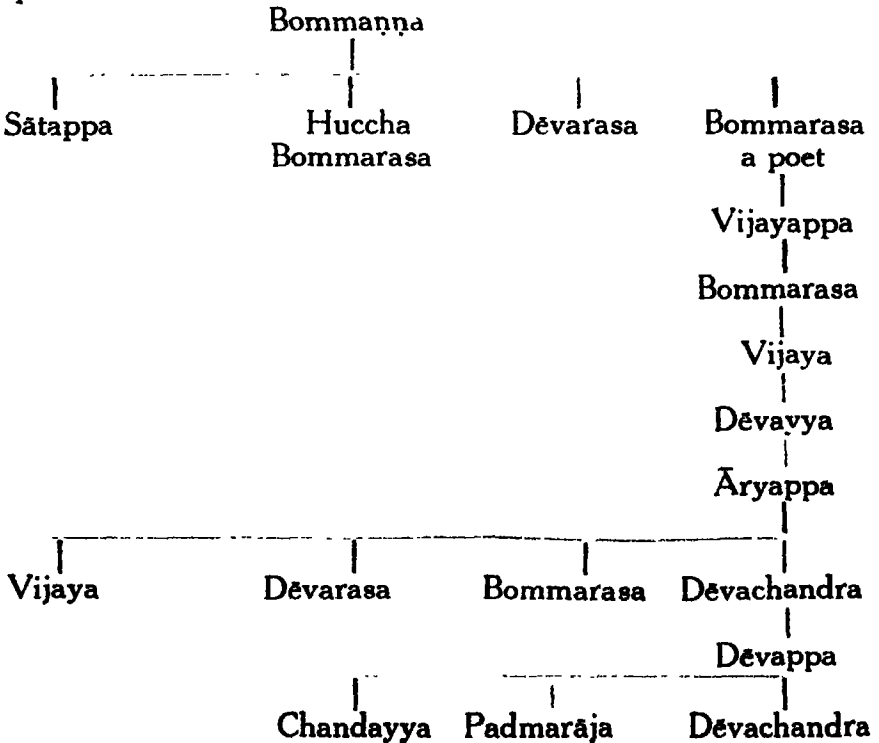
Dēvachandra was born in 1770 A. D, and from his fourteenth year he began to write poems. In his 22nd year (1772 A. D) he wrote *Pūjyapāda Charita* in Kannaḍa. Since his elder brother Padmarāja is also said to have written that work, both brothers must have co-operated in the production. Since Dēvachandra presented the *Rājāvaḷi Kathe* to Mummuḍi Kṛishṇa Rāja Woḍeyar in 1841 he must have lived for more than 70 years. Rājāvaḷikatha was his last work and before that he wrote Rāmakathāvatāra, Sumēru Śataka, Bhaktisāra, Śatakatraya, Śāstrasāra Laghu Vṛtti, Pravachana Siddhānta, Dravya samgraha, Dvādaśānuprēksha Kathā Dhyāna Sāmrājya, Adhyātma Vichāra. Karṇāṭakā Samskṛta Bālanuḍi, etc. He says that when Mackenzie with Sardar Lakshmaṇa Rao came to Kanakagiri, he asked for local records, Dēvachandra showed him his *Pujyapāda Charita*. Mackenzie took the poet along with him from Kamarabaḷḷi to Nāgavāla and giving him 25 Rupees asked him to send a written account of all the old traditions. Dēvachandra began his Rājāvaḷi Katha in 1804 and completed it in 1838 A.D. Therefore he took nearly 35 years in compiling it In 1841 Dēvīramba, queen of Chāmarāja heard of the work and asked the author to complete it by adding the history of the Mysore kings. Perhaps this was submitted to Kṛishṇa Rāja Woḍeyar III in 1841-42.

The work consists of 11 Adhikāras. Here I propose to give the translations and summaries of some of the passages in the Rājavali-kathā as are likely to be of interest for the students of history, and literature. The author's chronology is at times fanciful, and as he writes of the Jaina point of view he criticises, other sects, especially Śrī Vaishṇavas and Vīra śaivas very harshly.

In the begining, the author deals with creation of the 14 worlds, 64 Vidyas, 4 Castēs and 18 sub-castes and 101 Kulas; characteristics of the four castes, Kuruvamśa, Harivamsa Nāthavamśa, Ugra Vamśa from Kāśyapa, etc Kurus ruled at Hastināpura, Ugras at Kāśi, Nāthas in Kuṇḍina, and at Ayōdhyā, Supratishṭhita, Subāhu, Yaśōbāhu, Ajitanjaya and others. These four families became famous because of the 24 Tīrthaṁkaras, 12 Emperors, 9

Bala Dēva Vāsudēvas, 11 Rudras etc. Next an account of Vyasa, Kṛishṇa and Daśāvataras is given. Jaina rituals and festivals like Nandīśvara Pūja are dealt with.

Mallibhaṭṭa following Maskaripurāṇa invented Islam and composed Mullāśāstra according to the teaching of his master Pārśva Bhaṭṭaraka. [115—118].* The story of Chāṇakya Mahārshi and Navanandas is given [119]. Bhadrabāhu Svāmi fearing a twelve-year famine in Ujjaini migrates (124-7), with Chandragupta Mahārāja. Śalivāhana Saka started 136 years after Vikrama from Rudhirōdgāri in 556 (V. N.) and *84gachhas* among Jainas became separated. [135].

In the time of Vasupāla of Indrapura, all Brahmins were Jainas but later they abandoned the Jaina religion and called themselves Vēdantins [162].

In Śaka 200, Pūjyapāda was born to Mādhava bhaṭṭa and Śrīdēvi of Koḷḷegāla. Pāṇini of Muḍigonḍam was writing his grammar but before he could complete it his end approached and therefore he asked his maternal uncle. Pūjyapāda to complete it. Pūjyapāda not only wrote Jainēndra Vyākaraṇa but also wrote a Vṛtti to Pāṇini's grammar [168]. Nāgārjuna also learnt from his maternal uncle or cousin Pūjya pāda the art of converting base metals into gold. Kanakagiri was called Hēmagiri and Parśva Jina, Padmāvati and Brahma were installed Siddha Nāgārjuna was for some time at Hēmagiri where some kings established Gōpala and therefore he went to Śrī Śailam [169—171].

Yaśōdhara of Champakāpura gave Śrīśaila to his son Śrīdhara who performed penance there and hence the hill was called Śriparvata and later Śrī Śaila. To the south of it, at the foot of a Vaṭa tree he obtained Siddhi; therefore the place is called Siddha Vaṭam. Amarāvati is so called because the Chatur Nikāyas gathered there for Kēvala Pūja. Śrīdhara was performing penance

* The references in brackets are to the pages of the Manuscript in the Mysore Oriental Library.

at the foot of an Arjuna tree surrounded by Mallikā creepers and and when the Khēcharas worshipped the saint with Mallikā flowers it was called Mallikārjuna. When Nāgārjuna went there he established a god now called Mallikārjuna [172 = 178.]

Causes for the decline of Jainism. In Kalyānapaṭṭaṇa, Samyaktva Chūḍāmaṇi Bijjaḷa, son of Chāṇānka Rāya was ruling with his queen Guṇawati and ministei Sambuddhi. A Jaina Brahmin of Maṇḍige near Ingulēśvar became a Śaiva Brahmin. His son was Lingabhaṭṭa who had a son Madi rāja To Mādirāja and his wife Mādalā, a daughter and son (Basava rāja) were born. Basava worshipped Kāḷikā and obtained several charms and spells. After the death of his parents he became a Brahmin hater and did not perform the marriage of his sister Nāgamma. Basava and his nephew Chenna Basava destroyed 6700 Basadis and preached Vīra Saivism. Mari Bijjala's mother secretly followed Jaina religion and asked her son, and the minister Buddhi Sāgara to oppose the activities of Basava. [Account of Various Vīraśaiva sects]

In Kānchi, the king Śivakōṭi's younger brother Śivāyana established 1 crore of Śivalings. Samanta Bhadra converted the king. Śivakoṭi's son Śrikaṇṭha became king after his father became a monk [189]

Prabhāchandra Svāmi worshipped Jvālāmālini and taught two brothers Akalaṁka and Nishkalamka, sons of a Jaina Brāhmaṇa. They defeated the Buddhists and Vīraśaivas. Then Bhaṭṭākalamka of Sudhāpura composed Akalṁkāshṭaka.

In Śaka 780. 64 Jaina Brāhmaṇas were brought to Sravaṇa Beḷagoḷa for the worship of Gommaṭēśvara. [213].

Amara in the time of Bhōja [216—217].

Kudugaḷur in Kuḍuga Nāḍu was named Terakaṇāmbi. The Nava Chōḷas Vīra Pratāpa, Santa, Dēva, Bhū Dēva, Bhīma, Rudra-dharma and Kalikālachōḷa ruled, three were Jainas, two Śaivas and two Vaishṇavas, Dharma choḷa seized by a Brahm- [illegible]

built many Jaina, Saiva and Vaishṇava temples and was relieved at Dēvapura, [219].

Hasti Mallishēṇācharya, with his disciples Pārśvapaṇḍita, Lōkāpālāchārya etc., and Jaina Brāhmaṇas of three *gotras* came from Pāṇḍya country and stayed in Jāngala Deśaa. Nine other *gotra* Brahmins came to Karṇāṭaka and stayed at Ari Kuṭhāra. They were serving under Hoysaḷa Ballāla. 700 Jaina families had violated caste customs and 515 refused to perform *prāyaśchitta* but the other 185 families of Gerusoppa, Bhaṭkal etc., remained true Jainas.

At Śālīgrāma the Vaidikas were about to sacrifice 21 goats which were rescued by the Jaina saint Dharmāchārya and some Brahmins began to use flour (*pishṭa paśu*). Mādhvāchārya established Madhwa religion.

Kāḷinga Rāya usurped the Chōḷa throne. Pānchāḷas leave his kingdom and go to Orugal Pratāpa Rudra and having learnt puppet-play kill Kāḷinga Rāya and his ministers. A Jaina Brāhmaṇa named Vidyānanda adapted Mahā Bhārata and Rāmāyaṇa stories for puppet-plays. [223].

Among the Jainas several sects like Sthānikas and Bēhara come into existance. Among the Jaina Kshatryas Banga, Chauta, Ajila, Sāvanta, Heggaḍe became separate. In Kumbhakōṇam, there were 12 Jaina sects. In Kanchi, Chōla, Keraḷa and Paṇḍya countries, the Jaina Brāhmanas formed 5 sects—Upādhyāya, Paṇḍita, Naigāra, etc., Similarly 14 sects of Vaisyas, 14 of kongas, and 12 of Māḷeyāḷas occurred.

In the Pāṇḍya country Vira Pāṇḍya's son was ruling in Suthern Mathura. The Jangamas converted Kūna Pāṇḍya to Vira Saivism. There were Jaina Brāhmanas like Gōpāchārya, Guṇabhadra Yatīndra; and his son Mallipaṇḍita, the minister, when coming from the King's Court caught hold of a masth elephant and pushed it aside. Therefore he was called Hastimallishēṇa. He was a poet in two languages (*Ubhaya bhasha Kavi Chakravarti*) [illegible]

tried to compel him to become a Lingāyat; therefore with his sons Pārśvapaṇḍita and others, he came to Kēraḷa with Brahmaṇas of 12 gōtras and 50 Śūdra families, and stayed at Vijayapaṭṭaṇa. Kūna Pāṇḍya destroyed 985 basadis in the Pāṇḍya country and 50 in Mathura alone. Nēminātha the family god of the Pāṇḍyas was hidden away and Kūshmāṇḍini was renamed Mīnākshi. The Āṇḍis there persecuted the Jainas and celebrated the festival of pikes (*Śramaṇa Śūlada Habba*).

A smārtā Brāhmaṇa named Śaṁkarāchārya studied under a Jaina teacher and becoming a Śuddha Śaiva; he came to Sringēri. where he concealed the Jina image in the Basadi and the goddess now called Sarasvati was worshipped by him. He wrote many commentaries and acquired many followers [228].

The Jaina families who came from Pāṇḍya country to Vijaya-mangala were honoured by Ballāḷā Raya and settled at Chhatra traya pura.

In the family of the Ballāḷas was Vīra Bhūpa who became the Pāṇḍya ruler of Modhura. His ancestors were Ratnamauḷi, kirīṭā-pati, Vikrama Vijaya, Vikhyāta, Śūra, Satyandhara, Brahma, Sōma-kīrti. Vīra Pāṇḍya s son Kūna Pāṇḍya became a Vīra Śaiva. His queen Achalā. being pregnant was sent to Karnāṭaka. Her son Saḷa ruled at Dora samudra [239].

Beṭṭa Hoysala Deva ruled at Talakād and in Arikuthāra reno-vated the Trikuṭa Basadi in 1029 Durmukhi, Jyēshṭha Bahula, Arkavāra, Tulāraśi, Bṛhaspati. His eighth minister was a Vīra Śaiva named Māchirāja who caused a tank to be constructed at Koḷalūr. His wife Śāntavve completed the tank and caused the temples of Śāntalēsvara to be built by Denkaṇāchāri. In Ś. 1104 Plava, Vaiśākha, Śec, 5, she obtained a grant from Ballaḷa. She also built the Chenna Somēśvara temple at Huligere and Virūpāksha temple at Hampi. Abhinava Pampa wrote *Jinākṣharamāle Mallinātha purāṇa* and *Rāmacharitra*. Vīra Ballāḷa made his younger brother Sindhur Ballāḷa—a Vīra Śaiva the governor of Toṇḍanur. [247]. Enemies were attacking the kingdom of the Ballāḷ

and the daughter of Badshah took a vow not to marry any one except him who stopped the attacks. Ballaḷa promised to stop the attacks but refused to bow down to the Sultan The Sultan became angry and asked his servants to kill Ballaḷa However they cut off only one finger and therefore he was called Beṭṭu Ballāḷa.

In the Drāviḍa country was born the Vaishṇava Brahmin Rāmānuja who began to preach Śrivaishṇavism in Vidyānagara. But the Jainas there defeated him and confiscated all his honours. Therefore in a dejected mood he began to fast. His daughters Bhangāre and Singāre consoled him and promised to convert all Jainas into Śri Vaishṇavas. Being accomplished dancers and musicians they came to the Hoysala country. Ballāḷa received them and in order to teach them the principles of Jainism ordered the Jaina poets to write in Kannaḍa and Samskṛit. Aggaḷa Ranna, Honna, Janna Karnapārya, Madhura, Rājahamśa Nāgavarma, Kēśava and Nēmichandra wrote in Kannaḍa. Ballāḷa's subordinates Kshemankara, Dāmōdara, Padmanābha also caused Purāṇas to be written Nayasēnācharya, Digambare Dā a Nūtna Kavitā Vilāsa (?) wrote *Dharmāmṛta.* Nēmichandra wrote Līlāvati to rival *Kādamabarī* [250]. Among the Jainas who came from Dīpānguḍi, the Brāhmaṇas of of Bhāradvāja gotra settled in Arikuthāra and Terakaṇāmbi The sons of Parśva Paṇḍita of Śrī Vatsa gotra - Chandrapārya, Chandranātha, Chandaṇārya etc., became famous. Chandapārya's second son Brahma Sūri wrote *Kaivalya kāra.* Chandranātha and others of Chatra trayapura settled at Kanakagiri [251]

The Delhi Pādśāh married his daughter Varanandi, to the sword of Ballāḷa and sent her to Karnāṭaka. Bangāramma and Singāramma requested the king to invite their father Rāmānuja. and the Śrī Vaishṇavas. The king became a hater of Jainas and was converted by Rāmānuja, He destroyed 7'0 basadis in Toṇḍanūr, 16 in Heḍatale, 100 in Kalaśavāḍi and in the 5 temples meant for Jainas, he established 5 Nārāyaṇas. Rāmānuja toured the country with the title Jainēbha Kanṭhīrava and at Tirupati, Kāśi etc., established Vishṇu images. He was accompanied by 1,000 panchaṇas who were named Tirukulaḍāsas.

In Mēlugōṭe, the Jinālaya was uprooted, Cheluva Rāya was established, from Ś. 1119 to 1200. Meanwhile near Aḍagūr the earth opened and Ballaḷa requested Hanasōge Chandramuniśvara to remedy it. The monk consecrated a pumpkin and put it into the hole and the earth closed up. Therefore he was called Chārukīrti and Ballaḷa Jīva Rakshāpāla.

The Delhi Sultan when he sent Varanandi had ordered that drums should be placed at an interval of one *gāvuda* in order to know the condition of his daughter. When the queens of Ballāḷa made fun of her beauty, she caused the drums to be beaten The Sultan sent Viziers, each with 1 lac of horses and 18 lacs of foot soldiers ; Malliga Sudar, Malliga Junnar, Malliga Vazier opposed Ballāḷa near Chandra drōṇa Paravta. Varanandi entered the cave in the hill and died. Ballaḷa fought for 7 days but could not succeed and therefore entered another cave and perished,

Sindhu Ballāḷa and others became Śrī Vaishṇava, Jaina Vaiśyas settled at Venkaṭāpura ; Dāsagauḍa, Baṇajiga, Tirukuladāsa, Chautāla became separate sects. The Śrāvakas of Dēvihaḷḷi, Keḍa. daravaḷḷi, Aḍugur, Sāvantana halli and Hongere gave much wealth to Bangāramma and Singāramma and promising to worship in the name of Vishṇuvardhana and Ramanuja, escaped conversion. Therefore they are called Gauḍas, Untill then there was no sectarian difference. Due to Rāmānuja, Śamkara Bhaṭṭa and Rudrārādhya the sects became separate.

To be continued.

Reviews.

I

Kaṁsavaho, edited by A. N. Upadhye, Hindi Grantha Ratnākara Kāryālaya, Bombay 1940.

Kaṁsavaho, a Prākrit poem by the versatile Kerala poet Rāma Pāṇivāda, has been critcally edited by Dr. A. N. Upadhye. The work is fitted with a highly elaborate and exhaustive introduction, together with a critical apparatus, English translation, Sanskrit gloss, and explanatory notes in English, with a very useful vocabulary of choice words From the stand-point of Indian Linguistics, the work is a distinct contribution to our knowledge of Middle Indo-Aryan, as many new words, hitherto unknown or unnoticed in Prākrit Lexicons, have been brought to light by the publication of the valuable work, *e.g.*, 'siṁkharā' chain, 'mha' in 'vāharai mha' said, 'kuaṁḍa' bow, etc. The explanation given for the dropping of initial consonants of words like 'cira,' 'kim' is sound, for all linguistic expressions are actually groups of words, in which owing to accent on certain prominent parts, other words must get weakened and lose certain portions This is particularly the case in poetry, in which, for the sake of rythm, certain words receive greater prominence than others. In fact it seems to me that Prākrit poetry is in this respect more natural than Sanskrit poetry The printing of the Prākrit section is beautiful, though quite a number of errors in the transliteration of Prākrit words occur, *e.g.* 'nolla' for 'ṇolla,' 'nisāu' for 'ṇisāu' etc. The devocalisation of G in 'aṅkaṇathalıaṁ' is interesting. I wish the notes had been as exhaustive as the introduction, but this required a number of co-workers, whom, I hope, the learned editor will be able to secure in his subsequent works.

SIDDHESHWAR VARMA,
Professor of Sanskrit, Prince of Wales
College, Jammu (Kashmir)
Sept. 29, 1940.

2

Inscriptions in Northern Karnataka and the Kolhapur State by Prof. K. G. Kundangar, M.A., Printed by the Arya Bhanu Press, Kolhapur, Demy pp. 186+124+44, Kolhapur, 1939, Price Rs. 3/-.

Prof. K. G. Kundangar is an indefatigable explorer of epigraphic records many of which he has published in different Journals In this volume he has presented 43 new records collected from different localities in Northern Karnatak and the Kolhapur State. They include Grants, Vīragals and Nisidigals and refer to contemporary rulers from Chālukys, Kalachūrya, Yādava, Raṭṭa and Śilāhāra dynasties of the 11th, 12th and 13th centuries. Besides giving the text of Inscriptions in Kannaḍa and Devanāgarī, Prof. Kundangar has added an English translation and a critical Introduction dealing with the political, social, religious and linguistic aspects of the records presented in this collection. At the close we have Kannaḍa and English Indices which greatly add to the referential value of the book. The introduction is quite informing and interesting and presents the relevent topics in a systematic manner. Prof. Kundangar deserves our sincere praise for his patient labours; and this volume, as a collection of new records, is indispensable to students of South Indian History.

A N. UPADHYE.

3

Neelakesi, The original Text and the Commentary of Samayadivākaravāmanamuni, Edited and published by Prof. A. Chakravarti M.A., I.E.S., Principal Government College, Kumbakonam, Demy 8 vo. pp 12-340-4-484, Madras 1936.

Prof. A. Chakravarti, though a philosopher by profession and a Principal of a Government College by circumstances, has edited Tamil texts like Merumandarapurāṇam and Neelakesi in his leisure

time left after carrying out his academic and executive duties; this amply testifies to his zeal for Jaina studies and love for Tamila literature. The readers of Jaina Antiquary are already acquainted with his extensive study of Jaina literature in Tamil, a survey of which from his learned pen is being already published in the pages of this Journal. His Introduction and English Translation of Pañcāstikāya, published in the Sacred Books of the Jainas, have been looked upon as classical contributions on Jainism by the Historians of Indian Philosophy like Sir Radhakrishnan. The reviewer feels sorry that he does not possess a first-hand knowledge of Tamila language; but it is his respectful interest in Tamil Classics and their chronology that tempts him to write a review-notice of the volume of Neelakesi which contains a substantial Introduction in English covering 340 pages. After the Tamil text with commentary there is an Index of difficult words at the and. One wished that the diacritical points were regularly and carefully used in writing names and technical terms.

Neelakesi is a well-known Tamil classic ' The original as well as the commentary are of such literary merit', as the editor puts, ' that the Tamil public would gladly welcome this work. It is mainly intended to expound the doctrine of Ahimsa, in all its aspects and from the same point of view it critically examines other systems of Indian Thought.'

Despite the doubt expressed by other scholars, the editor points out that the title of the work is Neelakesi, and it ' was intended by its author as a refutation of the Buddhist work Kundalakesi ' which is now lost. The name of its author is not known, and from the circumstantial evidence (pp. 5-11) the editor is inclined to put him in the first century A. D. The name of the commentator is Samayadivākaravāmanamuni who is accepted to be identical with Vāmanācārya, the author of Merumandarapurāṇam ; and the editor puts him in the 14th century A. D.

The editor has given a detailed summary of this work in his Introduction (pp. 136 ff.), and here and there he has given information

about Buddhism and Ājīvika sect. etc., which is useful for understanding the refutation of these systems by the author. The contents show what a wealth of Jaina dogmatic details is given by the author and with what a remarkable acumen the various arguments are advanced to refute different non-Jaina systems.

From the study of the contents one is reminded of the works of Umāsvāti, Samantabhadra, Amitagati and others in Sanskrit. What strikes one is that the editor has not perhaps distinguished the contents of Neelakesi from those of the Commentary in his summary. If an authentic and critical translation of the text alone is made available in English, it would not be difficult to settle its age etc., after comparing its contents with those of other Jaina texts in Prākrit and Sanskrit the dates of many of which are not as uncertain as that of Neelakesi. By distinguishing between the contents of the text and the commentary we can get a good picture of the intellectual equipment of the author some clear idea about the Buddhist texts which the author might have used, and lastly some glimpses of the Buddhist influence in the Tamil country.

That the Jainas are known by the names Nirgrantha and Śramaṇa in Tamil literature (pp. 9, 27) reminds us of the usage in the Ardhamāgadhi canon and in the works of Kundakunda etc. If we get critical and literal English translations of early Jaina texts in Tamil, a very fruitful field of research can be opened. On the one hand the details that we get about Jainism in Prākrit and Sanskrit works can be supplemented by these Tamila texts for some of which greater antiquity is claimed ; and on the other, the dates of Tamil texts can be settled in the light of the chronology of Jain works in Prākrit and Sanskrit. I do appeal to Tamil scholars to prepare philologically authentic translations of early Jaina works in Tamil.

Some of the remarks of the editor with regard to the customs etc., in the Jaina community (pp. 30 etc.) appear to be special in many cases to the Tamil country, and they deserve to be compared with those in other provinces of India.

Prof. Chakravarti deserves our sincere thanks for his labours on this important Tamil classic and its commentary both of which he has rescued from oblivion and presented their contents in English that they might be available to a wider public We feel no doubt that Tamil scholars will welcome this volume with great pleasure.

A N. UPADHYE.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI. 1940.

Edited by

Prof. Hiralal Jaina, M. A., LL.B
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamta Prasad Jaina. M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 3. Foreign 4s. 8*d*. Single Copy Rs. 1-8.

CONTENTS.

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in June and December.

2. The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s.* 8*d.* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, "Jaina Antiquary" The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to. K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, "Jaina Antiquary" Aliganj, Dist Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के प्रकाशित ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित—
[सं० पं० के० भुजबली शास्त्री एवं पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)
[मूल्य कम कर दिया गया है]

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित—[सं० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य .. .. १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—[सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ॥)

(४) प्रशस्ति-संग्रह (प्रथम भाग)—[सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १॥)

(५) वैद्यसार - [सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ।।।)

(६) तिलोयपण्णत्ती (प्रथम भाग) [सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ।।।)

(७) भवन के संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की सूची .. ... १)

(८) भवन के अंग्रेजी पुस्तकों की सूची ... ... ।।।)

(९) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग ... ...[अप्राप्य]

(१०) „ २य भाग ... ... ४)

(११) „ ३य भाग ... ... ४)

(१२) „ ४र्थ भाग ... . ४)

(१३) „ ५म भाग ... ... ४)

(१४) „ ६म भाग ... ... ४)

(१५) „ ७म भाग ... ... ३)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ८ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. VII. No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LLB.
Prot. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

DECEMBER, 1941.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३। है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचन जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ८ | मार्गशीर्ष | किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३॥) | एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४१

विषय-सूची

ग्रन्थमाला-विभाग

देवगढ़ का एक अत्यन्त प्राचीन मन्दिर

तोरण स्तम्भ का एक दृश्य, मथुरा
(इसमें कण्ह श्रमण का नग्न और जैन-स्तूप
की बनावट दर्शनीय है।)

तोरण स्तम्भ का एक इन्द्र, मथुरा
(दो हजार वर्ष की प्राचीन कारीगरी)

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ८ | दिसम्बर, १९४१। मार्गशीर्ष, वीर नि० सं० २४६८ | किरण २

अर्द्धफालक-सम्प्रदाय

[ले० श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

'अतोर्द्धफालकं लोके व्यानसे मतमद्भतम् ।
कलिकालबलं प्राप्य सलिले तैलबिन्दुवत् ॥२०४॥

—श्रीभद्रबाहुचरित्र

श्रीरत्ननन्दी आचार्य ने अपने 'भद्रबाहुचरित्र' नामक ग्रन्थ में अर्द्ध फालक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। उपर्युक्त शब्दों में बताया है कि 'वह आश्चर्यजनक अर्द्ध-फालक मत कलियुग का बल पाकर सब लोगों में फैल गया, जैसे जल में तेल का बिन्दु फैल जाता है।' यह भी बताया है कि 'यह अर्द्ध फालक दर्शन जिन भगवान के वास्तविक सूत्र को विपरीत कल्पना करके विचारे मूर्ख लोगों को खोटे मार्ग में फँसाता है।'[1] श्रीरत्ननन्दीजी ने इस मत को श्रुतकेवली भद्रबाहुकालीन द्वादशवर्षीय दुष्काल के अन्त में प्रादुर्भूत हुआ बताया है, और अन्त में लिखा है[2] कि 'उपरान्त वल्लभीपुर में सम्पूर्णतः श्वेत वस्त्र ग्रहण करने के कारण विक्रम नृपति के मृत्युकाल से १३६ वर्ष के बाद श्वेताम्बर मत प्रसिद्ध

१ 'श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रस्य सूत्रं संकल्पतेऽन्यथा
वर्त्तयन्तिस्म दुर्मार्गे जनान्मूढत्वमाश्रितान् ॥३१॥४॥

२ 'धृतानि श्वेतवासांसि तद्दिनात्समजायत ।
श्वेताम्बरमतं ख्यातं ततोर्द्ध फालकमतात् ॥५४॥
मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिके शते ।
गतेऽब्दानामभूल्लोके मतं श्वेताम्बराभिधम् ॥५५॥

हुआ।'[1] श्रीरत्ननन्दीजी के इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि प्राचीन निर्ग्रन्थमत अर्थात् दिगम्बर जिनधर्म से श्वेताम्बरों के पूर्वाचार्यों ने एकदम विरोध नहीं किया था, बल्कि पहले उन्होंने खंडवस्त्र धारण कर के मूलमार्ग की विशुद्धि नष्ट की। क्रमशः बलसंचय करते हुए, गुजरात के वल्लभी नगर में वि० सं० १३६ में श्वेत वस्त्रों का विधान साधुओं के लिये होने के बाद, वह स्पष्ट हो गया और 'श्वेताम्बरमत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। निस्सन्देह श्रीरत्ननन्दीजी का यह कथन स्वाभाविक प्रतीत होता है; किन्तु उनके अतिरिक्त किसी दूसरे आचार्य ने इस 'अर्द्धफालक' सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं किया है। इसी आधार पर कतिपय दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वान उसे अमान्य ठहराते हैं, और दिगम्बरों द्वारा बताई गई श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति-विषयक अनुश्रुति को कल्पित बताते हैं।[2] किन्तु यह उनका अतिसाहस है। प्रस्तुत लेख में शिलालेखीय साक्षी के आधार से अर्द्धफालक-सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करना अभीष्ट है।

यह सच है कि श्रीरत्ननन्दीजी के अतिरिक्त किसी दूसरे ग्रन्थकार ने 'अर्द्धफालकों' का उल्लेख नहीं किया है; परन्तु उल्लेख न करना इस बात की दलील नहीं हो सकती कि वह बात ठीक नहीं है—उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। किसी साक्षी में कोई बात छूट जाना (omission) उसका निराकरण नहीं कर देता। उस पर ऐसे अधिक उल्लेख हैं ही कहाँ, जिनमें श्वेताम्बरों का विशेष वर्णन हो! सर्वप्राचीन उल्लेख श्री देवसेनाचार्य के 'दर्शनसार' में निम्न प्रकार है:—

'छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥११॥'

अर्थात्—"विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के वल्लभीपुर में श्वेताम्बर-संघ उत्पन्न हुआ।"

---

१ स्वयं श्वेताम्बर मत है कि 'जिनकल्प' (दिगम्बरत्व) समीचीन प्रथा है। यथा:—

'संयमो जिनकल्पस्य दुःसाध्योऽयं ततोऽधुना।
व्रतं स्थविरकल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम् ॥

२ दिगम्बर सम्प्रदाय में माननीय पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'दर्शनसार' ग्रन्थ में रत्ननन्दिवर्णित इतिवृत्त न पाकर उनकी बात को कल्पित घोषित किया था। उन्होंने लिखा है कि "रत्ननन्दी के अनुसार भद्रबाहु के समय में तो 'अर्धफालक' या आधा वस्त्र पहननेवाला सम्प्रदाय हुआ और फिर वही सम्प्रदाय कुछ समय के बाद.. ..पूरा वस्त्र पहननेवाला श्वेताम्बर सम्प्रदाय बन गया। परन्तु इस कल्पना में कोई तथ्य नहीं है।"

—जैनहितैषी, भा० १३ पृ० २६६

श्रीयुत सी० जे० शाह ने 'जैनिज़्म इन नॉर्थ इंडिया' में दिगम्बर मान्यता कल्पित बताई है। (पृ० ६७)

देवसेनाचार्य भी श्वेताम्बरों की उत्पत्ति का समय और स्थान ठीक वही बताते हैं, जो कि श्रीरत्ननन्दी आचार्य ने बताया है। परंतु आगे उसका परिचय वह सामान्य रूप से कराते हैं और यह कह कर संतोष धारण करते हैं कि मूलतः यह मत किसने चलाया और इसमें कौन-कौन-से विपरीत सिद्धान्त मान्य हुए। उन्होंने श्वेताम्बरीय संघ की उत्पत्ति-कथा को छुआ भी नहीं है। ऐसी हालत में यदि वह श्वेताम्बरों के पूर्वगामी अर्द्धफालकों का उल्लेख नहीं करते, तो आश्चर्य ही क्या है ? 'दर्शनसार' के अतिरिक्त 'भावसंग्रह' नामक ग्रन्थ में भी श्वेताम्बरोत्पत्ति का वर्णन है। वह ग्रन्थ प्राकृतभाषा में श्री विमलसेन गणी के शिष्य देवसेन का रचा हुआ है।[1] कह नहीं सकते कि 'दर्शनसार' के कर्त्ता देवसेन से वह अभिन्न है या नहीं। 'सावयधम्मदोहा' भी देवसेन की रचना है; परंतु वह हमारे सम्मुख नहीं है, इसलिये देवसेन के व्यक्तित्व के विषय में हम कुछ भी विवेचना नहीं कर सकते। 'भावसंग्रह' में श्वेताम्बरोत्पत्ति का कथा दी गई है, किन्तु उसमें अर्द्धफालकों का उल्लेख नहीं है। उल्लेख न होना घटना को असत्य नहीं ठहरा सकता; क्योंकि स्वाधीन साक्षी के आधार से उनका अस्तित्व प्रमाणित है; जैसे कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है। मथुरा से कुशनकालीन पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है और उसमें जैन कीर्तियाँ भी अनेक हैं। इन जैन कीर्तियों में कतिपय ऐसे आयागपट आदि हैं, जिनमें जैनसाधु यद्यपि नग्न (दिगंबर) अङ्कित हैं, परंतु वे अपनी नग्नता एक खंडवस्त्र-द्वारा छिपाये दर्शाये गये हैं सबसे पहले उस बौद्ध स्तूप (Vodva stupa) को लीजिये, जिसे लोग देवनिर्मित बताते हैं। उस पर एक दिगम्बर साधु चित्रित हैं, जिनकी कलाई पर एक खंड-वस्त्र लटका हुआ है। यह हमारा ही अनुमान नहीं है, बल्कि डॉ॰ बुल्हर ने भी यही लिखा है।[2] मथुरा कंकालीटीला से प्राप्त पुरातत्त्व को देखते हुए सब से पहले हमारा ध्यान प्लेट नं॰ २२ में अङ्कित कण्ह श्रमण के रूप की ओर गया था, और तभी हमने इन खंडवस्त्र-सहित मुनि का उल्लेख किया था। उपरान्त डॉ॰ बुल्हर भी उसी बात को प्रकट करते हुए मिले। कण्ह-श्रमण के चित्र से स्पष्ट है कि उनकी कलाई पर एक खण्ड-वस्त्र लटक रहा है और दूसरा हाथ कंधे पर पीछी लिए रक्खा है। श्रीरत्ननन्दीजी ने स्पष्ट लिखा है कि जब एक सेठानी श्रमणों के नंगे रूप से डरी, तो सेठजी की प्रार्थना पर उन साधुओं ने

---

१ जैनहितैषी, भाग १३ पृ॰ ३६८—३६९।

२ श्रीचिमनलाल शाह ने इसका उल्लेख इन शब्दों में किया है: "The Vodva Stupa built by the gods······The male figure on the right of the Dharma-cakra is considered by Dr. Buhler to be that of a 'naked ascetic, who, as usual, has a piece of cloth hanging over his right arm."

- Jainism in North India, p. 257.

एक 'आधा वस्त्र' स्वीकार कर लिया, जिससे वह अपनी नग्नता छिपाने लगे।[१] कण्ह-श्रमण के चित्र से श्रीरत्ननन्दीजी का बताया हुआ साधु का विकृत-रूप प्रमाणित होता है। यदि यह कहा जाय कि कण्ह-श्रमण को श्वेताम्बरीय ही क्यों माना जाय? अथवा उन जैसे सब ही साधुओं के चित्रों को श्वेताम्बरों से क्यों सम्बन्धित किया जाय? तो, यह तर्क भी तथ्यहीन है: क्योंकि मथुरा-पुरातत्व में एक ऐसा शिलापट भी मिला है, जिससे स्पष्ट है कि वह उस सम्प्रदाय की कृति है, जिसे भ० महावीर के गर्भ परिवर्तन की वार्ता मान्य है। इस शिलापट का चित्र श्री चिमनलाल शाह की "जैनिज्म इन नॉर्थ इंडिया" नामक पुस्तक के पृष्ठ २१ पर प्लेट नं० ४ पर छपा हुआ है। इसका वर्णन लिखते हुए डॉ० बुल्हर ने लिखा है:—

'At his (Nemeśa's) left knee stands a small naked male, characterised by the cloth in his left hand, as an ascetic and with uplifted right hand."

—*Dr Bulher, Ep. Ind., II, 316.*

श्वेताम्बरीय मान्यता है कि इन्द्र की आज्ञा से नेगमेश (नेमेश) ने भ० महावीर का गर्भपरिवर्तन किया था। उपर्युक्त शिलापट में नेगमेश गर्भपरिवर्तन करता हुआ चित्रित किया गया है और यह स्पष्ट करने के लिये कि यह मान्यता श्वेताम्बरों के पूर्वज, अर्द्धफालक-श्रमणों की है—नेगमेश के पास एक छोटी-सी मूर्ति ऐसे दिगम्बर साधु की अङ्कित की गई है, जिसकी डेढ़ी कलाई पर खण्डवस्त्र (अर्द्ध-फालक) लटक रहा है! इस साक्षी से यह स्पष्ट है कि श्वेताम्बरीय साधुओं ने एकदम श्वेतवस्त्र धारण नहीं किया था, बल्कि प्रारंभ में उनके पूर्वगामी आचार्यों ने खण्डवस्त्र (अर्द्ध-फाल) अपनी नग्नता छिपाने के लिये ग्रहण किया था। इन पूर्वगामी श्वेताम्बरीय श्रमणों का उल्लेख श्रीरत्ननन्दीजी ने ठीक ही 'अर्द्धफालक' नामसे किया है—उन्होंने एक घटित हुई सत्यवार्ता का उल्लेख किया है, जिसका पता, संभव है, 'भावसंग्रह' के रचयिता को न रहा हो। श्रीरत्ननन्दीजी का सम्पर्क उत्तर भारत से अधिक रहा होगा; इसीसे शायद वह मथुरा के पुरातत्त्व से प्रमाणित होनेवाली घटना का उल्लेख कर सके हैं। अतएव उनके कथन में संशय करना व्यर्थ है और यह कहना कि 'अर्द्धफालकों' की वार्ता तथ्यहीन और कल्पित है, ग़लत है।

---

१ 'एतच्च विषमं रूपं जनानां भीतिकारकम्।
धृत्वा खरलकं शीर्षे परिधायार्द्धफालकम् ॥८१॥ —भद्रबाहुचरित्र, पृ० ५६

मेरी देवगढ़ की यात्रा

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

जी. आई. पी. रेलवे लाईन, जो देहली से बम्बई को गई है, उसी पर ललितपुर नाम का स्टेशन है। ललितपुर से देवगढ़ १९ मील दूर है। यहां से यात्री बैलगाड़ी, ताँगा एवं मोटर द्वारा देवगढ़ जा सकते हैं। देवगढ़ जाने का एक दूसरा रास्ता भी है। ललितपुर से दक्षिण की ओर दूसरा स्टेशन जाखलौन है। इस स्टेशन से देवगढ़ केवल ९ मील दूर है और यहाँ से यात्री बैलगाड़ी-द्वारा देवगढ़ जा सकते हैं। जाखलौन स्टेशन से पैदल का सीधा रास्ता सिर्फ ७ मील है। देवगढ़ अब उजड़-सा एक बहुत छोटा ग्राम है। इसीसे यहाँ पर खाने-पीने की यथेष्ट चीजें नहीं मिलती हैं। खाने-पीने की सामग्री का प्रबन्ध यात्रियों को ललितपुर या जाखलौन से करना पड़ता है। पहले देवगढ़ में यात्रियों को ठहरने के लिये कोई सुरक्षित स्थान नहीं था किन्तु अब यहां पर उनके ठहरने के लिये एक अच्छी धर्मशाला बन गई है, जिसमें वे आराम के साथ ठहर सकते हैं।

देवगढ़ ग्राम बेतवा नदी के मुहाने पर बसा हुआ है। इस प्रान्त में पहले सहरियों का राज्य था। इन पर गौड़ों ने विजय पाई। गौड़ों से गुप्तवंशीय राजाओं के हाथ में देवगढ़ आया। स्कन्दगुप्त आदि इस वंश के कई राजाओं के शिलालेख देवगढ़ में अभी तक पाये जाते हैं। गुप्तवंश के अनन्तर कन्नौज के भोजवंशी राजाओं ने यहाँ पर राज्य किया। इसके उपरान्त देवगढ़ चन्देलवंशी राजाओं के हाथ में आया। इनके शासन-काल में देवगढ़ एक विशाल एवं सुन्दर नगर था। ललितपुर के आसपास अबतक इस वंश के अनेक शिलालेख पाये जाते हैं। इस वंश की राजधानी महोबा थी। इस वंश के वंशज ललितपुर के निकट खजराहा ग्राम में अभी तक पाये जाते हैं। सन् १८११ में जब महाराजा सिंधिया की ओर से कर्नल बैपरिस्टी फिलोज देवगढ़ के ऊपर चढ़ कर आये थे, उन्होंने तीन दिन बराबर लड़कर बाद को देवगढ़ पर कब्जा कर लिया था। चन्देरी के बदले में महाराज सिंधिया ने देवगढ़ सरकार-हिंद को दिया था, तभी से सरकार-हिंद का कब्जा इस ग्राम पर है।

देवगढ़ पर्वत उत्तर-दक्षिण लगभग एक मील लम्बा और पूर्व-पश्चिम छः फर्लाङ्ग चौड़ा है। पर्वत की चढ़ाई सुगम एवं सीधी है। चढ़ाई तै करने पर एक किले का खण्डहर द्वार

मिलता है, जिसकी कारीगरी वास्तव में दर्शनीय है। इस द्वार में प्रवेश करते ही दो जीर्ण कोट और मिलते हैं। दूसरा और तीसरा कोट मन्दिरों को घेरे हुए हैं। बहुत लड़ने-झगड़ने के बाद अब दूसरे कोट के अन्दर लगभग ८ एकड़ विस्तीर्ण जमीन जैनियों के हाथ में आयी है। शेष सभी जमीन पूर्ववत सरकार के ही अधीन है। विद्वानों का अनुमान है कि इन कोटों के अन्दर देवालय होने से ही सम्भवतः इस पर्वत का नाम देवगढ़ पड़ा होगा। उक्त कोटों के भीतर के जीर्ण-शीर्ण अनेक जैन मन्दिर एवं खण्डित-अखण्डित दशा में पड़ी हुई सैकड़ों जैन मूर्त्तियाँ सहृदय, भावुक यात्रियों के कोमल मन को सहसा द्रवीभूत कर देती हैं।

बहुत ही छोटे-छोटे कतिपय मन्दिरों को छोड़कर यहाँ पर शेष ३१ मन्दिर हैं, जिनकी कारीगरी भव्य, मनोहर एवं दर्शनीय है। बल्कि मुझे तो इन मन्दिरों की अपेक्षा कठिन शिलाओं से निर्मित सुन्दर, सुडौल और प्रसन्नवदन यहाँ की मूर्त्तियाँ ही विशेष चित्ताकर्षक जचीं। इन्हें देख कर यात्रियों को हठात् अपने अतीत गौरव एवं शिल्प-चातुर्य का स्मरण हो आना सर्वथा स्वाभाविक है। वास्तव में ऐसी मनोज्ञ मूर्त्तियाँ सर्वत्र नहीं पाई जातीं। देवगढ़ के ये सब मन्दिर ८वीं शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी के अन्दर बने हुए मालूम होते हैं। यहाँ पर सबसे बड़ा मन्दिर शान्तिनाथजी का १२ नंबर वाला विशाल मन्दिर है। प्रतिमा पाषाणमयी है और उसकी ऊँचाई १२ फीट है। इसमें सन्देह नहीं कि खड्गासनस्थित यह प्रतिमा विशेष चित्ताकर्षक है। इस मन्दिर के आगे एक खुली हुई दालान (हॉल) है, जो ४२ फीट ३ इञ्च वर्ग में है। इसमें छः छः खम्भों की छः कतारें हैं। इसके बीचोबीच एक वेदी है, जिसपर मूर्त्ति विराजमान है। इस हॉल के सामने साढ़े सोलह फीट की दूरी पर एक मण्डप चार खम्भों पर स्थित है: इन्हीं खम्भों में से एक खम्भे पर एक शिलालेख राजा भोजदेव का सम्वत् ९१९, (शक ७८४) का पाया जाता है। मन्दिर नं० १२ के मण्डप में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली की एक मूर्त्ति है, जिसका समय ११वीं शताब्दी दिया हुआ है। इस मूर्त्ति में एक विशिष्ट बात देखने में आती है। वह यह है कि दक्षिण भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्त्तमान विशालकाय इन्हीं बाहुबली की मूर्त्तियों में जहाँ बामी, कुक्कटसर्प एवं लताओं के अतिरिक्त और कोई जानवर इत्यादि नहीं अङ्कित किये गये हैं, यहाँ उल्लिखित उन वस्तुओं के सिवाय छिपकली बिच्छू आदि भी अङ्कित दिखाई देते हैं। साथ ही साथ देवयुगल के द्वारा लता आदि शरीर को दुःख पहुँचानेवाली चीजों को हटाने का दृश्य भी दिखलाया गया है। बाहुबली की ऐसी ही मूर्त्ति मुझे चन्देरी में भी देखने को मिली है।

अस्तु, अब मैं देवगढ़ के शेष मन्दिरों की रूपरेखा भी विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित

कर देना चाहता हूँ, जिसे मैंने इस यात्रा में बहुत ही थोड़े समय में वहीं पर नोट कर लिया था। वास्तव में यहाँ के कुल शिलालेखों के साथ इन मन्दिरों के सचित्र परिचय का प्रकाशित होना परमावश्यक है। दूसरे कोट में प्रवेश कर थोड़ी दूर जाते ही पहला मन्दिर मिलता है। इसमें पूर्वाभिमुख पद्मासन एवं खड्गासन दोनों में दो पंक्तियों में चमरवाहक, यक्ष-यक्षी, पुष्पवृष्टि आदि शास्त्रोक्त लक्षणों से लक्षित अनेक छोटी-बड़ी सुन्दर मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसमें मूर्त्तियों के अगल-बगल की खुदाई का काम दर्शनीय है। यह आदि में १६ स्तम्भों से निर्मित एक सुन्दर मण्डप रहा होगा। परन्तु इस समय चार खंभों में स्थित भीतर का एक छोटा सा मण्डप मात्र बचा है। मण्डप सम्भवतः पूर्व-पश्चिम ६ फीट और उत्तर-दक्षिण ८ फीट होगा। इसके पश्चिम पार्श्व की दीवाल में भी एक पंक्ति में कई मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। इन मूर्त्तियों की ऊँचाई, आसन आदि भीतर की मूर्त्तियों से मिलते-जुलते हैं। दीवाल के सामने एक छोटा मानस्तम्भ है। मन्दिर के सामने भी अनेक छोटी-मोटी मूर्त्तियाँ विराजमान हैं।

दूसरा मन्दिर विशेष जीर्ण है। इसमें पद्मासन और खड्गासन की कई मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं। ये सभी मूर्त्तियाँ कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस मन्दिर के बगल में दक्षिण की ओर खण्डित मूर्त्तियों का एक ढेर लगा हुआ है, जिसे देख कर हृदय में एक अनिर्वचनीय असीम वेदना उत्पन्न होती है। यहाँ के शेष मन्दिर तीसरे कोट के भीतर हैं। इसलिये तीसरा मन्दिर यात्रियों को तीसरे कोट के अन्दर ही मिलेगा। यह तीसरा मन्दिर विशाल है अवश्य किन्तु यह भी अधिक जीर्ण है। इसके भीतर कुछ मूर्तियाँ हैं और मन्दिर का कुछ हिस्सा दुमंजिला है। चौथा मन्दिर अच्छी दशा में है और इसकी चारो ओर की दीवालों के भीतरी हिस्से में छोटी-बड़ी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इन मूर्त्तियों में सब से बड़ी प्रायः पाँच फीट की होगी। मूर्त्तियों की कारीगरी अवलोकनीय है। पाँचवाँ मन्दिर 'सहस्रकूट-चैत्यालय' है। इसकी मूर्त्तियाँ बहुत छोटी-छोटी होने से अधिक सुन्दर नहीं बन सकी हैं। मन्दिर के द्वारों (पूर्व-पश्चिम) पर द्वारपालक, यक्ष-यक्षी और चमरवाहक आदि की मूर्त्तियाँ मौजूद हैं। छठा मन्दिर सामान्य है। इसमें भी कई सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। इन मूर्त्तियों में पार्श्वनाथजी की जो मूर्त्ति है, उसमें मस्तक पर फण न बनाकर नीचे मूर्त्ति के दोनों बगल में दो विशालकाय सर्प बना दिये गये हैं। सातवें मन्दिर में सिर्फ चरण-चिह्न हैं। आठवें मन्दिर में लगभग ३० मूर्त्तियाँ हैं। इनमें सबसे बड़ी मूर्त्ति पार्श्वनाथ की है जो कि सम्भवतः ८ फीट की होगी। उल्लिखित मूर्त्तियों में बहुत-सी मूर्त्तियाँ दूसरी जगह से लाकर यहाँ पर विराजमान कर दी गई हैं। नवें मन्दिर में लगभग दो हाथ ऊँची खड्गासन की तीन मूर्तियाँ हैं। कला की दृष्टि से सभी मूर्त्तियाँ सुन्दर हैं। मन्दिर के

बाहर भी कुछ मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। दसवें मन्दिर में अब सिर्फ तीन खम्भे बचे हुए हैं। ये करीब छः फीट ऊँचे होंगे। खम्भों के चारों बगल में मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। इन मूर्त्तियों में तीर्थङ्करों की मूर्त्तियों के अतिरिक्त मुनि, अर्जिका आदि की मूर्त्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। ग्यारहवें मन्दिर का जीर्णोद्धार एवं प्रतिष्ठा अभी हाल में हुई है। इसका जीर्णोद्धार खुरई-निवासी श्रीमान तीर्थभक्त गणपतिलाल भैयालाल ने कराया है। यह विशाल मन्दिर दुमंजिला है। बारहवें मन्दिर का परिचय ऊपर पहले ही दिया जा चुका है। तेरहवें मन्दिर में भीतर दश मूर्त्तियाँ हैं। मन्दिर के बरामदे में बाहर भी कुछ मूर्त्तियाँ हैं। चौदहवाँ मंदिर छोटा है। इसमें चौदह मूर्त्तियाँ हैं। पन्द्रहवें मन्दिर में भी कई मूर्त्तियाँ हैं।

११, १२, १३, १४, और १५ नम्बर वाले मन्दिर आगरा निवासी श्रीमान् सेठ पद्मचन्द जी के द्वारा हाल ही में बनवाये गये एक कोट के अन्दर वर्तमान हैं, जिसमें इधर-उधर पड़ी हुई यहाँ की सैकड़ों मनोहर भव्य मूर्त्तियाँ जो मनुष्यों तथा पशुओं के पैरों से रात-दिन रौंदी जाती थीं, पच्ची कराई गई हैं। परन्तु मेरे ख्याल में ये मूर्त्तियाँ इस प्रकार दीवाल में पच्ची न करा कर एक स्वतन्त्र मकान बनवा कर उसमें अगर विराजमान कर दी जातीं, तो अधिक सुन्दर होता; क्योंकि पच्ची कराई गई इन मूर्त्तियों में से किसीकी भुजा टूट गई है, किसीकी टाँग अलग हो गई है, किसीके मस्तक का ही पता नहीं है। मनोहर मूर्त्तियों का यह विरूप बहुत खटकता है। दीवाल पर पच्ची कराने के बाद भी यहाँ पर सैकड़ों सुन्दर मूर्त्तियाँ इधर-उधर रखी हुई नजर आती हैं। कम से कम इन मूर्त्तियों को एक जगह रखवाना परमावश्यक है। सोलहवाँ मन्दिर बहुत बड़ा नहीं है। इसमें कई मूर्त्तियाँ हैं। इन मूर्त्तियों में कुछ बड़ी भी हैं। सत्रहवाँ और अठारहवाँ मन्दिर विशाल है। इनमें बहुत मूर्त्तियाँ हैं। उन्नीसवें मन्दिर की मूर्त्तियों की कारीगरी दर्शनीय है। बल्कि मन्दिर के बाहर बरामदे में रखी हुई चार भुजावाली खड़ी हुई सरस्वती की, षोड़श भुजावाली गरुड़ पर बैठी हुई चक्रेश्वरी की, अष्ट भुजावाली बैल पर बैठी हुई ज्वालामालिनी की और पद्मावती की मूर्त्तियाँ बहुत ही सुन्दर है। इनमें से एक में वि० सं० ११२६ खुदा है। चारों मूर्त्तियों की समानता को देखकर दर्शक आसानी से कह सकते हैं कि ये सब एक ही समय की बनी हुई हैं। बीसवाँ मन्दिर विशाल है। इसकी मूर्त्तियाँ भी सुन्दर हैं। इक्कीसवें मन्दिर में पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। बाईसवाँ मन्दिर बहुत छोटा है। इसमें सिर्फ तीन मूर्त्तियाँ हैं। इसी प्रकार २३ और २४ नंबर वाले मन्दिर भी छोटे हैं। २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ नंबर वाले मन्दिर एक ही स्थान में पास-पास है। ये सब मन्दिर परिमाण में छोटे हैं। इनकी कारीगरी भी विशेष उल्लेखनीय नहीं है। इन मन्दिरों में से प्रत्येक में कई मूर्त्तियाँ

देवगढ़ के एक प्राचीन जैन मंदिर का स्वरूप
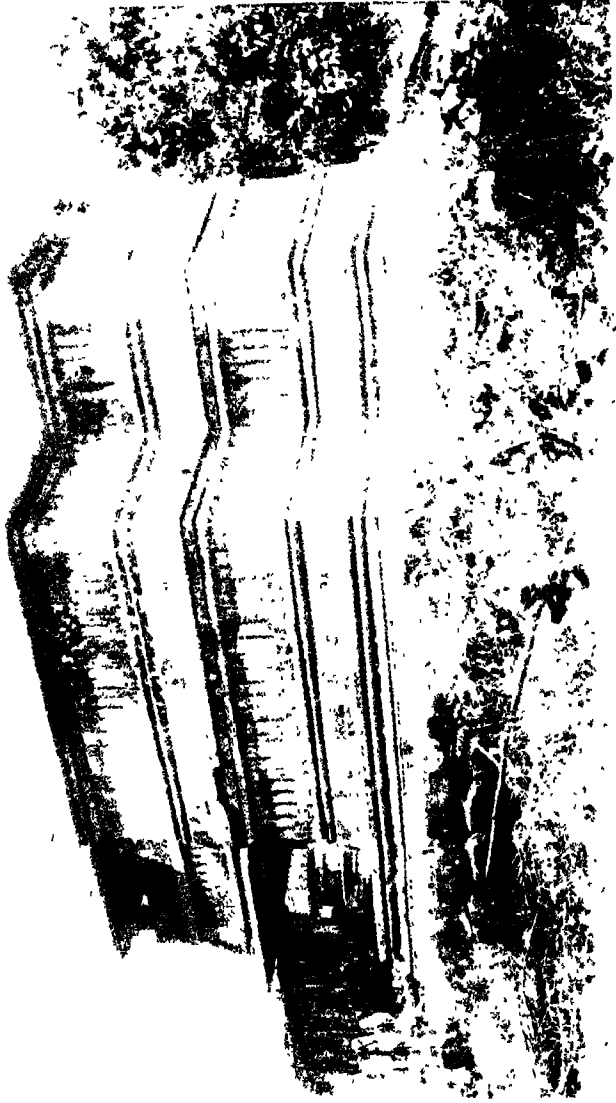
विराजमान है। इनमें सबसे छोटी मूर्ति दो-ढाई फीट की और सब से बड़ी आठ फीट की है।

देवगढ़ के मन्दिरों में से कई मन्दिरों की कारीगरी विशेष उल्लेखनीय है। खास कर बड़े मन्दिर के तोरणद्वार और शिखर बहुत सुन्दर हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय मन्दिरों के खम्भों और छतों में भी शिल्पियों ने अच्छा काम किया है। देवगढ़ के उल्लिखित मन्दिरों में से कुछ मन्दिरों का जीर्णोद्धार शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिये, अन्यथा इनके धराशायी होने में देर नहीं लगेगी। हाँ, उद्धार का कार्य चालू है। ललितपुर के भाई इस पुनीत कार्य में अच्छा योग दे रहे हैं। बाहर के धर्मप्रेमी भाइयों को भी बहुव्ययसाध्य इस पुण्यकार्य में विशेष भाग लेना चाहिये। परमानन्दजी बरैया, ललितपुर से मुझे मालूम हुआ कि एक दो मन्दिरों के जीर्णोद्धार के लिये बाहर के उदार दानी भाइयों से स्वीकृति मिल भी चुकी है। जो कुछ हो, मरम्मत का कार्य आशुगति से चलना चाहिये। यहाँ के कुल मन्दिर पाषाण के हैं। इनमें चूने-गारे का अंश लेशमात्र भी नहीं है। यही कारण है कि लगभग ८०० वर्ष पुराने ये सब मन्दिर अपनी लम्बी आयु को निरन्तराय काटते जा रहे हैं। हाँ, कुछ मन्दिर पूर्व ही धराशायी हो गये हैं अवश्य। यहाँ पर जहाँ-तहाँ उपलब्ध सैकड़ों मूर्तियाँ ही इस बात का ज्वलन्त उदाहरण हैं।

अब देवगढ़ की मूर्त्तियों के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। यहाँ पर मन्दिर नं० १२ में विराजमान शान्तिनाथजी की १२ फीटवाली खड्गासन मूर्त्ति ही सबसे बड़ी है। ४-५ फीट की मूर्त्तियाँ कई हैं। १० फीट की भी तीन मूर्त्तियाँ हैं। पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के मस्तक पर प्रचलित पद्धति के अनुसार फण न बना कर मूर्त्ति के दोनों बगल में विशालकाय दो सर्प बना दिये गये हैं (मन्दिर नं० ६ का परिचय देखें)। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव, की मूर्त्ति में जटाएँ बना दी गई हैं। (यह मूर्त्ति सेठ पद्मचन्दजी के द्वारा बनवाये गये कोट के अन्दर रखी हुई है।) देवगढ़ में तीर्थङ्कर, बाहुबली, यक्ष, यक्षी, द्वारपालक आदि देव-देवियों की मूर्त्तियों के अतिरिक्त मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका आदि की मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। इन्हीं उपर्युक्त मन्दिरों में कहीं ऐसी भी मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें एक स्त्री और एक पुरुष अपने गोद में एक-एक बच्चा लिये वृक्ष के नीचे पास-पास खड़े हैं। इन मूर्त्तियों के सम्बन्ध में श्रीयुत दयाराम साहनी, एम० ए० का कहना है कि ये बच्चे अवसर्पिणी के सुषम-सुषम समय की प्रसन्न जोड़ियाँ हैं; और जिसके नीचे स्त्री-पुरुष खड़े हैं, वह वृक्ष कल्पद्रुम है, जिससे उस जमाने में मनुष्यवर्ग की सभी इच्छायें पूर्ण होती थीं। मन्दिर नं० १२ के सामने विराजमान बाहुबली की मूर्त्ति में जो विशिष्टता दृष्टिगत होती है, उसका उल्लेख ऊपर कर चुका हूँ। विशेष महत्त्व यहाँ की उन २० मूर्त्तियों को दिया जाता है, जो यक्षियों की २४ मूर्त्तियों में से

मन्दिर नं० १२ के बरामदे में पाषाण पर खिंची हुई हैं। इनमें प्रत्येक पर यत्ती का नाम खुदा हुआ है। दयाराम साहनी के मत से यत्तियों की ऐसी मूर्त्तियाँ उत्तरीय भारत में कहीं भी नहीं पायी जाती हैं। यत्तियों में से ही मंदिर नं० १९ में पायी जानेवाली ऊपर कही हुई सरस्वती, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी एवं पद्मावती की मूर्त्तियाँ बहुत ही सुन्दर हैं। देवगढ़ में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन पाँचों परमेष्ठियों की मूर्त्तियाँ अनेकत्र उपलब्ध होती हैं। बल्कि कुछ व्यक्तियों ने भ्रमवश इन आचार्य मूर्त्तियों को गौतम बुद्ध की मूर्ति समझ बैठने की भूल की है। वास्तव में देवगढ़ में जैनमूर्त्तियों के अतिरिक्त और किसी धर्म की मूर्त्तियाँ देखने में नहीं आतीं। यह यहाँ की उल्लेखनीय विशिष्टताओं में से एक है। हाँ मूर्त्तियों के केशों की बनावट भिन्न-भिन्न तरह की है और उनपर बौद्ध मूर्त्तियों की गहरी छाप दृष्टिगोचर होती है। यहाँ की मूर्त्तियों में अधिकांश मूर्त्तियाँ खड्गासन की हैं।

उत्तरीय भारत के पुरातत्त्व सबंधी सन १९१८ की राजकीय वार्षिक रिपोर्ट के कथनानुसार देवगढ़ में लगभग २०० शिलालेख मिले हैं। इस पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन सुपरिन्टेन्डेन्ट श्रीयुत दयाराम साहनी, एम० ए० के मतानुसार इन २०० शिलालेखों में से १५७ लेख ऐतिहासिक महत्त्व को लिये हुए हैं। साथ ही साथ दयारामजी ने उस रिपोर्ट में यह भी कहा है कि जैन मन्दिरों में जो लेख पाये गये हैं, उनमें से ६० में लेखन-काल अंकित है और वह काल वि० सं० ९१९ से लेकर १८७६ के बीच का है। उन्होंकी राय से नागरी अक्षरों की उन्नति के इतिहास की दृष्टि से भी देवगढ़ के ये सब लेख बहुत काम के हैं।

श्रीयुत साहनीजी की उपर्युक्त रिपोर्ट के आधार पर 'श्रीदेवगढ़-तीर्थोद्धार-फण्ड' झाँसी, के तत्कालीन व्यवस्थापक विशम्भरदास गार्गीय ने वीर सं० २४४८ में 'देवगढ़ के जैन मन्दिर' के नाम से यहाँ के प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिरों, मूर्त्तियों और शिलालेखों का जो संक्षिप्त विवरण प्रकट किया है, उसमें निम्नलिखित बातों का पता लगता है—

(१) अन्यान्य लेखों में केशव का पुत्र गोमित्र, महाराजाधिराज उदयसिंह (पाली-गढ़वाला), महासामन्त उदयपाल, महाराजाधिराज देवीसिंह, उनका पुत्र दुर्गासिंह, उदेतसिंह, छत्रसाल, कुशलसिंह और तेजसिंह आदि राजाओं; महीचन्द्र वीरनन्दी, पं० अजितसिंह, पं० ललितसिंह, गुणनन्दी का गुरु लोकनन्दिन, कीर्त्याचार्य, पं० शुभङ्करदेव, पं० लालदेव, अर्जिका धर्मश्री, अर्जिका इन्दुआ, मुनि शुभदेव, आचार्य जयकीर्ति, अर्जिका नवासी, भावनन्दी, अजितसिंह, भुवनसिंह, माधवचन्द्र, धर्मनन्दी, कमलदेव का शिष्य श्रीदेव, आचार्य नागसेन, पं० माधवनन्दी, यशःकीर्त्ति, प्रसिद्ध व्याख्याता माघनन्दी, त्रिभुवनकीर्त्ति, लोकनन्दी, गुणनन्दी (इनका उल्लेख कई लेखों में आया है), सहस्रकीर्त्ति का प्रशिष्य एवं देवेन्द्रकीर्त्ति का

शिष्य त्रिभुवनकीर्त्ति आदि आचार्यों, अर्जिकाओं और पण्डितों तथा महीन्द्रसिंह, साहसिंह, साविनी, सलाखी, श्रीसिंह, जसदेव, नेमिचन्द्र, विरच(इन्द्र), संघश्री का पति जुगराज, राजपाल और उनकी पत्नी, लवनासारी, प्रभाकर, लालसा, कल्हन, सदिया, चसदेव का पुत्र कल्याणसिंह, पाहस का पौत्र केशव, सोमती और उनकी भगिनी धनिया, राजपाल, मठपति जज और भाई गङ्ग तथा शिवदेव आदि दानी एवं निर्माताओं का उल्लेख पाया जाता है।

(२) लेख नं० ३९ में चन्द्रकीर्ति की मूर्त्ति स्थापित करने का जिक्र है। मालूम होता है कि यह चन्द्रकीर्त्तिजी कोई आचार्य थे।

(३) लेख नं० ८८ से पता लगता है कि देवगढ़ का अपर नाम 'लच्छगिरि' भी था।

(४) लेख नं० २२२ में चतुस्संघ का उल्लेख मिलता है।

(५) कई लेखों में दानशाला-निर्माण का उल्लेख पाया जाता है।

देवगढ़ के इन शिलालेखों का उद्धार अति शीघ्र होना चाहिये। महत्वपूर्ण इन लेखों के प्रकाशन से इस पवित्र क्षेत्र का एक प्रामाणिक इतिहास तैयार किया जा सकता है। बल्कि देवगढ़ संबंधी इस इतिहास के प्रकाशन से जैन इतिहास पर भी नया प्रकाश पड़ेगा। साथ ही साथ अन्वेषक विद्वानों की खोज के लिये एक नवीन क्षेत्र उपलब्ध हो जायगा। श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों के प्रकाशन से जिस प्रकार अन्वेषक विद्वानों का लक्ष्य सहसा उस क्षेत्र की ओर आकर्षित हुआ और वे अब नई-नई बातों को खोज-खोजकर विद्वानों के समक्ष रखते जा रहे हैं, उसी प्रकार पुनीत क्षेत्र इस देवगढ़ के शिलालेखों के प्रकाशन से इस क्षेत्र की ओर भी अन्वेषक विद्वानों का ध्यान जाने में देर नहीं लगेगी। आशा है कमिटी के उत्साही मंत्री, श्रीरघुनन्दन प्रसादजी वकील इस कार्य की ओर सब से पहले ध्यान देंगे। अस्तु, अब मैं इस लेख को यहीं पर समाप्त करता हूँ। यथावकाश विशेष सामग्री प्राप्त होने पर इस क्षेत्र के विषय में फिर कभी प्रकाश डालूँगा।

अन्त में मैं वाणीभूषण पं० तुलसीरामजी काव्यतीर्थ एवं देवगढ़-क्षेत्र-कमिटी के सुयोग्य सभापति, धर्मप्रेमी श्रीमान् सेठ भगवानदासजी ललितपुर को हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनके सुप्रबंध से मैंने ५-६-४१ को इस पवित्र क्षेत्र का दर्शन कर अपने को कृतार्थ समझा। सेठ भगवानदासजी के बड़े भाई श्रीमन सेठ मुन्नालालजी, और उनके ज्येष्ठ-पुत्र कुन्दनलालजी को भी मैं नहीं भूल सकता जिनके वात्सल्यमय अतिथि सत्कार ने मेरे मन को हर लिया है। साथ ही साथ श्रीमान सेठ बच्चूलालजी का भी मैं आभारी हूं जिन्होंने देवगढ़ क्षेत्र के अनन्यभक्त एवं इस क्षेत्र के मर्मज्ञ श्रीमान् परमानन्दजी बरैया को मेरे साथ भेजकर मेरी इस यात्रा में विशेष सुविधा प्रदान की थी। इस 'किरण' में प्रकाशित देवगढ़ संबंधी तीन ब्लाक भी सेठ भगवानदासजी के सौजन्य से ही 'भास्कर' को प्राप्त हुए हैं।

जैन पञ्चांग

[ले० श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ]

जैन पञ्चाङ्ग की प्रणाली बहुत प्राचीन है। जिस समय भारतवर्ष में ज्योतिष के गणित-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रचार विशेष रूप से नहीं हुआ था, उस समय भी जैन ज्योतिष बहुत पल्लवित और पुष्पित था। तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण इन पाँचों का ही नाम पञ्चाङ्ग है। इनकी प्रक्रिया जैसी जैन गणित-ज्योतिष के ग्रन्थों में है वैसी अन्यत्र एकाध ग्रन्थ में ही देखने को मिलेगी।

तिथि—सूर्य और चन्द्रमा के अन्तरांशों से तिथि बनती है, और इनका मान १२ अंशों के बराबर होता है। क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा अपनी गति से गमन करते हुए ३० दिन में ३६० अंशों से अन्तरित होते हैं। अतः मध्यम मान से तिथि का मान १२ अंश अर्थात् ६० घटी अथवा ३० मुहूर्त होता है।

नक्षत्र—प्रत्येक ग्रह का भिन्न-भिन्न नक्षत्र मान होता है। किन्तु पञ्चांङ्ग के लिये चन्द्र नक्षत्र को ही लिया जाता है। इसीको दैनिक नक्षत्र भी कहते हैं। जैन आचार्यों ने गगन-खण्ड मानकर प्रत्येक ग्रह के नक्षत्र का साधन सुगम रीति से किया है। जैन आचार्यों की मान्यता से सूर्य नक्षत्र का मध्यम मान १४ दिन से अधिक और १५ दिन से कम आता है। बुध गुरु आदि के नक्षत्रों का मान तो मध्यम रीति से १३ दिन के लगभग आता है।

योग—यह सूर्य और चन्द्रमा के योग से पैदा होता है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में मुहूर्त्त आदि के लिये इसको प्रधान अङ्ग दिया गया है। व्यतीपात, परिघ, गण्ड - इनका त्याग तो प्रत्येक शुभकार्य में कहा गया है। गणित शास्त्र की रीति से सूर्य चन्द्रमा के दैनिक गगन-खण्ड के योग में ८०० का भाग देने से लब्ध घटिकादि रूप योग आता है।

करण—यह तिथि का आधा भाग होता है। कुल ११ करण होते हैं, जिनमें से ७ करण चर संज्ञक हैं, और शेष चार करण स्थिर संज्ञक हैं जो निश्चित तिथियों में ही आते हैं। परन्तु चर संज्ञक करणों में से एक करण पूर्वार्ध तिथि में और दूसरा उत्तरार्द्ध में आता है।

जैन पञ्चाङ्ग में युग का मान ५ वर्ष लिया गया है। इसी पञ्चवर्षात्मक युग पर से चन्द्रनक्षत्र एवं सूर्यादि नक्षत्र, योग आदि का साधन किया है। इस युग का आरम्भ अभिजित् नक्षत्र से होता है। एक चान्द्र वर्ष में ३५४ दिन ५$\frac{१२}{६२}$ मुहूर्त्त होते हैं, और एक युग में ६० सौर मास, ६१ सावन मास, ६२ चान्द्र मास और ६७ नाक्षत्र मास होते हैं।

एक नाक्षत्र वर्ष = ३२७ $\frac{५१}{६७}$ दिन

एक चान्द्र वर्ष = ३५४ $\frac{१२}{६२}$ दिन

एक सावन वर्ष = ३६० दिन

एक सौर वर्ष = ३६६ दिन

अधिकमास सहित एक चान्द्र वर्ष=३८३ दिन २१ $\frac{१८}{६२}$ मु०।

एक ५ वर्षीय युग में चन्द्रमा अभिजित् नक्षत्र का भोग ६७ बार करता है, ये ही ६७ चन्द्रमा के भगण कहलाते हैं। अतः पंचवर्षीय एक युग के दिनादि का मान इस प्रकार होगा :

एक युग में सौर दिन = १८००

,, चान्द्र मास = ६२

,, चान्द्र दिन = १८६०

,, क्षय दिन = ३०

भगण वा नक्षत्रोदय = १८३०

चान्द्र भगण = ६७

चान्द्र सावन दिन = १७६८

एक सौर वर्ष में नक्षत्रोदय = ३६७

एक अयन से दूसरे अयन पर्यन्त सौर दिन = १८०

एक अयन से दूसरे अयन तक सावन दिन = १८३

प्राचीन जैन महीनों के नाम भी वर्तमान महीनों के नामों से भिन्न मिलते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है :

वर्तमान महीनों के नाम	प्राचीन जैन महीनों के नाम
१ श्रावण	अभिनन्द
२ भाद्रपद	सप्रतिष्ठा
३ आश्विन	विजया
४ कार्तिक	प्रतिवर्धन
५ मार्गशीर्ष	श्रीयान
६ पौष	शिव
७ माघ	शिशिर
८ फाल्गुन	हैमवान्
९ चैत्र	वसन्त
१० वैशाख	कुसुमसंभव
११ ज्येष्ठ	निदाघ
१२ आषाढ़	दान-विरोधी

जैन आगम में संवत्सर का मान चार प्रकार का माना गया है।

(१) नाक्षत्र संवत्सर = १२ नाक्षत्र मास = $१२ \times २७\frac{२१}{६७}$ दिन = $३२७\frac{५१}{६७}$ दिन

(२) युगसंवत्सर

(३) प्रमान संवत्सर

(४) शनि संवत्सर

इनमें से पहले नाक्षत्र सम्वत्सर के १२ भेद हैं। श्रावण, भाद्रपद आदि। जब बृहस्पति सभी नक्षत्र समूह को भोग कर पुनः अभिजित् पर आता है तब यह महानाक्षत्र संवत्सर होता है। इसका समय १२ वर्ष का है।

चान्द्रवर्ष = $२९\frac{३२}{६२} \times १२ = ३५४ + \frac{१२}{६२}$ दिन, अधिक मास सहित चान्द्रवर्ष = $३८३\frac{४४}{६२}$ दिन सौरवर्ष = $१२ \times ३०\frac{१}{२} = ३६६$ दिन।

एक पंचवर्षीय युग में २४ पर्व होते हैं।

प्रमान संवत्सर के पाँच भेद हैं :—

(१) सावन (२) सौर (३) चान्द्र (४) बार्हस्पत्य (५) नाक्षत्र। इनमें से सावन संवत्सर को कर्म-संवत्सर भी कहते हैं। इसके कर्म संवत्सर नाम पड़ने का यह कारण मालूम पड़ता है कि साधारण काम काजी लोग ३६० दिन में ही अपने वर्ष के कार्य को पूरा करते हैं। इसीसे इस संवत्सर का नाम कर्म संवत्सर पड़ा होगा।

एक चान्द्र संवत्सर में $३५४\frac{१२}{६२}$ दिन होते हैं: अतएव एक चान्द्र मास में $\frac{३५४\frac{१२}{६२}}{१२}$ = $२९\frac{३२}{६२}$ दिन होते हैं और एक चन्द्रमास में दो पक्ष होते हैं। इसीलिये $२९\frac{३२}{६२}$ दिन = $\frac{२९\frac{३२}{६२}}{२}$ दिन = $\frac{२९\frac{३२}{६२} \times १५}{}$ मुहूर्त = $४४२\frac{४६}{६२}$ मुहूर्त शुक्ल पक्ष और इतने ही मुहूर्त कृष्ण पक्ष के भी होते हैं। इसी हिसाब से एक तिथि का मान = $\frac{२९\frac{३२}{६२}}{३०}$ दिन = $\frac{६१}{६२}$ दिन = $\frac{६१}{६२} \times ३० = २९\frac{३२}{६२}$ मुहूर्त। तिथि के भी दिन और रात्रि के भेद से दो भेद हैं। सौर दिन की अपेक्षा से दिन तिथि और रात्रि तिथि के पाँच पाँच भेद हैं। उनका क्रम इस प्रकार है।

(१) नन्दा (२) भद्रा (३) जया (४) तुच्छा (५) पूर्णा। और रात्रि तिथि के ये भेद हैं (१) अग्रावती (२) भोगवती (यासोमती) (४) सर्वसिद्धा (५) शुभनामनी।

जैन ज्योतिष की गणना में एक वर्ष में ५ ऋतुएँ होती हैं (१) वर्षा (२) शरद् (३) शिशिर (४) वसन्त (५) ग्रीष्म। ये ऋतुएँ भी चान्द्र और सौर दोनों ही प्रकार की होती हैं। जैन ग्रन्थों के उत्तरायण और दक्षिणायन का विचार भी प्राचीन तथा अर्वाचीन हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों से भिन्न है। सूर्य प्रज्ञप्ति में अयन का विचार भी इस प्रकार लिखा है :

सावण बहुल पडिवए बालवकरणेऽभिजिन्नक्षत्रे।
सव्वत्थ पढमसमये जुअस्स आदि वियाणाहि॥

तत्र उत्तरायणं कुर्वन् सूर्यः सर्वदैव अभिजा नक्षत्रेण सह योगमुपागच्छति। दक्षिणायनं कुर्वन् पुष्येणेति च।

अर्थात् श्रावण बदी प्रतिपद् बालवकरण, अभिजित नक्षत्र में दक्षिणायन प्रारम्भ होता है। यह युग का पहला दक्षिणायन है। एक युग के शेष अयनों का वर्णन इस प्रकार है:--

> पढमा बहुल पडिवए बिइया बहुलस्स तेरसीदिवसे।
> सुद्धस्स य दसमीए बहुलस्स य सत्तमीए उ॥
> सुद्धस्स चउत्थीए पवत्तये पंचमी उ आउट्टी।
> एया आवुट्टीयो सव्वाओ सावणे मासे।
> बहुलस्स सत्तमीए पढमा सुद्धस्स तो चउत्थीए।
> बहुलस्स य पडिवए बहुलस्स य तेरसी दिवसे॥
> सुद्धस्स य दसमीए पवत्तए पंचमी आउट्टी।
> एता आउट्टीओ सव्वाओ माहमासम्मि।

अतः एक युग में अयन इस प्रकार के होंगे—

सूर्य प्रज्ञप्ति के अनुसार अयनवृत्ति				वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार अयनवृत्ति			
अयन	मास और पक्ष	तिथि	नक्षत्र	अयन	मास और पक्ष	तिथि	नक्षत्र
दक्षिणायन	श्रावण कृष्ण	प्रतिपत्	अभिजित्	उत्तरायण	माघ शुक्ल	प्रतिपत्	धनिष्ठा
उत्तरायण	माघ कृष्ण	सप्तमी	हस्त	दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	सप्तमी	चित्रा
दक्षिणायन	श्रावण कृष्ण	त्रयोदशी	मृगशिर	उत्तरायण	माघ शुक्ल	त्रयोदशी	आर्द्रा
उत्तरायण	माघ शुक्ल	चतुर्थी	शतभिष	दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	चतुर्थी	पूर्वाभाद्रपद्
दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	दशमी	विशाखा	उत्तरायण	माघ कृष्ण	दशमी	अनुराधा
उत्तरायण	माघ कृष्ण	प्रतिपत्	पुष्य	दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	प्रतिपत्	आश्लेषा
दक्षिणायन	श्रावण कृष्ण	सप्तमी	रेवती	उत्तरायण	माघ शुक्ल	सप्तमी	अश्विनी
उत्तरायण	माघ कृष्ण	त्रयोदशी	मूल	दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	त्रयोदशी	पूर्वाषाढ़ा
दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	नवमी	पूर्वाफा०	उत्तरायण	माघ कृष्ण	चतुर्थी	उत्तराफाल्गुनी
उत्तरायण	माघ कृष्ण	त्रयोदशी	कृत्तिका	दक्षिणायन	श्रावण कृष्ण	दशमी	रोहिणी

इस चक्र से भी प्रतीत होता है कि जैन शास्त्रों की अयनवृत्ति हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों से नहीं मिलती है। क्योंकि हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थ 'वेदाङ्ग

ज्योतिष' है और इसकी अयनप्रवृत्ति जैन प्रक्रिया से भिन्न है ; अतएव यह मानना पड़ेगा कि जैन ज्योतिष स्वतन्त्र है। परन्तु बाद में विकसित नहीं हुआ है और इसीसे यह पिछड़ गया है।

पर्व और तिथियों में नक्षत्र लाने का जैन ज्योतिष का प्रकार यह है :

नक्षत्राणां परावर्तं चन्द्रिसम्बन्धिनामथ।
ब्रूमहे प्रत्यहोरात्रं सूर्यसम्बन्धिनामपि ॥
भवत्यभिजिदारम्भो युगस्यप्रथमक्षणे ।
अस्य पूर्वोक्ता शीतांशु भोगकालादनन्तरम् ॥
श्रावणं स्यात्तस्य चेन्दुभोगकालनतिक्रमे।
धनिष्ठेत्येवमादीनि ज्ञेयानि निखिलान्यपि ॥
अथेन्दुना भुज्यमानमहोरात्रे विवक्षते।
इष्टे तिथौ च नक्षत्रं ज्ञातुं करणमुच्यते ॥ इत्यादि

काल लोक प्रकाश पृ० ११४।

अर्थात् युगादि में अभिजित् नक्षत्र होता है। चन्द्रमा अभिजित् को भोग कर श्रवण से शुरू होता है और अग्रिम प्रतिपत् को मघा नक्षत्र पर आता है। इस प्रकार से सम्पूर्ण पर्व और तिथियों में नक्षत्र लाने चाहिये। इसके गणित का नियम इस प्रकार है—पर्व की संख्या को १५ से गुणा कर गत तिथि संख्या को जोड़कर जो हो उसमें २ घटा कर शेष में ८२ का भाग देने से जो शेष रहे उसमें ६७ का भाग देने पर जो शेष आवे, उतनी ही संख्या वाला नक्षत्र होता है, परन्तु नक्षत्र गणना कृत्तिका से लेनी चाहिये।

दैनिक ग्रहों के नक्षत्रों का क्रम

चन्द्र गगन-खण्ड = १७६८
रवि गगन-खण्ड = १८३०
नक्षत्र गगन-खण्ड = १८३५
} ये गमन करने के कलात्मक टुकड़े हैं।

अभिजित् का मान ६३० गगन-खण्ड, जघन्य नक्षत्रों का १००५ गगन-खण्ड, मध्यम नक्षत्रों के २०१० गगन-खण्ड, उत्तम नक्षत्रों के ३०१५ गगन-खण्ड हैं। यह नक्षत्रों की कलात्मक मर्यादा का मान है। इस पर से चन्द्रमा के प्रत्येक नक्षत्र का मान इस प्रकार होगा—

(१८३५—१७६८)=६७ चन्द्रमा की कलात्मक स्वतंत्र गति है। इस गति का चन्द्रमा की मर्यादा में भाग देने से दैनिक नक्षत्र अथवा चन्द्रमा के नक्षत्र का मान होगा।

∴ [illegible] × [illegible] = ९ [illegible] अभिजित् का मान हुआ। [illegible] × [illegible] = [illegible] = १५ महूर्त चन्द्रमा के प्रत्येक जघन्य नक्षत्र का मध्यम मान हुआ।

[illegible] × [illegible] = [illegible] = ३० मुहूर्त यह चन्द्रमा के प्रत्येक मध्यम. [illegible] × [illegible] = [illegible] = ४५ मुहूर्त यह चन्द्रमा के प्रत्येक उत्तम नक्षत्र का मान हुआ।

(१८३५ – १८३०) = ५ कलात्मक मध्यम सूर्य गति हुई, जो कि आजकल के मान से ५९′ ८″ के बराबर होती है। इसका नक्षत्रों की मर्यादा से भाग देने से सूर्य-नक्षत्र मान का प्रमाण आता है।

[illegible] × [illegible] = [illegible] = १२६ मुहूर्त अर्थात् ४ दिन ६ मुहूर्त सूर्य अभिजित् नक्षत्र के साथ रहता है।

जैन ग्रन्थों की मान्यता के अनुसार उत्तम, मध्यम और जघन्य नक्षत्रों का विभाग इस प्रकार है--

उत्तम नक्षत्र—रोहिणी विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद्, ये ६ नक्षत्र उत्तम संज्ञक हैं।

मध्यम नक्षत्र—अश्विनी कृत्तिका मृगशिर, पुष्य, मघा, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद्, पूर्वाफाल्गुनी, मूल, श्रवण धनिष्ठा, रेवती, ये पन्द्रह नक्षत्र मध्यम संज्ञक हैं।

जघन्य नक्षत्र—शतभिष भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा, ये छह नक्षत्र जघन्य संज्ञक हैं।

इन नक्षत्रों की सिद्धि उपर्युक्त प्रकार से ही जाननी चाहिये। परन्तु यह पञ्चाङ्ग प्रणाली मध्यम मान से है। इसको स्पष्ट बनाने के लिये देशान्तर, कालान्तर संस्कार अवश्य करने पड़ेंगे, तभी ग्रहों का स्पष्ट मान आयेगा।

दि० जैन ग्रन्थों में देशान्तर, कालान्तर का विधान मुझे अभी तक देखने को नहीं मिला है, संभव है किसी ग्रन्थ में हो। परन्तु श्वेताम्बर मान्यता के आधार पर से देशान्तर संस्कार निम्न प्रकार से किया जाता है।

पहिले किसी भी देश की पलभा का ज्ञान करके उसको तीन स्थान में रखकर पहले स्थान में १० से, दूसरे में ८ से और तीसरे में १० से गुणा करना चाहिये। तीसरे स्थान के गुणनफल में तीन से भाग देना चाहिये। इस प्रकार पूर्वोक्त तीन चर खण्ड आयेंगे।

पुनः सायन सूय का भुज बना कर उसमें राशि संख्या तुल्य चर खण्ड का योग करके उसमें अंशादि से गुणे हुए भोग खण्ड का ३०वाँ भाग जोड़ने से चर होता है। वह तुलादि

६ राशि में सूर्य हो तो धन तथा मेषादि ६ राशि में सूय हो नो ऋण होता है। इस चर का मध्यम रवि की विकला में संस्कार करने स रवि स्पष्ट होता है और चर को २ से गुणा कर ९ का भाग देने से जो लब्ध आवे, उसका देशान्तर संस्कृतमध्यम चन्द्रमा की विकला में संस्कार क ने से चन्द्रमा स्पष्ट होता है। चन्द्रमा के फल में देशान्तर, भुजान्तर, चरान्तर ये तीन संस्कार किये जाते हैं तब चन्द्रमा स्पष्ट होता है। इसी मान्यता के अनुसार अन्य बुधादिक ग्रहों का भी साधन किया जाता है। इस प्रकार से संक्षेप में पञ्चाङ्ग प्रणाली पर प्रकाश डाला गया है। कभी अवकाश मिलने पर ग्रह और नक्षत्रों के स्पष्टीकरण की प्रक्रिया को भी पाठकों के सामने रक्खूँगा।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

(क्रमागत)

दिल्लि—१४१ संभवतः भारत की राजधानी दिल्ली का द्योतक है। दिल्ली का प्राचीन नाम इन्द्रप्रस्थ है। वह पांडवों की राजधानी थी। वहाँ के अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज चौहान थे। मुसलमानों ने दिल्ली को कई दफे लूटा था और मंदिरों एवं मूर्तियों को नष्ट किया था। कुतुबमीनार के पास जो मस्जिद बनी हुई है, वह २७ हिन्दू व जैनमंदिरों को तोड़ कर बनाई गई थी। (इम्पीरियल गैजेटियर ऑव इंडिया २।१२६) आज भी वहाँ खंडित जिनमूर्तियाँ पड़ी हुई है।*

दोरसमुद्र (द्वारावती)—४५, ५३, ५६, ९०, १२४, १४४, ३६०, ४८६, ४९७ इत्यादि। होयसल नरेशों की राजधानी थी। होयसल राजवंश के प्रतापी राजा विष्णुवर्द्धन ने दोरसमुद्र में राजधानी स्थापित की थी। वह स्वयं और उनकी महारानी सान्तलदेवी जैनधर्म के उपासक थे। यद्यपि उपरान्त विष्णुवर्द्धन वैष्णव हो गये थे, परंतु फिर भी वह जैनों को दान देते रहे थे। उनकी रानी अन्त समय तक जैनी रही थीं। उन्होंने अनेक सुंदर जिनमंदिर और मूर्त्तियाँ निर्माण कराई थीं। निस्सन्देह दोरसमुद्र जैनधर्म का मुख्य केन्द्र था। वहाँ राजा और प्रजा, दोनों ने मिलकर जैनधर्म को उन्नत बनाया था। विष्णुवर्द्धन के मुख्य सेनापति दण्डनायक गङ्गराज थे। वह द्वारासमुद्र में रहते थे और जैनधर्म के स्तंभ थे। उन्होंने इतने अधिक जिनमंदिर बनवाये और पुरानों का जीर्णोद्धार कराया कि समूचा गङ्गवाडि प्रदेश, जिस पर वह शासन करते थे, कोपण तीर्थ की तरह चमक उठा। दोरसमुद्र में भी उन्होंने जिनमंदिर बनवाया था। उनके पुत्र बोप्पन भी सेनापति थे। उन्होंने अपने पिता की स्मृति में 'द्रोहरघरट्टजिनालय' नामक एक मनोहर मंदिर दोरसमुद्र में बनवाया था और उसमें पार्श्वनाथ भगवान की मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान की थी। उस समय विष्णुवर्द्धन नरेश एक शत्रु पर विजय पाकर उस मंदिर में दर्शन करने आये। उन्होंने अपनी 'विजय' के उपलक्ष में भगवान का नाम 'विजय-पार्श्व' रक्खा और उसी समय जो उनके पुत्र

---

* हाल ही में—गत २४-८-४१ को जब मैं देहली गया था, तब श्रीमान् बा० राजकृष्ण जी के साथ कुतुबमीनार देखने गया था। मीनार के बगल में लौह स्तंभ के सामने जो भग्नावशेष है उसमें खुदी हुई खण्डित-अखण्डित दशा में वर्तमान अनेक जैन मूर्तियों को मैंने स्वयं देखा है। बल्कि उन मूर्तियों के फोटो भेजने के लिये मैं बा० राजकृष्ण जी से कह आया हूं। देहली से फोटो आने पर 'भास्कर' की किसी आगामी किरण में उन फोटों को मैं अवश्य छाप दूंगा। —के० भुजबली शास्त्री

हुआ था उसका नाम विजयनरसिंह रक्खा था विष्णुवर्द्धन के उपरांत भी दोरसमुद्र जैनधर्म का केन्द्र पूर्ववत् रहा था। नारसिंह के प्रमुख सेनापति हुल्ल ने जैनधर्म को उसी तरह प्रभावशाली रक्खा जिस तरह चामुण्डराय और गङ्गराज ने रक्खा था। एक दफा नरसिंह महाराज अपनी रणविजय यात्रा से लौटते हुए श्रवणबेल्गोल पधारे थे। वह विन्ध्यगिरि पर्वत पर गये और वहाँ गोम्मटेश्वर के दर्शन करके कृतार्थ हुए। सेनापति हुल्ल ने वहाँ पर उस समय एक चतुर्विंशति तीर्थंकर जिनालय बनवाया था। महाराज नरसिंह ने उसके भी दर्शन किये और स्नेहपूर्वक उसका नाम 'भव्यचूडामणि' रक्खा। सेनापति हुल्ल स्वयं 'सम्यक्त्वचूडामणि' कहलाते थे। सम्राट ने मंदिर के खर्च के लिये सवणेरु नामक ग्राम भी भेंट किया था। उपरान्त वीरवल्लालदेव (द्वितीय) के समय में भी दोरसमुद्र में जैनधर्म का सितारा चमकता रहा था। महाराज वल्लालदेव स्वयं जैनधर्म के संरक्षक थे। इन महाराज के राजश्रेष्ठी का नाम संभवतः देवसेट्टि था। देवसेट्टि ने एक जिनालय दोरसमुद्र में बनवाया; और उसका नाम 'वीरवल्लालजिनालय' रक्खा। देवसेट्टि की प्रार्थना पर वल्लालराज ने उस मंदिर के लिये कई ग्राम भेंट किये थे। दोरसमुद्र में एक समय राज्यमान्य गुरु, वादीभसिंह, तार्किकचक्रवर्ती श्रीपाल त्रैविद्यदेव विशेष प्रख्यात थे। जनता में उनकी महती प्रतिष्ठा थी। उनके शिष्य दोरसमुद्र के प्रमुख व्यापारी सर्वश्री मारिसेट्टि, कामिसेट्टि, भरतसेट्टि और राजसेट्टि भी लोकमान्य पुरुष थे। उन्होंने अन्य व्यापारियों को साथ लेकर दोरसमुद्र में 'नगरजिनालय' नामक एक उत्तुंग मंदिर निर्मापित कराया और उसमें 'अभिनवशान्तिनाथ' भगवान की प्रतिमा विराजमान की। राजसेट्टि प्रतापचक्रवर्ती वीर वल्लालदेव के पास यह शुभसमाचार लेकर गये। सम्राट सुनते ही भगवान के दर्शन करने के लिये चल पड़े। वह शान्तिनाथ भगवान की अष्टप्रकारी पूजा देख कर बहुत प्रसन्न हुए; वह और भी आनन्दित हुए जब उन्होंने देखा कि उस मंदिर में सत्पात्रों को आहारदान देने का भी प्रबन्ध है। उस समय ग्रामवासियों की प्रार्थना स्वीकार कर सम्राट् ने दो ग्राम गुरु वज्रनन्दी को मंदिर के जीर्णोद्धार, पूजन और आहारदान के लिए दिये। पहले यहाँ दोरसमुद्र में नृप विष्णुवर्द्धन के संधिविग्रहक मंत्री पुनीष भी जैनधर्म के अनन्य पोषक थे। उन्होंने दोरसमुद्र के बास्तिहल्लि नामक भाग में एक पार्श्वनाथ जिनालय बनवाया था; उनकी पत्नी जकियब्बे ने भी एक जिनालय निर्माण कराया था, जिसकी पूजा, जीर्णोद्धार और दानशाला के लिए पुनीष ने दो ग्राम भेंट किये थे। सेनापति विष्णु ने वहाँ एक विष्णुवर्द्धन जिनालय बनवाया था। सम्राट् नरसिंह तृतीय भी जिनेन्द्रभक्त थे। एक दफा वह सेनापति बोप्प द्वारा निर्मित विजय पार्श्वबस्ति में आए और दर्शन किये। मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। अपने गुरु माघनन्दी को उन्होंने भूमिदान दिया, जिससे 'त्रिकूट-रत्नत्रय-शान्तिनाथ-जिनालय' का खर्च चले। इस

प्रकार द्वारसमुद्र में राज्याश्रय को प्राप्त हुआ जैनधर्म विशेष उन्नतिशील था। लोगों की रुचि स्वतः ही धर्म की ओर जा रही थी। दोरसमुद्र महाभाग्यशाली था कि वहाँ निरन्तर महाज्ञानी-ध्यानी मुनिराज विद्यमान रहते थे। वे जनता को सन्मार्ग दिखाते थे। अन्त में सल्लेखनाव्रत से ऐहिकलीला समाप्त करके अपना नाम अमर कर जाते थे। सन् १२७४ ई० में मुनि बालचंद्र पण्डितदेव दोरसमुद्र में खूब प्रसिद्ध थे। वह देशीयगण, इंगुलेश्वर बलि और श्रीसमुदाय के साधुरत्न थे। वह महान् विद्वान् थे सारचतुष्टय पर उन्होंने टीका रची थी। श्रीनेमिचन्द्र भट्टारक उनके दीक्षागुरु थे। एक दिन उनके सम्मुख चतुर्वर्ण संघ इकट्ठा हुआ, जिसको लक्ष्य करके उन्होंने कहा: "आज दो पहर को मैं समाधि धारण करूँगा। आप सब लोगों को धर्मलाभ हो, यही भावना है। आप लोग मुझे क्षमा करें।" उन्होंने सन्यास धारण किया—उसके नियम पाले—पल्यंकासन से णमोकार मंत्र का स्मरण करते हुए शरीर का प्रशंसनीय उत्सर्ग किया। इस पुण्य अवसर पर दोरसमुद्र के भव्य पुरुषों ने खूब उत्सव मनाया, व्रतनियम ग्रहण किये और अपने गुरु की स्मृति में उनकी एवं पंचपरमेष्ठियों की मूर्तियाँ निर्माण करा—पुण्यबंध किया। इस घटना के पाँच वर्ष बाद सन १२७९ में अभयचन्द्र सिद्धान्तदेव का समाधिमरण दोरसमुद्र में हुआ। यह मुनिराज एक बड़े तर्कवादी थे। इन्होंने प्रभाचन्द्रयी के अनुसार छंद, न्याय, शब्द, व्याकरण सिद्धान्तादि शास्त्र को प्रतिपादा था। अपना मरण समय जान करके इन्होंने निर्भीकता से समाधिमरण किया। दोरसमुद्र के जैननागरिकों ने उनकी स्मृति में भी निषधि बनवाई। इसी तरह सन १३०० में दोरसमुद्र में श्रीरामचन्द्र मलधारिदेव का सन्यास मरण हुआ था। (विशेष के लिये प्रो० सालेतोर की "मेडियेवल जैनीज्म" पुस्तक देखो) निस्सन्देह दोरसमुद्र उस समय एक विशेष समृद्धिशाली नगर था। शिलालेखों में उसका उल्लेख 'द्वारावतीपुरवर' रूप में ठीक ही हुआ है—वह यादवों की द्वारिका की सानी रखती थी। किन्तु आज होयसल नरेशों की राजधानी धराशायी हुई अपने खण्डहरों में गतविभूति-वैभव को याद करके अट्टहास कर रही है। मैसूर रियासत के हासन जिले में हलेबीडु नामक स्थान ही प्राचीन दोरसमुद्र है। जो स्थान एक समय जैनियों के ७२० मंदिरों मूर्तियों और दानशालाओं से हराभरा था, वहाँ आज एक परकोटे के भीतर तीन मंदिर निःशेष हैं। उस परकोटे में अगणित जीर्ण और खण्डित मूर्तियाँ और शिल्पकीर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। दोरसमुद्र की यह दशा मुसलमानों के हाथ से हुई—होयसल नरेश उनके आक्रमण को रोक न सके। इसे कहते हैं कालचक्र— दिननुके फेर से सुमेरु होत माटी को!'

धर्मस्थल, ४३३;—सन् १८१० में धर्मस्थल के कुमार हेग्गडे ने आकर मैसूर नरेश कृष्णराज वोडेयर को एक सनद दिखाई जिसके अनुसार बेल्गुल के लिए भूमिदान स्वीकृत

हुआ। यहाँ का हेग्गडेवंश प्राचीनकाल से जैनधर्म का रक्षक रहा है। धर्मस्थल मंगलूर से ३७ मील है।

धवलसरोवर या धवलसर—५४, १०८—श्रवणबेलगोल का अपर नाम है।

धारा नगरी—५५, १३८—परमारवंशी राजा भोज की राजधानी मालवदेश की धारा अभिप्रेत है। होयसल नरेश एरेयङ्ग ने धारा को जीता था। (मालव मण्डलेश्वरपुरीं धारामधाक्षीत चलान) धारा में जब परमारवंश के राजाओं का राज्य ९वीं से १२वीं शताब्दि तक था, तब जैनधर्म का बाहुल्य वहाँ था। परमार राजाओं से भी जैनमुनियों और जैन-कवियों ने सम्मान प्राप्त किया था। नृप मुञ्ज वाक्पतिराज द्वितीय ने श्रीमहासेन सूरि का आदर किया था। किन्तु राजा भोज इस वंश के प्रमुख नरेश थे। वह श्रीप्रभाचन्द्राचार्य की प्रतिभा से प्रभावित हुए थे और उनके चरणों में शीश नमाया था। नृप भोज स्वयं विद्वान थे। उन्हें धर्मसंवाद सुनने में रस आता था। एक दफा उनके दरबार में भी शान्तिसेन नामक जैनाचार्य पहुँचे। उन्होंने उन सब अजैन विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया, जो पं० अम्बरसेन से सफल वाद करने की शेखी मारते थे। जैनकवि धनपाल राजा भोज की सभा के एक रत्न थे। उन्होंने राजा भोज के हृदय पर अहिंसाधर्म का महत्व अङ्कित किया था। कवि धनंजय, आचार्य नेमिचन्द्र और नयनन्दी भी उन्हीं के राज्यकाल में धारा को सुशोभित करते थे।

परमार राजाओं में नरवर्म देव भी जैनधर्म के आश्रयदाता थे। भोज की तरह उन्हें भी धर्मसंवाद सुनने का शौक़ था। जैनाचार्य रत्नदेव ने एक शैव गुरु को वाद में परास्त करके राजा को प्रसन्न किया था। राजा विंध्यवर्म ने जैन पण्डित आशाधर का सम्मान किया था। कविवर आशाधरजी धारा में बहुत दिनों तक रहे थे। उनके समय में यहाँ जैन पण्डितों की अच्छी गोष्ठी थी। (देखो, भारत के प्राचीन राजवंश,' भा० १ पृ० १००—१२१ व 'संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग २, खण्ड २, पृ० १५२—१६०)।

—क्रमशः

गोम्मट शब्द की व्याख्या की सामग्री

[ले०—श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्]

गोम्मट शब्द जो कि श्रवणबेल्गोल, कारकल और वेणूर की गगनचुम्बी मूर्त्तियों के प्रख्यात नाम गोमटेश्वर में गर्भित है तथा जो प्राकृत के ग्रन्थ 'गोम्मटसार' के नाम में उपस्थित है, एक गम्भीर वाद-विवाद का विषय रहा है। मुझे विश्वास है कि गोम्मटसार की कुछ गाथाओं में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका अर्थ प्रायः ठीक ठीक नहीं समझा गया है। इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट तथा ठीक रूप से समझने पर ही इस विवाद का निर्णय किया जा सकता है। मैं यहाँ आलोचनात्मक तथा ऐतिहासिक टिप्पणियों के सहित ऐसे स्थलों का अनुवाद उपस्थित करता हूँ। *

जीवकाण्ड गाथा नं० ७३३ :

अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू ।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयउ ॥

"जय हो गोम्मटराय की, जिनके शिक्षा-गुरु अजितसेन, जो कि जगद्गुरु हैं तथा मान्यवर गुरु आर्यसेन के सत्य आचरण तथा धार्मिक परम्परा के सहायक हैं।"

नोट:—गण तथा समूह दोनों शब्दों का बार-बार प्रयोग मुझे सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका का अनुसरण करने पर बाध्य करता है। इसमें गण से तात्पर्य जैन मुनियों का एक समुदाय अथवा श्रेणी है। सम्भवतः गाथा का मतलब है कि अजितसेन में आर्य्यसेन के सब गुण ही उपस्थित नहीं थे, वरन वह गण के सहायक भी थे। चामुण्डराय बहुधा केवल 'राय' शब्द से सम्बोधित किये गये हैं। यह एक उपाधि थी, जो उनकी दानशीलता की मान्यता के लिए राजमल्ल ने प्रदान की थी। गोम्मट एक वैयक्तिक नाम है तथा 'राय' चामुण्डराय की एक उपाधि है। हमें यहाँ निम्नांकित बातें मिलती हैं।

---

* इस निबंध में निम्नलिखित ग्रन्थ तथा टीकाओं का उपयोग हुआ है:—

१ गोम्मटसार जीवकाण्ड, खूबचन्द्रकृत भाषा-टीका सहित। रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (RJS) बंबई १९१६।

२ गोम्मटसार कर्म्मकाण्ड, मनोहरलालकृत भाषा-टीका सहित (RJS) बम्बई १९२०।

३ गोम्मटसार दो संस्कृत टीकाओं—जीवतत्त्वप्रदीपिका (JP) और मंदप्रबोधिका तथा टोडरमलकृत सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका (SC) भाषा-टीका।

४ गोम्मटसार जीवकाण्ड, अंग्रेजी अनुवाद—जियालाल जैन (SBJ) भाग ५, लखनऊ १९२७।

५ गोम्मटसार कर्म्मकाण्ड, अंग्रेजी अनुवाद—जियालाल तथा सीतलप्रसादकृत (SBJ) भाग ६, १० लखनऊ १९२७ तथा १९३७।

आर्य्यसेन प्राचीन समय के एक गुणवान गुरु थे, सम्भवतः सेन गण के। अजितसेन में उनके ही समान गुण थे और वह सेन गण के एक सहायक थे। अजितसेन का बहुत सम्मान था, क्योंकि वह जगद्गुरू कहे गये हैं और चामुण्डराय उपनाम गोम्मटराय अजितसेन के एक शिष्य थे।

कर्म्मकाण्ड गाथा नं० ९६५ :

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मटं रइयं।
कम्माण णिज्जरट्ठं तच्चट्ठवधारणट्ठं च॥

"यह गोम्मटसंग्रह नाम का ग्रन्थ (सूत्र) एक आकर्षक ढंग (गोम्मटं) पर वर्द्धमान महावीर द्वारा कर्मों के विनाश तथा वास्तविकता तथा नियमों की पुष्टि की महत्ता दिखाने के लिए निर्माण किया गया है।

नोट :—सूत्र शब्द ग्रन्थ की पवित्रता तथा ग्रन्थकार के अधिकार का सूचक है। 'गोम्मट-संग्रह' ग्रन्थ का नाम है और अधिकतर यह 'गोम्मटसार' कहलाता है। 'सार' और 'संग्रह' समानार्थी शब्द हैं। जीवतत्त्वप्रदीपका इस कृति का नाम 'गोम्मट सार-संग्रह-सूत्रम्' देती है। समस्त जैन विद्वानों तथा लेखकों का विश्वास है कि जैनों के वर्तमान धर्मग्रन्थ स्वयं महावीर स्वामी की वाणी है। इसीलिये जीवतत्त्वप्रदीपिका में लिखा है : गोम्मटदेवेन श्रीवर्द्धमान-देवेन'। गोम्मट चामुण्डराय का नाम है जो साधारणतः तीर्थंकरों और विशेषतः श्रीमहावीर के भक्त थे। इस कारण श्रीमहावीर (अथवा तीर्थंकर देखिये गाथा नं० ९६८) 'गोम्मटस्य देवः' नाम से सम्बोधित किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार इसे तीर्थंकरों की कृति ठहराकर अपनी नम्रता प्रकट करता है। 'गोम्मटं' को हम 'सुत्तम्' का विशेषण कह सकते हैं अथवा जीवतत्त्वप्रदीपिका की तरह उसे क्रियाविशेषण मान सकते हैं। जीवतत्त्व-प्रदीपिका के अनुसार 'गोम्मटम्' = नय-प्रमाण-विषयम्', 'नय व प्रमाण विषय-सम्बन्धी' अथवा दूसरे शब्दों में 'अधिकारपूर्ण तथा आकर्षक रूप से।' इसे विशेषण मानने पर इसका अर्थ होगा 'यह आकर्षक ग्रंथ गोम्मट-संग्रह।' मराठी में गोम्मट शब्द का अर्थ है 'सुन्दर', 'सुहावनी', 'आकर्षक' इत्यादि। गोम्मट शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ सहित बार बार प्रयोग मुझे तो केवल गोम्मट उपनाम चामुण्डराय की प्रशंसा का एक ढंग प्रतीत होता है। जिनसेन ने भी वीरसेन के प्रति ऐसा ही किया है। इस नाम से भी श्री-महावीरजी सम्बोधित होते हैं। पद इस प्रकार है।

भूयाद्वावीरसेनस्य, वीरसेनस्य शासनम्।
शासनं वीरसेनस्य वीरसेनकुशेशयम्॥

इसके स्पष्ट अनुवाद की अभी तक कमी है।

कर्मकाण्ड गाथा नं० ९६६ :

जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्डिपत्ताणं ।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥

'जय हो उस राय (चामुण्डराय) की, जिसके गुरु अजितसेन नाथ हैं जो कि गणधरदेव तथा अन्य असाधारण शक्तिधारियों के गुणों से विभूषित हैं।"

नोट :—अजितसेन को गणधरों की कोटि में रक्खा गया है। गणधर स्वामि तीर्थंकरों के शिष्य माने गये हैं, ऋद्धि से तात्पर्य उन कुछ अद्भुत तथा असाधारण शक्तियों से हैं, जो तप द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। यह आठ प्रकार की है, बुद्धि, क्रिया, विक्रिया तप बल, औषधि, रस, तथा क्षेत्र। संक्षेप में इसका अर्थ है कि साधु अजितसेन ने तप द्वारा महती शक्तियाँ प्राप्त की थीं।

कर्मकाण्ड गाथा नं० ९६७ :

सिद्धंतुदयतडुग्गयणिम्मलवरणेमिचन्दकरकलिया ।
गुणरयणभूसणंबुहिमइवेला भरउ भुवणयलं ॥

"सिद्धांत (जैन धर्मशास्त्र) रूपी पूर्वीय पर्वतों से उदय होते हुए श्रीनेमिचन्द्ररूपी दीप्तिमान पूर्ण (=वर) चन्द्र की किरणों द्वारा उत्पन्न किया हुआ ज्ञान-सागर का ज्वारभाटा गुण-रत्न-भूषण (चामुण्डराय का उपनाम, अर्थ है गुणरूपी रत्नों का भूषण) पृथ्वी के धरातल को जलमग्न कर दे।"

नोट :—जिस प्रकार कि समुद्र का ज्वारभाटा, जिसमें अनेक रत्न होते हैं, पूर्णचन्द्र द्वारा जो कि पूर्वीय पर्वतों से उदय होता है उत्पन्न होता है और पृथ्वी को जलमग्न कर देता है, उसी प्रकार ग्रंथकार चाहता है कि चामुण्डराय का, जिसे 'गुणरत्न-भूषण' की उपाधि प्राप्त हुई है, ज्ञान, सिद्धांतज्ञानी श्रीनेमिचन्द्र द्वारा 'पोषित' (पुष्ट) होता हुआ समस्त संसार में प्रसरित हो जाय। पद श्लेष से परिपूर्ण है और इसलिए दुर्बोध है, परन्तु अर्थ स्पष्ट है। हिन्दी अनुवाद के अनुसार, 'नेमिचन्द्र' चामुण्डराय द्वारा स्थापित नेमिनाथ की मूर्त्ति से तात्पर्य्य है। (देखिये गाथा ९६८)।

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य ।
गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिणकुक्कडजिणो जयउ ॥

"जय हो धर्मशास्त्र गोम्मटसंग्रह (गोम्मटसार) की, व सुन्दर पवत पर विराजमान गोम्मट जिन (जैन तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ की मूर्त्ति जो चामुण्डराय द्वारा निर्माण कराये हुए मंदिर में उपस्थित है) की तथा चामुण्डराय द्वारा स्थापित दक्षिण के कुक्कट-जिन की मूर्त्ति की।"

नोट : —यह एक महत्त्वपूर्ण गाथा है और बड़े ध्यानपूर्वक व्याख्या के योग्य है। प्रथम ग्रन्थकार इस ग्रन्थ गोम्मटसार की जय का इच्छुक है, दूसरे वह गोम्मट पर्वत पर विराजमान गोम्मट जिनके प्रति आदर प्रकट करता है। प्रारम्भिक विद्वानों ने समझा कि इसमें श्रवणबेल्गोल की गोम्मटेश्वर की मूर्त्ति का विवरण है परन्तु उनका किया हुआ अनुवाद निम्नलिखित कारणों से अशुद्ध है। जीवतत्त्व-प्रदीपिका की संस्कृत टीका के अनुसार गोम्मट जिन का तात्पर्य्य श्रीनेमिनाथ की मूर्त्ति से है, जो एक हाथ ऊँची है तथा इन्द्र-नील-मणि की बनी हुई है और चामुण्डराय द्वारा निर्मापित मंदिर में विराजमान है।) इसके अतिरिक्त बाहुबली की मूर्त्ति की दूसरी पंक्ति में पृथक् वर्णन है। हम ऊपर देख चुके हैं कि हमारे ग्रंथकार ने गोम्मटदेव व जिन का किस अर्थ में प्रयोग किया है। जीवतत्त्व-प्रदीपिका में दिये हुए अनुवाद में कोई असम्भव बात नहीं है इसलिए गोम्मट जिन का अर्थ है गोम्मट का मूर्त्ति, जो कि गोम्मट चामुण्डराय ने अपने बनवाये हुए मंदिर में स्थापित की थी। यह मंदिर श्रवणबेल्गोल में चन्द्रगिरि पर स्थित विख्यात चामुण्डराय बस्ति ही है। (देखिये गाथा ९७०)। जीवतत्त्व-प्रदीपिका के इस अनुवाद में सत्यता का आधार दिखाई पड़ता है कि यह नेमिनाथ की एक मूर्त्ति है, जो एक हाथ ऊँची है व इन्द्रनीलमणि की बनी हुई है। मुख-नाशी में गर्भगृह द्वार के आसपास किनारों पर बनी हुई नेमिनाथ की यक्ष व यक्षिणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में चामुण्डराय बस्ति में नेमिनाथ की मूर्त्ति उपस्थित थी। आज मंदिर में लगभग ५ फीट ऊँची श्रीनेमिनाथ की प्रतिमा है। इस मूर्त्ति का उस मूर्त्ति से कोई संबंध नहीं है, जो चामुण्डराय द्वारा स्थापित की गई थी। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह एचण द्वारा उस मंदिर के लिए बनवाई गई थी, जो इसने सन ११३८ ई० से कुछ समय पूर्व निर्माण कराया था। यह बात कि यह मूर्त्ति श्रीनेमिनाथ की है, मुझे ऐसा अनुमान करने को उद्यत करती है कि मूल इन्द्र-नील-मणि की मूर्त्ति वहाँ पर न होने के कारण किसीने इस मूर्त्ति को एचण द्वारा निर्मापित किसी दूसरे मंदिर से लाकर स्थापित करा दिया है। किसी प्रमाण के उपलब्ध न होने के कारण हमारे लिए यह कहना असम्भव है कि इस मूर्त्ति का क्या हुआ। गोम्मट जिन के अनुवाद के अनुसार 'गोम्मटशिखर' का अर्थ 'एक आकर्षक पर्वत' होता है और यह अर्थ चन्द्रगिरि के अर्थ से असंगत नहीं है। वह पर्वत दोनों में छोटा होने के कारण 'मोहक, आकर्षक' कहा जा सकता है। इस प्रकार दूसरी बार जिनके प्रति सम्मान प्रकट किया गया है, वह श्रीनेमिनाथ की प्रतिमा है, जो चामुण्डराय ने अपने चन्द्रगिरि वाले मंदिर में स्थापित कराई थी। तीसरे ग्रंथकार दक्षिण-कुक्कट-जिन की, अर्थात् श्रवणबेल्गोल में विंध्यगिरि स्थित श्रीबाहुबली की विशाल मूर्त्ति की जय का अभिलाषी है। 'दक्षिण' शब्द बेल्गोल की मूर्त्ति को पोदनपुर में भरतजी द्वारा स्थापित बाहुबली की ५२५ धनुष की विशाल पौराणिक मूर्त्ति से भिन्न सिद्ध कर देती है।

कर्मकाण्ड गाथा ९६९ :

जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं ।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥

"जय हो गोम्मट (चामुण्डराय) की जिसने प्रतिमा की स्थापना की जिसका मुख सर्वार्थ-सिद्धि (सर्वोच्च स्वर्ग) के देवों तथा अवधिज्ञानधारी मुनियों द्वारा भी जो सम्मानपूर्वक देखा जाता हो।"

नोट :—यह गाथा केवल ऊपर कथित बाहुबली की मूर्त्ति के वर्णन का जारी रखना मात्र है। रचयिता मुख्यतया बाहुबली की विशाल मूर्त्ति के मुख का वर्णन करता है। जिन महानुभावों ने उसका अवलोकन किया है, वही उसकी सुन्दरता समझ सकते हैं। बाहुबली की सुन्दर मूर्त्ति का प्रशान्त मुख इतना आकर्षक तथा प्रभावशाली है कि महान देवतागण तथा बड़े ज्ञानवान साधु भी उसकी वन्दना को जाते थे।

कर्म्मकाण्ड गाथा नं० ९७० ।

वज्जयणं जिणभवणं ईसिपभारं सुवण्णकलसं तु।
तिहुवणपडिमाणिक्कं जेण कयं जयउ सो राओ ॥

"जय हो (चामुण्ड) राय की जिसने एक जिनमंदिर निर्माण कराया, जिसका नाम ईषत्-प्राग्-भार है, जिसकी नींव वज्रमयी है और जिस पर स्वर्ण कलश शोभायमान है और जो तीनों लोकों में अद्वितीय है।"

नोट : —ईषत्-प्राग्-भार मुक्त जीवों का स्थान है। जैन धर्म्मानुसार यह लोकशिखर पर सिद्ध जीवों का निवास-स्थान है। यह वास्तव में एक मधुर नाम है जो कि एक पवित्र भक्त एक मंदिर का रख सकता है। मुझे विश्वास होता है कि रचयिता चन्द्रगिरि पर स्थित चामुण्डराय वस्ति का वर्णन करता है। मुख्यतः इस कारण कि इसमें एक विख्यात स्वर्णकलश (शिखर) अथवा कलश है। हम वहाँ पर स्वर्णकलश होने की आज आशा नहीं कर सकते, परन्तु सोने के पत्र से जो मढ़ा हुआ होगा वह कलश आज भी चामुण्डराय वस्ति पर विद्यमान है। मंदिर का आधार बड़ा भारी है और मंदिर वहां पर लगभग एक हज़ार वर्ष से स्थित है इस कारण हमारे ग्रन्थ का यह कथन कि इसका आधार वज्रमय है—अक्षरशः सत्य है। सम्भवतः हमें वज्जयलं पढ़ना है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके वास्तविक नाम ईषत्-प्राग्-भार का स्थान विख्यात चामुण्डराय वस्ति ने ग्रहण किया है।

कर्मकाण्ड गाथा नं० ९७१ ।

जेणुब्भियथंभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया ।
सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ॥

"जय हो गोम्मटराय (चामुण्डराय) की, जिसने सिद्धों के पवित्र चरणों को अपने बनवाये हुए स्तम्भ पर के यक्ष के मुकुट के किरणरूपी जल से धोया।"

नोट:—यह गाथा वर्णन करती है कि गोम्मटराय ने एक स्तम्भ निर्माण कराया था, जिस पर एक यक्ष बनवाया था, जिसके मुकुट में रत्न जड़े हुए थे। मेरी सम्मति में यह श्रवण-बेल्गोल के उस त्यागद-ब्रह्मदेव-स्तम्भ का वर्णन है जो दन्तकथाओं के अनुसार चामुण्डराय ने बनवाया था और इसकी पुष्टि एक शिलालेख, जिसका कुछ भाग अब प्राय: नष्ट हो गया है, से होती है। कुछ टीकाकारों के अनुसार यह गाथा एक बड़े ऊँचे स्तम्भ का वर्णन करती है परन्तु त्यागद-ब्रह्म-स्तम्भ इतना ऊँचा नहीं है।

कर्मकाण्ड गाथा नं० ९७२।

> गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
> सो राओ चिरकालं णामेण य वीरमत्तंडी॥

"सदा जय हो (चामुण्ड) राय की जिसने वीरमार्त्तण्डी नाम की देशी (कन्नड-टीका) रची, जब कि गोमट्टसार रचा जा रहा था।"

नोट:—इस गाथा की रचना असंतोषजनक है। जीवतत्त्वप्रदीपिका के अनुसार यह 'वीरमत्तंडो' पढ़ा जाता है क्योंकि वहां इसे 'राओ' का विशेषण कहा है। जीवतत्त्व-प्रदीपिका में 'जा कया देसी' का 'या देशी भाषा कृता' कर लिया गया है। पं० टोडरमल्ल इत्यादि चामुण्डराय की कन्नड-टीका का इसे एक उल्लेख समझते हैं। नरसिंहाचार्य्य के अनुसार चामुण्डराय ने ऐसी कोई रचना नहीं की है। इसका अर्थ केवल यह होता है कि इस ग्रंथ की कोई हस्तलिपि अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। जीवतत्त्वप्रदीपिका की प्रथम गाथा स्पष्ट रूप में कहती है कि इसका आधार एक कन्नड-टीका पर है। हमारे पास इस कथन के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि यह चामुण्डराय की कृति है। हमें मालूम है कि कन्नड में गोम्मटसार की टीका है, जिसका नाम 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' है, जिसे केशववर्णी ने सन १३५९ ई० में रचा था। वह अभय सिद्धांतचक्रवर्त्ती के शिष्य थे और धर्मभूषण के आदेशानुसार यह टीका की थी। वीरमार्त्तण्डी, जैसा कि गाथा में मिलता है, देशी का विशेषण है और यह वृत्ति का नाम है। चामुण्डराय की उपाधि भी वीरमार्त्तण्ड थी, जो उन्होंने नोलम्बा के युद्ध में अपनी वीरता का दिग्दर्शन कर के प्राप्त की थी। और यह असंगत प्रतीत नहीं होती कि उन्होंने इसका नाम अपनी एक उपाधि के नाम पर रक्खा हो। यदि हमारे देशी शब्द का अर्थ सत्य है तो इसका अर्थ है कि कन्नड जो कि एक द्राविड़ भाषा है एक प्राकृत भाषा के लेखक द्वारा देशी नाम से सम्बोधित की गई है। (यह भावानुवाद है। विवाद्य चर्चाओं के लिये इंडियन् हिस्टारिकल् क्वार्टर्ली, भाग १६, अंक ४ में छपे हुए अंग्रेजी लेख पढ़ना चाहिए।)

—अनुवादक, नेमिचन्द्र जैन

जैन महिलाओं की धर्म-सेवा

[ले०—श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०]

जैन धर्म का जन्म हुआ उत्तर भारत में, पर उसकी वृद्धि हुई दक्षिण भारत में। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महावीर स्वामी के समय में तथा उनके निर्वाण के बहुत दिनों बाद तक भी वस्तुतः उत्तर भारत ही जैन धर्म का केन्द्र रहा; किन्तु दक्षिण भारत में उसके प्रचार के बाद उत्तर भारत पर से उसकी सत्ता घटने लगी और शीघ्र ही दक्षिण जैन मत का केन्द्र समझा जाने लगा। दक्षिण में इस मत के प्राबल्य के कई कारण हैं। इनमें एक विशिष्ट कारण है वहाँ की स्त्रियों का अतिशय धर्म के लिए अमूल्य त्याग।

पुरुषों और स्त्रियों के धर्म-प्रेम के प्रभाव में अन्तर है। पुरुष अपने शास्त्र-ज्ञान तथा अन्य साधनों की सहायता से दूसरों में अपने मत के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है, किन्तु स्त्री माता, पत्नी या बहिन के रूप में जो आन्तरिक प्रभाव डालता है, वह अक्षय होता है; और पीछे वही प्रस्फुटित होकर पुरुष का मार्ग-प्रदर्शक होता है। दक्षिण भारत में हमें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। इस बात की पुष्टि के लिए हम यहाँ पर कर्णाटक की धर्म-प्रेमा महिलाओं की चर्चा करेंगे।

इतिहास हमें बतलाता है कि कर्णाटक में विभिन्न श्रेणियों की महिलाओं ने जैनमत के प्रचार में भाग लिया है। जहाँ राजपरिवारों की महिलाओं ने इस सम्बन्ध में उदारता और आत्मोत्सर्ग का परिचय दिया है, वहाँ साधारण घरानों की स्त्रियों ने भी प्रशंसनीय त्याग का आदर्श स्थापित किया है।

सबसे पहली स्त्री, जिसके धर्म-प्रेम और त्याग का परिचय हमें इतिहास में मिलता है, निर्गुन्द परिवार की है। उसका नाम कंदाच्छि था। वह परमगूल की पत्नी थी। यह परमगूल दुण्डु नामक निर्गुन्द युवराज का पुत्र था, और दुण्डु के बारे में हमें यह पता है कि प्रसिद्ध विमलचन्द्र आचार्य से उसने राजनीति की शिक्षा पाई थी। कंदाच्छि के विषय में हमें यह भी मालूम है कि वह मरुवर्मा नामक व्यक्ति की पुत्री थी। कंदाच्छि के बारे में कहा गया है कि 'वह सदा पुण्यकार्यों में आगे रहा करती थी।' उसने श्रीपुर नामक स्थान के उत्तरी हिस्से में एक जैन मंदिर बनवाया था, जो 'लोकतिलक' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परमगूल की प्रार्थना पर गंगनृपति, श्रीपुरुष, ने पूनल्लि ग्राम तथा कुछ अन्य भू-भाग इस मंदिर की सेवा के लिये प्रदान किये थे। हमें इसका पता ७७६ ई० की एक राजाज्ञा से लगता है। इसके साक्षियों में अट्ठारह राजकर्मचारियों के नाम हैं।

राजाज्ञा की इसी तिथि से हमें कंदाच्छि के समय का भी पता लगता है। कंदाच्छि ७७६ ई० में निश्चय ही पूर्ण वयस्क रही होगी। साथ ही यह भी विदित होता है कि इस महिला का अपने परिवार पर ही नहीं : बल्कि गंग-राजपरिवार पर भी काफी प्रभाव रहा होगा।

इसके बाद प्रमुख जैन महिलाओं मे जक्कियब्बे का नाम आता है। यह सत्तरस नागार्जुन की पत्नी थी। यह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के समय में थी। कृष्ण तृतीय का समय दसवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध है। ९११ ई० में सत्तरस नागार्जुन, जो नागरखण्ड ७० का शासक था, मर गया। राजा ने उसकी जगह पर उसकी पत्नी को नियुक्त किया। इससे विदित होता है कि जक्कियब्बे में राज्य-काय-संचालन की विशिष्ट क्षमता थी। उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि "वह राज्य-कार्य करने की योग्यता मे निपुण थी, जिनेन्द्र के शासन के प्रति आज्ञाकारिणी थी और लावण्यवती थी।" उसके सम्बन्ध मे यह भी कहा गया है कि उसने नागरखंड ७० की रक्षा की। स्त्री होने पर भी उसने अपूर्व साहस और वीरता का परिचय दिया था। जब उसका शरीर व्याधिग्रस्त हो गया, तो उसने अपना कार्य-भार अपनी पुत्री को सौंप कर सल्लेखना-क्रिया-द्वारा प्राण-विसर्जन कर दिया। बन्दणिके नामक पवित्र स्थान की 'बसदि' में उसने सल्लेखना क्रिया की थी।

इसी शताब्दि में एक और महिला का नाम आता है। इसका नाम अत्तिमब्बे है। यह सेनापति मल्लप्प की पुत्री और नागदेव की पत्नी थी। इसके पुत्र का नाम पडुवेल तैल था। अत्तिमब्बे का नाम कर्णाटक की जैन-महिलाओं में ही नहीं, बल्कि जैन-नारियों के इतिहास में सर्वोच्च है।

मल्लप्प पश्चिमी चालुक्य राजा, तैलप (९७३ ई०—९९७ ई०), का सेनापति था। उसकी पुत्री, अत्तिमब्बे, आदर्श धर्मचारिणी थी। उसने अपने व्यय से पोन्नकृत शान्ति पुराण की एक हजार प्रतियाँ तैयार करवाई थीं और सोने तथा कीमती पत्थरों की डेढ़ हजार मूर्त्तियाँ बनवाई थीं। प्रसिद्ध जैन महिलाओं मे से बहुत कम की तुलना अत्तिमब्बे से की गई है।

दसवीं शताब्दि के अंतिम भाग मे पाम्बब्बे नाम की एक अत्यन्त धर्मशीला महिला हो गई है। यह भूतुग की बड़ी बहिन थी। यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह भूतुग गंगराज भूतुग ही था या अन्य कोई। इस महिला का विवाह पडियर दोरपय्य नामक व्यक्ति से हुआ था। दोरपय्य ने कई विवाह किये थे। पाम्बब्बे उसकी पहली पाणिगृहीता थी। वह नाणब्बे कन्ति नामक एक धर्माचार्या की शिष्या थी। पाम्बब्बे ने बड़ी कड़ाई के साथ धर्मपालन किया। उसने अपने सिर के बाल नोच डाले और तीस साल तक बड़ी कठिन तपस्या की। अन्त में पञ्च व्रतों का पालन करते हुए ९७१ ई० में शरीर-त्याग किया।

ग्यारहवीं शताब्दि में पद्मावतीयक्क का नाम प्रमुखरूप से आता है। वह अभयचन्द्र की गृहस्थ शिष्या थी। १०७८ ई० में अभयचन्द्र का देहावसान होने पर उसने उस बसदि का निर्माण कार्य्य सम्पूर्ण किया, जिसका आरंभ अभयचन्द्र ने किया था। उसने देवमंदिर के चारों ओर एक घेरा भी बनवा दिया।

इसी शताब्दि में कर्णाटक के अन्य भागों में भी हमें धर्मकार्य में व्यावहारिक रूप से भाग लेनेवाली महिलाओं के उदाहरण मिलते हैं। राजेन्द्र कोंगाल्व की माता पोचब्बरसि ने १०५० ई० में एक बसदि का निर्माण कराया था। इस बसदि में उसने अपने गुरु गुणसेन पंडित की मूर्त्ति स्थापित की। १०५० ई० में एक बसदि का निर्माण कराया था। इस बसदि मे उसने अपने गुरु गुणसेन पंडित की मूर्त्ति स्थापित की। १०५८ ई० में उसने इस बसदि को भूमिदान भी दिया।

माललदेवी का स्थान भी धर्मचारिणी जैन-महिलाओं में अत्यन्त ऊँचा है। यह महिला कदम्बराजा कीर्त्तिदेव की प्रथम पाणिगृहीता पत्नी थी। इसने १०७७ ई० में कुप्पटूर में पद्मनन्दि-सिद्धांतदेव के द्वारा पार्श्वदेव चैत्यालय का निर्माण कराया। इस जिनालय के लिए उसने एडेनाड नामक अत्यन्त सुन्दर स्थान प्राप्त किया। इस चैत्यालय के तैयार हो जाने पर माललदेवी ने सभी प्रमुख ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर उनकी पूजा की और इस जिनालय का नामकरण 'ब्रह्मजिनालय' उन्हीं ब्राह्मणों से करवाया।

नागरखंड के धार्मिक इतिहास मे चट्टलदेवी का नाम एक विशेष स्थान रखता है। यह महिला सान्तर-परिवार की थी। सान्तर-परिवार जैनमतावलंबी थे, और उसका धर्म-प्रेम विख्यात है। चट्टलदेवी रक्कस गंग की पौत्री थी। उसका विवाह पल्लवराजा काडुवेट्टी से हुआ था। असमय में ही उसके पति और पुत्र का देहावसान हो गया। इसके बाद उसने अपनी छोटी बहन के चार पुत्रों, - तैल, गोग्गिग, ओड्डुग और बर्म,—को अपना मातृस्नेह समर्पित किया। इनके पिता सान्तर राजा थे, और उनका भी देहान्त हो चुका था। चट्टलदेवी ने अपनी बहिन के इन चारो पुत्रों को अपने ही पुत्रों के समान माना। इन्हीं की सहायता से उसने सान्तरों की राजधानी पोम्बुच्चपुर, में जिनालयों का निर्माण किया। इनमें से एक पंचकूट या पंचबसदि है जो 'ऊर्वितिलकम्' के नाम से विख्यात है। पंचबसदि का निर्माण-काल १०७० ई० है। इस महिला ने अन्य प्रकार के भी परोपकार-सम्बन्धी कार्य किये। इसने तालाब, कुएँ, मंदिर तथा घाटों के भी निर्माण कराये। इनके अतिरिक्त भोजन, वस्त्र तथा औषध का दान देकर उसने बहुतों का उपकार किया।

गंगराजपरिवार की महिलाएँ भी अपनी उदारता तथा धर्मशीलता के लिए प्रसिद्ध हैं। गंग महादेवी को अनेकान्तमत की प्रश्रय-दात्रियों में अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया गया है। यह

महिला भुजबल गंग हेम्माडि मान्धाता भूप की पत्नी थी। भुजबलगंग गंगवाडि और मेघुट्टिमंडलि १००० का शासक था। गङ्गमहादेवी को 'पट्टदमहादेवी' के नाम से भी पुकारा गया है। एक प्रशस्ति में गङ्गमहादेवी को जिनेन्द्र के चरणारविन्दों में लुब्ध भ्रमरी' कहा गया है। इस महिला का समय बारहवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध माना गया है, १११२ ई० में वह विद्यमान थी।

एक दूसरी सान्तर-राजकुमारी पंपादेवी है, जो अपने धर्म-कार्यों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह तैल नृपति की कन्या और विक्रमादित्य सान्तर की बड़ी बहिन थी। लेखों में इस महिला की बड़ी प्रशंसा की गई है। इसने ऊर्वीतिलकम की भाँति ही 'शासन-देवते' का केवल एक मास में निर्माण कराया। पंपादेवी बड़ी धर्मशीला थी। वह नित्य नियमित रूप से शास्त्रोक्त विधि से पूजा-अर्चा किया करती थी। उसकी सब से ऊँची कामना थी 'अष्टविधार्न्चने', 'महाभिषेकम्', और 'चतुर्भक्ति' को सम्पन्न करना। ऊर्वितिलकम के उत्तरी पट्टशाला के निर्माण में इस महिला का भी हाथ था।

जैन सेनापति गंगराज की पत्नी लक्कले या लक्ष्मीमती का नाम भी अनेकान्तमत के प्रचार के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रसिद्ध है। उस महिला ने १११८ ई० में श्रवणबेल्गोल में एक जिनालय का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त भी उसने कई जिनमंदिरों का निर्माण कराया था, जिनके संचालन के लिये गंगराज ने उदारतापूर्वक भूमि-दान दिया था। लक्ष्मीमती ने अपने पति की ही तरह परोपकार में अपना जीवन व्यतीत किया। उसने असहायों और दुःखियों को अन्न वस्त्र तथा औषध से बराबर सहायता की। इसी कारण प्रशस्तियों में उसे 'उदारता की खान' कहा गया है। एक लेख में कहा गया है—"क्या संसार की कोई दूसरी महिला निपुणता, सौन्दर्य्य और ईश्वर-भक्ति में गंगराज की पत्नी, लक्ष्मीयाम्बिके, की बराबरी कर सकती है ?" यह लेख ११२१ ई० का है। इसी साल लक्ष्मीमती ने समाधि लेकर शरीर-त्याग किया।

गंगराज के बड़े भाई की स्त्री का नाम जक्कणब्बे था। यह महिला शुभा-चन्द्रदेव की शिष्या थी। सेनापति बोप्प इसी महिलारत्न का पुत्र था। जक्कणब्बे ने 'मोक्षतिलक' नामक व्रत करके एक प्रस्तरखंड में एक जिनदेवता की प्रतिमा खुदवाई और उसे श्रवणबेल्गोल में प्रतिष्ठित किया। यह प्रतिष्ठाकार्य ११२० ई० में सम्पन्न हुआ। उसी साल में उसने श्रवणबेल्गोल में एक सरोवर भी खुदवाया।

पुणिसमय्य एक विख्यात जैन-सेनापति हो गया है। उसकी स्त्री, जक्कियब्बे, भी अपने धर्माचरण धर्मकार्यों के लिए प्रसिद्ध है। १११७ के एक लेख से मालूम होता है कि

कृष्णराजपेटे तालुका के होसकोटे नामक स्थान में उसने एक बसदि का निर्माण कराया था। यह बसदि केवल पत्थर का बना हुआ था। होसकोटे के एक शिलालेख में लिखा है कि इस महिला की तुलना केवल सीता और रुक्मिणी से की जा सकती है।

सुग्गियब्बरसि, कनकियब्बरसि और शान्तियक्क नामक तीन महिलाओं के नाम जैन-इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखते हैं। सुग्गियब्बरसि राजा मारसिंह की छोटी बहिन थी। इसके गुरु का नाम माघनंदी था। यह जैन मुनियों की बड़ी भक्त थी और उन्हें सदा भोजन-दान दिया करती थी। इसने उद्धरे के पञ्चबसदि को अलंकृत किया और उसी के उद्देश्य से 'सवनबीली' नामक स्थान में भूमि-दान किया।

कनकियब्बरसि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने सुग्गियब्बरसि के भूमि-दान में और भी वृद्धि की। उसने उन-उन स्थानों में जिन मंदिरों का निर्माण कराया, जहाँ उनकी आवश्यकता थी। जहाँ जैन मुनियों को भोजन का कष्ट होता था, वहाँ उसने उनके निर्वाह के लिए भूमि-दान दिया

जिस लेख में उक्त दोनों महिलाओं का उल्लेख मिलता है, उसी में शान्तियक्क का भी जिक्र है। इस महिला के पिता के पिता का नाम कोटिशेट्टि और माता का बोप्पब्बे था। उसके पति का नाम भी कोटिशेट्टि ही था। इसने उद्धरे में एक बसदि का निर्माण कराया। इस महिला को लेख में 'जिनधर्म का आधार' कहा गया है।

होयसल राजा विष्णुवर्द्धनदेव का रानी शान्तलदेवी जैन महिलाओं के इतिहास में एक विशेष स्थान रखती है। श्रवणबेलगोल तथा अन्य स्थानों में प्राप्त लेखों से विदित होता है कि सौन्दर्य्य, धर्मशीलता, दया और भक्ति आदि गुणों में इस महिला ने प्रशंसनीय ख्याति लाभ की थी। इसका पिता कट्टर शैव और माता जैन थी। इसकी माता का नाम मायिकब्बे था। यह नृत्य, गान और वाद्य में अत्यन्त निपुण थी और अपने सौन्दर्य्य के लिए विख्यात थी। इसके गुरु का नाम प्रभाचन्द्रसिद्धांतदेव था।

रानी शान्तलदेवी का धर्मकार्य चिरस्थायी है। ११२३ ई० में इसने श्रवणबेल्गोल में जिनेन्द्र की एक प्रतिमा निर्मित कराई, जो 'शान्तिजिनेन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी साल इसने श्रवणबेल्गोल में ही 'सवतिगन्धवारण' बसदि का निर्माण कराया। इस बसदि के सम्यक् संचालन के लिए शान्तलदेवी ने राजा विष्णुवर्द्धन की अनुमति से 'मोट्टेनविले' नामक ग्राम दान कर दिया। इस ग्राम के अतिरिक्त भी इसने अन्य कई ग्राम इस बसदि के संचालन के लिए अपने गुरु को अर्पित किये। शान्तलदेवी ने सल्लेखना-क्रिया द्वारा ११३१ ई० में शिवगंगे नामक स्थान में शरीर-विसर्जन किया।

राजा विष्णुवर्द्धनदेव की पुत्री, हरियब्बरसि, ने भी अनेक धर्मकार्य किये, उसने ११२९ ई०

में कोडंगिनाद के हंतियूर नामक स्थान में एक विशाल चैत्यालय का निर्माण कराया। इसके गोपुरों की ऊँची चोटियों में कीमती पत्थर जड़े थे। इस चैत्यालय के लिए उसने बहुत-सी भूमि का भी दान किया।

जक्कवे या जक्कले चाविमय्य की स्त्री थी। उसने हेरगु नामक पवित्रस्थान में एक बसदि निर्मित कराया और उसे चेन्न पार्श्वनाथ के नामपर प्रतिष्ठापित किया। सेनापति ईश्वर की स्त्री, मचियक्के, ने मायदवोलल नामक स्थान में एक जिन-मन्दिर की प्रतिष्ठा की। इस मंदिर के साथ उसने एक सरोवर का भी निर्माण कराया, जो 'पद्मावतीकेरे' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने ११६० ई० में इस मन्दिर के लिए भूमि-दान भी दिया। सामन्तगोव की पत्नी, सिरियादेवी, ने अपने गुरु चन्द्रायणदेव की आज्ञानुसार रंगनाथ मंदिर की विष्णुमूर्त्ति की चरण-शिला से एक जिन-मूर्त्ति बनवाई और उसे हुलियूर के बसदि में प्रतिष्ठित किया। अचलदेवी का नाम भी कुछ कम प्रसिद्ध नहीं है। यह महिला सेनापति चन्द्रमौलि की पत्नी थी। चन्द्रमौलि शैवमत का माननेवाला था, किन्तु अचलदेवी कट्टर जैन थी। उसने श्रवणबेल्गोल में पार्श्वनाथ का एक सुन्दर जिनालय बनवाया। उसके पति की प्रार्थना पर राजा बल्लाल ने एक ग्राम का दान उक्त मंदिर को दिया था। एचण की पत्नी सोमलदेवी ने १२०७ में बेलगवट्टिनाड नामक स्थान में एक बसदि का निर्माण कराया, और इसके लिए भूमि का दान दिया, जिसका विशेष विवरण लेख में आवद्ध है।

वास्तव में दक्षिण भारत में जैनमहिलाओं ने अनेकान्तमत के प्रचार तथा उसकी उन्नति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण भारत में आज जो कुछ भी जैनमत-सम्बन्धी कार्य दिखाई दे रहा है, उसमें महिलाओं का भारी हाथ है और इतिहास उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

[बी० ए० सालेतोरे-कृत 'मेडिएवल जैनिज्म' नामक पुस्तक के आधार पर स्वतन्त्र रूप से लिखित]

जैन आगम साहित्य में यक्ष

[ले०—श्रीयुत प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०]

ऋग्वेद तथा जैमिनीय ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में यक्ष शब्द का प्रयोग केवल आश्चर्यजनक अथवा भयानक अर्थ में हुआ है। हरिवंश पुराण में यक्षों को धनपति कुबेर के उद्यान और कोष का रक्षक कहा गया है। बौद्धों के महावंस में सिलोन के आदिम निवासियों को यक्ष बताया गया है।[1] कथासरित्सागर में बृहत्काय मांसभक्षी यक्षों का उल्लेख आता है। बौद्ध जातकों में तो यक्षों का वर्णन अनेक जगह आता है। यहाँ बताया गया है कि यक्षों की कभी पलक नहीं लगती, उनकी आँखें लाल होती हैं, उनकी परछाईं नहीं पड़ती; शरीर उनका ताड़वृक्ष के समान लम्बा होता है, दाँत शलजम जैसे होते हैं, चोंच श्येन पक्षी के समान होती है। ये लोग मनुष्य और पशुओं का मांस भक्षण करते हैं तथा जंगलों और एकांत स्थानों में वास करते हैं।[2]

(१) यक्षमह—

जैन साहित्य में यक्षों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। स्वयं जिन भगवान के यक्ष होते हैं। निशीथचूर्णि में इन्द्रमह, स्कंदमह, यक्षमह और भूतमह इन चार उत्सवों को महान् उत्सव (महामह) बताया गया है। इन उत्सवों पर साधु को स्वाध्याय करने का निषेध है। ये उत्सव कई दिन तक मनाये जाते हैं, और ये आषाढ़, आसौज, कार्तिक और चैत्रमास की पूर्णिमा के दिन समाप्त होते हैं।[3] इन्द्रमह के अवसर पर इन्द्रकेतु स्थापित कर उसका पूजन किया जाता है। जैनशास्त्रों में कांपिल्यपुर के दुर्मुख राजा द्वारा बड़े ठाट के साथ इन्द्रमह उत्सव मनाये जाने का उल्लेख आता है। राजा ने नागरिकों को इन्द्रकेतु स्थापित करने का आदेश किया। लोगों ने श्वेतध्वजपट, मणिरत्नमाला आदि द्वारा इन्द्रकेतु को सज्जित किया। नर्तकियों के नाच हुए, सुकवियों के काव्यपाठ हुए, इन्द्रजालियों ने इन्द्रजाल का प्रदर्शन किया कुंकुम-कपूरजल आदि का छिड़काव हुआ महादान दिये गये तथा मृदंग आदि वादित्र बजाये गये। इस प्रकार सात दिन आमोद-प्रमोद में बीतने के बाद पूर्णिमा आ गई। तब दुर्मुख

---

१ Yakshas: by A. K. Coomarswamy, पृ० १३।

२ Pre-Buddhist India: By R. Mehta, पृ० ३२४।

३ आसाढपोणिमाए, इह लाडेसु सावणपोणिमाए भवति इन्दमहो, आसोयपोणिमाए, कत्तियपुणिमाए चेव, सुगिम्हातो चेत्तपुणमाए एते अंतदिवसा गहिया। आदिलो पुण जत्थ विसये जतो दिवसातो महामहो पवत्तति ततो दिवसातो आरब्भ जाव अंतदिवसो ताव (निशीथचूर्णि, उद्देश १९)।

राजा ने कुसुम वस्त्रादि द्वारा महावैभव से इन्द्रकेतु की पूजा की।[1] इन्द्रमहोत्सव के अवसर पर नगर की कुलबालिकायें बलि, पुष्प, धूप आदि द्वारा इन्द्र की पूजा करती थीं, और अपने योग्य वर के लिये प्रार्थना करती थीं। एक बार एक राजकुमार भी इन्द्रस्थान (इंदट्ठाण) को गया हुआ था। उसे मालूम हुआ कि कन्यायें इन्द्र से वरप्राप्ति के लिये प्रार्थना कर रही हैं। राजकुमार ने उन्हें कन्या-अन्तःपुर मे रखवा दिया। बाद में उनका राजकुमार से विवाह हो गया।[2] यद्यपि यहाँ यक्षमह के विषय में अलग चर्चा नहीं की गई है, परन्तु इन्द्रमह आदि की तरह यक्षमह भी एक महान् उत्सव माना जाता था।

(२) यक्ष आराधन—

प्राचीन समय में भी लोग पुत्रोत्पत्ति के लिये यक्षाराधन करते थे। इस प्रकार की कथायें वैदिक, बौद्ध तथा जैनग्रन्थों में अनेक स्थलों प· आती हैं। धम्मपद की अट्ठकथा में श्रावस्ती नगरी के महासुवण्ण नामक एक गृहपति की कथा आती है। एकबार महासुवण्ण स्नान करके घर लौट रहा था। रास्ते में उसने एक महान् वृक्ष देखा। महासुवण्ण धन-धान्यादि से समृद्ध था, परन्तु उसके संतान न थी। महासुवण्ण ने वृक्ष के चारों ओर प्राकार बना दिया, उसे पताकाओं से सज्जित किया और प्रतिज्ञा की कि यदि मेरे संतान होगी तो मैं इसका महान सत्कार करूँगा।[3]

नायाधम्मकहा (अध्याय २) में भी इसी तरह की कथा आती है। धन्यसार्थवाह की पत्नी भद्रा के कोई सन्तान न होती थी। वह धन्य की आज्ञा लेकर स्नानादि करके राजगृह के बाहर जहाँ नाग, भूत, यक्ष, इन्द्र, स्कंद, रुद्र, शिव और वैश्रमण की प्रतिमायें थीं, वहाँ आई। भद्रा ने प्रतिमाओं का अभिषेक-पूजन आदि किया और प्रतिज्ञा की कि यदि मेरे संतानोत्पत्ति होगी तो मैं इनका दानादि से सत्कार करूँगी और अक्षयनिधि से संवर्धन करूँगी। तत्पश्चात् चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी के दिन विपुल अशन, पान आदि द्वारा नाग आदि को उपयाचित करती हुई वह समय बिताने लगी। भद्रा की इच्छा पूर्ण हुई। देवों द्वारा दत्त होने के कारण भद्रा ने अपने पुत्र का नाम देवदिन्न रक्खा।

संतानोत्पत्ति की अभिलाषा पूर्ण करने में हरिणगमेषी का नाम विशेषकर आता है। कल्पसूत्र में हरिणगमेषी द्वारा ही महावीर का गर्भपरिवर्तन किये जाने का उल्लेख है। कल्पसूत्र की हस्तलिखित प्रतियों में भी उसके चित्र आते हैं। मथुरा के जैन शिलालेखों में उसको 'भगवा नेमेसो' कहा गया है। वैदिक ग्रन्थों में भी नैगमेष यही काम करता है।

१ उत्तराध्ययन-नेमिचन्द्र-टीका ६, पृ० १३६।

२ निशीथचूर्णि, उद्देश ११।

३ Yakshas: by A. K. Coomarswamy, पृ० २२

यहाँ उसे हरिण-शिरोधारक इन्द्र का सेनापति कहा गया है। महाभारत में नैगमेष को अग्नि का अजामुख रूप बताया है।[1] अन्तगडसूत्र में (अध्याय ६) हरिणगमेषी के संबंध में निम्न लिखित कथा आती है। भद्दिलपुर में नाग गृहपति की पत्नी सुलसा के कोई संतान न होती थी। सुलसा को ज्योतिषियों ने बचपन में ही कह दिया था कि यह लड़की वंध्या होगी। सुलसा ने हरिणगमेषी की बहुत भक्ति-पूजा की। हरिणगमेषी आराधना से प्रसन्न हो गया। उसने सुलसा और कृष्ण की माता देवकी को एक साथ गर्भवती किया। दोनों के साथ ही पुत्रोत्पत्ति हुई। सुलसा ने मृत पुत्रों को जन्म दिया, और देवकी ने जीवित पुत्रों को। अब हरिणगमेषी ने सुलसा के मृत पुत्रों को देवकी के पास रख दिया और देवकी के पुत्रों को सुलसा के। तत्पश्चात् कृष्ण ने हरिणगमेषी की आराधना की और देवकी के गजसुकुमाल नाम का पुत्र हुआ।

पुत्रोत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी लोग यक्ष आदि का आराधन करते थे, यह बात नायाधम्मकहा (अध्ययन ८) की निम्न कथा से प्रकट होती है। चंपा नगरी के अर्हन्नग आदि वैश्य धनोपार्जन के लिये समुद्र यात्रा के लिये चले। रास्ते में अनेक उपसर्ग हुए। पिशाच का भयानक उपद्रव हुआ। उस समय सब यात्री अत्यन्त भयभीत होकर इन्द्र, स्कंद, रुद्र, शिव, वैश्रमण, नाग, भूत, यक्ष, आर्या और कोट्टकिरिया (दुर्गा) की आराधना करने लगे। बाद में सकुशल अपने स्थान पर पहुँच गये।

(३) यक्ष-आयतन—

प्राकृत और पाली ग्रन्थों में चेइय अथवा चेतिय का उल्लेख अनेक जगह आता है। जैन आगम ग्रन्थों के टीकाकार अभयदेव ने चेइय का अर्थ व्यंतरायतन किया है। मालूम होता है पहले प्रत्येक नगर में इस प्रकार के स्थान होते थे। उदाहरण के लिये राजगृह नगर में गुणसिलय, चम्पा में पूर्णभद्र और आमलकप्पा में अंबसाल वन नामक चैत्य थे। बौद्ध ग्रन्थों में आनन्द, गोतमक, चापाल, अजकलापक (इस चैत्य पर यक्ष को शान्त रखने के लिये बकरियों की बलि दी जाती थी) आदि चैत्यों का उल्लेख आता है। चैत्य के स्थान पर कभी यक्षाधिष्ठित उद्यानों का कथन भी आता है। जैसे वाणियगाम नगर में सुधर्म यक्षाधिष्ठित दुईपलास नाम का उद्यान था, मथुरा में सुदंसण यक्षाधिष्ठित भण्डीर नामक उद्यान था, तथा वद्धमाणपुर में मणिभद्र यक्षाधिष्ठित विजयवद्धमाण नाम का उद्यान था। ये यक्षायतन कभी नगर के बाहर उद्यान में, कभी पर्वत पर, कभी तालाब के पास, कभी नगर के द्वार के पास और कभी नगर में ही होते थे। औपपातिक सूत्र (सूत्र २) में

१ Yakshas : By A. K. Coomarswamy, पृ० १२।

पूर्णभद्र चैत्य का निम्नलिखित वर्णन आता है। पूर्णभद्र चैत्य प्राचीन, दिव्य और सुप्रसिद्ध था। यह वेदिका सहित, सच्छत्र, सध्वज, लोममय प्रमार्जन युक्त, गोबर आदि से लिपा हुआ, चंदन कलश, तोरण और मालाओं सहित तथा अगुरु आदि धूप से सुगंधित रहता था। यह चैत्य नट, नर्त्तक, स्तोत्रपाठक, मल्ल, मौष्टिक (मुष्टि युद्ध करने वाले), विदूषक, कूदनेवाले, तैरनेवाले, ज्योतिषी, रास गानेवाले, चित्र दिखाकर भिक्षा माँगनेवाले, कामीजन—इन सब का आश्रयभूत था। यहाँ यज्ञ याग और हवन आदि हुआ करते थे। इन चैत्यों में ही जैन, बौद्ध आदि साधु आकर उतरते थे। बृहत्कल्पसूत्रभाष्य में बताया है कि यदि साधु देवकुल आदि में रात्रि को वास करे तो वहाँ स्कंद, मुकुंद आदि की प्रतिमाओं के दीपक द्वारा जल जाने का भय है। कभी यह भी संभव है कि चूहे दीपक की जलती हुई बत्ती निकाल कर ले जायँ और उससे प्रतिमायें जल जायँ। इससे साधुओं के अपवाद होने का भय है। अतएव साधु को चाहिये कि वहाँ वास करने के समय प्रतिमाओं को सरका दे। यदि यह संभव न हो तो दीपक को एक तरफ़ उठाकर रख दे। इससे जान पड़ता है कि स्कंद आदि की प्रतिमायें लकड़ी की होती थीं तथा भक्त लोग रात्रि को उनके सामने दीपक जलाकर रखते थे। यह भी मालूम होता है कि काष्ठ की प्रतिमायें बहुत भारी न होती थीं और वे एक जगह से दूसरी जगह सरकाइ भी जा सकती थीं।[1]

प्रज्ञापनासूत्र में तेरह प्रकार के यक्षों के नाम निम्न प्रकार से आते हैं पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, मनुष्यभक्त, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष और यक्षोत्तम। इन यक्षों में पूर्णभद्र और मणिभद्र अधिक प्रसिद्ध मालूम होते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में भी इन यक्षों का उल्लेख आता है। सांख्यायनसूत्रों में मणिभद्र का उल्लेख मिलता है।

स्थानांगसूत्र में आठ व्यंतरदेवों के आठ चैत्य वृक्ष बताते हुए यक्ष का चैत्यवृक्ष वट बताया गया है। कहीं चैत्य शब्द वट अथवा किसी अन्य साधारण वृक्ष के अर्थ में भी आता है। पहले चिता के ऊपर कोई चिह्न आदि बना देते थे, और उसे पूजने लगते थे। मथुरा के जैनस्तूप और बौद्धस्तूप इसी तरह के चैत्य हैं। बौद्ध जातकों में वटवृक्ष की पूजा का उल्लेख मिलता है, जिसमें लोग बकरे, मुर्गे, सूअर आदि को मारकर उनकी बलि देते थे।

(४) यक्ष-ग्रह—

शास्त्रों में यक्षग्रह के अनेक कथानक आते हैं। यक्षग्रह की विविध चिकित्साओं के भी उल्लेख मिलते हैं। जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति (पृष्ठ १२०) में अन्य व्याधियों के साथ इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह, स्कंदग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह और भूतग्रह का भी कथन आता है। विनयपिटक

१ बृहत्कल्पभाष्यसूत्र वृत्ति भाग ४, पृ० ९९७।

(महावग्ग ३) में भिक्षु को भूतग्रह होने पर आमिषोदक पान कराने को लिखा है। दीघ-निकाय (आटानाटियसुत्त) में भूतों से रक्षा करने के लिये आटानाटिय रक्षा बताई है। यहाँ यह बताया गया है कि यदि कोई यक्ष-यक्षिणी द्वेषयुक्त चित्त से भिक्षु का पीछा करें तो इन्द्र, सोम आदि महायक्षों को (इनमें मणिभद्र नामक यक्ष का भी नाम आता है) पुकारना चाहिये कि यह यक्ष पकड़ रहा है, शरीर में प्रवेश कर रहा है, सता रहा है, डरा रहा है। जैनग्रन्थों में कहा है कि यदि कोई साधु यक्षाविष्ट हो जाय तो कायोत्सर्ग द्वारा देवता का आसन प्रकम्पित करके भूतचिकित्सा करनी चाहिये।

(५) यक्षविशेष और उनके कार्य—

पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि यक्षों के अतिरिक्त जैन ग्रन्थों में अन्य भी यक्षों के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं।

(१) मोग्गरपाणि यक्ष—राजगृह में अर्जुनक नामक एक माली रहता था। नगर के बाहर माली का एक उद्यान था। इस उद्यान के पास मोग्गरपाणि का यक्षायतन था। यह यक्षायतन भी उपरोक्त पूर्णभद्र चैत्य के समान प्राचीन, दिव्य आदि गुणों से युक्त था। अर्जुनक के पितामह आदि पूर्वकाल से इस यक्ष की पूजा करते आये थे। यक्ष के हाथ में एक बड़ी भारी लोहे की मुद्गर थी। अर्जुनक बाल्यकाल से ही यक्ष की भक्ति करता था। वह प्रतिदिन अपनी टोकरी लेकर उद्यान में जाता, पुष्प-चयन करता, पुष्पों से यक्ष की अर्चना करता और राजमार्ग में जाकर अपनी आजीविका चलाता था। एक दिन माली अपनी स्त्री के साथ उद्यान में पुष्प-चयन करने आया। यक्षायतन में छह बदमाशों की एक टोली आई हुई थी। ये लोग माली और उसकी स्त्री को आते देख यक्षायतन के किवाड़ों के पीछे छिप गये। ज्योंही माली और उसकी पत्नी ने अन्दर प्रवेश किया, इस टोली ने माली को पकड़ कर बाँध लिया और मालिन से विषयभोग किया। अर्जुनक को इससे अत्यन्त खेद हुआ। उसे यक्ष पर अश्रद्धा हो गई। उसने कहा, यह यक्ष नहीं, यह तो लकड़ी का ठूंठ मात्र है। अब यक्ष ने माली के शरीर में प्रवेश किया। माली के बंधन टूट गये। यक्षाविष्ट माली ने अपनी मुद्गर से उस टोली को और मालिन को जान से मार दिया। राजा के पास जब यह समाचार पहुँचा तो उसने नगर भर में मुनादी करा दी कि कोई आदमी घर से बाहर न निकले (अंतगडसूत्र ६)।

(२) सुरप्रिययक्ष—साकेत नगरी की उत्तर-पूर्व दिशा में सुरप्रिय नाम का यक्षायतन था। वह प्रति वर्ष चित्रित किया जाता था, और लोग उसका महान् उत्सव मनाते थे। जो चित्र-कार उसे चित्रित करता था, उसको यक्ष मार डालता था। यदि यक्ष को चित्रित न किया जाता तो वह जनमारी फैला देता था। साकेत नगरी के जब सब चित्रकार भागने लगे तो राजा को

बहुत चिन्ता हुई। उसने सब चित्रकारों को इकट्ठा किया। राजा ने सब चितेरों के नाम पत्र पर लिखवाकर एक घड़े में डाल दिये। ये नाम प्रतिवर्ष घड़े में से निकाले जाते थे। जिस चित्रकार का नाम निकल आता उसे यक्ष को चित्रित करना पड़ता था। एकबार कौशांबी के किसी चित्रकार का लड़का अपने घर से भाग कर साकेत में आया। वह एक चित्रकार के घर रहने लगा। संयोगवश अबकी बार इसी चित्रकार का नाम निकला। चित्रकार की वृद्धा माता को अत्यन्त दुःख हुआ। इस चित्रकार के लड़के ने वृद्धा माता को आश्वासन दिया और वह स्वयं यक्ष को चित्रित करने के लिये तैयार हो गया। इस बालक ने उज्ज्वल वस्त्र आदि धारण कर नई कूँची आदि ले यक्ष को चित्रित किया, और पादवंदन कर अपने अपराधों की क्षमा मांगी। यक्ष ने संतुष्ट होकर वर मांगने को कहा। चित्रकार बालक ने कहा, "आप लोगों का नाश न करें।" यक्ष ने कहा, यह तो अब मैंने छोड़ ही दिया है, और कुछ माँग। बालक ने कहा. मैं चाहता हूँ कि द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणियों के एक भाग को देख कर भी मैं उनका पूर्णरूप से तदनुरूप चित्रण कर सकूँ। यक्ष ने वरदान दिया (आवश्यक हरिभद्रवृत्ति १)।

(३) भूततड़ाग तालाब—बृहत्कल्पसूत्रभाष्य में कुत्रिकापण[१] नामक एक दुकान का उल्लेख मिलता है। इस दुकान पर तीनों लोकों की सामग्री उपलब्ध होती थी। प्राचीन समय में उज्जयिनी और राजगृह में कुत्रिकापण थीं। राजा चण्डप्रद्योत के समय में उज्जयिनी में नौ कुत्रिकापण थीं। इस कुत्रिकापण में भूत-पिशाच भी बेचे जाते थे. एक बार भृगुकच्छ (भरोंच) का कोई वैश्य उज्जयिनी में आया और कुत्रिकापण से उसने भूत मांगा। दुकान मालिक ने कहा यदि लाख रुपये दो तो भूत मिल सकता है। वैश्य तैयार हो गया। दुकानदार ने देवता से आज्ञा माँगी। देवता ने कहा कि भूत बेच सकते हो परन्तु ग्राहक से कह दो कि यदि भूत को काम न दिया जायगा तो वह उसे मार डालेगा। वैश्य भूत लेकर चल दिया। वैश्य भूत को जो काम बताता उसे वह जल्दी ही कर डालता। अन्त में वैश्य ने एक स्तम्भ गाड़ दिया और भूत को उस पर चढ़ते उतरते रहने को कहा। भूत ने हार मान ली और वह अपनी पराजय के उपलक्ष्य में भरोंच के उत्तरभाग में 'भूत तड़ाग' नामक तालाब बनाकर वहाँ से चला आया।

(४) ऋषि तड़ाग—इसी तरह की दूसरी कथा तोसलिदेश के वैश्य की आती है। वह भी उज्जयिनी जाकर ऋषिपाल नामक व्यंतरदेव को मोल लाया था। इस व्यंतर ने 'ऋषि-

१ कु इति पृथिव्याः संज्ञा, तस्याः त्रिकं कुत्रिकं-स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणं तस्यापणः हट्टीः। पृथिवीत्रये यत् किमपि चेतनमचेतनं वा द्रव्यं सर्वस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगक्षमं विद्यते तत् आपणे न नास्ति (बृहत्कल्पसूत्रभाष्यवृत्ति ३—४२१४)

तड़ाग' नाम का तालाब बनाया। इस तालाब पर लोग प्रतिवर्ष आठ दिन का उत्सव मनाते थे।

(५) भंडीरयक्ष—आवश्यकचूर्णि आदि में भंडीरयक्ष का नाम अनेक जगह आता है। मालूम होता है कभी मथुरा नगरी में भंडीरयक्ष का बड़ा माहात्म्य माना जाता था। लोग इकट्ठे होकर भंडीरयक्ष की यात्रा के लिये जाते थे, और उन्होंने भंडीर की स्मृति में भंडीरवट, भंडीरवडिंसय चैत्य, भंडीरवडिंसय उद्यान, भंडीरवण आदि स्मारक बनवाये थे। मथुरा में जक्खगुहा (यक्षगुहा) होने का भी उल्लेख मिलता है। इस गुफा में आर्यरक्षित आचार्य ठहरे थे।[१]

(६) मनुष्य रूप में यक्ष—

मनुष्यरूप यक्षों की अनेक कथायें प्रचलित हैं। यहाँ इस तरह की एक-दो कथायें दी जाती हैं:—

(१) एक ब्राह्मण की कन्या अत्यन्त रूपवती थी। ब्राह्मण अपनी कन्या पर आसक्त हो गया। उसने एक ब्राह्मणी को दूती बना कर उसके पास भेजा। ब्राह्मणी को एक उपाय सूझ पड़ा। उसने कन्या से कहा, देखो हमारे कुल में यह रिवाज है कि यक्ष कन्याओं का उपभोग करते हैं। अतएव जब यक्ष आये तो तुम उसका अपमान नहीं करना। तथा वह यक्ष अँधेरे में ही आता है, इसलिये तुम प्रकाश नहीं करना। लड़की चालाक थी। उसने दीपक जलाकर उसके ऊपर एक मिट्टी का बर्तन रख दिया। रात को यक्ष आया। जब उसने मिट्टी का बर्तन उठा कर देखा तो देखती क्या है कि उसका पिता है।

(उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ८९)।

(२) दूसरी कथा शीलवती की है। शीलवती का पति जब परदेश गया तो उसने अपने पति को एक पुष्पों की माला दी और कहा कि यदि यह माला मुरझा जायगी तो तुम समझ लेना कि मेरा शील खण्डित हो गया है। शीलवती का पति राजसैन्य के साथ चल दिया। कुछ दूर चल कर राजा की दृष्टि इस माला पर पड़ी। राजा ने कहा इस ऋतु में कहीं भी खिले हुए फूल नहीं मिलते, फिर इस माला के फूल कैसे खिले हुए हैं? शीलवती के पति ने सब बात बता दी और अपनी पत्नी के शील का बखान किया। कुछ राजकर्मचारियों को इस बात पर विश्वास न हुआ। एक कर्मचारी शीलवती की परीक्षा करने आया। शीलवती ने कौशल से अपने घर में एक गहरा गड्ढा खुदवाकर उसे उसमें बन्द कर लिया। इस तरह उसने चार अन्य कर्मचारियों को उस गड्ढे में बन्द कर लिया। कुछ समय बाद शीलवती का

१ अथार्यरक्षिताचार्याः मथुरानगरीं गताः।
तत्र यक्षगुहायां च व्यन्तरायतने स्थिताः॥ (अभिधानराजेन्द्रकोष)

पति राजसैन्य के साथ वापिस आ गया। एकबार शीलवती ने राजा को भोजन का निमंत्रण दिया। इधर वे चारों कर्मचारी गड्ढे में पड़े पड़े बहुत दुखी हो गये थे। उन्होंने शीलवती से क्षमा माँगी और अपने उद्धार के लिये प्रार्थना की। शीलवती ने कहा अच्छी बात है; परन्तु जब मैं किसी बात को कहूँ कि यह हो जाय तो तुम कहना कि हाँ हो जाय। राजा के आने के पहले ही शीलवती ने रसोई तैयार करके रख दी। जब राजा आया तो उसने उस गड्ढे की पूजा आदि करके कहा कि रसोई तैयार हो जाय। बस रसोई तैयार हो गई। राजा ने जब पूछा तो शीलवती ने कहा कि मेरे पास चार यक्ष हैं। उनमें जो कुछ कहो वे करते हैं। भोजन आदि के बाद राजा ने शीलवती से उन यक्षों को माँगा। शीलवती ने यक्षों को राजा को सौंप दिया। राजा ने उन्हें घर ले जा कर कहा कि रसोई तैयार हो जाय। परन्तु वहाँ कुछ भी नहीं हुआ। राजा को सब हाल मालूम हुआ और वह शीलवती की चतुराई पर बहुत प्रसन्न हुआ (कुमारपालप्रतिबोध)।

(३) रूपयक्ष—व्यवहारसूत्र के भाष्य में रूपयक्ष का उल्लेख मिलता है। ये लोग दण्ड-नीति आदि शास्त्रों में निपुण होते हैं; किसी से लाँच नहीं लेते, अपने आत्मीय लोगों का अयथार्थ पक्ष ग्रहण नहीं करते, ऐसे लोग रूपयक्ष कहे जाते हैं।

(व्यवहारभाष्य भाग ३, पृ० १३२)।

भारतीय साहित्य में यक्षों के संबंध में अनेक कथायें आती हैं। इन सब के ऊपर से एक सुन्दर निबंध तैयार किया जा सकता है। वैदिक ग्रन्थों में यक्षों को देव मान कर उनकी पूजा करने का विधान है। जब कि जैन शास्त्रों में उन्हें निम्न जाति का व्यंतरदेव बताया गया है। स्थानांगसूत्र में आठ व्यंतरदेवों के आठ चैत्यवृक्षों के नाम निम्न प्रकार से आते हैं—पिशाच (कलंब), यक्ष (वट), भूत (तुलसी), राक्षस (कंडक), किन्नर (अशोक), किंपुरुष (चंपक), भुजंग (नागवृक्ष), गंधर्व (तेंदुय)। आजकल भी लोग वट, तुलसी आदि वृक्षों को यक्षाधिष्ठित मान कर पूजा करते हैं। इतिहास-विशारदों के अनुसार तो नागवंश आदि की तरह यक्षों का भी एक वंश था, और ये लोग यहाँ के मूल निवासी थे। संभवतः ये लोग भयानक रूपवाले रहे हों, और इसी पर से लोगों ने इन्हें यक्ष मानना आरम्भ कर दिया हो। जो कुछ भी हो, भारत में जो प्राचीन प्रतिमायें मिली हैं, उनमें प्राचीनतम मूर्त्तियाँ यक्षों की ही उपलब्ध हुई हैं। इससे भी मालूम होता है कि यक्षों का कभी बहुत ऊँचा स्थान रहा होगा।*

---

* यक्षों के ऊपर श्रीयुत कुमार स्वामी ने अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी है। इसमें यक्षों की सुन्दर प्लेट्स दी हुई हैं। जो पाठक इस विषय में रुचि रखते हों उन्हें यह पुस्तक पढ़नी चाहिये।

आठवीं शताब्दिसे पूर्ववर्ती गणित शास्त्र संबंधी संस्कृत व प्राकृत ग्रन्थोंकी खोज

[लेखक—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल-एल-बी०]

भारतवर्षके ज्ञानकोषकी वृद्धिमें जैनियोंने जो भाग लिया है उसमें गणितशास्त्रका स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण है। गणित संबंधी ग्रंथोंमें महावीराचार्यकृत गणितसारसंग्रह अपना एक विशेष स्थान रखता है। उसमें ब्रह्मगुप्त जैसे पूर्ववर्ती गणितज्ञों की अपेक्षा अनेक बातोंमें उन्नति पाई जाती है।[1] यह ग्रंथ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष नृपतुंगके समयमें लिखा गया था, जिसका राज्यकाल सन् ८१५ से प्रारंभ हुआ माना जाता है। इन्हीं नरेशके पूर्ववर्ती जगतुंग-देवके शासनकालमें वीरसेनाचार्यने षट्खंडागम पर अपनी सुविख्यात टीका धवला लिखी थी। यद्यपि इस ग्रन्थका मुख्य विषय धार्मिक सिद्धान्तसे संबंध रखता है, तथापि इन सिद्धान्तोंके सूक्ष्म व्याख्यानमें टीकाकारने अपने समयके गणितशास्त्रका खूब उपयोग किया है। षट्खंडागममें गणितका विषय मुख्यत: प्रथम खंड जीवस्थानकी द्रव्यप्रमाण,[2] क्षेत्रानुगम और स्पर्शनानुगम[3] इन तीन प्ररूपणाओंमें पाया जाता है। इस सम्बन्धके उल्लेखोंको हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) सूत्रों में आई हुई बातें।

(२) धवलाकार द्वारा किया गया विवेचन।

(३) अन्य ग्रन्थकारों के अवतरण।

सूत्रोंमें एकसे लगाकर सौ, हजार, लाख, करोड़, कोड़ाकोड़ी, कोड़ाकोड़ाकोड़ी व कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी तककी संख्या, संख्यात, असंख्यात, अनन्त व अनन्तानन्तके नाम; जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग व वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यास आदि गणितकी प्रक्रियाएँ, अंगुल, योजन, श्रेणी, विष्कम्भ, सूची, प्रतर व घन आदि क्षेत्र सम्बन्धी माप तथा समय, आवली, अन्तर्मुहूर्त, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पल्योपम आदि काल संबंधी माप उल्लिखित पाये जाते हैं। ये सूत्र भूतबलि आचार्य द्वारा विक्रमकी प्रथम शताब्दिके लगभग लिखे गये सिद्ध होते हैं, अत: उक्त उल्लेखों पर से आज से कोई दो हजार वर्ष पूर्वके गणित-संबंधी भारतीय ज्ञानका बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है।

---

१ See Ganit-Sar-Sangraha of Mahaviracharya edited by Rangacharya, Madras, 1912 Preface P. XI.

२ देखो षट्खण्डागम व्हाल्यूम ३ (जैनसाहित्योद्धारक फंड सीरीज।

३ ,, ,, ,, ४ (मुद्रणाधीन)।

धवला टीकाके रचयिता वीरसेनाचार्यने अपनी रचनामें सूत्रोंके उक्त उल्लेखोंको खूब ही पल्लवित करके बतलाया है। उन्होंने संख्यात, असंख्यात व अनन्तके स्वरूपको बहुत कुछ स्पष्ट कर दिखाया है। द्रव्यप्रमाण कथनके आदिमें ही उन्होंने अनन्तके स्वरूप व उसके आन्तरिक भेदोंको समझाते हुए जो राशिके अर्धच्छेद व वर्गशलाकाओंका संबंध बतलाया है वह गणित शास्त्रको एक बहुमूल्य वस्तु है। उसमें आधुनिक Logarthim के समस्त सिद्धान्त अन्तर्निहित पाये जाते हैं।[1]

गणितकी भाग-प्रक्रियाके उन्होंने खंडित, भाजित, विरलित व अपहृत, ऐसे चार प्रकार बतलाये है व उनके प्रमाण, कारण व निरुक्तियाँ भी समझाई हैं।[2] भाज्य भाजक संबंधको क्षेत्र गणित द्वारा स्पष्ट करनेमें धवलाकारने अपने सूक्ष्म और तलस्पर्शी गणितज्ञानका अच्छा परिचय दिया है। जीव राशियों के प्रमाणोंको उन्होंने वर्गधारा, घनधारा व घनाघन धाराओं द्वारा खूब समझाया है, और इस सम्बन्धमें उनके उपरिम विकल्प और अधस्तन विकल्प, तथा, गृहीत, गृहीतगृहीत और गृहीतगुणकाररूप प्रक्रियाएँ बड़ी ही अनोखी और अद्भुत हैं। उपरिमविकल्पमें वे निश्चित राशिका वर्ग, घन व घनाघन प्रमाण लेकर व तदनुकूल भागहारको बढ़ाकर वही निश्चित भजनफल उत्पन्न कर दिखाते हैं। अधस्तन विकल्पमें वही निश्चित भजनफल राशिके वर्गमूल ग्रहण कर व भागहारको घटा कर प्राप्त करते है। ऊपरका भाज्य और भजनफल लेकर निश्चित राशि उत्पन्न करनेको धवलाकारने गृहीत नामक विकल्प कहा है। गृहीतगृहीत नामक विकल्पमें प्रथम भजनफल पुनः एक बड़ी राशिका भाजक बनाया जाता है और उसके लब्धका उसी भाजकसे भाग देनेसे निश्चित भजनफल प्राप्त होता है। गृहीतगुणकारमें निश्चित भजनफलका विवक्षित राशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आया उसका उसी भाजक राशिसे गुणा करके उत्पन्न हुए भजनफलका विवक्षित राशिके वर्गमें भाग देकर निश्चित भजनफल प्राप्त किया गया है। ये गणितशास्त्र संबंधी वर्गात्मक राशियोंकी अद्भुत कसरतें गणितज्ञोंके ध्यान देने योग्य है।[3] प्रमाणराशि, फलराशि और इच्छाराशि, इनकी त्रैराशिक क्रियाका उपयोग भी स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है।[4] गणना राशिका धवलाकार द्वारा किया गया एक विभाग उल्लेखनीय है। समभाज्य राशिको उन्होंने 'युग्म' तथा विषम राशिको 'ओज' नाम दिये हैं। इनमें भी प्रत्येकके दो दो प्रविभाग हैं। जिसमें चारका भाग पूरा चला जाय, वह 'कृतयुग्म' और जिसमें दो शेष बचे वह राशि 'बादरयुग्म' कही गई है। उसी प्रकार जिसमें चारका भाग देने पर तीन शेष रहें वह 'तेजोज' और

१ देखो द्रव्यप्रमाण पृ० १८—२६।
२ ,, ,, पृ० ४१।
३ द्रव्यप्रमाण पृ० ५२—८७।
४ द्रव्यप्रमाण पृ० ६५, १००।

जिसमें एक शेष रहे वह 'कलि ओज' कहलाती है। मनुष्यराशिको धवलाकारने तेजोज राशि कहा है।[१]

क्षेत्र प्ररूपणामें लोकका स्वरूप समझाते समय धवलाकारके सम्मुख दो मान्यताएँ उपस्थित थीं। एक मान्यतानुसार तो लोक सब ओरसे तलभागमें सात राजु, मध्यमें एक राजु और शिखर पर एक राजु विस्तृत है अर्थात् क्रमसे हानि वृद्धिको लिये हुए लम्बा और गोलाकार है। किन्तु दूसरी मान्यतानुसार केवल दो दिशाओंमें उपर्युक्त हानि-वृद्धिको लिये हुए है और शेष दो दिशाओंमें सर्वत्र सात राजु मोटा है और इस प्रकार ऊँचा चतुरस्राकार है। धवलाकारने इन दोनों मान्यताओंके बीच सत्यासत्यका निर्णय करनेके लिये परम्परागत सैद्धान्तिक मान्यताकी कसौटी लगाई है और यह देखनेका प्रयत्न किया है कि किस आकारमें कितना घनफल प्राप्त होता है। इसके लिये उन्होंने प्रथम मान्यतासे लोकका यह विधिवत् घनफल निकाला है, जो उस समयकी घनफलोत्पादक विधिका अच्छा परिचायक है। उन्होंने पहले त्रसनाडी जो सर्वत्र एक राजु व्यासवाली और चौदह राजु ऊँची है उसे अलग किया और उसका अधोलोक प्रमाण सात राजुका घनफल ५[illegible] निकाला। फिर शेष अधोलोकको बीचमेंसे फाड़कर फैलाया और उसे सूपाकार क्षेत्र बनाया। फिर उसमेंसे बीचका चौकोर खंड काटा जिसका प्रमाण ३४[illegible] निकला। फिर दोनों ओरके त्रिकोण क्षेत्रोंमेंसे चौकोरखंड काटे और इन खंडोंको विपरीत क्रमसे एक दूसरे पर रखकर उन्हें समान मुटाईवाला बनाया और इस प्रकार इनकी लम्बाई चौड़ाई और मुटाई से उनका घनफल निकाला। शेष जो त्रिकोण क्षेत्र बचते गये उन्हें फिर चौकोर काटा और फिर उपर्युक्त क्रमसे समचतुरस्र बनाया। इस प्रकार तबतक करते गये जबतक वह समस्त सूपाकार क्षेत्र समाप्त न हो गया। इस उत्पन्न हुए घनफलोंको जोड़नेका उन्होंने एक सुन्दर छोटासा गुरु दे दिया है। उपर्युक्त क्षेत्रफल चतुर्गुणित क्रमसे अवस्थित पाये जाते हैं, अतः अन्तिम क्षेत्रफलमें चारका गुणा करके गुणनफलमेंसे एक घटा दो और फिर तीनका भाग दे दो। इस प्रकार सूपाकार क्षेत्रके दोनों बाजुओंके त्रिकोणोंका घनफल ६५[illegible] होगा। इसमें उपर्युक्त बीचके चौकोर क्षेत्रका प्रमाण ३४[illegible] तथा त्रसनाड़ीका घनफल ५[illegible] जोड़ देने पर घनफल १०६[illegible] घनराजु हुआ। इसी प्रकार काट काटकर और फैला फैलाकर उर्ध्वलोकका भी घनफल धवलाकारने निकाला है जो समस्त मिलाकर ५७[illegible] हुआ। इसको अधोलोकके प्रमाणमें जोड़ने पर समस्त लोकका घनफल १६४[illegible] घनराजु हुआ। इसलिये यह आकार धवलाकारने असिद्ध ठहराया। दूसरे प्रकारसे माने हुए लोकका घनफल निकालने पर वह सात राजुके घन प्रमाण अर्थात् ७×७×७=३४३ घनराजु सिद्ध हो गया। अतएव उसे ही ठीक माना है।

---

१ द्र० प्र० पृ० २४६।

उपर्युक्त गोलाकार क्षेत्रमें जो एक राजु व्यासवाली त्रसनालीका क्षेत्रफल धवलाकारने बतलाया है उसमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि परिधिका प्रमाण $\frac{३७१}{११३}$ राजु लिया गया है। तथा सात राजु व्यासवाले तलभागकी परिधिका प्रमाण २२$\frac{१५}{११३}$ बतलाया गया है। यह प्रमाण उपर्युक्त एक राजुव्यासवाली परिधिको सातसे गुणा करने पर नहीं प्राप्त होता। और न इन दोनोंमेंसे कोई भी परिधि प्रमाण अन्यत्र माने गये 'व्यासकी तिगुनी परिधि' या 'व्यासके वर्गके दशगुणेका वर्गमूल'के नियमोंसे ही आता है। इससे स्पष्ट है कि धवलाकार यहाँ परिधिको निकालनेके किसी और ही नियम पर दृष्टि रखते हैं। आगे चलकर इन्होंने स्वयं वह नियम भी दे दिया है जो इस प्रकार है—व्यासको सोलहसे गुणा करो, उसमें सोलह जोड़ दो, तथा एक सौ तेरहसे भाग देकर व्यासका तिगुणा और जोड़ दो तो सूक्ष्मसे सूक्ष्म परिधिका प्रमाण निकल आता है। यह नियम इस प्रकार है—

$$परिधि = \frac{व्यास \times १६ + १६}{११३} + ३ \, व्यास$$

इस नियमके अनुसार ही १ राजुव्यासवाली त्रसनाड़ीकी परिधि हुई—

$$\frac{१ \times १६ + १६}{११३} + ३ = \frac{३७१}{११३}$$

तथा, ७ राजुव्यासवाले अधोलोकके तलभागकी परिधि हुई—

$$\frac{७ \times १६ + १६}{११३} + २१ = २२\frac{१५}{११३}$$

इसको यद्यपि सूक्ष्मसे सूक्ष्म परिधिमान-प्ररूपक कहा है, तथापि आधुनिक गणितानुसार यदि इसमें १६ जोड़नेकी व्यवस्था न की गई होती तो $\frac{३५५}{११३}$ परिधिमानका नियम सचमुच बहुत सूक्ष्म और व्यापक होता, जो छह दशमलव स्थानों तक शुद्ध माना जाता है। सोलह जोड़नेकी व्यवस्था द्वारा एक बहुत ही शुद्ध प्रमाण कुछ अशुद्ध हो गया, जिसका कारण समझमें नहीं आता।

क्षेत्रप्ररूपणामें संख, गोम्ही, भ्रमर, मत्स्य व मनुष्यके शरीरावगाहनके घनफल निकालनेके अलग अलग नियम दिये गये हैं जो गणितज्ञोंके लिये दिलचस्प होंगे। उसी प्रकार नारकी जीवोंकी ऊँचाई निकालनेकी खास व्यवस्था बतलाई गई है।

स्पर्शनप्ररूपणामें द्वीपसमुद्रोंकी संख्या, उनका विस्तार व क्षेत्रफल एवं तद्गत सूर्यचन्द्रोंकी संख्या, निकालने तथा केवल समुद्रोंका संकलन करने व क्षेत्रफल निकालनेमें गणितकी अनेकानेक प्रक्रियाओं और नियमोंका उपयोग किया गया है, जो असाधारण गणितज्ञानका परिचायक है। धवलाकारके सम्मुख कोई गणितशास्त्रके बड़े व्यापक और प्रामाणिक ग्रंथ थे, यह भी अनुमान किया जा सकता है।

अब कुछ थोड़ा-सा परिचय गणित संबंधी अवतरणोंका कराते हैं जो धवला टीकामें पाये जाते हैं। इन अवतरणोंके हम दो विभाग कर सकते हैं। एक तो वे अवतरण जिनके साथ मूलग्रन्थका नाम पाया जाता है। और दूसरे ऐसे जिनके मूलग्रन्थ और कर्त्ताका कोई उल्लेख नहीं किया गया। जिन ग्रन्थोंका उल्लेख किया गया है उनमें प्रथम 'तिलोयपण्णत्ति' का नाम उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थमेंसे कहीं गणित संबंधी गाथा या गाथाखण्ड अथवा गद्य या कहीं सारांश देकर 'इति तिलोयपण्णत्ति सुत्तादो' ऐसा ग्रंथोल्लेख कर दिया गया है। सौभाग्यसे यह ग्रन्थ उपलब्ध भी है। इसके कर्त्ता यतिवृषभाचार्य कहे गये हैं जिनके बनाये हुए गुणधर आचार्य कृत 'कसायपाहुड' सूत्रोंके ऊपर चूर्णि सूत्र जयधवलामें पाये जाते हैं। यह ग्रंथ लगभग आठ हजार श्लोक प्रमाण है। अधिकतः प्राकृत गाथाओंमें, किन्तु कहीं कहीं प्राकृत गद्यमय है। चूंकि इसमें महावीर स्वामीसे १००० वर्ष पश्चात तकके ऐतिहासिक उल्लेख पाये जाते हैं, अतः इसका निर्माणकाल पाँचवीं शताब्दिमें व उसके पश्चात् अनुमान किया जा सकता है। इसमें लोक, ऊर्ध्व, अधो, मध्यलोक तथा मध्यलोकगत द्वीप, समुद्र, भरतक्षेत्र व आर्यखण्ड आदि का प्रमाण व वर्णन खूब विस्तारसे किया गया है। और तद्विषयक गणित भी खूब पाया जाता है। इस ग्रंथ का प्रारंभिक मूलमात्र भास्कर के पिछले अंकों में निकल चुका है, और अब यह ग्रन्थ डा० ए० एन० उपाध्ये और हमारे द्वारा सुसंशोधित सम्पादित होकर अनुवाद सहित जीवराज जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित होनेके लिये मुद्रित हो रहा है। इसके प्रकाशनसे प्राचीन गणित पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा।

गणित संबंधी उल्लेखोंका आधारभूत दूसरा ग्रन्थ 'परियम्म सुत्त' (परिकर्म सूत्र) है, जिसका उल्लेख उक्त भागोंमें कम बढ़ बीस बार आया होगा। इसके सब अवतरण प्राकृत गद्यात्मक ही हैं। और वे असंख्यात, अनन्त आदिके स्वरूप, जीवराशिप्रमाण, द्वीपसागर-गणना, स्वर्ग व नरकादिमें जीवराशिका प्रमाण रज्जू, जगश्रेणि व लोक आदिका प्रमाण, इत्यादि बातोंसे संबंध रखते हैं। इससे जाना जाता है कि यह जैन करणानुयोग विषयक कोई प्राकृत गद्यमें रचा हुआ प्राचीन ग्रन्थ था, जो अपने विषयमें खूब प्रामाणिक माना जाता था। दुर्भाग्यतः अभी तक इस नामके कोई स्वतंत्र ग्रन्थका पता नहीं चला है। इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतारमें कहा गया है कि षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर कुंदकुंदाचार्यने सर्वप्रथम एक टीका लिखी थी जिसका नाम परिकर्म था। मेरा पहले ख्याल हुआ था कि धवला टीकामें उल्लिखित परिकर्म वही कुंदकुंदाचार्य कृत टीका होना चाहिए। किन्तु उल्लेखों पर सूक्ष्म विचार करनेसे यह बात अब मुझे शंकास्पद जँचने लगी है। यद्यपि एक जगह वीरसेनने कहा भी है कि परिकर्मकी प्रवृत्ति इसी सूत्रग्रन्थसे हुई है, तथापि न तो कहीं अन्यत्र इसे टीका ग्रन्थ कहा, और न कुंदकुंदाचार्यका नाम उसके साथ सम्बद्ध किया गया।

गणितके सिवाय और किसी विषयके संबंधमें भी इसका नाम नहीं लिया गया। गणित-शास्त्रमें 'परिकर्म' का अर्थ गणित-प्रक्रिया भी होता है। महावीराचार्यके गणित-सार-संग्रहमें संज्ञा प्रकरणके पश्चात् दूसरे प्रकरणका नाम 'परिकर्मव्यवहार' पाया जाता है। अनुमान होता है कि परिकर्म नामका गणित संबंधी कोई स्वतंत्र प्राचीन प्राकृत गद्यात्मक ग्रन्थ था जो षट्खण्डागमसे भी संबंध रखता था, या इसके गणित भागके विशदीकरणरूप था। इसको धवलाकारने एक जगह सर्वाचार्यसम्मत कहा है। इस ग्रन्थकी खोज होना चाहिए।

अब हम धवलाटीकाके गणित संबंधी उन उल्लेखों पर आते हैं जिनके साथ किसी ग्रन्थ आदिका नाम नहीं पाया जाता। ऐसे उल्लेख प्रायः गणितशास्त्रके किसी नियमको उद्धृत करनेवाले हैं, और कहीं संस्कृतमें और कहीं प्राकृतमें पाये जाते हैं। संस्कृतनिबद्ध ऐसे उल्लेखोंमें सबसे प्रथम द्रव्यप्रमाणानुगममें हमें एक आर्या मिलती है जिसमें किसी संख्याके दो हारों व उनके द्वारा लब्धांकोंके बीच हानिवृद्धिका एक नियम स्थापित किया है 'हारान्तर-हृतहारात्'[1] इत्यादि। इस प्रकारकी एक दूसरी आर्या एक बार क्षेत्र प्ररूपणामें और एकबार स्पर्शनप्ररूपणामें उद्धृत की गई है, और उसमें व्याससे परिधि निकालनेका वही नियम स्थापित किया गया है जिसे हम ऊपर दे आये हैं—'व्यासं षोडशगुणितं'[2] इत्यादि।

इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं आर्याका एक खंडमात्र भी उद्धृत किया गया है, जैसे—

'रूपेषु गुणमर्थेषु वर्गणम' (क्षेत्रानुगम ४ पृष्ठ २००)।

'रूपोनमादिसंगुणमेकोनगुणोन्मथितमिच्छा' (,, पृ० १८८ २०१)

'व्यासार्धकृतित्रिकं समस्तफलितम' (,, पृ० १६०)

ये सब आर्याएं व आर्याखण्ड, या सूत्र, किसी एक ही ग्रन्थसे लिये गये हैं, या पृथक् पृथक् ग्रन्थोंसे, इस निर्णयके लिये हमारे पास इस समय समुचित सामग्री नहीं है। तथापि अनुमानतः वे किसी एक ही संस्कृत पद्यात्मक गणित ग्रन्थसे लिये गये होंगे। महावीरकृत गणितसारसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें वे हमें उपलब्ध नहीं होते। इनका आधारभूत ग्रन्थ भी अभी तक लुप्त ही है।

सबसे महत्वपूर्ण गणितशास्त्र संबंधी नियमोंके उल्लेख हमें धवलाटीकामें प्राकृत गाथा निबद्ध मिलते हैं। ये गाथाएं 'एत्थ उवउज्जंतीओ गाहाओ'—इस विषय पर उपयोगी गाथाएं 'एत्थ करणगाहा वुत्तंच' आदि उत्थानिका वाक्य देकर उद्धृत की हुई पाई जाती है। यों तो गणितसंबंधी प्राकृत गाथाएं उक्त टीकामें सैकड़ों हैं, किन्तु उनमेंकी अधिकांश

---

१ द्रव्यप्रमाण, उद्धृत पद्य नं० २८ पृ० ४७।

२ क्षेत्रप्ररूपणा, उद्धृत पद्य नं० १४ पृ० ४२ ; स्पर्शनप्ररूपणा उद्धृत पद्य नं० ६ पृ० २२१।

जैनकरणानुयोगसे संबंध रखनेवाली है। उसमेंसे सर्वतः शुद्ध गणितशास्त्रात्मक गाथाओंकी ओर यहाँ पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना मैं आवश्यक समझता हूँ। इस प्रकारकी आठ गाथाएँ तो द्रव्यप्रमाणानुगमके पृ० ४६ से ४९ पर पाई जाती हैं, जिनमें भाज्य, भाजक और लब्धके हानिवृद्धि रूप नियम बड़ी सूक्ष्मताके साथ दिये गये हैं। ऐसी ही एक गाथा पृ० ३४२ पर आई है 'रासिविसेसेणवहिद' आदि। एक और गाथा स्पर्शनप्ररूपणामें नं० ८ (पृ० २०९) पर पाई जाती है जिसमें व्याससे परिधि व क्षेत्रफल निकालनेका नियम दिया गया है, 'विक्खंभवग्ग-दहगुणकरणी' आदि। यह गाथा त्रिलोकसारमें भी संगृहीत है। ऐसे ही नियमसे संबंध रखनेवाले गाथा-खण्ड भी जगह-जगह दृष्टिगोचर होते हैं। अनुमान होता है कि धवलाकारके सम्मुख कोई प्राकृत गाथाओंमें रचा हुआ गणितका ग्रन्थ भी था जिसका उन्होंने खूब उपयोग किया। यह ग्रन्थ बड़ा महत्वपूर्ण और उपयोगी जान पड़ता है। क्या आश्चर्य जो यह ग्रन्थ अभी भी किसी शास्त्र-भंडारमें पड़ा हुआ किसी सौभाग्यशाली खोजककी बाट जोह रहा हो। हमें इस ओर दृष्टि रखना चाहिए।

तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)

[ले०—श्रीयुत प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०]

अनेकांत (४—६, ७, ८) में "सयुक्तिक सम्मति' पर लिखे गये उत्तर लेख की निस्सारता" नामक लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक ने पंडिताऊ पद-प्रयोगों द्वारा छींटे उड़ाये हैं और अपनी सम्मति को अमोघ अस्त्र समझकर उसे मेरे सब लेखों पर पानी फेरनेवाली बताते हुए मेरी कलम तोड़ने आदि के उल्लेखपूर्वक तत्त्वार्थभाष्य की वार्ता को छूमंतर की तरह उड़ा देने का दावा (शायद किसी जादू के प्रयोग से) किया है। इस सब के उत्तर में यही हमें कहना है कि इस प्रकार के आत्मश्लाघात्मक उद्गार लेखक तथा उनके मित्रों के 'स्वान्तः सुखाय' ही हो सकते हैं, इसके अतिरिक्त उनका कुछ मूल्य नहीं। *निम्न वक्तव्य से स्पष्ट होगा कि इस लेख में कितनी बेतुकी बातें लिखी गई हैं। इस पर भी विना किसी सम्पादकीय नोट के यह लेखमाला किस शान के साथ अनेकांत में प्रकाशित हो रही है!*

(१) अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय

१ **आक्षेप**—"गुणा इति संज्ञा तंत्रांतराणां आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्विती (त) यमेव तत्त्वं अतश्च द्विती (त) यमेव तद्द्वयोपदेशात्। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ। यदि गुणोऽपि कश्चित्स्यात् तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम्" आदि पाठ में "तंत्रांतराणां" और 'आर्हतानां तु' ये वचन सूचित करते हैं कि यहां 'गुण' के विषय में अन्यवादी आर्हत्मत पर आक्षेप कर रहे हैं, श्वेताम्बर जैन नहीं। जैनों में तो द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक ये दो ही नय माने गये हैं, गुणार्थिक नय माना ही नहीं, अतएव जैनों के यहाँ *इस शंका का अवकाश किसी काल में संभवित नहीं, आदि।*

१ **उत्तर**—लेखांक (३) में सन्मतितर्कगत गुणार्थिकनय की मान्यता का मैंने स्थल-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया था। यदि उस स्थल को देखने का कष्ट किया जाता तो इस आक्षेप के लिये अवकाश न रहता। सन्मतितर्क (३-८) की टीका में अभयदेव ने कुछ जैन आचार्यों द्वारा मान्य गुणार्थिकनय की मान्यता को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है—रूपरसगन्धस्पर्शाः असमानग्रहणलक्षणा यस्मात् ततो द्रव्यमाश्रिता गुणा इति केचन वैशेषिकाद्या, स्वयूथ्या वा सिद्धांतानभिज्ञा अभ्युपगच्छन्ति (सन्मतितर्क ८ टीका, पृ० ६३३)। अर्थात् वैशेषिक आदि तथा कुछ स्वयूथ्य विद्वान् (अर्थात् जैनदर्शनानुयायी विद्वान्) द्रव्य और गुण को भिन्न मानते हैं। क्योंकि द्रव्य गुणाश्रय और क्रियाश्रय है, जब कि गुण द्रव्याश्रयी है,

तथा स्वयं निर्गुण और निष्क्रिय है। इसी प्रसंग पर उक्त मंतव्य का निरसन करने के लिए 'गुण' पर विचार करते हुए सिद्धसेन आचार्य को लिखना पड़ा, "भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय माने हैं। यदि पर्याय से गुण भिन्न होता, तो वे गुणास्तिकनय की भी योजना करते" (३ १०)। यही चर्चा राजवार्त्तिककार ने की है कि 'गुण' संज्ञा तो वैशेषिक आदि अन्य मतवादियों की है, जैन दर्शन में तो दो ही नय माने गये हैं; अतएव जो (जैनाचार्य) गुण को पर्याय से भिन्न मानते हैं, उन्हें तीसरा गुणार्थिक नय भी मानना पड़ेगा। तो फिर (अकलंक शंका करते हैं) "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" सूत्र में गुण और पर्याय का भिन्न-भिन्न उल्लेख क्यों किया गया है? इसका समाधान है कि अर्हत्प्रवचन आदि में गुण का लक्षण बताया गया है, आदि। इससे स्पष्ट है कि अकलंक की उक्त शंका जैनेतरवादीजन्य नहीं, वह कुछ जैनाचार्यों को लक्ष्य में रखकर उठाई गई है। गुणार्थिक नय की मान्यतारूप हेतु जैन वादियों के लिये ही अनिष्टापत्ति हो सकती है, क्योंकि जैन-दर्शन में ही मुख्यतया दो नय माने गये हैं। जैनेतरवादियों के मत में गुणार्थिक नय की मान्यता के उल्लेखपूर्वक दोष प्रदर्शित करने का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि उनके मत मे नय कोई वस्तु ही नहीं। अर्हत्प्रवचनहृदय आदि जैनागम के प्रमाण भी जैनवादियों के लिये ही उद्धृत किये जा सकते हैं, जैनेतर तो उन्हें प्रमाण मानते नहीं। इससे 'तंत्रांतराणां' और 'आर्हतानां तु' इन पदों की संगति बराबर बैठ जाती है। अतएव जो लेखक ने *'अन्य संप्रदाय के ग्रन्थों से 'गुण' शब्द लाकर रक्खा गया है इस आक्षेप का परिहार करने के लिये' आदि रूप से अपने कथन की पुष्टि करनी चाही है, वह नितांत भ्रममूलक है।*

२ आक्षेप---"तद्भावाव्ययं नित्यं," "भेदादणुः" आदि सूत्र, राजवार्त्तिक में शंका होने पर ही उपन्यस्त किये गये हैं, तत्त्वार्थसूत्र पर शंका उपस्थित होने के समय नहीं। अतएव जिस ग्रन्थ पर आक्षेप किया जाता है, उस आक्षेप का उत्तर उसी ग्रन्थ द्वारा नहीं दिया जाता, यह प्रतिज्ञावाक्य अखंडित है।

२ उत्तर—इस आक्षेप का निराकरण करने के लिये मैंने पूर्व लेख में कुछ ग्रन्थ *के नामोल्लेख किये थे। यहाँ मैं इन ग्रन्थों के कुछ उदाहरण उपस्थित करता हूँ।*

(अ) सर्वार्थसिद्धि (पृ० ५६) में "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" सूत्रगत मति और श्रुत के प्रत्यासन्ननिर्देश की शंका उठाकर उनमें कार्य-कारणभाव बताते हुए "श्रुतं मतिपूर्वं" आदि सूत्र को प्रमाणरूप से उद्धृत किया है: (अनयोः प्रत्यासन्ननिर्देशः कृतः कार्यकारणभावात्। तथा च वक्ष्यते "श्रुतं मतिपूर्वमिति")। यहाँ एक ही सूत्रकार के एक सूत्र पर शंका उठाकर उसका परिहार दूसरे सूत्र से किया गया है।

(आ) सिद्धसेनगणि ने उमास्वाति के "जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्"

सूत्र-भाष्य पर प्रश्न उपस्थित होने पर सूत्रकार के ढेर के ढेर सूत्र साक्षी रूप से उद्धृत किये हैं।

(इ) स्वयं अकलंकदेव ने "नित्यावस्थितानि रूपाणि" (?) सूत्रगत 'नित्य' शब्द का प्रमाणपुरस्सर अर्थ बताते हुए "तद्भावाव्ययं नित्य" सूत्र उद्धृत किया है। इसी तरह "गुण-पर्ययवद्द्रव्यं" सूत्रगत गुणविषयक समाधान के लिये "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" सूत्र प्रमाण रूप से उपस्थित किया गया है। अकलंक ने स्वयं "द्रव्याश्रया" आदि सूत्र की उत्थानिका में कहा है—"आह गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्युक्तं तत्र के गुणा इत्यत्रोच्यते—द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।"

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य आदि ग्रन्थों के यहाँ इस तरह के अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। यह बिलकुल स्थूल बात है कि जब कोई टीकाकार किसी सूत्र-ग्रन्थ आदि पर टीका लिखता है, तो प्रसंग आने पर उसे सूत्रग्रन्थकार के वाक्यों को प्रमाणरूप में शंका निवृत्त्यर्थ उद्धृत करना पड़ता है। कभी तो, जब कभी कोई बात पूर्व सूत्र में नहीं आती, तो उसे बताना पड़ता है कि सूत्रकार आगे चलकर अमुक सूत्र में कहेंगे। ऐसे समय में उस सूत्रग्रन्थ के प्रमाण न देकर अन्य किसी ग्रन्थ के प्रमाण उद्धृत करने का कोई अर्थ नहीं। उमास्वाति की मौलिक रचना पर शंका उठाकर उसका परिहार अकलंक ने 'कालश्च' सूत्र में किया है. इस बात को स्वीकार कर लेखक पुनः स्ववचनबाधित दोष के भागी बने हैं। जिस ग्रन्थ पर आक्षेप हो, उस आक्षेप का उत्तर उसी ग्रन्थ द्वारा नहीं दी जाने की बात उस समय अधिक लागू हो सकती है. जब कोई दर्शन आदि की खास चर्चा चल रहा हो और प्रतिवादी को ग्रन्थांतर के प्रमाण देने की आवश्यकता समझी जाती हो।

एक दूसरी बात। सूत्र उसको कहते हैं जो (स्वयं) बनाया जाय—गूंथा जाय (सूत्र्यते ग्रथ्यते इति सूत्रं—हेमचन्द्र)। ऐसी हालत में यदि सूत्रकार अपना सूत्र न बनाकर दूसरे का सूत्र अपने सूत्रों में समाविष्ट कर ले. और वह भी पूर्वसूत्रकार के नामोल्लेख के बिना, तो क्या यह उमास्वाति जैसे प्रकाण्ड सूत्रकार के लिये प्रतिष्ठा की बात होगी? जिस विद्वान ने समस्त जिन-शासन को इतने सुन्दर सूत्रों में गूँथ डाला, क्या वह आचार्य एक सूत्र के लिये परमुखापेक्षी बनता? यदि कदाचित् उन्हें कोई सूत्र किसीका लेना ही होता, तो वे ग्रन्थकार के नामोल्लेख बिना उसे कभी अपनी रचना में समाविष्ट न करते। क्या अनेकांत-सम्पादक, संस्कृत सूत्र-साहित्य में एक भी ऐसा उदाहरण बता सकेंगे, जब किसी सूत्रकार ने इस तरह से अन्यदीय सूत्रों को अपने सूत्रों में समाविष्ट कर लिया हो? ऐसी हालत में, अर्हत्प्रवचन को वर्तमान उपलब्ध अर्हत्प्रवचन (जिसे श्वेताम्बर ग्रन्थों में सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र माना गया है) का वाच्य न मानकर, अतीतकाल के किसी अनुपलब्ध अर्हत्प्रवचन नामक सूत्रग्रन्थ का स्वप्न देखना, कभी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

३ आक्षेप—अर्हत्प्रवचन का वाच्य सभाष्यतत्त्वार्थ सिद्ध करने के लिये वादी-सम्मत शास्त्रों से प्रमाण दिये जाने चाहिये। हम उन (श्वेताम्बर) ग्रन्थों को प्रमाणरूप से स्वीकार नहीं करते जिनके उद्धरणपूर्वक अर्हत्प्रवचन का वाच्य सभाष्यतत्त्वार्थ सिद्ध किया गया है।

३ उत्तर—यह एक बड़ी विचित्र दलील है। हम कहते हैं कि आप भाष्य को स्वोपज्ञ न मानें, हरिभद्र-सिद्धसेन गणि आदि टीकाकारों के ग्रन्थगत मन्तव्यों को न मानें, लेकिन आप यह तो स्वीकार करेंगे कि इन विद्वानों ने तत्त्वार्थभाष्य पर टीकायें लिखी हैं, तथा उन टीकाओं में अर्हत्प्रवचन का वाच्य सभाष्यतत्त्वार्थ बताया गया है। यह तो एक ऐतिहासिक प्रश्न है, सम्प्रदाय या सिद्धान्तभेद का प्रश्न नहीं। फिर उन ग्रन्थों को प्रमाण न मानने का क्या अर्थ? वेदों और ब्राह्मण पुराणों में जैन-तीर्थंकरों का उल्लेख होने से उन ग्रन्थों तक को इस विषय में प्रामाणिक माना जाता है। स्वयं सिद्धसेनगणि की टीका में सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख होने से उसे अकलंक कृत ग्रन्थ मानकर सिद्धसेन गणि को अकलंक देव के बाद का बताया जाता है। फिर अर्हत्प्रवचन-सम्बंधी ऐतिहासिक उल्लेख को स्वीकार करने में क्या बाधा है? अनेकान्त-संपादक जैसे इतिहासान्वेषियों को तो इससे प्रसन्न होना चाहिये कि राजवार्त्तिकगत अर्हत्प्रवचन या अर्हत्प्रवचनहृदय ग्रंथ के खोज करने की अब आवश्यकता नहीं, और श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार से उसका पता चल गया है। अतएव श्वेताम्बर ग्रन्थों को प्रमाण न मानने आदि की बात की कुछ भी कीमत नहीं।

(२) अर्हत्प्रवचन और तत्त्वार्थाधिगम

१ आक्षेप—तत्त्वार्थभाष्यगत संबंधकारिकाओं में भाष्यकार अपने लिये 'वक्ष्यामि' 'प्रवक्ष्यामि' जैसे एकवचनान्त पद प्रयोग करते हैं, जब कि भाष्य में 'उपदेक्ष्यामः' 'वक्ष्यामः' जैसे बहुवचनान्त प्रयोग नज़र आते हैं। इससे मालूम होता है कि संबंधकारिकाओं के कर्त्ता एक व्यक्ति, शायद उमास्वाति, हैं और भाष्य के कर्त्ता कोई दूसरे—संभवतः अनेक, हैं। तथा 'आह', 'वक्ष्यति' जैसे प्रथम पुरुष के एकवचनान्त प्रयोगों द्वारा भाष्यकार ने सूत्रकार को अपने से स्पष्ट जुदा प्रकट किया है। अतएव भाष्य स्वोपज्ञ नहीं।

१ उत्तर—यहाँ इसी का एक प्रत्यनुमान दिया जाता है। सागारधर्मामृत की भव्य-कुमुदचन्द्रिका टीका स्वयं पं० आशाधरजी की नहीं, क्योंकि उक्त ग्रन्थ की संबंधकारिका (नंबर १) में टीकाकार 'करोम्यहम्' जैसे एकवचनान्त पद प्रयोग करते हैं, जब कि प्रथम श्लोक की टीका में 'प्रतिपादयिष्यतेऽस्माभिः' जैसा बहुवचनान्त प्रयोग नज़र आता है। इससे मालूम होता है कि संबंधकारिका के कर्त्ता एक व्यक्ति शायद पं० आशाधर जी हैं, और टीका के कर्त्ता कोई दूसरे—संभवतः अनेक हैं। तथा 'आह', 'उपदिशति', 'व्यनक्ति', 'दर्शयति' जैसे प्रथमपुरुष के एकवचनान्त प्रयोगों द्वारा टीकाकार ने श्लोककर्त्ता को अपने से स्पष्ट

जुदा प्रकट किया है। अतएव न्यायकुमुदचन्द्रिका स्वोपज्ञ नहीं हो सकती। इसी तरह हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसावृत्ति भी स्वोपज्ञ नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ भी 'पंचभिरध्यायैः शास्त्रमेतदरचयदाचार्यः' (पृष्ठ ३), 'लाघवार्थिना शास्त्रकारेण' (पृष्ठ ३) 'लक्षणमाह' (पृष्ठ ४), 'लक्षणमुक्तोऽस्माभिः' (पृष्ठ ८), 'यदवदाम स्तुतौ' (पृष्ठ २३), 'अवोचाम हि' आदि पदप्रयोगों में कहीं प्रथमपुरुष का एक वचन है, कहीं उत्तम पुरुष के बहुवचनान्त प्रयोग हैं, और कहीं तृतीयान्त पद हैं। कणादसूत्र, शांकर-भाष्य आदि के भी बहुत-से कर्त्ता मानने पड़ेंगे, उनमें भी 'अभिधास्यामः', 'वक्ष्यामः' पद मिलते हैं। स्वयं राजवार्त्तिककार ने संबंधकारिका में 'वक्ष्ये' लिखा है, और वार्त्तिकभाष्य में 'मन्यामहे' आदि। फिर, तो राजवार्त्तिक के भी अनेक कर्त्ता ठहरेंगे!

तथा 'वक्ष्यामि' (कारिका २२) और 'प्रवक्ष्यामि' (कारिका ३१) पदों से उमास्वाति को केवल संबंधकारिकाओं का ही कर्त्ता क्यों माना जाय? वक्ष्यामि' और 'प्रवक्ष्यामि' पदों का वाच्य संबंधकारिकायें तो है नहीं, उनका वाच्य तो तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र है, जो अर्हद्वचन का एक देश है, या मोक्षमार्ग है जिसका उमास्वाति प्ररूपण करना चाहते हैं। यदि फिर भी संबंधकारिकाओं का ही एककर्तृत्व मानने का आग्रह है, तो फिर उक्त दो कारिकाओं को ही उमास्वातिकृत माननी चाहिये। तथा जब आप संबंधकारिकाओं को उमास्वातिकृत मानते हैं तो फिर इन कारिकाओं का दिगम्बरपरम्परा में क्या हुआ?

वास्तव में उक्त दलील ही बेतुकी है। वस्तुतः बात यह है कि आचार्य कहीं उत्तम पुरुष का एक वचन लिखते हैं, कहीं बहुवचन, कहीं वे स्वयं अपने लिये 'आचार्यः उपदिशति' आदि रूप से पदप्रयोग करते हैं, इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं। उक्त करोम्यहम्' पद में पं० आशाधर यदि बहुवचन का प्रयोग करते तो छंदोभंग होता; इसीलिये भाष्यकार ने भी संबंधकारिकाओं में बहुवचन का प्रयोग नहीं किया। इस पर से जो संबंधकारिकाओं, सूत्र तथा भाष्य के एककर्तृत्व को 'छूमंतर की तरह उड़ाने' का दावा है, वह केवल शायद किसी जादूबल से ही किया गया हो, युक्ति से तो यह संभव नहीं। शायद इसी तरह की दलीलें देकर आप जय-घोषणा करना चाहते हैं।

(क्रमशः)

विविध

(१)

'श्रीवादीभसिंह' के संबंध में

प्रिय महोदय,

'वादीभसिंह'-संबंधी निबंध, जो आपने सम्मत्यर्थ मेरे पास भेजा है, मिला। इसके लिखने में काफी परिश्रम किया गया है। यह आलोचनात्मक, मर्यादित और अपने विषय पर पूरा प्रकाश डालनेवाला है। मैं समझता हूँ, मुख्य-मुख्य प्रश्नों पर इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता; हाँ, इधर-उधर कुछ बातें विस्तृतरूप से अवश्य कही जा सकती हैं। वादीभसिंह के चोल 'राजराज' प्रथम या द्वितीय के समकालीन होने के सम्बन्ध में आपने जो प्रमाण दिये हैं, वे अपर्याप्त हैं, और फलतः उनसे मुझे सन्तोष नहीं हो सका। उसके सम्बन्ध में दक्षिण भारत के तत्कालीन इतिहास में अभी और अनुसन्धान की जरूरत है।

वासस्थान के सम्बन्ध में—जैसा कि वास्तविक नाम 'ओडेयदेव' से निर्णय किया गया है—मेरा व्यक्तिगत विश्वास है कि इस संबंध में अभी और अनुसंधान की जरूरत है। आपने तमिलदेश में 'गुडीयपत्तन' (Gudiyapatana) की जो चर्चा की है, वह सन्दिग्ध है। हाँ, यदि आप 'गुडीय' और 'ओडेय' में कोई अन्तर नहीं समझते हों, तो बात ही दूसरी है। लेकिन मैं तो नहीं समझता कि दोनों को एक बतलाना तथ्यपूर्ण कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि 'ओडेय' और 'गौडेय' कलिंग (तेलुगु) देश के गंजाम जिले (जो मद्रास प्रान्त के एकदम उत्तर में है, और जो अब उड़ीसा में जोड़ दिया गया है) की जातियाँ हैं, और दोनों में पारस्परिक संबंध भी है। लेकिन इससे तो यही सिद्ध होगा कि ओडेयदेव मूलतः उड़ीसा के रहनेवाले थे, मैसूर प्रान्त के नहीं। इस संबंध में आपके लेख में वर्णित वादीभसिंह के शिष्यों के नाम से भी पता चलता है। कुछ को आपने 'सान्तर' बतलाया है। ये सांतर राज्य के उत्ताधिकारी होते थे। इस संबंध में मुझे पूरा निश्चय है कि 'सान्तर' 'सामन्तर' का ही दूसरा रूप है, और 'सामन्तर' का अर्थ है—कर देनेवाले सर्दार। यह एक विचित्र बात है कि यही 'सान्तर' आज तक गंजाम जिले के कई ओडीय-परिवारों में पौरुष नाम के रूप में पाया जाता है; हाँ, वहाँ वह सान्तर' न होकर 'सान्त्र' के रूप से पचलित है। कलिंग के इतिहास में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि सिंहनन्दी नाम के एक जैन आचार्य (cf. Epi. Karnatika) की सहायता से कलिंग के गंगवंश की एक शाखा ने मैसूर में गंगवाडी राज्य की स्थापना की थी (Studies in South Indian Jainism—Maharaja's College, Vizianagaram द्वारा प्रकाशित देखें)। क्रिस्त शक० के प्रारंभिक

वर्षों में, यानी अशोक के राज्यकाल के बाद, कलिंग में जैनधर्म खारवेल की संरक्षता में उन्नतिशील था। खारवेल चेदीय कुल का था। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि वादीभसिंह या ओडेयदेव जन्मतः उत्कल या ओडेय अथवा उड़िया सर्दार रहे होंगे, और शास्त्रार्थ-द्वारा धार्मिक दिग्विजय के लिए मैसूर प्रान्त या श्रवणबेलगोल को गये होंगे, और आन्ध्र-कलिंग देश की राज-सभाओं की अपेक्षा द्राविड़-कर्णाट देश की राजसभाओं में उनकी विद्वत्ता की अधिक कद्र हुई होगी।

मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि इस सम्बन्ध में आप अधिक छानबीन करें, यदि आप ऐसा करना उचित समझें।

आपका—बी० शेषगिरि राव, (एम० ए०)

(२)

बादामि

हमारे यहाँ पहाड़ों को काट-काट कर बनाई हुई अनेक भव्य गुफाएँ मौजूद हैं, इस बात को 'भास्कर' के विज्ञ पाठक भली भाँति जानते हैं। इनमें दो प्रकार की हैं, एक चैत्य और दूसरा विहार। चैत्य के भीतर स्तूप या मूर्त्तियाँ होती हैं और विहार या मठ में साधु-भिक्षुकों के रहने के लिये अलग-अलग कमरे बने हुए होते हैं। ऐसी गुफाएँ विशेषतः दक्षिण में मिलती हैं, जिनमें से अजंता, इलोरा, कार्ली, भाजा, बेड़सा आदि प्रमुख हैं। दक्षिण के अतिरिक्त काठियावाड़ में जूनागढ़ के पास, राजपूताने में झालावाड़ राज्य में, कोलवी, और मध्यभारत में धमणार, बाघ आदि में ऐसे स्थान हैं। इलोरा कार्ली आदि कितनी भव्य गुफाओं की कटाई की सुन्दरता देखकर दर्शक मुग्ध हुए विना नहीं रह सकते। ऐसी गुफाओं में अधिकतर बौद्ध हैं। हाँ, थोड़ी-सी जैन एवं वैदिकधर्म की भी हैं। बल्कि इलोरा उदयगिरि* आदि कुछ स्थानों में बौद्ध जैन एवं वैदिक इन तीनों धर्मों से संबंध रखनेवाली भव्य गुफाएँ एक ही जगह मौजूद हैं। यह सचमुच हमारे प्राचीन भारत की मतसहिष्णुता का एक सुन्दर ज्वलन्त निदर्शन है।

दक्षिण की भव्य गुफाओं में बादामि की गुफाएँ भी उल्लेखनीय हैं। बादामि बम्बई प्रान्तार्गत बिजापुर जिला में है। यह एस० एम० रेलवे का एक छोटा स्टेशन है। यहाँ पर चार गुफाएँ वर्तमान हैं। इनमें प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय गुफाएँ हिन्दुओं की है। सिर्फ चतुर्थ गुफा जैनियों की है। पर यह स्थान जैन गुफा के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस नोट में मैं केवल चतुर्थ जैन गुफा का ही कुछ परिचय दे रहा हूँ। अवशिष्ट हिन्दू गुफाओं का

* यह ग्वालियर राज्यान्तर्गत भिलसा के पास है। विशेषपरिचय के लिये 'बालक' वर्ष १५, अंक ८ देखें।

विस्तृत परिचय राजकीय पुरातत्त्व-विभाग की ओर से प्रकाशित 'Basreliefs of Badami' नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है।

यह जैन गुफा ३१ फीट लम्बी और १९ फीट चौड़ी है। इसमें तीन दर हैं। पहला दर लगभग दो हाथ चौड़ा है। इसकी पश्चिम की दीवाल पर करीब एक हाथ की एक मूर्त्ति उत्कीर्ण है। पूर्व की दीवाल में कुछ नहीं है। दूसरा दर करीब चार हाथ चौड़ा है। इसकी पश्चिम की दीवाल पर फण छोड़ कर पाँच हाथ की पार्श्वनाथ की एवं पूर्व की दीवाल में इतनी ही बड़ी बाहुबली की सुन्दर मूर्त्ति अङ्कित है। इन मूर्त्तियों के अगल-बगल में और भी कुछ मूर्त्तियाँ हैं। तीसरा दर करीब तीन हाथ चौड़ा है। पहले दर के छह खम्भों में कोई मूर्त्ति अङ्कित नहीं है। हाँ, इनकी कारीगरी अवश्य दर्शनीय है। दूसरे दर के बीच के दो खम्भों में चारों तरफ लगभग एक हाथ की एक-एक खड्गासन मूर्त्ति खुदी हुई हैं। इन खम्भों की पूर्व और पश्चिम की दीवाल के सहारे जो दो खम्भ और हैं उनमें भी पूर्व और पश्चिमाभिमुख लगभग डेढ़-डेढ़ हाथ की एक-एक खड्गासन मूर्त्तियाँ अङ्कित हैं। वेदी के बाहर, तीसरे दर की दक्षिण की दीवाल में, दरवाजे से पश्चिम, उत्तराभिमुख बीच में लगभग दो हाथ की एक खड्गासन मूर्त्ति; इसकी दाहिने बायें ओर चार-चार पंक्तियों में, प्रत्येक में तीन-तीन के हिसाब से करीब नौ-नौ इञ्च की २४ मूर्त्तियाँ; फिर इनके नीचे एक-एक हाथ की और चार मूर्त्तियाँ एवं इन मूर्त्तियों के नीचे भी छोटी-छोटी पद्मासन की उतनी ही (चार) मूर्त्तियाँ अङ्कित हैं। बल्कि इनके पास ही पश्चिम तथा पूर्व की ओर लगभग एक-एक हाथ की एक-एक खड्गासन मूर्त्ति और उत्कीर्ण है। हाँ, दरवाजे के पूर्व की ओर की दीवाल में नीचे की चार खड्गासन मूर्त्तियां नहीं हैं। तीसरे दर के पूर्व और पश्चिम की दीवालों पर भी यक्ष-यक्षी सहित बड़ी-बड़ी दो मूर्त्तियाँ; नीचे करीब डेढ़-डेढ़ हाथ की और दो खड्गासन मूर्त्तियाँ; बड़ी मूर्त्तियों के अगल-बगल में ऊपर चार-चार पंक्तियों में, क्रमशः प्रथम में दो-दो पद्मासन, नीचे तीन-तीन के हिसाब से छोटी-छोटी खड्गासन अर्थात् पूर्व दिशा में एक-एक तरफ ग्यारह-ग्यारह के हिसाब से २२, इसी प्रकार पश्चिम दिशा में २२—कुल ४४ मूर्त्तियां खुदी हुई हैं। पश्चिम की दीवाल में एक एक हाथ की उत्तराभिमुख तीन खड्गासन मूर्त्तियाँ, इतनी ही बड़ी दाहिने बायें ओर एक-एक मूर्त्ति और मौजूद है। हाँ, पूर्व भाग में एक दीपस्थान (ताखा) के अगल-बगल में दो मूर्त्तियाँ और खुदी हुई हैं। एक ही पंक्ति में विद्यमान इन तीन-तीन मूर्त्तियों के दोनों तरफ दो-दो मूर्त्तियाँ और दृष्टिगोचर होती हैं।

भीतर वेदी में महावीरस्वामी की विशालकाय पद्मासन मूर्त्ति विराजमान है। यहां की मूर्त्तियों में चिह्न बहुत कम अङ्कित पाया जाता है। सुना है कि इस गुफा की पूर्व दिशा में एक फर्लाङ्ग की दूरी पर और भी एक जैन गुफा वर्तमान है, जिसमें एक पद्मासन जिन-मूर्त्ति

विराजमान है। प्राचीनकाल में बादामि चालुक्यों की राजधानी थी। इसका प्राचीन नाम वातापि है। पुलकेशी प्रथम ने छठी शताब्दी के प्रारम्भ में इसे अपनी राजधानी बनाया था। श्रीफर्गुसन के मत से यह जैन गुफा लगभग ई० सन् ६५० में खोदी गई थी। यहाँ पर ई० सन् ५७९ का एक लेख मौजूद है।

विजापुर में भी तीन दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। इन मन्दिरों में जिला जेल के पास का मन्दिर अधिक प्राचीन है। इस मन्दिर में विराजमान मूर्त्तियों में से एक में सं० ११५० का एक लेख पाया जाता है। इसमें लिखा है कि यह मूर्त्ति सकलकीर्त्ति के शिष्य मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ एवं कुन्दकुन्द अन्वय के कनककीर्त्ति के उपदेश से सं० ११५० में स्थापित हुई। यहाँ के लोक-विश्रुत गोल गुम्बज के सामने वर्तमान राजकीय पुरातत्त्व-विभाग में भी कई बड़ी-बड़ी भव्य पद्मासन एवं खड्गासन दिगम्बर जैनमूर्त्तियाँ विद्यमान हैं। कुछ मूर्त्तियों में लेख भी मौजूद हैं। अवकाशाभाव से मैं इन लेखों को नहीं पढ़ सका। मैंने बादामि की यह यात्रा १८-२-४१ को की थी।

—के० भुजबली शास्त्री

समीक्षा और प्राप्ति-स्वीकार

पट्खण्डागम:—'धवला' टीका और उसके हिन्दी-भाषानुवाद सहित (प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' का 'द्रव्यप्रमाणानुगम' नामक तृतीय अंश); मूल लेखक—भगवान् पुष्पदन्त एवं भूतबलि; प्रधान संपादक—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल-एल-बी० संस्कृताध्यापक 'किंग एडवर्ड कालेज' अमरावती; प्रकाशक—श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द शिताबराय, 'जैन-साहित्योद्धारक फण्ड' कार्यालय, अमरावती; बड़ा साइज; पृष्ठ सं० सब मिलाकर ६०८; मूल्य सजिल्द प्रति का १०), शास्त्राकार का १२) रुपये; वीर सं २४६७।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मूडबिद्री की धवला, जयधवला, महाधवला और त्रिलोकसार की प्राचीन ताडपत्राङ्कित प्रतियों के पत्रों के एवं बंधी हुई मूल प्रतियों के फोटो दिये गये हैं। साथ में गुरुबसदि और होसबसदि नामक वहाँ के दो विशाल मनोज्ञ मन्दिरों का, स्वर्गीय तथा वर्तमान भट्टारकजी का, सिद्धान्तबसदि के ट्रस्टी श्रीमान देवराजजी और धर्मपालजी का एवं सिद्धान्त ग्रन्थों की प्रतिलिपि और मिलान करनेवाले लोकनाथजी शास्त्री का भी चित्र दिया गया है। चित्रों की संख्या ९ है। साथ में चित्रों का परिचय एवं मूडबिद्री का संक्षिप्त इतिहास भी लगा हुआ है। यह संक्षिप्त इतिहास तो मूडबिद्री के इतिहास की एक झलकमात्र है। यों तो यहाँ के इतिहास के साधन अन्यान्य शिलालेख, ताम्रपत्र एवं साहित्य में भरे पड़े हैं, जिन्हें अभीतक किसी ने छुआ ही नहीं है। 'धवला' आदि ताडपत्रीय प्रतियों के फोटो भेजने की प्रेरणा ट्रस्टी धर्मपालजी से मैंने ही की थी। उस समय मैं मूडबिद्री में था और 'महाबंध' की खोज के निमित्त भट्टारकजी आदि के द्वारा अन्य विद्वानों के साथ 'सिद्धान्तबसदि' में मैं भी आमन्त्रित था।

प्रस्तावना में चित्रपरिचय और मूडबिद्री का इतिहास शीर्षकों के अतिरिक्त महाबंध की खोज, उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति पर कुछ और प्रकाश, णमोकार मंत्र के सादित्व-अनादित्व का निर्णय, शङ्कासमाधान, द्रव्यप्रमाणानुग एवं मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रतियों के मिलान का निष्कर्ष ये शीर्षक भी गर्भित हैं। शङ्कासमाधान शीर्षक में कुछ स्वाध्यायप्रेमियों के आगत पत्रों का शङ्कासमाधान अच्छा किया गया है। द्रव्यप्रमाणानुगम में इस भाग के अन्तर्गत गणितभाग का जो परिचय दिया गया है, वह भी विद्वत्तापूर्ण है। इस खण्ड का मुख्य विषय गणित है। इसमें आये हुये गणित के गहन भाग अनुवाद में बीज-गणित और अङ्कगणित के कोई २८० उदाहरणों तथा ५० विशेषार्थों एवं ३३३ पाद-टिप्पणों द्वारा सुगम एवं सुबोध बनाने की भरसक चेष्टा की गई है। इस कार्य में कालेजों के बड़े-बड़े गणिता-ध्यापकों से भी सहायता ली गई है। इसमें सन्देह नहीं है कि प्रो० हीरालालजी ने इस

भाग के गणित के दुरूह एवं अपरिचित विषयों को सुलभ बनाने के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है।

प्रस्तावना के बाद विस्तृत विषय-सूची के अतिरिक्त कुछ सूचनाओं के साथ एक शुद्धि-पत्र भी लगा हुआ है जिसमें तीनों खण्डों में रहने वाली प्रेस आदि की अशुद्धियों को क्रमशः शुद्ध किया गया है। हिन्दी-भाषानुवाद भी सुन्दर है। ग्रन्थ के अन्त में ६ परिशिष्ट भी दिये गये हैं जो कि बड़े उपयोगी हैं। कागज, छपाई, सफाई एवं गेटअप् सभी चित्ताकर्षक हैं।

अब मूडबिद्री के भट्टारकजी एवं पंचों की उदारता से वहाँ की प्राचीन प्रतियों के पाठ-मिलान का भी सुअवसर प्राप्त हो गया है। पाठभेदों को विभाजन करके परिशिष्ट में दे दिया गया है। इसमें अब मूल ग्रन्थ की प्रामाणिकता में जो कुछ आशंका की जाती थी वह भी दूर हो जायगी। इस कार्य के लिये मैंने भी प्रेरणा की थी। प्रसन्नता की बात है कि 'धवला' का प्रकाशनकार्य उत्तरोत्तर उन्नतिपथ पर है। 'भास्कर' के विज्ञ पाठकों को ग्राहक बनकर इन बहुमूल्य ग्रन्थरत्नों से अवश्य लाभ उठाना चाहिये। इसमें संचालकों का उत्साह बढ़ेगा और आर्थिक सङ्कट दूर होकर आगे का यह गुरुतरकार्य सुचारुरूप से चलेगा।

—के० भुजबली शास्त्री

दानशासनम्—मूल लेखक—महर्षि वासुपूज्यः सम्पादक और अनुवादक—वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, न्यायकाव्यतीर्थ; प्रकाशक—गोविन्दजी रावजी दोशी शोलापुर; डिमाई ⅛ साइज; पृष्ठ-संख्या—सब मिलाकर ३७२ : मूल्य दो रुपये : वीर सं० २४६७; छपाई, कागज आदि सुन्दर।

इस ग्रन्थ में चतुर्विध दान का विस्तार से विवेचन किया गया है, जो कि एक सच्चे श्रावक के दैनिक आवश्यक कर्त्तव्यों में से एक है। ग्रन्थगत अन्तिम पद्य से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता महर्षिवासुपूज्य हैं और यह ग्रन्थ शालिवाहन शक १३४३ विषु सम्वत्सर के माघ शुक्ल दशमी को समाप्त हुआ था। इन बातों के अतिरिक्त ग्रन्थप्रणेता के संबंध में प्रस्तुत कृति से तो कुछ भी पता नहीं लगता। क्योंकि ग्रन्थकर्ता ने अपने इस ग्रन्थ में अपनी गुरुपरम्परा, गण, गच्छ आदि की कुछ भी चर्चा नहीं की है। दक्षिण के कतिपय शिलालेखों में 'वासुपूज्य' यह नाम मिलता है अवश्य। पर प्रस्तुत वासुपूज्य के गण, गच्छ आदि के न मालूम होने से यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक वासुपूज्य ही इस दानशासन के रचयिता हैं। ग्रन्थ की संस्कृत-रचनाशैली अच्छी है। हाँ कहीं कहीं खटकती है अवश्य।

इसके हिन्दी-भाषानुवादक समाजविश्रुत, उत्साही विद्वान् पं० वर्द्धमानजी शास्त्री शोलापुर हैं। यों तो शास्त्रीजी की मातृभाषा कन्नड है। फिर भी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद सुन्दर हुआ है। इसमें शक नहीं है कि विद्वान् अनुवादक ने अनुवाद में पर्याप्त परिश्रम

किया है। सुधारक हो या स्थितिपालक प्रत्येक श्रावक को एक बार इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ लेना चाहिये। अपने पूर्वनिर्धारित विचारों के प्रतिकूल, कतिपय बातों को देखकर तुरत भड़क जाना यह कमजोरी का एक चिह्न है। विचारशील व्यक्तियों को अपेक्षावाद से काम लेना चाहिये। इसका यह अर्थ लगाना अन्याय होगा कि मैं किसी बात को आँख मूंद कर मान लेने के लिये कह रहा हूं। जैन-साहित्य बहुत विशाल है। यह ध्रुव-सत्य है कि प्रत्येक साहित्य में देश, काल आदि का गहरा प्रभाव पड़ना सर्वथा अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में विशाल-साहित्य का पूरा अध्ययन किये बिना ही किसी निर्णय पर पहुंच जाना अदूरदर्शिता है।

अस्तु, एक नई रचना को प्रकाश में लाने के उपलक्ष में श्रीमान् गोविन्दजी रावजी भी धन्यवाद के पात्र हैं।

—के० भुजबली शास्त्री

निमित्तशास्त्रम्—मूलरचयिता—महर्षि ऋषिपुत्रः अनुवादक—धर्मरत्न पं० लालाराम शास्त्रीः सम्पादक और प्रकाशक—पं० वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्रीः कल्याणपावर प्रिन्टिंग प्रेस, शोलापुरः पृष्ठ संख्या ४४; मूल्य—।=); वीर सं० २४६७।

इसकी छपाई और सफाई अच्छी है। इसके देखने से इस बात का पता भलीभांति लग जाता है कि जैनाचार्यों ने ज्योतिष शास्त्र पर भी काफी प्रकाश डाला है। परन्तु उनकी सम्पूर्ण रचनाएं आज हमें उपलब्ध नहीं होतीं। जो उपलब्ध भी हैं उनके प्रकाशन की ओर समाज का ध्यान नहीं जाता है। वास्तव में पं० वर्द्धमानजी ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। यदि इसका प्रकाशन टिप्पणी सहित होता तो यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी बन जाता। मेरे सामने जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा की जो हस्तलिखित प्रति मौजूद है, उसकी किसी किसी गाथा सम्बन्धी टिप्पणी विशेष महत्वपूर्ण है। उससे ग्रन्थ का विषय ही स्पष्ट नहीं होता बल्कि विशेष बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। अतः उपलब्ध सभी प्रतियों को सामने रखकर फुटनोटों सहित यदि यह पुस्तक प्रकाशित की जाती तो यह एक अनूठी चीज तैयार हो जाती।

इस छोटी सी पुस्तक में ग्रन्थकर्त्ता ने सूर्योदय के समय दिशाओं के रक्तादि वर्णों का फल, सूर्यचन्द्रमा के चिह्नों का फल, उपद्रवसूचक चिह्नों का वर्णन, वर्षा का निमित्त, स्त्री, गाय, कुत्ती, घोड़ी, हस्तिनी आदि के जनन का फल, छत्रभंग, राजभंग, नरपतिमरण भामण्डलभंग आदि निमित्तों का वर्णन, प्रतिमा जी के रोने, हंसने, चलने, पसीजने आदि का फल, बिजली चमकने का फल, इन्द्रधनुष का फल, उल्कापात का फल आदि फलादेशों का वर्णन बहुत अच्छी तरह से किया है। इसमें कई फलादेश हिन्दू ज्योतिष की अपेक्षा अधिक

महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये नक्षत्रक्रम से वर्षा का फलादेश ही लिया जा सकता है। इसमें प्रत्येक नक्षत्र में प्रारम्भ होने वाली वर्षा का फल बतलाया गया है। परन्तु अनुवादक ने इन गाथाओं का अर्थ खुलासा नहीं किया है। अतः मेरा विचार है कि इसमें वर्षारम्भ में सूर्यनक्षत्र क्रम से वर्षा का फलादेश बताया गया है। "अह कित्तिआहि वरसइ सम्माण विणासनो हवइ देवो। रोहिणिमु मुप्पत्ती देसस्सवि गत्थि संदेहो॥" इस गाथा का अर्थ यह होना चाहिये कि यदि वर्षा प्रारम्भ काल में जब सूर्य कृत्तिकानक्षत्र पर होवे तब पानी बरसे तो अनाज की हानि होती है और सूर्य के रोहिणीनक्षत्र में रहने पर पानी बरसे तो देश की हानि होती है। यद्यपि गाथा से यह अर्थ नहीं निकलता है। लेकिन प्रकरण से यही अर्थ जान पड़ता है। क्योंकि चन्द्रनक्षत्र ग्रहण करने में अनेक विरोध आते हैं जिनको यहां दिखलाना अप्रासंगिक है। अतः इसके द्वितीय संस्करण में यह सुधार होना आवश्यक है। सधारणतया यह पुस्तक प्रत्येक गृहस्थ के लिये उपयोगी है। इससे आगे आनेवाले इष्टानिष्ट का पता भलिभांति लग सकता है। प्रत्येक गृहस्थ को इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये।

—नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषशास्त्री और तीर्थ

संक्षिप्त जैन इतिहास—(भा० ३, खण्ड ३) लेखक—बा० कामता प्रसाद जैन; प्रकाशक—मूलचन्द किसन दास कापड़िया, दि० जैन पुस्तकालय सूरत; मूल्य—बारह आने।

मोक्षशास्त्र—(सचित्र और सटीक) अनुवादक—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य; प्रकाशक—मूलचन्द किसन दास कापड़िया, दि० जैन पुस्तकालय सूरत; मूल्य—बारह आने।

नेमिनाथ पुराण—(कन्नड) रचयिता—कर्णपार्य: प्रकाशक—विश्वविद्यालय मद्रास; मूल्य पांच रुपये।

त्रिपुरदाह (त्रिपुरदहन का गद्यानुवाद)—अनुवादक—पं० तिम्मप्पय्य; प्रकाशिका—श्रीमती देजम्म; भाषा—कन्नड; मूल्य—सद्विनियोग: वीर सं० २४६७।

तत्त्वार्थसूत्र—जैनागमसमन्वय—समन्वयकर्त्ता—मुनि श्री आत्माराम जी; प्रकाशिका—श्रीमती रत्नदेवी; मूल्य—॥) : वीर सं० २४६७।

THE DVAITA PHILOSOPHY AND ITS PLACE IN THE VEDANTA. *By* Vidwan H. N. Raghavendrachar, M. A.

Published by—The University of Mysore. Rs. 3-0-0

— के० भुजवली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ८—वि० सं० १९९८, वीर० सं० २४६८

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४१

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रशस्ति-संग्रह

पं. के. भुजबली शास्त्री.

यस्योपदेशवशतो जिनपुंगवस्य
नेमेः पुराणमतुलं शिवसौख्यकारि
चक्रे मयापि अतितुच्छतयात्र भक्त्या
कुर्यादिदं शुभमतं मम मङ्गलानि ॥
शान्ति कान्ति सुकीर्त्तिं सकलसुखयुतां सम्पदाश्चायुरुच्चैः
सौभाग्यं साधुसंगं सुरपतिमहितं सारजैनेन्द्रधर्म्मम् ।
विद्यां गोत्रं पवित्रं सुजनजन ······ ··················
श्रीनेमेः सत्पुराणम् ······ ························ ॥

भुवनैकचूडामणिश्रीनेमिजिनपुराणे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्यान्वायश्रीसिंहनन्दि-नामाङ्किते ब्रह्मनेमिदत्तविरचिते श्रीनेमितीर्थङ्करपरमदेवपञ्चमकल्याणकव्यावर्णनो नाम पद्मनामनवमबलदेवकृष्णनामनवमनारायणजरासन्धनामप्रतिनारायणचरित्रव्यावर्णनो नाम षोडशोऽधिकारः समाप्तः ।

यह ब्रह्मचारी नेमिदत्त वि० सं० १५७५ के हैं। इन्होंने वर्धमानपुराण, धर्मपीयूषवर्षण-श्रावकाचार, आराधनाकथाकोष, श्रीपालचरित्र, प्रियंकरचरित्र आदि कई ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से एक-दो ग्रन्थ छप भी चुके हैं। मूलसंघ एवं सरस्वती गच्छवाले श्रीभट्टारक मल्लिभूषण के यह शिष्य हैं। प्रशस्ति में इन्होंने सिंहनन्दी जी की बड़ी प्रशंसा की है और लिखा है कि इन्हीं की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का मैंने प्रणयन किया है। नेमिदत्त जी ने आराधनाकथाकोष की प्रशस्ति में 'यशस्तिलकचन्द्रिका' आदि के कर्त्ता, श्रीश्रुतसागरसूरि को गुरुभावना से स्मरण किया है और इन्होंने इस ग्रन्थ में मल्लिभूषण की वही गुरुपरम्परा दी है, जो श्रुतसागर के ग्रन्थों में मिलती है। नेमिदत्त जी की रचनायें साहित्यिक दृष्टि से सुन्दर एवं सरल हैं।

(५१) ग्रन्थ नं० ६८/म

वर्द्धमानकाव्य

कर्त्ता—जयमित्र

विषय—काव्य

भाषा—अपभ्रंश

लम्बाई १२। इञ्च चौडाई ६।। इञ्च पत्रसंख्या ५६

प्रारम्भिक भाग—

सिरि परमप्पयभावणु सुहगुणपावणु ।
जियणिय जम्मजरामरणु ॥
सासयसिरसुंदरु पणयपुरंदरु ।
रिसहु णविवि तिहुयणसरणु ॥
पणवेप्पिणु पुणु अरहंताणं दुक्कम्ममहारिकयंताणं ।
वसुगुणसंजोयस्सिद्धाणं सिद्धाणं निजयपसिद्धाणं ॥
सूराणं सुद्धमचित्ताणं वयसंजमभाविय चित्ताणं ।
पयडियसमग्गसम्मायाणं भव्वयणहो णिरुउज्झायाणं ॥
साहुणं साहिय मोक्खाणं सुविसुद्ध झाणविहि दक्खाणं ।
सम्मत्तणाणसुचरित्ताणं सन्ति सुद्धए णवमि पवित्ताणं ॥
वसहाइसुगोतमणं माणं सुगणाणं संजम धामाणं ।

अवहारियकेवलवंताणं ॥ पुइ विरप विसाल महंत्ताणं ॥घत्ता॥ णरलोयहो मंडणा-कुणायविहउणो ॥ तिहिसमयहि पयडिय सम्मय ॥ अन्तरवि मिच्छंकर तिययसुहंकर ॥ तिप्पे सुर सिव णयरिगया ॥१॥ पवणपविति वज्जा दुम्मेदहं चिंतामणि वसमत्त समीहहं ॥ रवि दित्त वतमभरणि णासिण जण णित्र वंछिय सुर कुवभाभिणि ॥ सग्ग महिव सुरसच्छ विहसिया गिरिभूयविकाहिकुलहिसमासिय ॥ नीर वराय हंस गयभामिणी कोमुइव कुवलय सिरिदाविणी ॥ चक्विणिय मुहजं सासण देविउ णासेसउ जिणवर पयसेविउ ॥

× × × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ २७, पंक्ति ५)—

तुं सुणिवि पयंपइ मगहराउ किं साहुलपियकह वहु पलाउ ॥ मुणि कि अयाणु अहि कि असंक्कु जं दुख सहेसइ तजि थक्कु ॥१०॥ ता चेलणाइ जंपिउ णरिंदु णउ तजइ वाणडिउ मुणिंदु ॥ जहि रणु वक्कुगुरुवतणजेम कुडिच्छ दिविस गुरुण जाइ तेम ॥ उवसग्गु होंतुमणे विलाहु दुक्खवि सुक्खोगमुमुणइ साउ ॥ णउ णिंदइ मच्छरु मणि धरेइ सुवनंसणा इंनो सुण करेइ ॥ तिणु कुत्रणि अरिसुहिसम गिणंतु तव तवइ घोरु कम्मइ हणंतु ॥ वावीस परोसह सहणमल्लु वंभव्वय धारउ मुणणिमल्लु ॥ णाणे परियाण इणेय मग्गु णविरो कारिणी उवलंतहु महुपहु ॥

× × × ×

अन्तिम भाग—

अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यराज्यसंवत्सर १६०० तत्र वर्षे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयायां तिथौ शुक्रवासरे श्रीतिजारास्थानवास्तव्यो साहि आलमुराज्यप्रवर्त्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारकश्रीमलयकीर्तिदेवा' तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणभद्र-देवाः तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे साहु तोल्हा भार्या राणी तस्य पुत्रः जिनदासः तस्य भार्या शोभा तत्पुत्राः पञ्च प्रथमपुत्रः साधुमहादासुः द्वितीयपुत्रः साधुगेल्हा तृतीयपुत्रः साधनुगराजुः चतुर्थपुत्रः जगराजुः पञ्चमपुत्रः माधुसिंहः जिनदासप्रथमपुत्रः महादासुः तस्य भार्या दोदासही तस्य पुत्रः तेजनुः तस्य भार्या लाडो जिनदासद्वितीयपुत्रः गेल्हा तस्य भार्या खोमाही तस्य पुत्रो दोमानुः तस्य भार्या भागो तस्य पुत्रः नगराजः तस्य भार्या धणपाल्हही पुत्राः चत्वारः प्रथमपुत्रो जीवन्दुः तस्य भार्या भीख्यो द्वितीयपुत्रः ऽपमियपालः तृतीयपुत्रः गजः चतुर्थो दरगहमलुः जिणदासपुत्रः चतुर्थः जगराज्यः तस्य भार्या धोनाही तस्य तृतीयः बुच्छा तस्य भार्या चादिणी द्वितीयपुत्रः मसक् तृतीय तोतृ जिनदासपञ्चमपुत्रः सोदू तस्य भार्या दूतस्य भार्या लष्मणयही तस्य ''''चतुर्थभार्या कपूरी एतासां मध्ये साधुसोनून इन्द्रश्रीश्रेणिक तासु नानीवरणीकर्मक्षयिणी तेन (तेषां ज्ञाना-वरणकर्मक्षयार्थं) आत्मपठनार्थं कर्मक्षयनिमित्तं लिख्यते।

इस अपभ्रंश काव्य के रचयिता पण्डित जयमित्र मालूम होते हैं। क्योंकि इसमें एक जगह सर्ग के अन्त में 'इय पंडिया सिरी जयमितह हलुवि (?) विरइये वड्ढमाणकाव्ये' यों स्पष्ट अङ्कित है। परन्तु यह जयमित्र कौन हैं, यह पता नहीं लगता। ग्रन्थ में रचयिता की प्रशस्ति आदि कुछ भी नहीं है। हां, प्रतिकराने वाले की वि० सं० १६०० की एक प्रशस्ति लगी हुई अवश्य। भवन की यह प्रति बहुत अशुद्ध है। इसकी दूसरी शुद्ध प्रति की प्राप्ति से संभवतः ग्रन्थकर्त्ता जयमित्र का कुछ विशेष हाल मालूम हो सकता है।

(५२) ग्रन्थ नं० $\frac{७५}{क}$ +

जिनसहस्रनामटीका

कर्ता—आचार्य श्रुतसागर

विषय—स्तोत्रविषयिणी टीका

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३ इञ्च | चौड़ाई ७ इञ्च | पत्रसंख्या १२७ *

प्रारम्भिक भाग—

ध्यात्वा विद्यानंदं समतभद्रं मुनीन्द्रमर्हन्तम् ।
श्रीमत्सहस्रनाम्नां विवरणमहं वच्मि संसिद्धौ ॥

अथ श्रीमदाशाधरसूरिगृहस्थाचार्यवर्या जिनयज्ञादिसकलशास्त्रप्रवीणस्तर्कव्याकरणछंदोऽलंकारसाहित्यसिद्धांतस्वसमयपरसमयागमनिपुणबुद्धिः संसारपारावारपतनभयभीतो निर्ग्रंथलक्षणमोक्षमार्गश्रद्धालुः प्रज्ञापुञ्ज इति विरुदावलिविराजमानो जिनसहस्रनामस्तवनं चिकीर्षुः 'प्रभो भवांगभोगेषु' इत्यादि स्वाभिप्रायसंसूचनपरं श्लोकमिममाह । श्रीविद्यानंदसूरिणां शिष्याः श्रीश्रुतसागरसूरिनामानस्तु तद्विवरणं कुर्वन्तीति "प्रभो भवांगभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः । एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥" हे प्रभो—भुवनैकनाथ, यः कोऽपि तीर्थंकरपरमदेवस्तस्येदं संबोधनम् । एषः—प्रतिपत्तिभूतोऽहं आशाधरमहाकविः । त्वां—भवंतम् । विज्ञापयामि—विज्ञप्तिं करोमि । कथंभूतोऽहं भवांगभोगेषु—संसारशरीरभोगेषु । निर्विण्णः—निर्वेदं प्राप्तः ।

× × × ×

मध्य भाग (पत्र ५५ ई ३. पंक्ति १)—

विमलः—विनष्टो मलः कर्ममलकलंको यस्य स विमलः अथवा विविधा विशिष्टा वा मा लक्ष्मीर्येषां ते (?) विमाः इंद्रादयो देवास्तान् लाति निजपादाक्रांतान् करोति विमलः, अथवा विगता दूरीकृता मा लक्ष्मीर्यैस्ते विमा निर्ग्रंथमुनयस्तान् लाति स्वीकरोति विमलः अथवा विगतं विनष्टमलमुच्चारः प्रस्रावश्च यस्य जन्म स विमलः ॥३७॥ अनंतजितः अनंतसंसारं जितवान् अनंतजित् अथवा अनंतं अलोकाकाशं जितवान् केवलज्ञानेन तत्पारं गतवान् अनंतजितः अथवा अनंतविवि.......॥३८॥ महावीरः महाश्चासौ वीरः महावीरः श्रेष्ठे महावीरः ॥३९॥ × × ×

---

* इसकी $\frac{६५३}{ख}$ नं० वाली एक प्रति और है । पर वह बहुत जीर्ण है ।
+ बीच बीच में कुछ पत्र नहीं हैं ।

अन्तिम भाग—

अर्हंत· सिद्धनाथास्त्रिविधमुनिजना भारतीवाहितोद्धा।
सद्ग्रन्थः कुन्दकुन्दो विबुधजनहृदानन्दनः पूज्यपादः।
विद्यानन्द्योऽकलङ्कः कलिमलहरणश्रीसमन्तादिभद्रो-
भूयान्मे भद्रबाहुर्भवभयमथनो मंगलं गौतमाद्यः॥
श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपरः पवित्रो देवेन्द्रकीर्त्तिरथ साधुजनाभिवन्द्यः।
विद्यादिनन्दिवरसूरिरनल्पबोधः श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मंगलं मे ॥२॥

अदः (?) पट्टे भट्टादिकमतपुरीघट्टनपटुर्घटद्धर्मध्यानः स्फुटपरमभट्टारकपदः।
प्रभापुंजः संमाद्भिजितवरस्मरनरः सुश्रीलक्ष्मीश्चन्द्रश्चरणचतुरो मे विजयते ॥३॥

ज्ञानं (?) वनं विदुषां हृदयाम्बुजानाम्
आनन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिहेतोः।
सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारम्
चेतश्चमत्कृतिकृतं श्रुतसागरेण ॥४॥

श्रीश्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्रैर्विहितम्।
जन्मजरामरणहरं निरन्तरं शिवं लब्धम् ॥५॥

अस्ति स्वस्ति समस्तसर्वतिलकं श्रीमूलसंघोऽनघं
वृत्तं यत्र मुमुक्षुसर्वशिवदं संसेवितं साधुभिः।
विद्यानन्दिगुरुरित्वहास्ति गुणवद्गच्छे गिरं साम्प्रतम्
तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नन्दतु ॥६॥

श्रीइत्याचार्यश्रुतसागरविरचितायां जिनसहस्रनामटीकायामन्तकृच्छतविवरणो नाम दशमोऽध्यायः।

इस जिनसहस्रनामटीका के रचयिता श्रीश्रुतसागरसूरि हैं। माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'षट्प्राभृतादिसंग्रह' की भूमिका में श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इनका जो परिचय दिया है, वही यथावत् नीचे उद्धृत कर दिया जाता है—

षट्प्राभृत या षट्पाहुड के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर बहुश्रुत विद्वान् थे। इस टीका से और यशस्तिलक-चन्द्रिका टीका से मालूम होता है कि वे कलिकालसर्वज्ञ, कलिकाल गौतमस्वामी, उभयभाषाकविचक्रवर्ती आदि महती पदवियों से अलंकृत थे। उन्होंने 'नवनवति' (९९) महावादियों को पराजित किया था!

वे मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण के आचार्य और विद्यानन्दी भट्टारक के शिष्य थे। उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—पद्मनन्दी—देवेन्द्रकीर्ति—विद्यानन्दी।

परन्तु विद्यानन्दी भट्टारक के पट्ट पर जान पड़ता है उनकी स्थापना नहीं हुई थी। क्योंकि विद्यानन्दी के बाद की गुरुपरम्परा इस प्रकार मिलती है—विद्यानन्दी—मल्लिभूषण—लक्ष्मी-चन्द्र।

स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्द जी के ग्रन्थभाण्डार में पं० आशाधर के महाभिषेक नामक ग्रन्थ की टीका है। उसके अन्त में इस प्रकार लिखा है :—

"श्रीविद्यानंदिगुरोर्बुद्धिगुरोः पादपंकजभ्रमरः।
श्रीश्रुतसागर इति देशव्रती तिलकटीकते स्मेदं॥
इति ब्रह्मश्रीश्रुतसागरकृता महाभिषेकटीका समाप्ता॥
श्रीरस्तु लेखकपाठकयोः॥ शुभं भवतु॥श्री॥

संवत् १५८२ वर्षे चैत्रमासे शुक्लपक्षे पंचम्यां तिथौ रवौ श्रीआदिजिनचैत्यालये श्रीमूल-संघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टा-रकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीविद्यानंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणदेवास्त त्पट्टे भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदेवास्तेषां शिष्यवरब्रह्मश्रीज्ञानसागरपठनार्थं॥ आर्या श्रीविमलश्री चेली भट्टारक श्रीलक्ष्मीचन्द्रदीक्षिता विनयश्रिया स्वयं लिखित्वा प्रदत्तं महाभिषेकभाष्यं॥ शुभं भवतु॥ कल्याणं भूयात्॥ श्रीरस्तु॥

इससे मालूम होता है कि विद्यानन्दी के पट्ट पर मल्लिभूषण की और उनके पट्ट पर लक्ष्मी चन्द्र की स्थापना हुई थी। यशस्तिलकटीका में श्रुतसागर ने मल्लिभूषण को अपना गुरु-भ्राता लिखा है। इससे भी मालूम होता है कि विद्यानन्दी के उत्तराधिकारी मल्लिभूषण ही हुए होंगे। यशस्तिलकचन्द्रिका टीका के तीसरे आश्वास के अन्त में लिखा है—

"इति श्रीपद्मनंदिदेवेंद्रकीर्तिविद्यानंदिमल्लिभूषणाम्नायेन भट्टारकश्रीमल्लिभूषणगुरुपरमा-भीष्टगुरुभ्राता गुर्जरदेशसिंहासनभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रकाभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंह-नंदिप्रार्थनया यतिश्रीसिद्धान्तसागरव्याख्याकृतिनिमित्तं नवनवतिमहामहावादिस्याद्वाद-लब्धविजयेन तर्कव्याकरणछंदोऽलंकारसिद्धान्तसाहित्यादिशास्त्रनिपुणमतिना प्राकृतव्याकरणा-द्यनेकशास्त्रचञ्चुना सूरिश्रीश्रुतसागरेण विरचितायां यशस्तिलकचंद्रिकाभिधानायां यशो-धरमहाराजचरितचम्पुमहाकाव्यटीकायां यशोधरमहाराजराजलक्ष्मीविनोदवर्णनं नाम तृतीयाश्वासचन्द्रिका परिसमाप्ता।"

इससे मालूम होता है कि उस समय गुर्जर देश के पट्ट पर भट्टारक लक्ष्मीचंद्र स्थित थे और मल्लिभूषण का शायद स्वर्गवास हो चुका था।

लक्ष्मीचंद्र के बाद भी श्रीश्रुतसागर के पट्टाधिकारी होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। जान पड़ता है वे कभी सिंहासनासीन हुए ही नहीं।

ये पद्मनंदी, विद्यानंदी, आदि सब गुजरात के ही भट्टारक हुए हैं। परन्तु यह मालूम न हो सका कि गुजरात के किस स्थान की गद्दी को इन्होंने सुशोभित किया था। ईडर, सूरत, सोजित्रा आदि कई स्थानों में भट्टारकों के पट्ट रहे हैं। यशस्तिलक की रचना के समय मालवे के पट्ट पर सिंहनंदी भट्टारक थे। इन्हींकी प्रेरणा से श्रुतसागरसूरि ने नित्यमहोद्योत या महाभिषेक की भी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरसूरि के भी अनेक शिष्य रहे होंगे। इसी ग्रन्थमाला के तत्त्वानुशासनादि-संग्रह में इनके एक श्रीचन्द्र नामक शिष्य की रची हुई वैराग्यमणिमाला प्रकाशित हुई है। आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण, आदि अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने भी—जो मल्लिभूषण के शिष्य थे—श्रुतसागर को गुरुभावना से स्मरण किया है*। नेमिदत्त ने भी मल्लिभूषण की वही गुरुपरम्परा दी है, जो श्रुतसागर के ग्रन्थों में मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दी का भी उल्लेख किया है।

श्रुतसागर का अभी तक टीकाग्रन्थों के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

उनके बनाये हुए ग्रन्थों का परिचय आगे दिया जाता है :—

१ *यशस्तिलकचन्द्रिका*। यह निर्णयसागर प्रेस की 'काव्यमाला' में प्रकाशित हो चुकी है। यह टीका अपूर्ण है—५वें आश्वास के कुछ अंश की और छठे आश्वास की टीका नहीं है। जान पड़ता है, यही उनकी अन्तिम रचना है। यह टीका अनेक स्थानों के ग्रन्थभाण्डारों में मिलती है, परन्तु सर्वत्र ही अपूर्ण है।

२ *महाभिषेकटीका*। सुप्रसिद्ध पंडित आशाधर जी के बनाये हुए नित्यमहोद्योत या महाभिषेक नामक ग्रन्थ की यह टीका है। इसका अन्तिम अंश ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उससे मालूम होता है कि उस समय श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे, सूरि या आचार्य नहीं हुए थे।

३ *तत्त्वार्थटीका*। यह श्रुतसागरी टीका के नाम से प्रसिद्ध है। इस लेख के लिखते समय हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। परन्तु यह दुष्प्राप्य नहीं है—इसका भाषानुवाद भी हो चुका है।

४ *तत्त्वत्रयप्रकाशिका*। आचार्य शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव के अन्तर्गत जो गद्यभाग है,

*आराधनाकथाकोश की प्रशस्ति देखें।

यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्र जी के ग्रंथ-संग्रह में † मौजूद है। उसकी प्रशस्ति देखिये :—

आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहनंद्याह्वयैः,
संप्रार्थ्य श्रुतसागरं [रां] कृ [कि] तवरं भाष्यं शुभं कारितं।
गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यांतरे,
विद्यानंदिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखम् ॥

इति श्रीज्ञानार्णवस्य (?) स्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिना [का] समाप्तः [प्ता] ॥ शुभमस्तु ॥"

५ *जिनसहस्रनाम टीका* । यह पं० आशाधरकृत जिनसहस्रनाम की विस्तृत टीका है। इसकी भी एक प्रति सेठ जी के ग्रन्थ-संग्रह में मौजूद है। शब्दबोध और व्युत्पत्ति-बोध के अभिलाषियों के लिये बड़े काम की चीज है। इसकी भी प्रशस्ति देखिये :—

"श्रीपद्मनंदिपरमात्मपरः पवित्रो, देवेंद्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवंद्यः।
विद्यादिनंदिवरसूरिरनल्पबोधः, श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मंगलं मे ॥२॥

अदः (?) पट्टे भट्टादिकमतघटाघट्टनपटुः,
घटद्धर्मध्यानः स्फुटपरमभट्टारकपदः।
प्रभापुंजः संयद्विजितवरवीरस्मरनरः,
सुधीर्लक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥३॥
आतं (?) वनं सुविदुषां हृदयांबुजानां,
आनन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिहेतोः
सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारु
चेतश्चमत्कृतिकृतं श्रुतसागरेण ॥४॥
श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्रयै(?)र्विहितं।
जन्मजरामरणहरं निरंतरं तैः शिवं लब्धं ॥५॥
अस्ति स्वस्ति समस्तसंघतिलकं श्रीमूलसंघोऽनघं,
वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभिः।
विद्यानंदिगुरुस्त्विहास्तिगुणवद्गच्छे गिरः सांप्रतं,
तच्छिष्यः श्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नंदतु ॥६॥

इतिसूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिननामसहस्रटीकायामंतकृच्छ्रतविवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥ श्रीविद्यानंदिगुरुभ्यो नमः।"

† ग्रन्थ नं० ३।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VII   DECEMBER, 1941.   No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jaina, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt
Babu Kamta Prasad Jaina, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA

Annual Subscription

Inland Rs. 3.   Foreign 4s. 8d.   Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

Vol. VII No. II | ARRAH (INDIA) | December, 1941

REFERENCES TO THE CAITRAGACCHA IN INSCRIPTIONS AND LITERATURE.

By

P. K. Gode, M.A.

Curator, B. O. R. Institute, Poona.

A separate study of the different Jaina Schools or *Gacchas*[1] in an exhaustive manner based on all epigraphic, literary and other sources will prove extremely useful to the students of Jaina

1 Mr. C. D. Dalal's *Cata. of Jesalmere MSS*, Baroda, 1923, p. 98 mentions the following *Gacchas* and *gaṇas* etc.— उपकेशगच्छ, औष्ट्रिकमत, काष्ठासङ्घ, कासहृदीयगच्छ, कृष्णर्षीय गच्छ, कोडिय (कोटिक) गण, खरतरगच्छ, खरतरविधिपक्ष, खरतरवेगडगच्छ, बृहत्खरतरगच्छ, चन्द्रकुल, चन्द्रगच्छ, चाँद्रकुल, चैत्यवासि, जाल्योधरगच्छ, तपागण, थारापद्रपुरीयगच्छ, देवानन्दगच्छ, पाडिच्छयगच्छ, पुष्करगण, पूर्णतल्लगच्छ, पूर्णिमापक्षप्रथमशाखा, बृहद्गच्छ, ब्रह्माणगच्छ, माथुरान्वय, यशोभद्रसूरिगच्छ, रुद्रपल्लीयगच्छ, वइर (वज्र) शाखा, वसतिमार्ग, विधिपथ, विधिमार्ग, विधिपक्ष, विद्याधरवंश ।

The *Prasaśti Sangraha* by A. M. Shah, Ahmedabad, 1937 *Part I* (Index p. 4) records the following *Gacchas*, etc. :— ऊपकेशगच्छ, कोरंटगच्छ, कृष्णराजर्षिगच्छ, घोषपुरीयगच्छ, चंद्रकुल, तपोगण, तपगच्छ, तपा, पूर्णिमापक्ष, राजगच्छ, वृद्धगच्छगण, संडेरगच्छ,—*Part II* (Index p. 20) records the following Gacchas etc :— आगमगच्छ, अंचळगच्छ, उपकेशगच्छ, कासहृदगच्छ, कोरटावालगच्छ, कोरंटगच्छ, काष्टासंघ मथुरान्वय पुष्करगण, कच्छोलीवालगच्छ, खरतरगच्छ, खरतर, चंद्रगच्छ, चैत्रगच्छ

literature, philosophy and religion as it will give us a skeleton outline of the history of Jaina Schools and the several ācāryas that were associated with them. This is, however, a subject to be tackled by students interested in the history of Jaina literature and religion. In the absence of any encyclopaedic work dealing with the various Jaina Schools and their historical development it would be useful to collect and record data pertaining to the several schools separately to facilitate a closer study of them as also to enable us to understand the interrelations of these schools through changing vicissitudes of political and religious history of India.

जीराऊलागच्छ, तपागच्छ, तपागण, द्विवंदणिकगच्छ, द्विवंदणीकपक्ष, धर्मघोषगच्छ, नागेन्द्रगण, नद्गिलटगच्छ, नाणावालगच्छ, पूर्णिमापक्ष, पिप्फळगच्छ, पीपलीयाशाळा, ब्राह्मणगच्छीय, वृहद्गच्छ, बृहद् ब्रह्माणीयागच्छ, भीमपल्लीयपूर्णिमापक्ष, भाडरगच्छ, मबागच्छ, मलधारगच्छ, रुद्रपल्लीयगच्छ वृद्धतपागच्छ, विधिपक्षगच्छ, सुधर्मगच्छ, हारीजगच्छ।

The *Kharatara Gaccha Pattavali Sangraha* by Muni Jinavijaya, Calcutta, 1932 (Index) mentions the following Gacchas etc :- आचार्यगच्छ खरतर शाखा (आचार्यीय गच्छ), आद्यपक्षीय गण, आंचलिकमत, कूर्चपुरगच्छ, कोटिक (गच्छ, गण), कोमलय गच्छ, चन्द्रगच्छ, चन्द्रकुल, चित्रवाल गच्छ तपा (गण,-गच्छ कुवलिकापक्ष, नागेन्द्र (—गच्छ-कुल) निर्वृत्ति (गच्छ,-कुल), पिप्पलक खरतरगच्छ शाखा, पीपलिया गण (गच्छ), पुनर्नवगच्छ, भावहर्षीय खरतर शाखा, मधुकर खरतरशाखा, रंगविजय खरतरशाखा, राजगच्छ, रुद्रपल्लीय खरतरशाखा, रूद्रलिया गण, लघु आचार्यीय खरतरशाखा, लघु खरतरगच्छ (गण,-शाखा) लघु भट्टारक खरतरशाखा, सुविहित खरतरगच्छ, सुविहितपक्षगच्छ,

Buhler's *Life of Hemacandra* (Eng. Trans. by M. Patel) 1936, mentions the following Gacches . - चंद्रगच्छ, कोटिकगण, पूर्णचन्द्रगच्छ.

A Kannada inscription on a pillar at Patasivaram (Anantapur Dist South India) dated 24th February 1185 mentions पुस्तकगच्छ, देशीगण and मूलसंघ to which belonged पद्मप्रभ मलधारिदेव, disciple of Viranandi-Siddhānta-Chakravartideva (*Vide* p. 299 of *Madras Presi. Kannnda Inscriptions*, ed. by Shamsastri and Lakshminarayan Rao, 1939—Ins. No. *278*). *Vide* also p. 400 of the above volume where an inscription of A. D. 1297 records the gift of some land to विनयचन्द्रदेव disciple of नेमिचन्द्र राउळ of the पुस्तकगच्छ, देशीगण and मूलसंघ. On p. 89 again we have inscription No. 115 dated A. D. 1054 which mentions a Jain teacher belonging to मूलसंघ, देशीगण and पोरागगच्छ ।

In the present paper I shall confine myself to one Gaccha *viz.*, the *Caitragaccha* of Chitor in Rajputana and shall record a few references to it in inscriptions and literature.

(1) The *Praśasti Sangraha*[1] records the following colophon of a MS of the *Meghadūta* in a Bhandar at Pātaṇ :—

"संवत् १६०४[2] वर्षे वैशाख सुदि २ भूमवासरं श्रीचैत्रगच्छे भ० श्री० ६ नयकीर्तिसूरि सूरीन्द्रान् ॥ तन् शिष्य मु० विनयकीर्तिलिखितं स्ववाचनाय. चित्रांगद[3] दुर्गमध्ये ॥ श्रीरस्तु ॥ श्री ॥

The above colophon of A.D. 1547 gives us the names of two Jainas *viz.*, (1) *Nayakīrti*[4] and (2) *Vinayakīrti* associated with the *Caitragaccha* in the Chitor fort. The *Paṭṭāvali* No. 1 of the *Kharatara Gaccha* contains the following dated reference to *Citrakūṭa* or Chitor :—

> Death of Jinavallabhasūri at *Citrakūṭa* in Saṁvat 1168 (=A.D. 1112)[5]

1. Ed. by A. M. Shah, Part II, p. 102.

2. This MS was copied in *April* 1547.

3. In the Chitor Stone inscription of *A. D.* 1287 engraved on a pillar about a mile or so from Chitor in the reign of Samara Simha a grant is made to the temple of Vaidyanātha built on a tank called *Citrāṅga* (mod Chitrang Moris tank at *Citrakūṭa*. (*Vide* H. C. Ray. *Dynastic History of Northern India, II*, p. 1194). In a MS copied in Saṁvat 1597 (= A. D. 1541) *i.e* six years earlier than the Meghaduta MS of *A. D.* 1547 we find the mention of "*Citrakūṭa durga*" in the reign of "*Rājādhirāja Srī Vaṇavīra*" and the *Gaccha* existing at Chitor is styled as "*Añcala Gaccha*".

4. The *Jain Granthāvali* does not mention any author of the name *Nayakīrti*. Winternitz (*His. of Ind. Lit.* II, Calcutta. 1933) & S. Vidyabhusana. (*Ind. Logic*, 1921) make no reference to any author of this name in their Chapters on "Jaina Literature" (pp. 424 - 595) and "Jain Logic" (pp. 158—224) respectively.

5. Vide *Kharatara Gaccha Paṭṭāvalī Saṁgraha*, 1932, p. 10.

"६ श्री जिनवल्लभसूरिः...... . ...संवत ११६८ चित्रकूटे स्वर्गप्राप्तिः—

Other references are as follows :—

Page 4—"दुर्गे श्रीचित्रकूटे ग्रहरसशशभृच्चन्द्रसंख्ये हि वर्षे । etc

If the above date of the death of Jinavallabhasūri at Citrakuṭa is correct it shows the association of the *Khıratarugaccha* with Chitor at the beginning of the 12th Century but it does not help us to know the history of the *Caitıagaccha* mentioned in *Meghadūta* MS referred to above.

Kṣemakirti, pupil of Vijayendu and belonging to Candrakula composed his commentary on the *Bṛhatkalpasūtra* in *Saṁvat 1332* *ie* A D. 1276. At the end of his commentary he possibly refers to the genesis of the *Caitragaccha* in the following *verses* :—

" श्रीजैन शासन-नभस्तल-तिम्मरश्मि:
श्री सद्म-चांद्रकुल-पद्मविकाशकारी ।
म्वज्योतिरावृतादगंबरडंबरोऽभूत्
श्रीमान धनेश्वरगुरु: प्रथित: पृथिव्यां ॥७॥

Page 24—"पुनरेकदा श्री जिनदत्तसूरिश्चित्रकूट देवगृहे वज्रस्तंभस्थितं
नाना मंत्राम्नायमयंपुस्तकं मंत्रबलेन प्रकटीकृत्य गृहीतवान्"

Page 32—"श्री जिनभद्रसूरि:·········अनयारीत्या एकदा चित्रकूटे समागता:" ।

Jinabhadra died in Saṁvat 1514 (A. D. 1458).

Page 46—"संवत् ११६७ वर्षे आषाढवदि ६ दिने पट्टे स्थापना
श्री देवभद्रसूरिणा कृता श्री चित्रकूटे etc "

Page 53—"तत: श्री जिनेश्वरसूरिभिश्चित्रकूटे चिंतामणिपाश्र्वनाथप्रासादे
भांडागारे पुस्तकं निर्वास्य प्रदत्तं । क्रमेण आगतं पत्तने । महो-
त्सवेन आनीतं । श्री कुमारपालाद्या: सप्तशतमनुष्या: सश्रीका:
अन्येपि बहवो जना: शालायां स्थिता: संति । दृष्टं पुस्तकं
हेमाचार्येण etc "

Page 55—"श्री जिनवर्धनसूरय: । तै: श्रीजेसलमेरौ पाश्र्वनाथचैत्यमध्ये
गंभारकात् क्षेत्रपालो निर्वासित: । तेन कुपितेन प्रतिज्ञा कृता
अहं त्वां गच्छान्निर्वासयामि । रात्रौ स्त्रीरूपेण समागच्छति
ततश्चित्रकूटे गता: etc "

श्रीमच्चैत्रपुरैकमंडनमहावीरप्रतिष्ठाकृत-
स्तस्माच्चित्रपुरप्रबोधतरणेः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि [1]।
तत्र श्री भुवनेंद्रसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुर-
ज्योतिः सद्गुण-रत्न-रोहणगिरिः कालक्रमेणाभवत्॥८॥ "

The above *verses* tell as that one Dhaneśvaraguru was the originator or founder of the *Caitragaccha* (तस्मात्······श्रीचैत्रगच्छोऽजनि) This guru is styled as "चित्रपुरप्रबोधतरणेः" *i.e.*, "the Sun for the awakening of Citrapura" obviously on account of his spiritual

1. This *Caitragaccha* referred to in A D. 1276 by Kṣemakīrti is not found in the following 84 Gacchas of the Jainas, which originated with the pupils of a Jaina high priest named *Udyotana* who flourished about the *middle of the 10th Century*.

These *Eighty four Gacchas* as given on pp. 78 -79 of Buhler's *The Indian Sect of the Jainas* edited by J. Burgess, London 1903 are :--

(1) Vaḍa, (2) Osvāla, (3) Añcala (4) Jīravalı (5) Khaḍatara or Kharatara, 6) Lonkā or Ricmati, (7) Tapā, (8) Gaṅgesvara, (9) Korantavala, (10) Ānandapura, (11) Bharavati, (12) Udhavīyā, (13) Gudāvā (14) Dekaupa or Dekāvā, (15) Bhinmalā, (16) Mahuḍiyā, (17) Gacchapāla, (18) Goṣavala (19) Magatragagadā, (20) Vrhmāṇīyā, (21) Tatārā, (22) Vikaḍīyā, (23) Munjhīya, (24) *Citroḍā* (25) Sīcorī, (26) Jacaṇḍīyā, (27) Sidhālavā, (28) Mīyaṇṇīyā, (29) Agamīyā, (30) Maladhārī, (31) Bhīvarīyā, (32) Palīvāla, (33) Nagadīgeśvara, (34) Dharmaghoṣa, (35) Nagapurā, (36) Ucatavala, (37) Naṇṇavala, (38) Sāderā, (39) Maṇḍovarā (40) Ṣūraṇī, (41) Khambhāvatī, (42) Pāecaṁda, (43) Sopārīya, (44) Maṇalīyā (45) Kocchīpanā, (46) Jagaṁnā, (47) Lāparavāla, (48) Vosaradā, (49) Duivandanīyā, (50) Citrāvala, (51) Vegaḍā, (52) Vāpaḍā, (53, Vījahāra. Vijharā, (54) Kāupurī, (55) Kacala, (56) Haṁdalīya, (57) Mahukarā, (58) Putaliyā, (59) Kaṁnarīseyā, 60) Revardīyā, (61) Dhandhukā. (62) Thambhaṇipaṇa, (63) Paṁcīvāla (64) Pālaṇpurā, (65) Gaṁdhārīya, (66) Velīyā, (67) Sāḍhpunamīyā, (68) Nagarakoṭiyā (69) Hāsorā, (70) Bhaṭanerā, (71) Jaṇaharā, (72) Jagāyana. (73) Bhīmasena (74) Takaḍīyā, (75) Kaṁboja, (76) Senatā. (77) Vagherā, (78) Vaheḍīyā, (79) Siddhapura, (80) Ghogharī, (81) Nāgamiyā, (82) Punamīyā, (83) Varhaḍīyā, (84) Nāmīlā. Some of these names are common to Col. Miles's list (*Tr. R. A. S.* vol III, pp. 358 f. 363, 365, 370) and H. C. Brigg's list—*Cities of Gujarashtra* p. 339. I wonder if Gaccha No. 24 (*Citroḍā*) in the above list has any connection with the *Caitragaccha* mentioned by Kṣemakīrti !

knowledge. *Citrapura*[1] mentioned by Kṣemakirti appears to be identical with modern *Chitor.* If this identification is correct it is but in the fitness of things that such an illustrious Jainācārya should be the founder of the *Caitragaccha* the existence of which in the latter part of the 13th century and its continuity to the middle of the 16th century is proved by inscriptional and literary sources.

The name Dhaneśvara Sūri is very commonly met with in the literature of the Jainas. It is, therefore, necessary to identify him if possible and for this purpose we shall have to note all the

1 Chitor is mentioned in historical references as चितौड, चित्रकूट, चैत्रकूट, (*Vide* Index to *Kharatara Gaccha Pattavali Sangraha,* p 3) though I have not come across the name चित्रपुर as such for Chitor used in documents or elsewhere. The *Praśasti Samgraha* by A. M. Shah records the following names of Chitor :–

Part II, P. *16* (*Pr. No 64*) " चित्रकूटमहानगरे" in a MS dated *Samvat*
1510 = *A D. 1454*—P. 46 (Pr 195) " चित्रकूटे पुरं " „ „ „ „
1547 = *A. D 1491* P 82 (Pr. 285) " चित्रकूट " „ „ „ „
1573 = *A. D. 1517* P. 97 (Pr 352) " चित्रकूट " „ „ „ „
1597 = *A D 1541* P. 94 (Pr 216) ' चित्रकूट महादुर्गे" „ „ ,
1553 = *A. D 1497* P. 93 (Pr 332) " चित्रकोट " „ „ „ „
1592 *A D. 1536* P. 115 (Pr 424) " चित्रकोट " „ „ „ „ 1616
= *A. D. 1560* P 96 (Pr. 347) " चित्रकूट दुर्गे " „ „ „ „
1597 = *A. D. 1541* - P. 102 (Pr. 376) " चित्रांगद दुर्गे " „ „ „
1604 = *A D 1548.*

Part I, page 98 (*Pr. 161* —A. MS. of " निर्घंटुशेप " copied in Samvat 1280 = *A. D. 1224* It contains an endorsement dated *Samvat* 1343 – *A. D. 1297* in which it is stated that one खेतसिंह resident of चित्रकूट purchased it. The *Patan MSS Catalogue* Vol. I (Baroda, 1937) contains the following references to Chitor: – Page 34 MS dated *Samvat* 1185 = *A D. 1129* mentions हरिभद्रसूरि as resident of " चित्रकूटाचल " (कृतिः . ...चित्रकूटाचलनिवासिनः श्रीहरिभद्रसूरेः)—P. 66 ' चित्रकूटमहादुर्ग " mentioned in a MS dated *Samvat* 1314 – *A. D.* 1258,—P 156 (चित्तउड=चित्रकूट).

namesakes[1] of Dhaneśvara in dated sources, who flourished before A. D. 1276 the date of composition of Kṣemakīrti's commentary on the *Bṛhatkalpasūtra.*

The *Jesalmere Inscriptions* edited by P. C Nahar contain the following references to the *Caitra Gaccha.*

Inscription Number.	Saṁvat year.	A. D.	Sūris mentioned in the Inscription.
2229	1327	1271	Kanakaprabhasūri (in the line of Ajitasiṁha Sūri "श्री चैत्र गच्छे"
2416	1339	1283	Dharmadeva Sūri "श्री चैत्रगच्छीय"
2249	1381	1325	Dharmadeva Sūri "श्री चैत्रगच्छे"
2255	1388	1332	Āmadeva Sūri "चैत्रगच्छे'
2320	1503	1447	Malacandra Sūri "चित्रावलगच्छे" [2]

1. A. MS of *yogaśāstravṛtti* was copied for Dhaneśvara Sūri at Sri Pattana in *Samvat* 1255 (= A. D. 1199) *Vide Praśasti Saṃgraha* Part I. p. 82 (Pr 130) संवत् १२५५ वर्षे मार्ग शुदि १ रवौ ॥ अद्येह श्री पत्तन श्रीदेवाचार्यवसत्यां श्रीधनेश्वर-सूरीणां हेतोर्द्वादशसहस्रयोगशास्त्रवृत्तिं परमश्रावकठक्कुरवर्धमानेन सुदर्शनग्रामवास्तव्य पारि० वीशलपार्श्वात् लिखापिता etc, *Part II*, p 93 In a MS dated *Samvat* 1592 (= A. D. 1536) the *Sūris* of the नाणावाल गच्छ *viz.*, शांतिसूरि, सिद्धसेनसूरि, धनेसरसूरि etc., are mentioned This Dhaneśvara sūri has no connection with our Dhaneśvara on account of the difference of chronology and the difference of the Gacchas

One Dhaneśvarasūri of the नाणकीय गच्छ is mentioned in the Jesalmere inscription No. 2230 dated *Samvat* 1329 (= A. D 1273) but he is obviously a different person as he does not belong to the *Caitra Gaccha* (*Vide* p 61 of *Jesalmere Inscriptions.* III by P. C. Nahar, Calcutta, 1929). Two more namesakes of this Sūri are found in the same Gaccha in inscriptions dated Saṁvat 1476 (= A. D. 1420) and Saṁvat 1527 (= A. D. 1471) *vide* Inscription Nos. 2291 and 2348 in the above volume of *Jesalmere Inscriptions.* It would appear that Dhaneśvarasūri of the *Nāṇakīya Gaccha* living in A. D. 1273 was a contemporary of Kṣema-Kīrti who composed his commentary on the *Bṛhat Kalpasūtra* in A D. 1276 *i.e.*, three years after the Jesalmere inscription of A D. 1273.

While dealing with 'Jain influence under the Paramāra Kings Dr. D. C., Gongoly (*Paramāra Dynasty* 1933, p. 250) states that "Dhaneśvara lived in Malwa during the reign of Muñja." This Dhaneśvara belonged to *Rāja Gaccha* (*Vide* p iii of *Peterson's Fourth Report*). The last known date of Muñja or Vākpati II is A. D. 993-4 (*Vide* p. 80 of Parm. Dynasty.)

2 Mr. P. C. Nahar in his Index to *Jesalmere Inscriptions,* III, p. 218 identifies चैत्रगच्छ with चित्रावलगच्छ as he makes the following entry :—"चैत्र [चित्रावल] गच्छ,"

The Jesalmere inscriptions noted in the above statement bear further testimony to the continuity of the *Caitra Gaccha* between A. D. 1271 and A. D. 1447. We have already quoted the colophon of a *Meghadūta* MS of A.D. 1547 which carries further this continuity exactly by 100 years. With a view to have a thorough knowledge of the several sūris belonging to the *Caitra Gaccha* and their contribution to Jain and non-Jain literature and philosophy it is necessary to record the names of these sūris as found in references to them in the entire Jain literature published and unpublished but this is a task which must be left to scholars who have specialized in the history of Jain religion and philosophy. I have, therefore, great pleasure in recording below the information about the *Caitra Gaccha* kindly sent to me by my friend Prof A. N. Upadhye of Kolhapur :—

The *Caitra Gaccha* is also called *Citra* or *Citravāla Gaccha*. It is not so popular as *Kharatara* or *Tapa Gaccha*. From a book called "*Jaina Dhātu-pratimā Lekha Saṁgraha*" by Buddhisāgara (Bombay, Saṁvat 1973) the following facts may be noted :—

Saṁvat year.	A. D.	Reference to Caitra Gaccha (= C. G.)
1333	1277	Devānanda Sūri of C. G. installed an image of Śāntinātha.
1339	1283	Vardhamāna Sūri of C. G. installed an image found at Chaveli.
1388	1332	Hari Candra Sūri of C. G. installed an image of Śāntinātha, now at Kolwad.
1396	1340	Mānadeva Sūri of C. G. installed an image of Pārśvanātha now at Ahmedabad.
1400	1344	Rājdeva Sūri of C. G. installed an image now at Ahmedabad.

Saṁvat year.	A. D.	Reference to Caitra Gaccha (= C. G.)
1405	1349	Dharmadeva Sūri of C. G. installed an image of Ādinātha
1417	1361	Mānadeva Sūri of C. G. installed an image of Ādinātha.
1474	1418	Malaya Candra Sūri, the disciple of Pārśvacandra of the C. G. installed an image of Ādinātha. now at Ahmedabad.
1451	1395	Pāsadeva Sūri of C. G. installed an image now at Uñjhā.
1457	1401	Pāsadeva Sūri of C. G. installed an image now at Ahmedabad.
1484	1428	Jinadatta Sūri of C. G. installed a plate of 24 Jinas, now at Visanagar.
1507	1451	Munitilaka Sūri of C. G. installed an image of Śantinātha.
1507	1451	Lakṣmideva of C. G installed an image of Vimala, now at Ahmedabad.
1512	1456	Munitilaka of C. G. installed an image of Śitalanātha, now at Ahmedabad.
1512	1456	Ratnadeva Sūri, the disciple of Jinadeva Sūri, belonging to the line of Guṇadeva of C. G. installed an image of Vimlanātha, now at Visanagara
1519	1463	Śri Sūri of C. G. installed an image of Sambhavanātha, now at Ahmedabad.

Saṁvat year.	A. D.	Reference to Caitra Gaccha (= C. G.)
1520	1464	Lakṣmisāgara, the pupil of Malayacandra of C. G. installed an image of Śantināthа now at Koṣa.
1521	1465	Lakṣmisāgara of C. G. installed an image of Pārśvanātha.
1522	1466	Lakṣmisāgara Sūri, the pupil of Malaya Candra of C. G. installed an image of Vāsūpūjya which is found at Dabhoi.
1527	1471	Jnānadeva Sūri of C G. installed an image of Nemināthа at Dholera
1537	1481	Cārucandra Sūri, the pupil of Somakirti of C. G. installed an image of Dharmanātha
1547	1491	Lakṣmisāgara Sūri of C. G. installed an image of Śryāṁsa, now at Ahmedabad.
1554	1498	Somadeva Sūri of C. G. installed an image of Nemināthā.
1559	1503	Ratnadeva Sūri, of the line of Guṇadeva Sūri of C. G. installed an image now at Uñjhā.
1579	1523	Pāsadeva Sūri, a pupil of Viradeva Sūri of C. G. installed an image of Sambhavanātha.

If we now sum up the data recorded above on the antiquity of the

Caitra Gaccha it provides us the following chronological conspectus based on epigraphic and literary sources :—

Chronology.	Source.
A. D. 1271—1447	*Jesalmere Inscriptions.*
,, 1277—1523	Jaina *Dhātu Pratimā Lekhasamgraha.*
,, 1276	Kṣemakirti's Commentary on *Bṛhatkalpasūtra*
,, 1547	Pātaṇ MS of *Meghadūta*

The dates recorded in the above conspectus show an unbroken continuity of the *Caitra Gaccha* for about 276 years between the years *A. D. 1271 and 1547* We have also seen that various Jainācāryas were associated with the *Caitra Gaccha* during this period and it should be a matter for investigation how and to what extent they advanced the cause of Jain religion, literature and philosophy.

The text of the earliest inscription[1] of A. D. 1271 containing the reference to the *Caitra Gaccha* reads as follows :—

"मंत्रन १३२७ वर्षे फागुण सुदि १२ हरिचंद्रपुत्र जठासीह भगिणि मोहिणि आत्म-श्रेयोर्थं चित्रंकारितं ॥ प्रतिष्ठितं श्री चैत्रगच्छे श्री अजितसिहसूरिसंताने श्रीकनकप्रभसूरिभि:"

This text shows that *Kanakaprabhasūri* of the *Caitra Gaccha*, in the line of *Ajitasimhasūri* was living in A.D. 1271.

It is now necessary for us to take the history of the *Caitra Gaccha* backward from A. D. 1271 and for this purpose the Chirava Inscription[2] of the time of Samarasiṁha of Mewar of *Vikrama*

1. P. C. Nahar : *Jesalmere Inscriptions*, p. 60, Inscrip. No. 2229.

2. Edited by R. R. Haldar in *Epi Indica, XXII* October 1934) published in 1938 page 285 ff This inscription was first edited in *Vienna Oriental Journal, XXI*., pp. 155ff but it is re-edited historically by Mr. Haldar. Exact date of the inscription is Friday, 13th October 1273.

Saṁvat 1330 (=A.D. 1273) is very much useful as it refers to the Jainācāryas of the *Caitra Gaccha* in the following verses :—[1]

"श्री चैत्रगच्छगगने तारकबुधकविकलावतां निलये ।
श्रीभद्रेश्वरसूरिर्गुरुरुदगान्निष्कवर्णांगः ॥४५॥
श्री देवभद्रसूरिस्तदनु श्रीसिद्धसेनसूरिरथ ।
अजनि जिनेश्वरसूरिस्तच्छिष्यो विजयसिंहसूरिश्च ॥४६॥
श्री भुवनचंद्रसूरिस्तत्पट्टे भूरभूतदंभमलः ।
श्री रत्नप्रभसूरिस्तस्य विनेयोस्ति मुनिरत्नं ॥४७॥
श्रीमद्विश्वलदेव श्रीतेजःसिंहराजकृतपूजः ।
स इमां प्रशस्तिमकरोदिह रुचिरां चित्रकूटस्थः ॥४८॥
शिष्योमुष्यालिखत्(न्म; रुच्यो वैदुष्येण विभूषितः ।
पार्श्वचन्द्र इमां विद्वद्गणार्णवगणालिशालिनीं ॥४९॥
पद्मसिंहसुतः केलिसिंहो मुमुत्कार च ।
स्थानेत्र देल्हणः शिल्पी कर्मांत [रम] कारयत ॥५०॥
यावद्विश्वसरस्यस्मिन्नस्ति रामश्रि पुष्करं ।
राजहंसयुतं तावत प्रशस्तिर्नंदतादियं ॥५१॥
संवत १३३० वर्षे कार्त्तिकशुदि प्रतिपदि शु । क्रे] [॥]"

1 Mr. Haldar gives us the following English summary of these verses :— Page 286 "Then follows the description of the Jain *Achāryas*, who flourished at that place (Chitor). Verse 44 says that there was at the head of the Pāśupata Sect Śivarāśi who possessed many good qualities and worshipped the God Ekaliṅga. After him *Bhadreśvarasūri* of the *Caitra Gaccha, Devabhadra sūri, Siddhasenasūri, Jineśvarasūri*, his pupil *Vijayasiṁhasūri, Bhuvanacandrasūri*, his pupil *Ratnaprabhasūri*, then living, followed in succession (Vv 45—47). The last named was highly honoured by *Viśvaladeva* and *Tejahsimha* and composed this *praśasti* at Chitor (V. 48). The name of the writer of this record is given as *Pārśvacandra*, who was the pupil of *Ratnaprabhasūri*, while that of the engraver *Kelisimha* son of *Padmasiṁha Delhaṇa* was the artisan who did other things connected with it. (Vv. 49–50)."

The line of ācāryas as we find recorded in A.D. 1273 in the above *praśasti* composed by *Ratnaprabhasūri* and recorded by his pupil *Pārśva Candra* is as follows :—

This line of *Bhadreśvarasūri* in the *Caitra Gaccha* existing in A.D. 1273 and represented by *Ratnaprabha* and his pupil *Pārśvacandra* appears to be different from the line of *Ajitasiṁha* of the same *Gaccha* mentioned in the inscription of A. D. 1271 and represented by *Kanakaprabhasūri*, then living. Evidently *Ratnaprabha* and *Kanakaprabha* were contemporary ācāryas of the same *Caitra Gaccha*.

The line of *Bhadreśvarasūri* of the *Caitra Gaccha* mentioned by *Ratnaprabha* in A. D. 1273 as having 6 ācāryas preceding him enables us to take the antiquity of the *Caitra Gaccha* to about 1100 A.D. if not a little earlier, presuming that a generation of the teacher and his pupil represents about 25 years and presuming also that *Ratnaprabha's* list of his predecessors is accurately recorded. We must, however, search for definite historic evidence for studying the details of the lives of the 6 predecessors of *Ratnaprabha* (living in 1273 A.D.)

Ratnaprabha states that the Kings *Viśvaladeva* and *Tejaḥsiṁha* honoured him (v. 48 of the *praśasti*) Tejasiṁha belonged to the ruling line of the *Guhilaputras* of Medapāṭa or Mewar, a genealogical

table of which has been recorded by Dr. H. C. Ray[1]. As Tejasiṁha's dates are c. 1260—1267 A. D and as he honoured Ratnaprabhasūri of the *Caitra Gaccha* we can presume that Ratnaprabha's influence at the Mewar Court was sustained say between A. D. 1260 and 1273. This conclusion is supported by a further inscription[2] found near Chitor which is dated *Saṁvat* 1322 *i.e.*, A. D. 1265 and its *praśasti* was composed by Ratnaprabha Sūri of the *Caitra Gaccha*. Another inscription[3] mentioning Hemacandra Sūri and others of the *Caitra Gaccha* is the *Chitor Stone inscription* dated Saṁvat 1324 *i.e. A D 1267*. It is incised on a stone fixed on an arch of the bridge on the Gambhiri river near Chitor. This stone is said to have originally belonged to the temple of Mahāvira at Talahati at the foot of the Chitrakūṭa hill

Though the evidence of literature and inscriptions recorded in this short inquiry about the antiquity of the *Caitragaccha* takes us safely to about A D. 1100, the Jain tradition[4] as based on the Paṭṭāvalis claims the existence of a Śākhā of Mūla Sangha (Digambar School) at Chitor right from 515 B C. upto A. D. 1881 The Paṭṭāvalis no doubt provide good data for historical verification but they need to be linked up with epigraphic and other objective evidence for a reliable reconstruction of Jain chronology and history.

1. *Dynastic History*, II, pp. 1206 08 I quote below the dates given by Dr Ray for the last four rulers of the Medapāṭa line of the Guhila-putras :--

Jaitrasimha (c 1213 - 1256 A. D.)
|
Tejasimha (c. 1260 1267 A. D.)
|
Samarasimha (c 1273—1301 A D.)
|
Ratnasimha (c 1301 . 1303 A. D)

2. *Ibid p. 1191.* - This epigraph is now in the Victoria Hall Udaipur. It was noticed in *Rajputana Museum Report*, 1927, p. 3. It was found in the village of Ghagsa near Chitor It describes the family who built the well where the inscription was originally found.

3. *Ibid*, *Vide Epi. Ind. XX* Appendix p. 81, No 570.

4. Vide Appendix E. (chronological List of the Gaccha-heads) to the *Epitome of Jainism* by Puran Chand Nahar, Calcutta, 1917, p lxxix--Mr. Nahar states that the *Nandi Sangha* (Chitor Sākhā) was founded by Meghanandin, a disciple of Guptigupta or Arhadbali and is also known as *Sarasvati Gaccha*, and Balātkāra Gaṇa. The list of Gaccha heads recorded by Mr. Nahar is based upon the Paṭṭāvali as published in the *Jain Sidhanta Bhāshkara* and by Dr. Hoernle in the *Indian Antiquary* (Vol. XX, pp. 341—361 and Vol. XXI pp. 57 84). The pointiffs of this Gaccha, adds Mr. Nahar, generally use the four Surnames viz., *Nandin Candra, Kīrti*, and *Bhūṣaṇa* The table begins with Gautama the first Gaṇadhara or disciple of Mahāvira, who is known as the founder of the Mūlasangha by the Digambaris

JAINA TRADITIONS IN RAJAVAḶĪ KATHA

By S. Srikaṇṭha Śāstri, M.A.

Continued from Vol. VII No. 1, Page 47.

In the days of the Ballālas from S 1112 to 1220, several Daṇāyakas ruled as governors. Kēśava was the mahā pradhāna of Ballāḷa; In Nīlagiri, Mādhava and his descendents at Beṭṭada Kōṭe ruled. Mādhava, Bhīma, Mādhava and others built the Vāsudēva temple. Chandaṇṇa ruled in Heḍatale. Gōvinda, Śrīpati, Dēvaṇṇa and Venkaṭapati ruled in the north. Beṭṭada Kōṭe Govind (Manchaṇṇa) was attacked by Nīlagiri Sōma and committed suicide by leaping over a precipice. Kūchi Rāja of Hire Bēgūr became a Vaishṇava. These Daṇāyakas ruled up to 1250. Meanwhile Lakshmaṇa Dēva Rāya was ruling. 257].

In Vidyānagari, Kṛshṇa Rāya ruled. Among the Kirātas were Pratāpa Rāya, Hamsa, Pratāpa Rudra, Immaḍi Jagadēva, Rāmadēva, Kampa, Sāḷuva Kampila Rāya, and Rāmachandra ruled for 200 years

Meanwhile Bhartṛhari a Mīmāmsaka was ruling and the ryots refused to pay more than 1/6th of the produce as tax. Therefore he became detached from the world and composed Bhartṛhari Śataka. In his family was born Rājēndra whose son was Sārangadhara [260].

In Kummata, the chief of Bēḍas Kampila had a son Rāma. Rāma's step-mother Ratnāji fell in love with him and tried to kill him; but he escaped [261]

Members of the Ballāla family went to the north and stayed at Vijayanagara. Some became the chiefs of Karugahaḷḷi, Arikuthāra, Talakād and Mūgur. Chandra Vamśa rulers stopped at Kaluḷe and Hullinahaḷḷi.

Vira Sūra of Kārugahali renamed Vāṣantikadēvi as Chāmuṇḍi built the city Mahishāpura. He was succeeded by his son in-law. They are Toreyas. They claim that their ancestor, when there was a deluge saved himself by holding on to a gourd and he was called Mṛtyunjaya. To him and his wife Śakti were born all the gods etc His descendants came to the south to Nidugana Koṭe, Singapaṭṭana and Jānana Kōṭe. They worshipped Māramma.

After the death of Vira Ballāḷa, the Delhi Paduśāh destroyed many Jaina Basadis and built mosques In Chandra drōṇa Parvata, Chaityas were destroyed, the Fakirs were placed, and two maṭhas Nirvāṇa matha and Phalanāramaṭha were made for Hindus, and in Ś. 1305 Jaya grants of taxes and land were given The Delhi Pāduśāh and his wife maintained themselves by sewing, and having taught his Fakirs the mantras of Atharva Veda called them Khādir lingas. They wore the linga, vibhūti etc on one leg and nāma, etc. on the other [272.

Harihara Rāya tried to reconcile Śaivas and Vaishṇavas. In the time of Vira Bukka Rāya Vedāntāchārya and Appayya Dikshita had disputes. 273 - 274].

Vira Bukka made. Tirumala Tatayya and other Śri Vaishnavas to agree to a compact with the Jainas. In *Ś.* 1290 Kilaka Bhadrapada *Śu.* 10. Thursday, when there was a dispute between Jainas and Vaishṇavas, the Bhavyas of Ānegendi, Penugoṇḍa, Kalleda Paṭṭaṇa etc., complained to Bukka about the Bhaktas and Bukka ordered that there is no difference between the two Darśanas in Kovil Tirumalai, Perumāl Kōvil, Tirunārāyaṇapuram and other places. [277].

Kṛshnadēva Rāya the son of Vijayanagra Sōmaśēkhara Rāya and a Kuruba girl Dipada Malli, was ruling a great kingdom. Among his 8 sāmantas were Kumāra Harihara, son of Dēva Rāya ; Dēvaṇṇa Rāya, Bhujanga Rāya, who are sent to govern the south. They came to Terakaṇāmbi

In Saka 600, Kudaganūr was named Terakaṇambi by a Kshatriya Lambakarṇa who ruled for 50 years. Then Goṇḍe Chōla for 20

years, Pārthiva Rāya for 40 years his son Narasinga, his son Ahōbala, Achyuta, his adopted son Pārthiva Rāya, Pratāpa Rūdra, Chāma Deva Rāya, Bukka, Māḷava Rāya, Prabhu Dēva, Tamma, Nārasaṇṇa, Vīra Narasimha ruled Then Chikka Rāya, Mādhava, Rāya of Śivana Samudra, Venkaṭapati, Chandra giri Rāya, Govinda Rāya etc , rued for 620 yēars upto Ś 1310.

Triyambaka Rāya established the God Triyambaka and built Triyambaka Pura. After him, among the three who came from Ānegondi, Devaṇṇa Rāya settled at Ummattur. His grandson was Bhujanga Rāya. Harihara Rāya was at Terakaṇāmbi in Kuḍuga Nāḍu His son Vīra Rāya became the ruler Tagaḍur in Hiriya Nāḍu. He gave Maleyur to Vijaya of Kanakagiri. [280].

There was a famine in Vijayanagara and two princes came to the south and obtained from the ruler of Terakaṇāmbi a stone oil-mill and some land. Near the temple of Para Vāsudēva Rāma rāya built a fort. Ummattur Dēvaṇṇa Rāya, Tagaḍūr Prabhu Rāya, Somaśēkhara of Soma Samudra, Paṭṭa Rāya of Beṭṭaḍa Pura, Nanja Rāya of Periyapaṭṭaṇa, Chengaḷva Rāya of Kallahaḷḷi Rāghava, Mādhava etc., were ruling when the Kārugahaḷḷi chiefs were governing Mysore and 30 villages. Then Krishna Rāya who came from Vijayanagara married a potter woman of Mysore and ruled five villages His daughter was a servant in the palace of the Toreyas, and she was about to be forcibly married to the Toreya. Two princes of Yādava Ballaḷa family of Vijayanagara came and having killed all the enemies, Rāja Wodeyar married her. But the Nāyaka killed Rāja Wodeyar whose wife being pregnant escāped. Abhichandra of Sōmavamśa was ruling Hadināḍu and six other districts. His guru was Bhānu kīrti. In Kuntūr maṭha there was one Nanjayya who with the help of his servant killed Abhichandra and Bhanuchandra and ruled as Nanjarāja wodeya. After him his servant Mādarasa ruled and was killed by demons. He became an evil spirit and his worshippers the Uppaligas of Saragūr built Mādēśvara temple. In Mūgur Anantanātha Jinālaya was destroyed and Dēśi linga established. The yakshi image was thrown into a dust heap and was named Tippū Dēvi.

Among the Tuluva kings Narasinga, Tamma, Narasanna, Vira Narasimha, Kṛshṇa and Achyuta were ruling. Then Tirumala, 'Sadāśiva and Rāma Rājayya ruled and Rāma Rāja died on in Ś 1485, Raktākshi, Māgha Śu 1. After him Tirumala ruled from Māgha Śu 5, for 7 years 5 months and 12 days there from Āngirasa Ashāḍha Ba. 12 Śrī Ranga ruled and built Śrīranga Paṭṭṇa. [285].

Vīranagere Māra Nāyaka was killing many. His minister Śantayya took the pregnant queen who belonged to the Beṭṭadapura family and protected her at Mallahaḷḷi. Her son was Rāja Woḍeyar who got the title because of the protection of a Jangama priest. Rāja Wodeyar killed the followers of Māra Nāyaka with the assistance of Haḷe-Paikers and became the ruler. His minister was Dodda Santayya. [286].

In the south Rāghava Rāya, Tamma, Ahōbala, Vira, Prabhu, Jagadēka, Vijaya, Bhujanga and Gōpāla ruled as Pāḷeyagārs. [288].

Śrīranga Rāya from Āngirasa remained at Śrīranga Paṭṭaṇa. Venkaṭapati Rāya and Chikka Rāya ruled for 30 years. Srī Ramedēva Rāya was ruling at Ānegondi from Ānanda Aśvīja Ba. 3. Śrī Ranga Rāya sent for the Mysore Rāja Gouḍa, (Rāja Woḍeyar) who refused to face him. His minister Śāntayya obtained a loan from Srī Rangarāya and was rewarded with the grant of some villages. Sāntayya was well versed in *Khagendramaṇi darpaṇa.*

Chaturmukha Śānti converted Nambīra Nanjappa, who composed Ādīśvara Stotra as pancha ratnas. [370].

Rāja Nṛpa saized Śrī Rangapattaṇa and the princes of that place were placed in Mysore and given 23 villages. [371].

In Mūḍu Bidire Bhāirasa Woḍeya was ruling. Ratnākarāchārya for a time became a Lingāyat and wrote Basava Purāṇa and other Vīra Śaiva works [374]. In Kallahaḷḷi Vijaya Bhūpāla's minister had two sons Nanjuṇḍarasa and Mangarasa. Nanjuṇḍa after hearing the legend of Kummaṭa Rāma Nātha, became a Vīra śaiva and wrote Kumāra Rāma Sāngatya. [375-6].

Brahma Sūri was the managing agent for Ummattūr chiefs; Viśālāksha Paṇḍita of the village Hangaḷa became the minister of Chikkadēva Rāya. Chikkadēva Rāya built the temple of Para Vāsudēva near Gunḍlu Pēt over the *Nisidige* of his father. He held an enquiry into the claims of the various sects. In 1684 Raktākshi, the Jangamas rose in rebellion and were suppressed by Chikkadēva. The Vīra Śaivas murdered Viśālāksha Paṇḍita. Tirumalayyangār became the minister. Rājanṛpa was the disciple of Alagiya Singarāchārya. Shaḍakshari wrote Rājaśēkhara Kāvya and became famous. Tirumalayyangar began to convert many to Śrī Vaishṇavism.

Some of the Jaina Panditas like Chikkayya and Bomarasa became *namadharis*. Jaina grants to Kanakagiri and Maleyūr were confiscated When Chikka dēva went on northern conquest, he appointed Doḍḍa Devayya to govern the city. He destroyed 1700 basadis but the king stopped the persecution and imprisoned him. Chikkadēva died in Tāraṇa.

Doḍḍa Kṛshṇa Rāja's queen was seized by an evil spirit. When he went to Śravaṇa Belagola the spirit left her and therefore he gave grants to Gomatēśvara [396].

Kūna Pāṇḍya of Mathura was married to Padmāvati, a chōḷa princess and they became Vīra Śaivas. Abhi Rāma of Mathura was also a Vīra Śaiva [400-1].

Kaḷale Nanja Rāja son of Vīra Rāja, built the outer portions of Nanjangud temple and wrote many Vīraśaiva Purāṇas.

Chikka Dēva Rāya held an enquiry into the claims of superiority of each caste—Pānchala, Kumbhakāra, Vyādha, Kuruba, Dēvānga, Okkaliga, Oilman, Golla, Uppariga, Kelasi, Washerman, Oḍḍa, Ḍomba, Holeya, Mādiga [413-20].

Stories about Nāzar Jung of Golkonḍa, Fatah Khan of Kolār, Daḷavōy Katti Gopāla of Tiruchināpalli, Rāja of Coorg, Kanakagiri and Pūjyapada, etc., 425-435].

History of Mysore. Yadu Vamśa a branch of Harivamśa. From Vijayanagara three princes came Vijaya Rāja married a potter woman in *Mysore*. Timma Rāja stopped in a village and the rest in Gobbalikere. Deva Rāja married the daughter of the chief of Hullahaḷḷi, Kṛshṇājammaṇṇi. Padmāvati on the hill who was the family deity of the Ballāḷas was named Chāmuṇḍēśvari. The Mahābaleśvara temple on the hill was established by the Kārugahaḷḷi chiefs [444—448]. Six-fingered Chāmarāja married Padmamaṇi daughter of Dēva Rāja of Bilikere. His son Chāma Rāja married Aḷakājamma, the daughter of Kōṭe Chief. Their sons were Timma, Kṛshṇa and Bōḷa Chema. Kṛshna ruled at Kembal; Timma protected the chief of Sindhuvaḷḷa and at Nanjangūḍ obtained the title *Birudantembara gaṇḍa* He defeated Ummattur chiefs.

Rāja Nṛpa and Beṭṭada Rāja, sons of Chāmarasa. Rāja Nṛpa ruled over 23 villages and married eight princesses of Beṭṭadapura, Nullahaḷḷi, Kaḷale, Mūgūr, Belugali etc., Chāma Rāja took Chenna-paṭṭaṇa, Maddur, Nāgamangala from Jagadēva Rayā. Kanṭhīrava Narasa [472]. Yalendūr Vanne Rāja who was at first a Jaina became a Vīraśaiva and married Amṛtammaṇṇi the daughter of an Ārādhya. Their son was Chikka Dēva Rāja whose classmates were Tirumalārya son of Singarārya, Shaḍakshari, and Viśālāksha Paṇḍita son of Bommarasa. Chikka Dēva became Kōvida Śikhāmaṇi, Tirumalācharya—Vidyā Viśārada, Viśālāksha Paṇḍita - Sāhitya Bhārati, and Shaḍakshari—Kavi Śēkhara [475].

History of Chikka Dēva Raya and in Ś 1630 Bahudhanya, 1700 Basadis were destroyed by Vīra Śaivas. Praise of Mummuḍi Krshṇa [504—510].

History of Jainism. Choḷa, Ballaḷa, Daṇāyaka, Sāḷa, Kenga, Prabala, Jala Sāvanta etc, remained as Jainas. Some of the Jaina Brāhmins divided themselves as Upādhyāya Paṇḍita, Archaka, Indra, Sthānika. Some Jaina Kshatriyas became known as Chaturthas and Panchamas. Bhōgaras, Savuḍas, Pāḍiya, etc., became gurus (?) of Panchamas. Jaina bhaṇṭas below the Ghaṭs. In northern India Prajñas, Śravakas, Jinabhaktas. [518]. Principles of Jainism [527].

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, M R. A. S.

(*Continued from Vol. V No. I, page 64.*)

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No.	Period & Date.	Events.
37	Pārśva Tîrtha.	Nila and Mahānila, Vidyādhara kings of Vetāḍya hilly tracts came and settled in South India. They visited the Terapura Jain Shrines and consecrated the images of Jinas and cave temples at Dhārāśiva caves in Osmānābad district of the Nizam territory. The buildings and monuments available at Dhārāśiva cave temples bear hoary antiquity and go to support the Jain tradition. The Śilāhāra kings of Deccan were descendants of the Vidyādhara kings of Tagarpura, which is the Terapura of the Jain tradition. [Refs Karakanḍu-cariya, (Karanja Series), Introduction].
38	Ditto.	Makkhali Gośāla and Purana Kaśyapa flourished. They were Śramaṇas belonging to the order of Pārśvanātha. The former learned some Pûrvas and Aṃgas and dissenting from the Jaina fold founded his new sect, known as the "Ajîvikas" The main tenets of the Ajivikas were taken

No.	Period & Date	Events.
		from the Jain Pûrvas The Ajivaka Sramanas observed the vow of nakedness like the Jaina Śramṇas of the order of the Tirthankara Pārśvanātha [Refs. *Barma*, The Ajivikas; *K. P. Jain*, Mahāvîra and some other Teachers of His Time; and Saṃkṣipta Jain Itihāsa, Vol. II, Pt. I pp. 52—73].
39	Ditto.	Muni Pihitāśrva flourished. Buddhakirti was his prominent disciple, who became a dissentor and the founder of the Buddhistic faith. [Refs. Darśana-sāra; *Law*, Buddhistic Studies Ch. V.]
40	Ditto.	Sanjaya and Maudgalayana were also asectic members of the Pārśva Tîrtha. The latter joined the Buddhist order. [Ref. *K. P. Jain*, Bhagwāna Pārśvanātha].
41	Ditto.	Karakaṇḍu son of Dadhivāhana, king of Champa flourished. He repaired and consecrated a certain Jina image and cave temples at Dhārāsiva (Osmanabad). [Ref Karakandu-Cariya (Karanja Series) Intro.]

No.	Period & Date.	Events.
42	Ditto.	Muni Vidyuccara attained *Nirvāṇa* from the western quarter of Tāmraliptanagar in Bengal. [Ref. *Br. Sitalaprasad*, Bengal, Bihar and Orissa Jain Smārk p 121].
43	Ditto.	Raja Vasupāla flourished at Ahichhatra (Bareilly district) and caused to be built a temple and an image of Tīrthankara Pārśvanātha at Ahichhatra. [Ref. Arādhanā Kathākośa.]
44	B C. 642	King Sisunāga became a famous ruler of Magadha, after whom the line of the 'Śaisunāga' princes came into existence. [Ref. Hindi Jain Encyclopaedea, Vol. I. P. 167].
45	B. C. 640	Mauryaputra of Kāśyapagotra, who became seventh ganadhara of Mahāvīra afterwards, born in Mauryākhyadeśa. His father was Mauryaka. [Hindi Jain Encyclopadea, p. 7.]
46	B. C. 635	Vyakta alias Suchidatta of the Bhāradvaja gotra, afterwards the fourth *gaṇadhara* (apostle) of Mahāvīra, son of the Brāhmaṇa Dhanamitra and Brahmaṇī Vāhaṇī, born at Kollaga, near Vaiśāli. [Ref. Hindi Jain Encyclopadea Vol. I, p. 7].

No.	Period & Date.	Events.
47	B. C. 625 607 or 570	Indrabhûti Gautama of the Gautama gotra, son of the Brāhmaṇa Vasubhûti and his wife Prathvi born at Goravaragrāma in Magadha. [Ref *Ibid.*]
48	B. C. 624	Sudharman, who after Indrabhûti Gautama succeeded Mahāvira as the head of the Samgha (Order), son of Dhamilla and Bhadrillā of the Agnivaiśyāyana-gotra born at Kollāgagrāma. He is mentioned by the Buddhists by his Gotra name Agnivaiśyāyana. [Ref. *Ibid* and S J. I., 1, 2, 129—7.]
49	Ditto	Maṇḍikaputra of the Vaśiṣta gotrā, afterwards sixth gaṇadhara of Mahāvira, son of Dharmadeva and Vijayā born in the Mauryākhya-deśa. [Ref *Ibid*].
50	B. C. 623	Akampana of the Gautama gotra afterwards the eighth Gaṇadhara of Mahāvira, born in the house of Brāhmaṇa Vipradeva and Brāhamani Jayanti at Mithilapuri. [Ref. *Ibid.*]
51	B. C. 617, 599 or 562	Vardhamāna Mahāvira, the last Tirthankara, of the clan of Ikṣuvāku Kṣatriyas, known as Gñātrikas and the Kāśyapa-gotra, son of Raja Siddhārtha and his queen Triśalā born at Kuṇḍagrāma on Chaitra Sukla Tryodaśi. [Ref. Saṃksiptā Jain Itihāsa Vol. I, pp. 50—52.]

No	Period & Date.	Events.
52	Ditto.	Chāraṇa munis by name Sanjaya and Vijaya visited Kuṇḍagrāma and wiped away their dirt of mind having the sight of the new-born Tirthankara prince Vardhamāna. [*Ibid*].
53	Ditto.	Gaṇadhara Achalabhrata alias Dhavala of the Haritāpana-gotra, son of Brahmaṇa Vasu and his wife Nanda, born at Kauśala-puri. [Ref. Hindi Jain Encyclopaedea — I, 7].
54	B. C. 605	Maitreya, who afterwards became the tenth ganadhara of Mahāvira belonging to Kaundinya gotra born to Brāhmaṇa Datta and Brāhmaṇi Karunā at Tungikāvya-grāma in the country Vatsas. [Ref. *Ibid.*]
55	B. C. 598	Agnibhuti of the Gautamagotra and brother of Indrabhuti Gautama born. He also became an apostle of Mahāvira. Ref. SJI, Vol. II, pt. I, p. 124.]
56	B. C. 595	Vāyubhuti of the Gautamagotra and an step-brother of Indrabhuti Gautama afterwards one of the apostles of Mahāvira, son of Brāhmana Vasubhuta and his second wife Keśari, born at Goravaragrāma, known also Gautamapuri. [Ref. *Ibid* 125 & H. J. E. I—7].

No.	Period & Date.	Events.
57	B. C. 587	Mahâvîra leaves home and becomes a naked ascetic at the age of 30. (Margaśirṣa śukla Dasami). He having taken *Dikṣā* in the Vanakhaṇḍa-udyāna takes a vow of 52 hours and remain absorbed in meditation. At the end of his vow he leaves the place and reaches Kollaga-grāma, where he is duly entertained by a Kula nrapa. Thence he again retires to calm and lonely places to perform asceticism and meditation. Ref. SJI. Vol. II pt. I pp 56—61.]
58	B. C. 585	Prabhāsa, who afterwards was the last Gaṇadhara of Mahāvîra and was the real brother of Gaṇadhara Maitreya, born at Tungikāvyagrāma. [Ref. *Ibid*
59	B. C. 585 – 590	Śreṇika Bimbisāra, the fifth king of the Saiśunāga line of kings of Magadha born at Rājagraha. [Ref. Saṃkśipta Jain Itihas I, 18.]
60	B. C. 582	Śrenika Bimbisāra ascended to the throne of Magadha. He is the first Indian monarch about whom anything substantial is known. He built the new town of Rājagraha, the lower town at the base of the hill crowned by the ancient fort; and annexed Anga in his kingdom. The annexion of Anga (Bhagalpur district) was the first step towards the greatness and supermacy which Magdhan Kingdom attained in the following

No.	Period & Date.	Events.
		centuries. Hence Bimbisāra is rightly regarded as the real founder of the Maga dhan imperial power. It was during his reign that the Alchaemonid power on the N. W. Frontier of India came to an end; which Darious Hystaspas had subdued ere this. Śrenika further strengthened his position by matrimonial alliances with the more powerful kings of the neighbouring states taking one consort, from the influential Lichchhavi clan at Vaiśali. This lady was the sister of the mother of Mahāvîra and she gave birth to Kunika Ajātaśatru who succeeded Śrenika Of the other consorts of Śrenika one belonged to the royal house of Kośala and an other was the Brāhmaṇa lady Nandaśri of Kānchi In his early life, Śrenika was abolished form Magadha by his father and while on exile in South India, he married the above lady, who afterwards became the mother of Abhayarajkumāra. In his absence Chilātikumāra ruled, but he was dethroned by the ministers and Śrenika succeeded him. His reign lasted for 28 years. Śrenika adopted the religion of Gautama Buddha but he was made a believer of Jainism afterwards by the laudable efforts of his chief queen Chelani, who was the daughter of king Chetaka of Vaisāli. Śrenika was an ardent follower of Mahāvira. He paid glowing tributes and homage

No.	Period & Date.	Events.
		to the Great Hero, whenever he visited Rāja-graha and he is attributed to have built on the Pārasnāth hill. [Ref. *Hariseṇa* Kathākośa ; Saṃkṣipta Jaina Itihasa, Vol. I, pt. 2 pp. 13 20. *Smith*, Early History of India, pp. 35—38. Modern Review, (Oct. 1930) p. 438 ff. *K. P. Jain*, Some Historical Jain Kings and Heroes, pp. 11—15.]
61	B. C. 581	Śreṇika Bimbasāra marries princess Vilāsavati, the daughter of Rājā Mragāṇka of Keral probably in this year. [Ref. Sreṇikacaritra (Surat) p. 99 & SJI. Vol. II pt. I p. 15]
62	B. C 575 557 or 520 B.C.	Mahāvira begins his public career, having attained to Jinahood near Jrambhikagrāma (modern Jharia) on the bank of Rijukūlā river on Vaiśakha śukla daṣami. Ref. JI. Vol II pt. I pp. 74—75. Mahāvîra, as a Jina, reaches and delivers his first sermon on the Vipulāchala hill near Rājagraha in Magadha : Indrabhūti Gautama and others being converted to Jainism become His apostles. *To be Continued.*

Magic and Miracle in Jaina Literature

By

Kalipada Mitra, M.A., B L.

There is abundant reference to magic in Jaina literature. It ranges from the gross and crude practices to avert the evil eye for the purpose of affording protection against the baneful influences of planets or malignant spirits to the subtle penetration into one's mind to discover his thoughts and paralyse his energy, inducing magic sleep, going through the air, causing invisibility and the dreadful black art which compels obedience of human and divine victims to it.

Ṛṣabhadeva, the first Tīrthaṅkara, has been regarded in the Jaina scriptures as the originator of human institutions. In an account of his life we read that the four quarter maidens (*dikkumāryah*), viz., of the middle Rucaga mansions, after having bathed the new born Tīrthaṅkara and his mother Marudevī, procured wood of *go-śīrṣa* and *candana* (both meaning sandal, though of different varieties) from the little Himalayas, made fire by firedrill (*araṇiṃ ghaḍettā saraenaṃ mahaṃti mahittā aggiṃ pāḍenti*···), threw the wood into the fire, made *homa* (*aggihomam*), performed *bhūikammaṃ*, bound a protective amulet (*rakkhāpoṭṭaliyaṃ baṃdhaṃti*) and taking two round stones inlaid with many gems and jewels, touched the root of the ears of the babe with them making a rattling sound (*ṭiṭṭiyāveṃti*) and saying, "Long live thou!"[1]

From the *Aupapātikasūtra*, the *Bṛhatkalpa-bhāṣya*, and the commentary of the *Pravacanasāroddhāra*, *bhūikamma* or *bhūtikarman* means smearing the body with (holy) ashes and binding threads as a protective charm for the body. In Sanskrit it may mean a birth-rite, or

1. cf. *Supāsanāhacaria* p. 43, translation of Sl. 76.

Tāḍayanti śravaṇamūle ratnopalānī dṛśaṃ vadantyah ।

Saptakulaparvatāyurapratihataśāsano bhavatāt ॥

an auspicious rite, with a magical flavour. In the *Nāyādhammakahā-sūta* (Agamodayasamiti edition p. 227) we find mention of *soṇisuttaga*; the commentator explains it as *Śroṇisūtrakaṃ ca bālakānāṃ varmādi davarakarūpaṃ kaṭisūtraṃ* or a thread worn round the waist as a charm against the evil eye. In Pâli literature we find mention of *kaṭisutta* or *kaṭisuttaka* (*PVA*.. 134) a string around the waist, also in Vin. II. 107 and 271 as a girdle or waistband, worn probably as a charm against the evil eye. In Bengal little boys wear this thread which is called *ghunsi*, in Orissa it is called *Kaḍhuni* or *Kaṭisūtraṃ*.[2] A thread was also worn round the wrist as a talisman. This was called the *paḍisarā* (*pratisarā*, commy, *hastadhāryaṃ rakṣāsūtram*). In *Pratijñāyaugandharāyaṇa* Act I we find that this was meant to protect Vatsarāja when he was wandering in the forest. It was touched by the females of the royal seraglio, who had husbands, for this was considered auspicious : " *paḍisarā savvavahūjaṇahatthato tuvāriadiiti.*" So it was *kautukasūtram.*[3] I have elsewhere explained the protective influence of the thread.[4] The practice seems to have been very ancient, and was prevalent as well in India as in Ceylon In the *Mahāvaṃsa* (ch. 7) we read that *parittasuttaṃ* was bound by an hermit to the arm of each of the companions of Vijaya as a protection against the magic influence of *Yakkhinī* Kuveṇi (*paritta-sutta-tejena bhakkhituṃ sā na sakkuṇi*), *Paritta* (Skt. *paritrāṇa*) is mentioned in *Cullavagga* V. 6, where a *mantra* is recited as a protection against snake bites. For a long time it was used to avert influences of devils (*yakkha*), and its variants, *Pirit* in Sinhalese, *pē-yeik* in Burmese and Siamese, are synonyms of Pāli, *rakkhā, gutti.*[5] In *Milinda* we get *kata-paritta* in the sense of charm-protected

2. J. C. Ray in his *Bāṅglā-śabdakoṣa* conjectures that it is the relic of the Vedic *nivīta* ; we find *kaḍisutta* in *Samavāyāṅgasūtra* (Agamodayasamiti ed., p. 183) and in *Karpūramañjarī*.

3. cf. *Kirātatarjunīya*, 5-33
and *Mālatīmādhava*, 5. 18,
also Jaina *Dharmasaṃgraha*, 2.

4. *Man in India Vol.* IV (1924 pp. 74—92.) *Customs and Taboos observed by a West-Bengal Woman from Pregnancy to Childbirth.*

5. See *Jour. Anthrop. Soc.* Bombay Vol. XII.

Rakkhāpoṭṭalikā (variant, *rakkhāpaṭṭolikā*) was similarly used to protect other Tīrthaṅkaras when they were babes such as Supārś-vanātha,[6] Pārśvanātha,[7] and Mahāvīra. Obviously it was a custom prevalent among the people, as Lakṣmaṇagaṇi says, "*jīyameyaṃ*," i.e. *jītametat*, it was the custom.[8]. On other occasions also such talismans were used, e.g., in *Kumārapālapratibodha* p. 112) we find that a goddess gives a king a protective wristlet as a charm against evil spirits; *devayāe baddhaṃ ranno bhuāe aṇappa-māhappa-maṇisaṇāhaṃ rakkhākaṇḍayaṃ, bhaṇiyaṃ ca-imiṇā bāhu-baddhena na pahavaṃti jakkha-rakkhasāiṇo*

The evil eye was greatly dreaded In the *Upamitibhava-prapañcakathā* Brāhmaṇī Agṛhītasaṃketā asked her friend Prajñāvi-śāla how king Karmapariṇāma who was reputed to be impotent and queen Kālapariṇati who was said to be barren should have a son. Prajñāviśāla answered that from fear of the evil eye, the ministers, Aviveka and others, had circulated this rumour.[9]

It is common knowledge that sometimes owing to neglect of sanitary precautions (e.g, in cutting the navel etc.) in the lying-in room babies are attacked with tetanus, manifesting itself in change

6. See *Supāsanāhacariaṃ* by Śrīlakṣmaṇagaṇi, p 43

Saṃtinimittaṃ homaṃ karaṃti gosīsadārūhiṃ II 74 II

Niyayappabhava ·arirakkhiyassavi jinassa jīyameyaṃti I

Kaṇṇa pravara rakkhāpuṭṭaliyaṃ baṃdhayaṃti tatta II 75 II

7. *Pārśvanātha*. 5. 75., Bloomfield in his *Life and Stories* of Parśvanatha explains it to be "some kind of protecting mark."

8. In the *Rāmāyaṇa* we read that immediately after the birth of Kuśa and Lava, Vālmīki gives the consecrated *kuśa* grass for protecting the babes against evil spirits. (VII, 66, 3-6). *Bhūtaghnīṃ cākarottābhyāṃ rakṣāṃ rakṣovināśinīm*...

9 *Upamiti* p. 158—Mābhuddurjanacakṣurdoṣa ..tathāpi durjanacakṣur doṣabhayādeva. cf. JRAS (Oct. 1937) "Shafta & Pishra & Aina" A Mand-ean Magical text translated by E. S. Drower, The Scroll for exorcism of the Eyes-Evil Eye, Blue Eye, etc

of colour and convulsions, which people attribute to spirit-possession. In Bengal it is called पेंचो. *Peñco* is derived either from *piśāca* or it is a spirit called *Pañcānanda.* It is called the *pūtanā* in the *Vaidyaka-śāstra,* but as Pūtanā was the sister of Vakāsura and was killed by Kṛṣṇa, the Hindus at least believe her to be possessing babies (an irony of semantics!). At other times also in infancy diseases attack children and are attributed to spirit-possession In *Kumāra-pālapratibodha* Deiṇi is attacked with the Revatī spirit (*daṃṣṭub bheyakāle gahiyāambare revaihiṃ*).[10] In the *Sukhabodha-ṭīkā* (2, 19) of the *Uttarādhyayana, revaiyā* is explained as a kind of spirit. Kapila's son, immediately he was born, was possessed by Revatī spirits who were exorcised by water poured from the monks' bowls. From this circumstance of being *muṇibhājanakalpāmbhobhiṣikta* the boy was called *Kalpaka.*[11]

In the *Upamiti* the king's new born child was taken ill in the lying-in room. When the physicians came, their chief said that the child was seized with a dangerous and mortal disease The king invited every body to cure the child, and offered his kingdom to the healer. Then the people applied herbs, recited *mantras*, bound spells (*kaṇḍakāni*), wrote out amulets (*rakṣā*), performed expiatory rites (*bhūtikarmāṇi*), exercised their science (*niyojitā vidyā*), revolved the *maṇḍalas* (recited magic formulae?), remembered the gods, and resorted to the *tantras.* But nothing availed, inspite of these the child died.[12]

Ṛṣabhanātha is also reputed to have introduced the rites of *maṅgala* and *kautuka*, and the practice of asking questions.

10- *Kumārapālapatibodha* (G. O. S.) p. 44.

11. Pariśiṣṭaparvana p. 47, Canto VII. Sls. 14—23, Revatibhiragṛhyata
Teṣāṃ mahāprabhāvānām ṛṣīṇāṃ pātravāriṇā ।
Abhiṣiktaṃ śiśuṃ krūravyantaryo mumucurdrutaṃ ॥

12. *Upamiti*, pp. 609, 610.

In Jaina literature we frequently come across the stock phrase "*ṇhayā kayabalikammā kayakoua-maṅgala-pāyacchittā suddhappabesāyiṃ maṅgalāyiṃ vatthāyiṃ...*"[13].

Koua means the making of black marks (*masī-tilaka*) either on one's face (*vadane masīcihnaṅkaṃ*) or on person as a protective charm. Dr. Vaidya explains it as putting on the body auspicious marks of collyrium, say a spot of black pigment on the cheek (*Paesi*; Notes p. 59). Bhaddī, the wife of a merchant, protects her infant son Devadiṇṇa, in this way before she delivers him to the servant Panthaka to take him out to play. She marked him with soot spots (*masī tilakāīṃ*) or put collyrium to his eyes (?) and bound amulets to his person (*rakkhābandhanaṃ*) in order to protect him from the evil eye. *Kautuka* also included the burning of incense, and performance of *homa* to bring good luck or avert an evil.[14] There is a reference to it in the *Upamiti*, also in Sanskrit literature.[15]

Maṅgala signs were usually drawn or painted with pounded unhusked rice mixed with water or the *maṅgala* objects were

13. Jaina *Kalpasūtra*, p. 51, *Ovavāiya* 17, *Uvāsagadasāo* (Dr. Hoernle's ed. pp. 6, 122,) *Nāyādhammakahāsutta* (cf. queen Dhāriṇī's dream, Bhadrā's precautions), *Vivāgasuya* (Vaidya's ed. pages 68, 78, 112, 138—40); *Paṇhavyākaraṇa*. 1, 2, *Rāyapaseṇasutta*, *Dharmasaṃgraha*, *Paesikahāṇayaṃ* (Dr P L. Vaidya's edition p. 6), *Sukumālīputta cariaṃ* (Sl 106), *Āvaśyaka*, Sls. 255, 258.

14. *Vavahārasutta*, i, *Nāyādhammakahā* 1, 14. *Āvaśyaka* p. 268, Sūlapāṇi Jakkho...rusito māriṃ viuvvai...tato addannā *Kougasayāṇi* karenti tahavi na thāi...

15. Vālmīki *Rāmāyaṇa*—1, 73 9. *Bhrātṛbhih sahito Rāmah kṛtakautukamaṃgalah*; also Sl. 11; 1 22. 2, 2.437. Kauśalyā performs *maṃgala* rites before Rāma goes in exile to the forest—11. 25....*Cakāra mātā Rāmasya maṃgalāni... hāvayāmāsa vidhinā Rāmam maṃgala karaṇt*; mustard seeds were used (Sl. 26), there is reference to *Śānti* (Sl. 29), honey, curds, *akṣata*; *svastayana* (30, 31)... For his protection she consecrated herbs with *mantras*; *auṣadhiṃca susiddhārtham viśalyakaraṇīṃ śubhaṃ cakāra raksham Kauśalyā mantrairabhijajāpaśca* (Sls. 38, 39). For *maṅgala* rites for warhorse see *Pratijñā* Act. I; turaṅgamasya raṇe nivṛtte nīrājanakautukamaṅgalāni; *Svapnavāsavadattam*. Act II. "ajja ebba kodua_ maṅgalam kadabba tti amhāṇaṃ bhaṭṭiṇī bhanadi," *Kumārasambhava*— "... vivāhakautuka" (5. 66).

exhibited, for bringing good luck. They are (1) *dappaṇa* (mirror), (2) *bhaddāsaṇa* (auspicious seat), (3-6) the mystic signs of *Vaddhamāṇa* (Vardhamāṇa), *Siribaccha* (Śrīvatsa) *Sotthiya* (Svastika), and *Naṃdāvatta* (Nandyāvarta), (7) *macche* (fishes) and (8) *Kalasa* (pitcher).[16] In *Ṇāyādhamma* (p. 210) the commentary says, "*tandulairdarpaṇādy aṣṭamaṅgalā lekhanaṃ ca karoti.*" These objects were the first to be exhibited when Meghakumara rode his palanquin and started on his journey.[17] Maṅgala rites were performed to ensure success to an undertaking. When king Guṇasena rode his chariot and waited for the auspicious time to start with his army against the enemy, golden pitchers filled with water were placed in front and trumpets sounded notes of victory. At the time of the anointment of Prince Ānanda the following *maṅgala* objects (*abhiseyamaṃgalāiṃ*) were produced—*viz.*, a couple of fish, a full pitcher, white flowers, big lotuses (*mahā-paumā*), white mustard (*siddhattayā*), clods of earth, bull (*vasaha*), big vessels full of curds, big gems, *gorocaṇā* (a bright yellow pigment prepared from urine or bile or found on the head of a cow), hide of lion, white parasol, auspicious seats (*bhaddāsana*), chauries, *durvā* grass, *acchasurā* (limpid wine ?), great banner, *gayamayo* (secretion of elephant in rut), unhusked rice, muslin cloth, and other auspicious things[18].

Dr. E. H. Johnston says that he has come across the correspoding Pali word *Vaḍḍhamāṇa* (Jain *Vaddhamāṇa*, Skt. *Vardhamāna*) at three places. "It denotes a certain lucky figure and is applied to anything made in that shape or supposed to resemble it, such as amulets, ritual vessels...."

"The two later occurrences of the word in Pāli are in the list of lucky objects presented by Asoka to Devānaṃpiya (1) at *Dīpavaṃsa*

16. *Supāsanāha*—pp. 51, 52.

Sārayasasikaradhavalehim akkhaehim ime samālihai I dappaṇa bhaddāsaṇa vaddhamāṇa siribaccha macche ya II 284 II taha satthiya naṃdāvatta kalasapajjaṃta maṃgale aṭṭha I

17. *Nāyā* : p. 54.

18. Samarāiccakahā—(Jacobi's edition) pp. 22 and 77; 124 and 125.

XI. 32-3 :—*Gaṅgodakaṃca bhiṅkāraṃ saṅkhaṃ ca sivikena ca* || *Nandiyāvaṭṭaṃ vaḍḍhamānaṃ rājābhiseke pesitā* I (2) and at *Mahāvaṃsa* XI. 30-1 :—

Saṅkhaṃ ca nandiyāvaṭṭaṃ vaḍḍhamānaṃ kumārikaṃ ||
Hemabhājanabhaṇḍaṃ ca sivikaṃ ca mahārahaṃ I

Compare with these the list of lucky objects seen or touched by Yudhiṣṭhira, which include at *MBh.* vii, 2930, *svastikān vardhamānāṃś ca nandyāvartāṃś ca kāñcanān* and of the lucky figures seen by Sujātā in the milk, *Lalitavistara* (ed. Lefmann), ch. 18, p 268, *śrīvatsasvastikanandyāvartavardhamānādini maṅgalyāni...*" [19]

When the soothsayers (dream-interpreters) were summoned by King Seṇiya to come and interpret the dreams of Queen Bhaddā, they, before starting, bathed and went through *kauṭuka*, *maṅgala* and *pāyaścitta* rites to avert the evil consequences of bad dreams (*duhsvapnādivighātārthamavaśyakaraṇiyatvāt*). They also placed *siddhārthaka*, curds, *akṣata*, *durva* and *haritālika* (a yellow orpiment) on their heads to bring good luck

The usual interpretation of *pāyacchitta* is Sanskrit *prāyaścitta.* Only the commentary to § 66 of *Kalpasūtra*, Jacobi's edition p. 108, makes it *pada-chhupta*, " touched with the feet," said tc insure protection against the effects of the evil eye Dr. Hoernle says that in Bengal the belief is that so long as one touches the earth with one's feet, one is safe from the evil eye. According to Hemcandra (iv. 258) *chitta* is the Prākṛt form of Skt. *chhupta* or *spṛṣṭa*, ' touched.' The Commentator Lakṣmīballabha explains: " *pāyacchittā pādena pāde vā chuptāścakṣurdoṣaparihārārthaṃ pādachuptā : vighnanivāraṇāya.*" Hoernle quotes Grierson, *Behar Peasant Life* § 1303—53; these and similar precautionary rites were observed during the marriage to ward off evils. The Sanskrit *prāyaścitta* refers to the application of collyrium (*maṣī*) to the eyes, and vermilion to the head (the *puṇḍra* or *tilaka* marks), and to the putting of curds or rice or sandal powder to the forehead, which simulate *prāyaścitta* or expiation.

19. JRAS. 1931 pp. 588 ff.

Another magic practice was the asking of questions and is attributed to Ṛṣaha.

Iṃkhiṇiyādiṛuyaṃ vā pucchā puṇa kiṃ kuhiṃ kajjaṃ ||227 ||
ahava nimittāṇaṃ suhasaiyāi suhadukkhapucchāvā |
iccevamāiyāe uppaṇṇaṃ Usabhakālammi || 228 ||

The commentary explains :—" *Tathā pracchannaṃ pṛcchā, sā iṃkhiṇikādirutalakkhaṇā, iṃkhiṇikā hi karṇamūle ghaṇṭikaṃ cālayanti, tato yakṣāh khalvāgamya tāsāṃ karṇeṣu prasturvivakṣitaṃ kathayaṃti; athavā kiṃ kāryam kathaṃ vā kāryaṃ ityevaṃlakṣaṇā yā loke prasiddhā pṛcchā sā pṛcchanā, yadi vā nimittādīnām ādiśabdāt svapnaphaladi parigrahah*"

This refers to the once prevalent practice of asking questions of some seeress. She jingled some bells at the root of her ears, then some yakṣas came, and whispered in her ears the answers. Sometimes she was possessed by some spirit, and thus possessed she gave oracles. In Pali literature we have reference to this practice of obtaining oracular answers, *e.g.*, from a god, called *deva-pañho* (*D.* 1. 11 = *D.A.*, 1. 97) which is explained as '*devadāsiyā sarire devatam otāretvā pañhapucchanaṃ*," i.e., causing a god to descend on the body of a *devadāsī*, and asking questions using her as an oracle. There has been much discussion over the word *devadāsī* occuring in the Jogimārā Cave Inscription.[20] Jayaswal gave the the following English translation of the third and the fourth lines of the inscription : "(*Order*) — Sutanukā, by name, *devadarśiṇī*, of austere life, (is) now (or here) in the service of Varuṇa." This reading was obviously suggested by the word *Vāruṇī*, in the following passage of the Vessantarajātaka (*Jat.* Vol. VI) :

Maddī ca puttake disvā durato sotthim āgate
Vāruṇīva pavedhenti thanadhārābhisiñcathāti.

Continued.

---

20 *JBORS* Vol. IX 274ff. and *Proc. Fourth Oriental Conference*, Vol. II, pp. 699f

The Jhunta Rai temple marble stone—slab inscription of V. S. 1716.

BY

(Shaktidhar Sharma Guleri, M A.)

This inscription, which was formerly attached to the Jhunta Rai temple at Amber in Jaipur, and is now preserved in the Jaipur State Museum, was noticed by the late Rai Bahadur Dayaram Sahni[1] and is being edited here in detail. I am thankful to Dr. K. N. Puri, Superintendent of Archaeology, Jaipur, for allowing me to edit the inscription. I am grateful to Dr. N. P. Chakravarti for some of his suggestions in preparing the article.

The first fifteen lines of this very well preserved inscription, which is incised with great care and neatness on a smooth rectangular white marble stone-slab in well-executed and deeply cut Nāgarī characters, measure 2′ 3·5″ each. while the last line, which is detached from the rest of the inscription by a prominent broad rim, measures 2′ 7·5″.

Excepting lines 10-14 which are written in a corrupt Sanskrit prose mixed with local (deśi) words and certain abbreviations, the inscription is composed in good classical Sanskrit.

In respect of *orthography* the conspicuous points to be noted are :—

1. Frequent use of the sibilant *b* in place of *v*. 2. Dental *s* is substituted for palatal *ś*. 3. Consonants following a superscript *r* are often reduplicated. 4. Nasals are usually represented by anusvāra.

Abbreviations are frequently used, *e.g.*, *chau*, *saṁ*, *pra*, *dvi*, and *tri* stand for *chaudharī*, *saṁgrah*, *prathamaḥ*, *dvitīyaḥ* and *trtīyaḥ* respectively.

---

1. Archaeological remains and excavations at Bairat, page 9.

The inscription opens with a verse in praise of Vimalanātha,[2] the Jain deity of the temple, followed by a few words in prose which record the date of the laying of a *kūrmaśilā*,[3] the foundation stone of the temple at *Aṁbāvatī*[4] on *Wednesday, the 10th of the dark half of Phālguna in the (Vikrama) Samvat 1714* (=17th March, 1658 A. D.), the corresponding Śaka year being 1583 (L. l). Aṁbāvatī, embellished with palaces and groups of golden Jain temples studded with lines of jewels, is called the capital city of the country called *Ḍhuṁḍha*,[5] adorned with step-wells, wells and tanks,[6] abounding in good men and looking beautiful with gardens resembling the Nandana forests and fields fertile with fruits of all seasons.[7] The ruler of Aṁbāvatī was Jayasiṁha son of Mahāsiṁha, belonging to the Kūrmma dynasty in which were born, in course of time, Pṛithvirāja and other rulers, Mānasiṁha and Jagatsiṁha who were devoted to the protection of the world. By rendering services to the king of *Ḍhili*, he (Jayasiṁha) had obtained (as a fit reward) the big group of twenty-seven cities not easy to be described (vs 2-7).

---

2. The 13th Jaina Tīrthaṅkara.

3. The foundation-stone-laying ceremony is referred here. For similar terms and ceremonies performed before the construction of the building, see Dr. P. K Acharya's Dictionary of Hindu Architecture, page 59?, The Udayapura Mahākāvya Inscription refers to a similar *Ādhāraśilā* Ceremony, (see, foot note No. 19.)

4. *Ambāvatī*, the ancient name of Amber, was the third capital in succession of the Kachhavāhā rulers ; the first two being Dausā and Rāmagaḍha respectively. It is believed to have been founded in the 10th or 11th century A. D General Sir Cunningham derives the name of Amber from Ambikeśvara, the name of a large temple at Amber.

5. *Dhuṁḍha* or *Dhuṁḍhaḍahaḍa* (line 9 of the inscription) was the old name of the territory ruled by the Kachhavāhas.

6. For the significant meaning of these terms, see Dr. P. K. Acharya's Dictionary of Hindu Architecture, page 543.

7. 'The gardens, lakes and wells of Amber are well known.'

Then follows a succession list of the Jain pontiffs of *Sarasvatī gachchha, Balātkāra gaṇa* and *Mūla saṁgha*,[8] beginning with Prabhēndu Bhaṭṭāraka.[9] To his *paṭṭa*[10] belonged Bhaṭṭāraka Chandrakırtti [11] who was followed by Devēndrakīrtti,[12] who in his turn, was followed by Narēndrakīrtti,[13] who undertook the long journey to Girnār in the Udaya mountain[14] (vs. 8-10). The construction of the Jain temple of Vimlanātha at Ambāvatī is ascribed to Narēndrakīrttis disciple Mōhanadāsa who belonged to the Khaṇḍēlavāla [15] family and was the chief minister of Mahārāja Jayasiṁha. Mōhanadāsa was the son of Sh(kh)ētasī and grandson of Mallidāsa and had Kalyāṇa, Vimala and Ajita for his sons and one Mansukhadā for his chaste wife (vs. 10 - 16).

8. For detailed account of these terms, see, Dr A. F. Rudolf Hoernle Two paṭṭāvalīs of the Sarasvatigachchha of the Digambara Jains (Indian Antiquary, Vol. XX. page 341).

9. The same as Prabhāchandra II. Date of accession V S 1310. As he is said to have caused the image of Sarasvatī to speak, the name Sarasvati *gachchha* is ascribed to his gachchha.

10. *Paṭṭa* is the name given to the line of Jain pontiffs.

11. The 90th pontiff whose date of accession is given V. S. 1622 in Ms B. of Dr. Hoernle's list

12 The 91st pontiff whose date of occasion is V. S. 1662. He is also mentioned in the two inscriptions on the two marble pillars from Śiva-Dūṅgar and in the Pāduka stone-slab inscription of the Jain garden at Bairat.

13. 92nd pontiff whose date of accession is V. S. 1691 according to Ms. B. of Dr. Hoernle's list. He is mentioned in lines 10 and 13 of the Pattāvalī Stambha inscription on the white marble pillar from Śiva-Dūṅgarī, dated Sunday, the 5th of the bright fortnight of Jyēshṭha : V. S. 1706. The present inscription being dated in V. S 1716 attests to the information of Ms. B. that Surēndrakīrtti, successor of Narēndrakīrtti, ascended to the pontiff's office after V. S. 1721.

14. The Girnar mountain in Guzerat. Being a place of religious sanctity for the Jains, it was visited by the Jain pontiffs very often. The same as Ujjayantāchala and Raivatagiri (See Nahar. Inscriptions from Jaisalmer, page 226, and also inscriptions nos. 2139 and 2181).

15. *Khaṇḍēlā* or *Khaṇḍēlvāla Baniyās* also bear the surname of *Saṁghīs* or *Siṁghīs*.

The following prose portion records that on (Trētāyugādi auspicious ?) yōga *on Thursday, the 3rd day of the bright half of Vaiśākha in the year 1716 of the (Vikrama) Samvat* (= 14th April, 1659 A D.) the corresponding Śaka year being 1583, during the (Plavanga) samvatsara, in the reign of the Kachhavāhā ruler Mahārāja Jayasiṁha, the Mahāmaṇḍalēśvara of the emperor Shahjahan, his Chief Minister Samghādhipati [16] Mōhanadāsa. the governor of Ambāvatī, at the instance of the Jain pontiff Narēndra kirtti, constructed in the fort of Ambāvati in the territory of Ḍhuṇḍhāhaḍa, a temple in honour of the Jain deity Lord Vimalanātha.

Lines 10—14, which supply us with a detailed list of the members of the Khaṇḍelvāla family, inform that the family belonged to the Bhausa *gōtra* and Mōhanadāsa, whose father Shē (khē) tasi was the second son of Chaudharī Śrīmāla [17] (who is the same as Mallidāsa), besides Manasukhadā (referred to in line 8) had one more wife Mahimāde by name.

It may be noted at the outset that the corresponding Śaka year for both the dates is 1583. As the details of both the dates agree with the years in the Vikrama Samvat the corresponding Śaka years for the Vikrama years 1714 and 1716 should be read as 1579 and 1581 respectively.

Rai Bahadur Dayaram Sahni gives V. S. 1714 (the date mentioned in line 1) as the date of the construction of the temple taking no notice whatsoever of the second date *e.g.*, V. S. 1716, which is mentioned in line 9, and is the actual date of the construction. A close reading would show that the second half of the first

16. *Saṁghādhipati* or *Saṁgrahī* was the officer in charge of the welfare of the Saṁgha of Jain pilgrims which consisted of four component parts, viz. *Muni, Aryikā, Śrāvaka* and *Śrāvikā* (Nathuram : Jaina Ant. Vol VI, No. 11, page 81).

17. *Śrīmāla* or *Bhīnamāla* was the old name of the territory to the south of Jodhpur. Brāhmins, Kshatriyas and Baniyas hear the surname of *Śrimāli* in Rajputana. For references in inscriptions, see ' Nine inscriptions edited by Jackson : Bomb. Gaz. Vol. I, page 1, pp. 472ff. and Nahar : Inscriptions fro m Jaisalmer.

line records the date of the laying of a kūrma-śilā, and the foundation stone of the building, and there is no mention whatsoever of any temple not to speak of the completion of its construction (after which the inscription recording its date is usually set up) in the preceding first half of the first line or in the following ten verses. This date does not record the construction of the temple which is dated in the V. S. 1716 (line 9). Thus we see that the difference between the date of the foundation stone-laying-ceremony and the completion of the temple is of one year and two months.

The inscription supplies us with a genealogy of the Kachhavāhā rulers which fully agrees with the one we come across in other inscriptions. It mentions that Mahārāja Jayasiṁha had acquired the group of 27 cities as a fit reward to his services) from the king of Delhi who, according to Rai Bahadur Dayaram Sahni, was Aurangzeb. We admit that Māhārāja Jayasiṁha, who had a very long reign (V. S. 1678-1726), was contemporary of both Shahjahan and Aurangzeb But the emperor referred to here is Shahjahan who is called 'the emperor of Mahāmaṇḍaleśvara Jayasiṁha in line 9 of the record. It is interesting to note that Shahjahan is called the Emperor of Jayasiṁha, though Aurangzeb had ascended to the throne of Delhi on the 1st December 1658 A. D. (Eliot. Vol. VI, page 229, some ten months before the date of the record (*i.e.*, 14th April 1659 A. D.). It seems that Mahārāja Jayasiṁha did not accept the suzereignity of Aurangzeb during the early few years that followed his usurpation. The Muntakhabul-I lubab (Vol. II. page 6) and Eliot (Vol. VI, page 215) inform us that Mahārāja Jayasiṁha sided with Darashikoh against Aurangzeb in the warfare that followed the serious illness of Shahjahan in A D 1657, and was sent by the former against Mohd Shuja (who was siding with Aurangzeb) on the 1st December 1657 A. D. And we know that for many years after his accession, Jayasimha rendered no service whatsoever to the throne of Delhi.

This gift of 27 cities is not, however, referred to by the Muhamadan historians, though the valuable services of Jayasimha to

Shahjahan are mentioned again and again.[18]

We know that similar gifts were granted to Rajput Chiefs by the Moghuls. The Udaipur State Mahākāvya inscription [19] of V. S. 1732 (See, annual Report of the Archaeological Survey of India, 1917-18, and Bhandarkar's List. page 145) informs us that in V. S. 1711 (=1654 A. D.) a similar gift of fourteen districts was made by Shahjahan, who had come to Ajmer, through his minister Nasmalla to Rāṇā Jagatsiṁha of Udaipur. And it is very probable that Jayasiṁha, who had rendered great many services to the throne of Delhi was granted a similar reward.

According to Rai Bahadur Dayaram Sahni the name of the Jain pontiff, at whose instance the temple was constructed by Mōhanadāsa, is Dēvēndrakirtti. Dēvēndrakirtti, who is mentioned in verse 8, had nothing to do with the construction of the temple, and it is at the instance of N r ēndrakirtti, the preceptor of Mōhanadāsa that the temple was constructed.

---

18. Services of Mahāraja Jayasiṁha may be summed up as follows :—

1. Paid homage to Shahjahan on his way from Ajmer to Agra, June 14, 1628 A.D. 2. Pursued Khanjahan, 1630 A.D. 3. Was placed incharge of a Division of 12000 soldiers and sent to Qundhar, accompanied Shuja in his southern campaigns, 1635 A.D 4. Sold the plots of his forefathers at Agra (which were granted to Manasiṁha) on a very nominal price to Shahjahan for building the great tomb of Mumtaz Beghum who died in 1640 [B. P. Sexena. Shahjahan p. 310. 5. Assisted Murad in the seige of Nurpur and inhis campaigns againRāja Māna, Nov. 1641 A.D. 6. Was sent to plunder Parenda during the Southern Campaigns.

19. The inscription was first noted in the Archaeological Survey Report—1917-18, and in Dr. D. R. Bhandarkar's list of Inscriptions, No. 1020. The inscription is being critically edited by Dr. N. P. Chakravarti, Government Epigraphist for India, and shall perhaps be published as a Memoir of the Archaeological Survey.

Text.

[Metre Anushtubha :—verses 1—16]

L. 1. ॥[1] सिद्धेभ्यो नमः ॥ प्रणम्यादौ जिनं देवं बि (वि) मलं बि(वि)मलं बि(वि) भुं ॥(।)
प्रशस्ति संलिखामीह बोधनाय च कीर्त्तये ॥१॥ संब(व)त् १७१४ ब(व)र्षे शाके १५८३
प्रब(व)र्त्तमाने फागु(ल्गु)ण(न)मासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ बुद्धवासरे ॥

L. 2. ।।रं[2] कूर्मशिला स्थापिना [।*] बा(वा)पीकूपतडागादिमंडिते बि(वि)षये बरे [।*]
ढंढ़नाम्नि बि(वि)ख्याते संभृते सुजनैर्जनैः ॥१॥ (॥२॥)
वनैर्नंदनसंकाशैः सर्व्वर्त्तुफलदायकैः । क्षेत्रैः स(श)स्य भृतैर्यैस्तु बि(वि)भाति बि(वि)
षयो ब(व)रः ॥२॥ (॥३॥) अंबावती राजधा-

L. 3. ॥ नी राजते राजबे(वे)श्मभिः । हेमैर्जिनगेहव्यूहैर्जटितै रत्नबे(वे)श्मभिः ॥३॥ (॥४॥)
कूर्म्मबं(वं)शेथ संजाताः पृथ्वीराजादयो नृपाः ॥ (।)
मानसिंहजगत्सिंहौ महीरक्षणतत्परौ ॥४॥ (॥५॥)
जयसिंहमहिपाल (लो) महासिंहस्य पुत्रकः ॥ (।)

L. 4. ॥ संबि(वि)तो राजबृ(वृ)न्दैश्चांबां शास्ति महाप्रभुः ॥५॥ (॥६॥)
ढिलीपसेवया येन संप्राप्ता त(न)गरावली ॥ (।)
गरीयसी कथं ब(व)र्ण्या सुश(स)माधिक विंशतिः ॥६॥ (॥७॥)
श्रीमूलसंघे बि(वि)दां मान्यो बलात्कारगणे ब(व)रे ॥ (।)
प्रभेंदुभट्टारकादिगछे (च्छे) ।[3]

L. 5. ॥ सारस्वते बभौ ॥७॥ (॥८॥)
तत्पट्टे भूच्चंद्रकीर्त्तिभट्टारकमहाप्रभुः ॥(।)
ततो देवेंद्रकीर्त्तिश्च शांतचित्तो महामुनिः ॥८॥ (॥९॥)
नरेंद्रकीर्त्तिः संजातस्तत्पट्टोदयभूधरे ॥ (।)
गिरिनारिक्रितौ येन यात्रा च महती कृता ॥९॥ (॥१०॥)
तदाम्नाये

---

1. The two dandas mark the begining of the line.
2. The letter is unnecessary.
3. The danda is unnecessary.

L. 6. ॥ विभातीह खंडेलवालान्वये ॥(।)
मोहनदासो महामंत्री जयसिंहमहीभृतः ॥१०॥ (॥११॥)
स्वामिधर्मो विभुसंबी(वी) स्वाम्याराधनतत्परः ॥(।)
शरीरधनपुत्रादिस्वामिभक्त्यैव केवलं ॥११॥ (॥१२॥)
अंबावत्यां कृतो (तं) येन वि(वि)मलेशस्य

L. 7. ॥ मंदिरं ।
सुवर्णकलशैर्भाति कूटत्रितयसंस्थितैः ॥१२॥ (॥१३॥)
षे(खे)तसीनंदनो धीमान् मल्लिदासस्य पौत्रकः ।
पुत्रत्रयैश्च संभाति कल्याणबि(वि)मलाजितैः ॥१३॥ ॥१४॥
सम्यक्त्वाभरणो जातो दानपूजनतत्परः ।
गुरू च

L. 8. ॥ सेवमानो भूत्क्षांत्यादिगुणमंडितः ॥१३॥ (॥१५॥)
मनसुखदा रामा च पुत्रिणी बहुरूपिणी ॥(।)
पतिव्रता सुशीला या वाभाति भुवने वरे ॥१४। (॥१६॥)
संव(व)त् १७१६ व(व)र्षे शाके १५८३ प्रव(व)र्त्तमाने [प्लवङ्ग]
नाम संव(व)त्सरे वै(वै)शाषमासे

L. 9. ॥ पक्षे शुक्ले ३ तिथौ गुरुवा(वा)रे योगे ढुंढाहडदेशे अंबावतीनाम दुर्गे पातिशाह श्री साहिजिहाँ जी तन्हामंडलेश्वरो (र) महाराजाधिराजमहाराज श्री जयसिह जी कुछाहा(कछवाहा)राज्ये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे(च्छे) भट्टार-

L. 10. ॥ क जी श्री नरेंद्रकीर्त्तिस्तदाम्नाये खंडलवालान्वये भौसागोत्रे चौधरी श्रीमाला भार्य्ये द्वे प्रथमा महिमादे द्वि(द्वितीया)ल्हौडी तयो(योः) पुत्राश्चत्वारः प्र०(प्रथमः) संगही (संग्रही) श्रीडालू भार्या दुगादे तत्पुत्रः सं (संग्रही) श्रीआसकरण भार्या पंच तत्पुत्र. सं०(संग्रही)

L. 11. ॥ श्री शोभाचंद चौ० (चौधरी) माला द्वि० (द्वितीयः) पुत्रः सं० (संग्रही) श्री० (श्री) षे(खे)तसी भार्ये द्वे प्र०(प्रथमा) द्वि(द्वितीया) ल्हौडी तत्पुत्रात्रयः प्र०(प्रथमः) पुत्रः संगही (संग्रही) श्री मोहनदास भार्ये द्वे प्र०(प्रथमा) भार्या महिमादे तत्पुत्रः संगही (संग्रही) श्री कल्याणदास जो भार्या नौरंगदे द्वितीया मोहनदासस्य भार्या म-

L. 12. ॥ नसुखदे तत्पुत्रौ द्वौ प्र० (प्रथमः) पुत्रः संगही (संग्रही) श्री विमलदासजी भार्या दिलसुखदे द्वि (द्वितीयः) पुत्रः संगही (संग्रही) श्री अजितदास षे(खे) तसी

द्वि(द्वितीयः) पुत्रः सं०(संघ्रही) श्री नराइण (नारायण) जी भार्या नौलादे तत्पुत्रः सं० (संघ्रही) श्री लूण करण (लूणकर्ण) भार्या लाडी तत्पुत्रौ द्वौ प्र०(प्रथमः) चि० (चिरञ्जीवि)

L. 13. ।। केसौ दास (केशवदास) द्वि० (द्वितीयः) गरीबदास सं० (संघ्रही) श्री षे(खे)तसी त्रितीयः पुत्रः संगही (संघ्रही) श्री थानसिंह जी भार्ये द्वे प्र०(प्रथमा) सुजाणादे द्वि (द्वितीया) लाडी तत्पुत्रास्त्रयः प्र० (प्रथमः) शंकरदास द्वि (द्वितीयः) भुवानीदास (भवानीदास) त्रि० (त्रितीयः) धीनड चौ०(चौधरी) माला त्रि० (त्रितीयः) पुत्रः चौ (चौधरी) राइसिंह (रायसिंह) भार्या रा-

L. 14. ।। इन्द्रदे तत्पुत्रौ द्वौ प्र०(प्रथमः) चौ०(चौधरी) श्री हेमराज भार्या हमीरदे तत्पुत्रास्त्रयः प्र०(प्रथमः) चौ(चौधरी) श्री मनराज द्वि० (द्वितीयः) धनराज त्रि०(त्रितीयः) इंदराज (इंद्रराज) चो० (चौधरी) राइसिंह (रायसिंह) द्वि०(द्वितीयः) पुत्रः चौ०(चौधरी) श्री सुंदरदास भार्या सहलील दे तत्पुत्र नथमल चौ० (चौधरी) माला चतु-

L. 15. ।। र्थः पुत्रः चौ०(चौधरी) श्री बेणीदास भार्या लाडी तत्पुत्रः चौ० (चौधरी) श्रीलालचंद[।*]एतेषां मध्ये महाराजा श्री जयसिंहस्तस्य मुख्यप्रधानअंबावतीनगराधिकारी जिनपूजापुरंदरः सत्सम्यक्त्वालंकृत गात्रश्चतु-

L. 16. ।। र्वि (र्वि)धदानेश्वरः जिनप्रसादोद्धरणधीरः निजयश सुधाधवलीकृत विष्टपः सार्थकनामधेयः संघाधिपतिश्रीमोहनदासेन[4] श्री वि(त्रि)मलनाथजीर्णेश्वरचैत्यालयं स्वर्णकलशालंकृतत्रिकूटं भट्टारकश्रीनरेंद्रकीर्त्युपदेशात् कारापितं(तम्) ।। शुभानि भवंतु ।।

4. Read ...मोहनदासस्तेन ।

Reviews.

BHĀRATĪYA VIDYĀ:—A Hindī-Gujarātī Quarterly, Vol. I Nos. 1-4, Edited by Śrī Jinavaijayaji Muni, Published by the Director, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Andheri (Bombay), Royal 8vo pp. 1-434, Annual Subscription Rs. 5/-, Bombay 1940-41.

India possesses a great cultural heritage. Her literary, epigraphic and archaelogical treasures go back to a hoary antiquity and are invested with such an interest that a scientific study alone can rightly interpret their values in the back-ground of the history of humanity. It may look strange, but it is a fact that though the material was available on the Indian soil, the credit of the pioneer work of assessing its value and interpreting its significance to the modern world goes to European scholars, especially to the great savants working in the Indological departments of European Universities. Many of them were inspired by a zeal for learning and scientific study quite characteristic of the last century. For decades together the march of Sanskrit and Prākrit studies was led by German scholars of great repute. At present we are passing through a transitional period. The old generation of veteran Indologists is fast disappearing in the European Universities; the materialistic forces let loose under the auspices of national madness are fast destroying whatever little good was there in the Western civilization and culture; the younger generation has not got that mental quiet; and there is such an all-round obsession due to the cataclysms in the domestic affairs that hereafter the attention of Western scholars towards Indian studies is sure to disappear gradually. In India, on the other hand, there is a national awakening everywhere; and many scholars are devoting their time to the study of different branches of Indology. Apart from the Post-graduate departments of some of the Indian Universities and independent institutions like the Bhandarkar Oriental R. Institute, Poona; Indian Research Institute, Calcutta; etc, it is a happy sign of the times that fresh Institutes are coming into existence with an avowed aim of conducting research in different branches of Indology. Deccan College

Research Institute, Poona, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay, Śrī Venkateshvara Oriental Research Institute, Tirupati, Bhāratīya Itihāsa Parishad, Benares, Research Departments started by the Bombay Government at Dharwar and Ahmedabad and the Jaina Vidyā Bhavana, Lahore, are some of the latest Institutions which have come into existence for the study of ancient Indian culture in its manifold aspects. Time has come now when the sons of the soil must be inspired by an earnest search for truth, seriously undertake the study of national life both in its dark as well as bright aspects, and thus help to evolve a better national individuality firmly based on moral values which are essentially humanitarian in character.

Bhāratīya Vidyā Bhavana is founded to carry on researches into the realms of ancient Indian culture. It is the zest for the advancement of learning of Śrī K. M. Munshi and the liberal munificence of Sheth Goenka that have given rise to this Institution. It conducts two Journals: one in English, published twice a year and the other a Hindi-Gujaratī quarterly. We propose to introduce to our readers the first volume of the Hindi-Gujarātī quarterly. It is edited by Śrī Jinavijayaji who is already known to the orientalists by his Jaina Sāhitya Saṁśodhaka and as the General Editor of the Siṅghī Jaina Series. He is a scholar of cosmopolitan outlook, and his range of studies is very wide comprising different fields like Sanskrit, Prākrit, Apabhraṁśa and Hindi and so also the political history of Gujarāt. Under his able editorship the Journal has made a good start, and the articles so far published testify to the earnestness with which the Quarterly is conducted. It is not possible to give the summaries of the various papers published here in a short review. The different articles can be casually introduced. The editor has explained the aim of the Journal in the first number. Pt. Sukhalalaji has written a refreshing essay on Hemacandra's Pramāṇamīmāṁsā which forms a part of his Introduction to the ed. of PM published in the Siṅghī Jaina Series. The Jaina point of view as distinguished from that of Vedānta and Buddhism has been clearly brought out. Pt. Jaichandraji Vidyalankar sheds a good deal of light on some of our early social institutions, especially in the villages, such as those

of land-lords, cultivators, artisans, village-pañcāyats, and their future. He remarks quite significantly that if the study of our past is not going to enlighten us with regard to our future, it is not worth attempting. Śrī Vasudevasaran has written a note on Barbara and Mleccha Prof. Jinavijayaji has presented his study of the Chaulukyan copper-plates of the Saṁvat 1033 ; and further he has also contributed an essay in Gujarāti on Rājarṣi Kumārapāla. Prof. Gopani has taken a survey of Āryan astronomy before the Greek contact, and has also added a note on the date of Akalaṅka Prof. B. B Vyasa has surveyed the influence of Sanskrit drama on Gujārāti plays. Prof. Zala has written a note on Cyavanākhyāyikā. Mr. M. D. Desai has published (with an introductory note) a Jaina Gurvāvalī in Gujarāti prose written in Saṁvat 1482. It is an interesting piece for the study of the post-Apabhraṁśa stage of the MIA. Śrīmati S Mehta has given good many details about the Vallabha and the Rāmānuja Sampradāyas. Prof. M. C. Modi has written an exhaustive paper on Svayambhū and his son Tribhuvana Svayambhū and their Apabhraṁśa works namely, Paumacariya and Harivaṁśa. He has carefully put together bits of historical information available in these two works, and has also neatly presented the first two Saṁdhis of Paumacariya with a valuable glossary and a few notes. By their respective articles Profs. Hiralal, Velankar and Modi have given now an extremely useful basis for all those who want to work on the texts of Svayambhū and Tribhuvana Svayamhhū. Mr Sarabhai Nawab has discussed about the earliest Jaina images in Gujarāt. Śri Agarchand Nahta has published (with an introductory note) Samayasundara's description of the famine of the Saṁvat 1687 ; and he has also discussed the historical importance of a Gurvāvalī of the Kharatara Gaccha. Śrī Durgasankar Shastri has added a note on the Bhāgavatapurāṇa. Śrī P. H. Bhatta has discussed about the best Gujarāti works of Śāmaḷa and the Ākhyānas of Vallabha. Śrī B. J. Sandesara takes a survey of the medieval dramas of Gujarāt and has edited Amṛtarasapacīsi, an old Gujarāti poem, of Lakṣmīdāsa. Mr. K. M. Munshi has given his refereshing view-point of the study of Indian history. Pt. A. P. Shaha discusses the position of Amarakośa in the Indian lexicographic

literature. Pt. Becharadas has written an article on the derivation of certain Sanskrit and Prākrit words. Śri Bhayani has scrutinised the etymology of four words Mr. N. I. Patel has rightly pointed out that the modern method of writing Devanāgari vowels is absolutely unscientific and misleading. The two Rājasthanī-Hindī Gajals, published in the last number, have a good deal of topographical value. Besides these articles some important Reviews too have been published. The limited space prohibits us from going into the deatils of these different contributions. We have high hopes that this Journal would bring to light many new facts about Prākrit, Apabhraṁśa and post-Apabhraṁśa literature many specimens of which are lying hidden in the Bhaṇḍāras of Gujarat and Rajaputana. The printing and the get-up of the Journal are quite attractive. We have one suggestion to make that even the Gujarati articles should be printed in Devanāgarī characters, so that their contents might be read easily all over India. Bharatiya Vidyā is a significant and substa[illegible] to the small number of research Journals in Modern Indian Languages and we wish it a bright future.

A. N. UPADHYE.

THE JAINA VID[illegible] the Jaina Vidyābhavana, Lahore, Editor Dr. Ba[illegible] Jain M.A., Ph D., Vol. I No. 1, July 1941, Royal 8vo, Annual subscription Rs. 5/.

So far the Jaina Sidhānta Bhāskara with the Jaina Antiquary was the only Anglo-Hindī Journal solely devoted to Jaina research. Among the Hindi Magazines Anekānta edited by Pt. Jugalakishoraji is doing excellent service in this direction. Taking into account the vast amount of untapped material lying buried in Jaina Bhaṇḍāras, it has to be admitted that the number of workers in the field of Jainology is very small and that of the Journals almost nil. We are extremely glad to note that the Jaina Vidyā Bhavana is founded at Lahore with the object of creating a centre of Jaina studies. The Jaina Vidyā, an Anglo-Hindī Quarterly, is the bulletin of this Institute. The ambitious programme of the Bhavana has been explained by the Editor

Prof. H. R. Kapadia, in his article on the message of Lord Mahāvīra, has dwelt on some of the philosophical and moral tenets of Mahāvīra. Dr. A. M. Ghatage has explained the title Mūlasūtra after taking into account the views of various scholars; and his conclusion runs thus: "the expression Mūlasūtra 'sūtra texts to be studied at the beginning of the svādhyāya' referred to the Āvaśyaka formulae, the expression Mūlādhyayana referred to the first group of adhyayanas now forming the Daśavaikālika and the next thirty six chapters got the name Uttarādhyayana. Later on, however, the first name was extended to cover the three books together and still later a fourth book was added, which was either the Piṇḍaniryukti or the Oghaniryukti.' Mr. Jagannath has given some glimpses of Jainism in the Gupta age during the 4th and the 5th Centuries A. D. Mr. M. D Desai has presented the English rendering of some four Farmans. granted by Akbar to the Jainas Mr P. K. Gode has disucssed the date of Nāṭyadarpaṇa of Rāmacandra which he puts between A. D. 1150 and 1170. Dr. Sarup has made an earnest appeal to the Jainas 'that the scattered Jaina Bhaṇḍāras should be saved from destruction. Their price cannot be determined in terms of rupees. They are simply invaluable.' We request the leaders of the Jaina Community to pay due attention to this timely warning of an eminent orientalist of the standing of Dr. Sarup. Dr. Hiranand Shastri has duly appreciated the literary heritage which the Jaina monks have left to posterity. In the Hindi section Śrī Vijayavallabha Surīśvaraji has explained OM according to Jainism. Śrī Amarachandraji has added a few stray remarks on the life of Mahāvīra. Śrī Ātmārāmaji has noted some common passages between the Jaina and Buddhistic texts. Pt. Becharadas Doshi has an interesting note on the various names of Mahāvīra and their explanation. Lastly Śrī Kāntisāgaraji has published an old Gajal which gives interesting information about Lahore.

We heartily welcome the Jaina Vidyā, and we feel confident that it has a bright future under the able editorship of Dr. Banarasidas.

A. N. UPADHYE.

VEERSHAIVA WELTANSCHAUUNG—by Sri Kumarswamiji, B.A., published by V. R. Koppal, M.A., B. T., Navakalyanamath, Dharwar.

The brochure under review comprises a lecture delivered on Veerashaivism by Sri Kumarswamiji, B.A., a young, learned saint and thinker, at Adyar in December 1940. The revival of Veerashaivism, as this great scholar points out, goes back to the 12th century. The torch of high philosophic ideals tracing the relation of Spirit and Matter to the great Transcendent Almighty that rules the universe, lit by Sri Basava, the Prime Minister to a Jain king in those far off days, was handed down to Veerashaiva mystics, who, God-intoxicated as they were, enlightened all who came in contact with them and have to their credit sayings that in depth of thought and scholarly expositions are compared by great scholars to the Upanishads themselves.

Veershaivism considered to be a phase of the Agamanta and said to be associated Śakti-Viśishtadvaita has been fully discussed by the learned speaker Herein he has disclosed a rare grasp and comparative study of the Eastern as well as Western philosophy. The basic principles of great thinkers of the west like Bergson, William James, Hegel, Schopenhauer and others have been mentioned and discussed to throw light on the tenets of Veerashaivism. A Spiritual unification of spirit and matter with the Great Lord above has been dwelt upon. In short, the ultimate truth of all truths—the basis or rather the end of all religious consciousness—the great Divine Power behind the universe—permeates the metaphysic of this learned lecture.

RAJENDRA PRASAD.

DESCRIPTIVE CATALOGUE OF MANUSCRIPTS in the Government Manuscripts Library, Poona—Published under the supervision of the Manuscripts Department of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 1936—Volume XVII, Parts 1, 2 and 3 (Jain Literature & Philosophy) Price Rs. 4/- each part Compiled by Hiral l R. Kapadia, M.A.

Within nearly a thousand years the deep learning and assiduous devotion of the great intellectuals of old coming within the fold of

Jainism helped the growth of Jain Canonical literature beyond expectation and even reasonable bounds of the possibility of easy study. This literature mainly relates o the Svetāmbaras. The Digambaras believe all Jain *Agamas* to have been lost beyond all hope of recovery. Most of the precious ancient literature of India perished as the result of the ravages of the vicious marauders of the middle ages. But the zealous care and devoted vigilence of the Jain ascetics saved the Jain literature from the usual gruesome fate. They secretly preserved their literary treasure in the underground archives of their monasteries where the rapacious instinct of the vile destroyers could not penetrate. As a result of this seclusiveness, even up to 1880 all the Jain literature remained unknown and inaccessible to all except a small circle of *Jain Āchāryas* It is said that even now the wardens of Jain libraries and Bhaṇḍāras strictly maintain the secrecy of their keep. Some tourists deputed by Government towards the end of the last century brought to light many a treasure of Jain literature. Many of these have been given over now to the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. The first descriptive Catalogue of Jain literature was brought out by the State of Baroda.

The Descriptive Catalogues under review exhibit a marvellous collection which is now accessible to public, subject to the rules of the Institute. These catalogues owe their excellence to the deep learning and ardent devotion of Mr Hiralal R. Kapadia, M A. Harein is given all necessary information in the form of short but adequate description, complete in itself, of all the manuscripts stored in the institute. One may have a good introduction to the manuscripts themselves through the learned references inserted by the compiler. The appendices contain notes and charts that are likely to be very helpful to the study of the original manuscripts. In short these catalogues pave an easy way to the study and research of Jain literary history.

RAJENDRA PRASAD

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VII, 1941.

Edited by
Prof. Hiralal Jaina, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt
Babu Kamta Prasad Jaina, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. **Foreign 4s. 8d.** **Single Copy Rs. 1-8.**

CONTENTS·

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in June and December.

2. The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s*. 8*d*. per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should

y change of address should also be intimated to him

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M A, D Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भवन के प्रकाशित ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र] संस्कृत और भाषा-टीका-सहित—
सं० पं० के० भुजबली शास्त्री एवं पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित—सं० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य .. .. १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ॥)

(४) प्रशस्ति-संग्रह (प्रथम भाग)—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १॥)

(५) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ॥)

(६) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ॥)

(७) भवन के संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की सूची ... ... १)

(८) भवन की अंग्रेजी पुस्तकों की सूची ... ... ॥)

(९) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग ... ...[अप्राप्य

(१०) " २य भाग ... ... ४)

(११) " ३य भाग ... ... ४)

(१२) " ४र्थ भाग ... ... ४)

(१३) " ५म भाग ... ... ४)

(१४) " ६म भाग ... ... [illegible]

(१५) " ७म भाग ... ... ३)

(१६) " ८म भाग ... ... ३)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा (बिहार

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD
ARRAH